# अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध व विदेश नीति

दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी

# अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

व

# विदेश नीति

(१९१९–१९६८)

लेखकगण

प्रो० कालूराम शर्मा एम० ए०
स्वर्ण पदक प्राप्ति कर्त्ता
वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली

प्रो० वीरेन्द्र कुमार शर्मा, एम ए
स्नातकोत्तर राजनीति विभाग,
दयानन्द कालेज, अजमेर

प्रो० राम पाण्डे
प्रवक्ता इतिहास
सेठ मोतीलाल कालेज, झुन्झुनू




दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी

प्रकाशक —

दी स्टूडेण्टस बुक कम्पनी
चौड़ा रास्ता, सोजती गेट,
जयपुर ३ जोधपुर

तृतीय संशोधित संस्करण
सन् १९६९

मूल्य ११) रु०

मुद्रक —

श्री जय अम्बे प्रेस,
जयपुर ।

# तृतीय संस्करण की भूमिका

"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध" का तृतीय परिवर्द्धित संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ा हर्ष है। प्रथम एवं द्वितीय संस्करण में पाठको और आलोचकों ने जिन बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया था, प्रस्तुत संस्करण में उनका समावेश कर दिया गया है। आज का विश्व निरन्तर विकास शील है और उसमें नित्य नूतन परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी अवस्था में प्रत्येक चैतन्य नागरिक के लिए, विशेष कर राजनीति शास्त्र के अध्येताओं के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय जगत की प्रत्येक मुख्य घटना से परिचित रहना आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में सन् 1968 तक घटित घटनाओं एवं नवीनतम विकसित स्वतन्त्र राष्ट्रों का वर्णन सम्मिलित कर इसे up-to-date बना दिया है—विशेषत, भारत चीन सीमा विवाद, प्रमुख देशों की विदेशी नीति अफ्रो एशियाई संगठन के कार्य, रूस चीन मतभेद, अरब-इजरायली संघर्ष, भारत पाक युद्ध, तथा निःशस्त्रीकरण की दिशा में बड़े देशों का परीक्षण समाप्ति समझौता आदि विषयों का आलोचना सहित समावेश किया गया है। तृतीय संस्करण में एक और विशेषता है कि विश्व के बड़े देशों की विदेश नीतियों (Foreign policies) का विस्तार तथा आलोचनात्मक तरीके से समावेश किया है। वर्तमान समय तक की घटनाओं का वर्णन् किसी भी पुस्तक में न मिलने के कारण विद्यार्थियों की कठिनाइयों का निवारण करने का प्रयास भी प्रस्तुत संस्करण में किया गया है। आशा ही नहीं वरन् विश्वास है कि प्रस्तुत संस्करण हर तरह से राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

—लेखकगण

# प्रस्तावना

आज का संसार भय और अशांति के विनाशकारी मोड़ पर खड़ा है। राजनीतिज्ञों की थोड़ीसी भूल से मानव सभ्यता का अस्तित्व समाप्त हो सकता है क्योंकि शांति और सुरक्षा के उत्तरदायी रक्षक, संसार के महान् शक्तिशाली राष्ट्र अपने कर्तव्यों से विमुख हो गये हैं। उनमें भयंकर प्रतिस्पर्धा चल रही है—युद्ध के महा विनाशकारी उपकरणों का सृजन किया जा रहा है, अपनी अपनी शक्ति के प्रसार की भावना बलवती होती जा रही है और मानव समाज मझधार में पड़े हुए मुसाफिर की भाँति किनारे की तलाश में चिन्तित हैं, इस भयंकर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के लिए व्याकुल है।

इस अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के मूल कारण समझने के लिये उन उत्तरदायी घटनाओं एवं परिस्थितियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समझना अनिवार्य हो जाता है जिन्होंने इसे उत्पन्न किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ही एक ऐसी कुंजी है जो आज

की जटिल समस्याओं का नग्न इतिहास बतला सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी सावधानी से कदम बढाने की जरूरत है। निष्पक्ष अध्ययन की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक उपरोक्त दृष्टि का साकार रूप है। जहाँ तक सम्भव हो सका है निष्पक्ष विचार सरणी को अपनाया गया है और परस्पर विरोधी विचारों का भी विस्तार सहित विवेचन किया गया है। इसके परिणामस्वरूप सामान्य लोगों और विशेषकर विद्यार्थियों के लिए इस विषय का समझना बहुत ही सरल हो गया है। इसके अतिरिक्त विषय को अधिक बोधगम्य बनाने की दृष्टि से भौगोलिक एव राजनीतिक मानचित्रो, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के महान् निर्देशको के चित्रो तथा सयुक्त राष्ट्र सघ की विविध समितियो से सम्बन्धित चार्टस आदि को भी पुस्तक मे पर्याप्त एव उचित स्थान दिया गया है। जहाँ तक सभव हो सका है सरल एव सुन्दर भाषा का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने का मुख्य कारण यह है कि इस विषय पर अग्रेजी भाषा मे तो कई पुस्तकें उपलब्ध हैं परन्तु हिन्दी भाषा मे एक या दो से अधिक पुस्तकें उपलब्ध नही हैं और जो हैं उनमें भी कुछ न कुछ कमियाँ रह गई हैं। फिर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का चक्र भी इतनी तेजी से चल रहा है कि पुरानी पुस्तकें अपूर्ण दिखलाई पडती है। इससे विद्यार्थियो की कठिनाई बढ जाती है। अत हमने विविध विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रमों का मनन करके 1968 तक के अन्तर्राष्ट्रीय सबधों का उल्लेख किया है। एक बात और—इस प्रयास मे हमने अग्रजी की अधिकृत पुस्तकों का पूरा पूरा लाभ उठाया है और अधिकृत विद्वानो के विचारो को भी पुस्तक में पर्याप्त स्थान दिया है।

हमारा परिश्रम कहा तक सफल रहा है, इसका निर्णय तो पुस्तक के पाठक ही कर सकेंगे। फिर भी, बिना किसी सकोच या झिझक के हम यह चाहते हैं कि यदि पाठको को प्रस्तुत पुस्तक मे कुछ कमी या दोष दिखलाई पडे या कुछ सुझाव देने हों तो वे नि सकोच होकर हमे अपने विचार लिख भेजें। हम उन्हे विश्वास दिलाते हैं कि आगामी सस्करण मे उनके उचित सुझावों को उचित स्थान देने का प्रयत्न किया जायेगा।

प्रस्तुत पुस्तक को पूर्ण करने मे, समय समय पर बहुत से विद्वानों का सहयोग एव मार्ग निर्देशन मिलता रहा है, अत वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। वयोवृद्ध इतिहासकार श्री सुधाशुभूषण बनर्जी, आचार्य कुमारी सुशीला व्यास प्राध्यापिका, राजनीतिशास्त्र विभाग और श्री त्रिलोकी नाथ रैना, पुस्तकालयाध्यक्ष, वनस्थली विद्यापीठ तथा श्री रामनारायण जी 'मृदुल' कोटा और श्री शलेन्द्र, उदयपुर के हम विशेष कृतज्ञ हैं।

—लेखकगण

# विषय-सूची

पृष्ठ सख्या

प्रथम अध्याय

# अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

युद्ध के विनाशकारी परिणामो से बचने के लिए, शाति और व्यवस्था की स्थापना के लिए भिन्न भिन्न युगो में भिन्न भिन्न प्रकार के प्रयत्न किए गए। बुद्ध, महावीर, ईसा, कन्फूसियस, अकबर, मुहम्मद, गाधी आदि जितने भी मनुष्य जाति के पथ प्रदर्शक हुए है, उन सबने ऐसा ही प्रयत्न किया जिससे मनुष्य जाति सुखी हो सके, लोकमानस में बन्धुत्व की, समझौते की, भावना विकसित हो सके। परन्तु इससे होता क्या है। मनुष्य समाज सदा से ही इसके विपरीत आचरण करता रहा है। एक दूसरे पर अत्याचार करता रहा है पडौसियो को लूटता रहा है और अपने ही बधु बान्धवो का सहार करने के लिए सेना और शस्त्रास्त्र में वृद्धि करता रहा है। आखिर क्यो? किसलिए? एक तरफ हम यह कहते है कि मानव, सभ्यता और सस्कृति के क्षेत्र में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया है तो दूसरी तरफ हृदय विदारक युद्धो का दृश्य देखते हैं। इसका कारण है—लोकमानस की वह आदिम प्रवृत्ति जो उसके साथ ही लिपटी हुई चली आई है। मानव के अन्तस्तल में छिपी हुई वह पाशविक प्रवृत्ति, जो उसे अपने प्रथम पूर्वज से विरासत में मिली है और जिसका दमन करने में या त्याग करने में वह असफल रहा है। इस सुप्त पाशविक प्रवृत्ति को बारबार झकझोर करके जाग्रत करने का कार्य किया है, बुद्धिजीवियो ने और आज की समाज परक व्यवस्था ने व्यक्तिगत सघर्ष वृत्ति को अधिक तीव्र कर दिया है। इतना ही नही बल्कि आज की राजनीति ऐसे ही देशो, व्यक्तियो से समायोजित है। स्वर्गीय इतिहासकार श्री एच जी वेल्स ने इस प्रवृत्ति को परख कर कहा था— "यदि मनुष्य ने युद्ध को समाप्त नही किया तो युद्ध मनुष्य को समाप्त कर डालेगा।"* आज के परमाणु युग में यह चेतावनी सत्य के बहुत अधिक निकट है। बीसवी सदी के केवल पूर्वार्द्ध में दो महाविनाशकारी विश्वव्यापी युद्ध हो चुके हैं और आज का मनुष्य यह समझने लगा है कि युद्ध द्वारा न तो किसी कठिनाई का अत हुआ, न किसी लाभदायक वस्तु का प्रादुर्भाव और न कोई समस्या ही सुलझ सकी। वरन् लाखो मनुष्यो का सहार हो गया और ससार प्राय शक्तिहीन एव नष्ट भ्रष्ट हो गया। युद्ध और विप्लव प्राय व्यर्थ ही सिद्ध होते है। अत आज के युग की माग है—युद्धो से मुक्ति। और यह मुक्ति

*विषय प्रवेश*

---

* H G Well's—An outline History of the world

प्रतिहिंसा से प्राप्त नही हो सकती। केवल शांतिमय साधनो से, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है। परन्तु आज के लोकमानस का सगठन इस प्रकार के साधनो की उपलब्धि के अनुकूल वातावरण और क्षेत्र का निर्माण करने में असफल है और उस समय तक असफल रहेगा, जब तक आदिम पाशविक वृत्ति का परित्याग नही किया जायेगा। वास्तव में यह चिर सत्य है कि जब तक मनुष्य अपनी इस अहकार तथा स्वार्थ से परिपूर्ण पाशविक प्रवृत्ति का परित्याग नही करेगा, युद्ध के बादल मडराते ही रहेगे और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी विधवा की चूडियो की भाति टूटते ही रहेगे। कलुषित चन्द्र के समान घटते बढते ही रहेगे। मानव स्वतन्त्रता सही अर्थ में, प्रवाहरूप से कभी फलीभूत न हो सकेगी और कोई आश्चर्य नही यदि एक दिन, आदि मानव जब पुन अपनी आँख खोलेगा तो उसे अपनी चिरपरिचित सृष्टि के दर्शन अवश्य हो जायेंगे।

आदि युग में पृथ्वी की सुन्दर, उपजाऊ घाटियो में मानव ने अपनी सभ्यता और सस्कृति का विकास किया था और धीरे धीरे यह विकास बढता ही गया। उस युग में, यातायात तथा विचार वाहन के उन्नत साधनो के अभाव में एक देश का दूसरे देश से सम्पर्क बहुत कम था। अत अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्या जटिल रूप धरकर उनके सम्मुख उपस्थित न हो सकी। प्रत्येक देश के अपने रीति रिवाज, नियम तथा प्रथाएँ थी और उस देश का लोकमानस इनसे बधा हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्र की उन्नति की कल्पना करने लगा और फलस्वरूप राष्ट्रीयता का उदय हुआ। राष्ट्रीयता के पथ भ्रष्ट हो जाने से साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला और विनाशकारी महायुद्धो का सूत्रपात हुआ। अत मानव समाज को इस सहार से बचाने के लिए, राज्यो के बीच शान्ति को बनाए रखने के लिए समय-समय पर कुछ नूतन व्यवस्थाओ का जन्म हुआ। इन व्यवस्थाओ को हम मोटे रूप में 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' कह सकते हैं। इसके अनुयायियो के हृदय में यह भावना बनी रहती है कि सभी राज्यो में समानता, सहयोग व शान्ति का सबन्ध बना रहे। सभी देश व राज्य एक ही लोकमानस के अग है और सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण में ही सबका कल्याण है। इसी भाव या दृष्टिकोण को अन्तर्राष्ट्रीयता कहते हैं। एक विद्वान ने लिखा है कि "पारिभाषिक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीयता राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक उस नीति का नाम है जो सभी राज्यो की स्वतन्त्रता, समानता व सहयोग की समर्थक और युद्ध, अशान्ति तथा साम्राज्यवाद की विरोधी होती है।" अन्तर्राष्ट्रीयता लोकमानस का ऐसा अग है जिसमें जीवन के हर पहलू की आवश्यकताए एक दूसरे से बधी हुई है, क्योकि आज का ससार आत्म निर्भर न होकर परस्पर निर्भर है। प्रत्येक देश इच्छा या अनिच्छा से दूसरे देशों से सम्बन्धित है। प्रोफेसर श्वाजनबर्जर ने भी यही लिखा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का मतलब—वे सम्बन्ध जो समूहों

**अन्तर्राष्ट्रीयता क्या है**

के बीच, समूहो और व्यक्तियो तथा एक दूसरे व्यक्तियो के बीच पैदा होते है अथवा कायम हैं, जिसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय समाज पर पडना स्वाभाविक है।" अस्तु अन्तर्राष्ट्रीयता का समझने के लिए हमें लोकमानस का रूप तथा स्वरूप, राज्यो के परस्पर सम्बन्ध और इन सम्बन्धो को नियन्त्रित करने वाले सिद्धातो का समझना चाहिए। तभी हम सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीयता का अभिप्राय समझने में साथक होगे।

प्राचीन युग मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बहुत कम था, क्योकि मानव का भौगोलिक ज्ञान सीमित था। अतएव प्रत्येक महाद्वीप के निवासियो को अपनी आवश्यकताओ को बिना किसी की सहायता से पूरा करना पडता था। परन्तु यातायात तथा विचारवाहन

**अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्व**

के उन्नत साधनो ने समय और दूरी पर विजय प्राप्त करके ससार के विभिन्न देशो को एक दूसरे का पडोसी बना दिया है। वैज्ञानिक यन्त्रो—रेडियो, तार, टेलीविजन आदि के द्वारा प्रतिक्षण विचार, समाचार बाजार भाव आदि एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँच रह हैं। इसके साथ ही साथ मानवीय दृष्टिकोण भी बदल चुका है और वह स्वय को विस्तृत भूमडल का निवासी मानने लगा है। ससार के किसी देश में घटित होने वाली महत्वपूर्ण घटना के प्रभाव से कोई अन्य देश अप्रभावित नही रह सकता। फिर राजनीतिक क्षेत्र में घटने वाली घटनाओ से तो कोई देश कसे अप्रभावित रह सकता है। विज्ञान के बढते कदमो ने मनुष्य को अणु परमाणु तथा कृत्रिम उपग्रहो एव दूरमारक अस्त्रो का ज्ञान प्रदान करके उसकी सामर्थ्य शक्ति को अवश्य ही बढावा दिया है पर तु यदि ससार को महान् शक्तियो में सहानुभूति एव सामजस्य स्थापित न हो सका तो एक दिन मानव सभ्यता ही समाप्त हो जायेगी। इसे रोकने की आवश्यकता है और इसे ही अन्तर्राष्ट्रीयता कहा जाता है। इसके महत्व का उल्लेख करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है कि आज हम चाहे अपने दुराग्रहवश स्वीकार न करें, लेकिन यह एक प्रखर सत्य है कि हम 'एक ससार' में रह रहे ह और जाति, धर्म, सस्कृति, देश, भाषा तथा सिद्धातवाद की वे दीवारें जिन्होने शताब्दियो से मनुष्य का समुचित घेरा में बन्द कर रखा है, अब और अधिक समय तक खडी न रह सकेगी। इस समय ता सारी मनुष्य जाति एक ही नौका पर सवार है और वह या तो एक साथ जल समाधि लेगी या एक साथ तट पर लगेगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रश्न केवल बुद्धि विलास के प्रश्न नही हैं, वे हमारे जीवन मरण के प्रश्न हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सजग अध्ययन इस बात की स्पष्ट चेतावनी है कि यदि राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को उसी भाँति स्वार्थ की भावना से अनुप्राणित होकर सचालित करते हैं, जैसा कि वे सदैव करते रहे हैं, तो तृतीय विश्वयुद्ध का निवारण असम्भव हो जायेगा और हम यह भूले नही है कि प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के परिणाम मानव जाति के लिए कितने विनाशकारी प्रमाणित हुए थे।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि प्रारम्भ से ही मानव में पाशविक प्रवृत्ति की प्रधानता रही है, फलत विग्रह की सम्भावना उत्पन्न हुई। विग्रह को शात करने के उपाय भी ढूढे जाते रहे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि

**अन्तर्राष्ट्रीय सबधों की उत्पत्ति और विकास**

अतर्राष्ट्रीय सबधो की उत्पत्ति युद्धो के विनाशकारी भय और इस भय से मुक्ति दिलवाने वाले साधनो के कारण ही हुई हैं। परन्तु शाति स्थापित करने वाले ये साधन प्रकाश्य रूप से सर्वथा अपर्याप्त और कृत्रिम थे। असस्कृत आत्माभिमान एव जातीय तथा राष्ट्रीय लिप्साएँ, युद्ध के पश्चात् थोडी सी भी शिथिल न हुई—जैसी की तैसी बनी रही। अत यह स्वाभाविक ही था कि इस दिशा में सक्रिय रुचि के साथ नूतन साधनो को खोजा जाय। सोलहवी शताब्दी के अतिम चरण में डच राजनीतिज्ञ ह्यूगो ग्रेशियस ने तत्कालीन प्रथाओ और नतिक नियमो को आधार बनाकर अतर्राष्ट्रीय कानूनो को लिखित रूप दिया जो बाद में "युद्ध और शाति" के नियम कहलाये और १६४८ ई० में वेस्टफेलिया की काग्रेस ने इन नियमो पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाकर उन्हें मान्यता प्रदान की। इस प्रकार सर्व प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को वैधानिक महत्व प्राप्त हुआ। परन्तु इससे समस्या का समाधान नही हुआ। ये नियम केवल आदर्श बन कर रह गये। आवश्यकता हुई एक एसी सस्था की जो इन नियमो को कार्यान्वित करवा सके और उन राज्यो को जो इनका उल्लघन कर दड दे सके। १७वी और १८वी शताब्दियो में इस सबध म अनेक योजनाएँ रखी गई जिनमें डक डी सली, अबे दि सेण्ट पिरे, काट की योजना आदि अधिक महत्वपूर्ण थी। परन्तु ये कभी कार्यान्वित न हो सकी। वैसे इन योजनाओ से अतर्राष्ट्रीय व्यवहार का यह सिद्धान्त प्रचलित हुआ कि समस्त स्वतत्र राज्य न केवल पूर्णतया स्वाधीन होते हैं वरन् एक दूसरे के साथ समता का व्यवहार करते ह और इसके अतिरिक्त कि वे शक्तिशाली हो अथवा निर्बल वे समान अधिकारो तथा कर्त्तव्यो से सम्पन्न होते हैं। इस युग में इस प्राचीन सिद्धान्त को बिलकुल त्याग दिया गया कि यूरोप में पवित्र रोमन सम्राट् के समान कोई निर्जीव सत्ता स्थापित करदी जाय अथवा यह कि यूरोपीय राज्यो का नेतृत्व पोप के समान किसी धर्माचार्य को सौंप दिया जाय।

नेपोलियन के युद्धो के समय यूरोप की शक्तियो को सगठित रहने की विशेष आवश्यकता हुई थी। अत यूरोप की चार महान शक्तियो—इगलैंड, आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस ने ९ मार्च १८१४ ई० को बीस साल तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था द्वारा सगठित रहने का निश्चय किया। नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप के राजनीतिज्ञो ने सभी सभाएँ व सम्मेलन करके शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने का प्रयत्न किया। और "पवित्र सघ" (Holy Alliance) तथा "चतुर्मुखी-समैत्री" के समान कोई योजना बनाकर अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को दृढ करने का प्रयत्न किया। किन्तु वे अपने उद्देश्यो की पूर्ति में अधिक समय तक सफल नहीं हुवे।

वैज्ञानिक उन्नति के परिणाम स्वरूप प्रगतिशील राष्ट्रो की शक्ति मे अत्यधिक वृद्धि हुई और युद्ध की आशकाए भी बढी। इस भय से मुक्त होने के लिये विश्वशान्ति और आपसी समझौते के लिए होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सभाओ और योजनाओ की धूम मच गई। सन् १८९९ और १९०७ में दो सम्मेलन हुए जो "हेग कान्फ्रेंस" (Hague Conferences) के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी योजनानुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय पचायती न्यायालय स्थापित किया गया। शुरू में तो इस न्यायालय ने राज्यो के आपसी झगडो के कई मामले तय किये परतु इसकी प्रगति रुक गई। प्रथम विश्व युद्ध के अन्त में राष्ट्र सघ और द्वितीय महायुद्ध के बाद सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना की गई। इन सस्थाओ से अन्तर्राष्ट्रीय सबध बहुत सीमा तक सुधरे। इसके अतिरिक्त गैर-सरकारी स्तर पर भी कई महत्वपूर्ण प्रयत्न बहुत पहिले से होते आ रहे हैं। आज के युग में हमें दोनो तरह के अन्तर्राष्ट्रीय सगठन देखने को मिलते हैं। परन्तु ये सगठन चाहे सरकारी हो या गैरसरकारी, इनका आधार स्वेच्छापूर्ण सहयोग ही है। राज्यो की सार्वभौम सत्ता (Sovereignty) का सिद्धान्त अब भी बना हुआ है, किसी राज्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करने या न करने को कहने के लिए कोई कानूनी सत्ता अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नही है और शायद भविष्य में भी स्थापित नही हो सकेगी।

अब हम सक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय सबधो के सचालन पर प्रकाश डालेंगे। अति प्राचीन काल से ही एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्रो में अपने दूत भेजने का प्रचलन था। परन्तु ये दूत चिरकाल तक न रहते थे। आधुनिक युग में इन दूतो को स्थिर तौर पर रखना आवश्यक हो गया है। प्रत्येक स्वतत्र राष्ट्र दूसरे स्वतत्र राष्ट्र में अपना राजदूत (Ambassador) रखना है। समान दर्जे के कूटनीतिक प्रतिनिधियो का ही आदान प्रदान राज्यो के द्वारा होता है। यदि स्वतन्त्र राज्य किसी एक बडे राष्ट्र के नेतृत्व में सगठित हो तो वे राजदूत न भेजकर उच्चायुक्त (High Commissioner) भेजते हैं। उदाहरणार्थ भारत का अमरिका स्थित कूटनीतिक प्रतिनिधि राजदूत कहलाता है। जबकि इङ्गलैण्ड स्थित प्रतिनिधि हाई कमिश्नर कहलाता है क्योकि भारत ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का एक सदस्य है। एक स्वतत्र राष्ट्र किसी परतन्त्र राष्ट्र में भी अपना प्रतिनिधि रख सकता है। इस स्थिति मे वह प्रतिनिधि वाणिज्य दूत (Counselors) कहलाता है। ईसाई धर्म के गुरू 'पोप' भी स्वतत्र रूप से किसी राष्ट्र में अपना प्रतिनिधि रख सकता हैं। उसके प्रतिनिधि पाप दूत (Legate of the Pope) और धर्मदूत (Nuncios) कहलाते हैं। राजदूत से निम्न स्तर का अधिकारी 'अधिदूत' (Chargesd' affaires) कहलाता है। कभी कभी कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र में अपना विशेष दूत भी भेजता है। यह दूत "असाधारण एव पूर्णाधिकार प्राप्त दूत" (Envoy Extra ordinary and Mini-

सचालन कैसे होता है

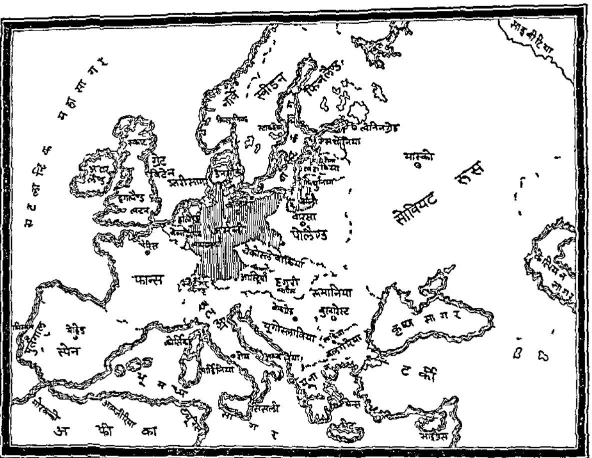
ster Plenipotentiary ) कहलाता है। राजदूत के साथ सांस्कृतिक सहचारी, प्रेस सहचारी, सूचनाधिकारी, कारकुन आदि कई अधिकारी और कर्मचारी भी रहते है। जिन देशो में राजदूत नियुक्त किए जाते हैं, वहाँ उन्हे 'महामहिम' कहा जाता है और उन्हे जो सम्मान विशेष सुविधाएँ, उन्मुक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं वे दूसरो को नही होते।

राजदूत नीति प्रतिपादित नही करता। यह काम सरकार का और विशेषत विदेश मन्त्री का होता है। राजदूत को अपनी सरकार की निर्धारित की हुई नीति का पालन करना पडता है।[1] राजदूतो का दोहरा उत्तरदायित्व होता है। वे किसी देश में अपने देश की सरकार की नीतियो को व्यावहारिक रूप देने और उन्हें क्रियान्वित करने के लिए भेजे जाते है, परन्तु उनका इतना ही महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व यह भी है कि वे जिस देश में नियुक्त हो उसकी नीति, रवैया और आम परिस्थितियो से भी अपने देश की सरकार को परिचित करायें। विदेश मे स्थित कूटनीतिक मण्डलो के साथ सचार का सारा काम गुप्त लिपि मे या विशेष सदेशवाहको के हाथ भेजे गये कूटनीतिक डाक के थैलो की सहायता से होता है।

कभी-कभी राजदूतो या कूटनीतिक प्रतिनिधियो के द्वारा झगडे नही निपटाये जाते हैं तो तीसरी पार्टी के सत्पद ( good offices ) की मध्यस्थता से निपटारा किया जाता है। अन्तिम कदम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और शिखर सम्मेलन है। इस प्रकार पारस्परिक मतभेदों को सुलझाया जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सचालन होता है।

---

(१) के० एम० पणिक्कर—कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार।




यूरोप का राजनीतिक मानचित्र [redacted] (१६१६)

द्वितीय अध्याय

# पेरिस शांति अधिवेशन

शांति अधिवेशन की प्रथम औपचारिक बैठक, युद्धबन्दी के तुरन्त बाद ही न हो सकी और शांति संधियों के आलेखन का कार्य युद्ध बन्दी के ठीक दो मास उपरान्त ही प्रारम्भ हो सका और ठीक इक्कीस मास बाद पेरिस शांति व्यवस्था में सम्मिलित अंतिम संधि पर हस्ताक्षर किये गये। १६१८ ई० में युद्ध समाप्ति के पूर्व ही मित्रराष्ट्रों ने शांति सम्मेलन करने का निश्चय कर लिया था। अन्य सम्मेलन से सम्बन्धित समस्याओं—ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक आदि पर अधिक से अधिक तथ्यों और आंकड़ों को एकत्र करने का प्रयत्न शुरू किया जा चुका था। इस प्रयत्न में मित्रराष्ट्रों के विशेषज्ञ और कर्मचारी, बहुत बड़ी संख्या में अपने काम में जुटे हुये थे, क्योंकि उपलब्ध आंकड़ों तथा तथ्यों के आधार पर ही बहुत सी जटिल और परस्पर विरोधी समस्याओं का समाधान करना था।

भूमिका

महायुद्ध में फ्रांस ने अत्यधिक धैर्य तथा साहस से परिपूर्ण भूमिका का अभिनय किया था। अतः उसके सम्मानार्थ उसकी राजधानी पेरिस को शांति अधिवेशन का केन्द्र चुना गया। पेरिस को केन्द्र चुनकर मित्रराष्ट्रों ने गलती की। क्योंकि महायुद्ध की ज्वाला ने पेरिस के सौंदर्य को नष्ट कर दिया था और पेरिस की जनता युद्ध की पीड़ा से कराह रही थी। पेरिस के उत्पीड़ित, उत्तेजित एवं प्रतिशोधात्मक वातावरण का शांति सम्मेलन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और परिणाम स्वरूप संधियों के प्रारूप विल्सन के आदर्शवाद से दूर होते गये। यदि पेरिस के स्थान पर जेनेवा या किसी अन्य शांतिमय स्थान को केन्द्र चुना जाता तो शायद सम्मेलन के प्रतिनिधियों को शांति पूर्वक संधियों की धाराओं को निर्धारित करने का अवसर उपलब्ध हो जाता।[1]

पेरिस

शांति सम्मेलन में पराजित राष्ट्रों जिसमें भूतपूर्व यूरोप की तीन महाशक्तियाँ भी सम्मिलित थी, को निमन्त्रित न करके मित्रराष्ट्रों ने दूसरी गलती की। एक आस्ट्रिया हंगरी था जिसका अस्तित्व समाप्त हो चुका था। आस्ट्रिया और हंगरी पृथक पृथक राज्य बन चुके थे और दोनों ही राज्यों के अधिकांश भाग का छीनकर चेकोस्लोवाकिया का निर्माण किया जा चुका था। कुछ भाग पोलैण्ड में मिला दिया गया और कुछ युगोस्लाविया में और कुछ

तीन महाशक्तियाँ निमन्त्रित नहीं की गईं

1 F Leo Benns—European History Since 1870

इटली को दिया जा चुका था। दूसरी महाशक्ति रूस थी जो कि युद्ध समाप्ति के एक वर्ष पूर्व ही युद्ध से पृथक हो चुका था और अब साम्यवादी सरकार और सरकार विरोधी शक्तियों के संघर्ष के कारण गृह युद्ध का केन्द्र बना हुआ था।

परन्तु तीसरी शक्ति जर्मनी को सम्मेलन में सम्मिलित क्यों नहीं किया गया? भूतकाल में आयोजित सभी शांति सम्मेलनों में विजेता और पददलित, दोनों ही देशों के प्रतिनिधि संधि की वार्ता में सम्मिलित हुआ करते थे और कम से कम पराजित देशों को पैरवी करने की छूट दी जाती थी। परन्तु पेरिस शांति सम्मेलन के कर्णधारों ने आपस में मिलकर ही संधि के प्रारूप को तैयार करने का और बाद में जर्मन प्रतिनिधियों की स्वीकृति के लिये दिखलाने का निश्चय कर लिया था।

मित्रराष्ट्रों के इस निर्णय के पीछे कई कारण थे और इन कारणों की पृष्ठभूमि में, जर्मनी को सम्मेलन में सम्मिलित न करने के लिये उन्हें क्षमा भी किया जा सकता है। संधि की धाराओं को लेकर स्वयं मित्रराष्ट्रों में गहरे वाद विवाद और मतभेद का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। परन्तु वे बाह्य रूप में अपनी एकता का प्रदर्शन भी करना चाहते थे। यदि जर्मनी को सम्मिलित किया जाता तो वे अपने इस उद्देश्य में सफल नहीं होते और उनके वाद विवाद से जर्मनी फायदा उठाने का तथा मित्रराष्ट्रों में फूट डालने का प्रयत्न करता। इसके अतिरिक्त जर्मन अपनी पराजय से बोखलाये हुये थे और वाद विवाद के तीव्र होने की संभावना भी थी जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी के प्रति पहिले से विद्यमान घृणा के और अधिक बढ़ने की संभावना थी। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि शांति सम्मेलन से जर्मनी को बहिष्कृत करना वास्तव में एक भूल थी। भावी युद्ध की भूमिका का निर्माण करने की दिशा में यह पहला कदम था*। इसने जर्मनी को यह कहने के लिये कि यह संधि बलपूर्वक लादी गई है, अवसर प्रदान किया और बाद में जर्मनी ने संधि को पूरा करने के लिये अपने आपको नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी भी नहीं माना।

१९१९ के प्रारम्भ से ही विविध मित्रराष्ट्रों (लगभग ३२ राष्ट्रों के) के प्रतिनिधिगणों का पेरिस में आगमन शुरू हो गया। अमेरिका का राष्ट्रपति विल्सन अपने पूर्वाधिकारियों की परम्परा को तोड़कर अशान्त महासागर को पारकर शांति सम्मेलन में भाग लेने के लिये यूरोप आया। नवम्बर १९१८ में अमरिका के आम चुनावों में उसका दल पराजित हो चुका था परन्तु अमेरिकन संविधान की विचित्र विशिष्टताओं के कारण आगामी दो वर्ष तक उसका अध्यक्ष पद सुरक्षित था। फिर भी आम चुनाव के परिणामस्वरूप उसकी महती प्रभुता में कुछ कमी आ गई थी। इंगलैण्ड के प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व उसका प्रधानमंत्री लायड जार्ज कर रहा था और उसका दल हाल ही में आया

**सम्मेलन के प्रतिनिधि**

---

* D C Somervell – Modern Europe

जित आम-चुनाव में सफलता प्राप्त कर चुका था। आम चुनाव के समय लॉयड जार्ज का मुख्य कार्यक्रम था युद्ध के लिये उत्तरदायी व्यक्तियों को सजा देना और शत्रु से युद्ध के खर्च को प्राप्त करना (Make Germany Pay)। इटली का प्रधानमंत्री ओरलेण्डो अपने सहयोगियों के समान प्रभाव शाली नहीं था। शांति सम्मेलन पर छा जाने वाला व्यक्ति क्लीमेन्शो था—फ्रांस का वयोवृद्ध प्रधानमन्त्री। उसका मुख्य कार्य संसार को सुधारना नहीं था, परन्तु १८७१ के निर्णयों को बदल देना और फ्रांस की सीमाओं की रक्षा करना था।

शांति सम्मेलन के उद्‌घाटन के तुरन्त बाद ही यह अनुभव किया गया कि बत्तीस राष्ट्रों की समिति बहुत बड़ी है और इससे सुगमता व सफलता के साथ निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। अतः प्रमुख समस्याओं के समाधान का काम 'दस की परिषद' के हाथ में सौंप दिया गया। परन्तु यह संख्या भी अधिक प्रमाणित हुई और "चार बड़ों" की समिति का निर्माण किया गया। ये चार थे-विल्सन, लॉयड जार्ज, क्लीमेन्शो और ओरलेण्डो, क्रमशः से अमेरिका, इंगलण्ड फ्रांस और इटली के नेता। इन चार बड़ों में से भी, संधि के स्वरूप को निश्चित करने में सबसे अधिक प्रभाव का उपयोग जार्ज क्लीमेन्शो ने किया। परन्तु ज्यों ही चार बड़ों ने विचार विमर्श शुरू किया त्यों ही वाद विवाद उठ खड़ा हुआ और इटली का प्रधानमन्त्री अपने देश लौट गया। अतः संधि समझौते के अंतिम रूप को तैयार करने का उत्तरदायित्व तीन बड़ों पर आ पड़ा।

**चार बड़ों की परिषद्**

शांति अधिवेशन को प्रारम्भ से ही कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। एक तरफ विल्सन का आदर्शवाद था, एक सुखी संसार की कल्पना थी। दूसरी तरफ पश्चिम के राजनीतिज्ञों का यथार्थवाद पराजित देशों को हड़पने की तृष्णा थी। इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करना कठिन कार्य था। इसके अतिरिक्त निम्न समस्याएं भी अधिवेशन के कार्य में रोड़े अटका रही थी (१) राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र का मसविदा (२) फ्रांस की सुरक्षा का सवाल और राईन के दायिने तट का भविष्य (३) इटली और पोलैंड के दावे (४) जर्मनी के उपनिवेशों तथा तुर्की के सीमान्तों का निर्णय (५) क्षतिपूर्ति की समस्या (६) अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की समस्या और (७) *गुप्त संधियों के वचनों को* कार्यान्वित करने की समस्या। ये सब समस्याएँ ऐसी थी जिन पर एक मत होना असम्भव था।

**कठिनाईयाँ**

मोटे तौर पर, शांति परिषद को चार प्रमुख विषयों को निपटाना था।—(१) प्रादेशिक व्यवस्था—अर्थात् संधियों के भूगाल की रचना करना। (२) राष्ट्रसंघ अर्थात् इस प्रकार के साधन का जुटान का प्रयत्न करना जिसके द्वारा राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेदों और झगड़ों को जो विश्वयुद्ध में परिवर्तित होते आये है, शांतिपूर्वक और उचित ढंग से निपटाया जा सके। और संसार में शांति व्यवस्था स्थिर रह सके। (३) सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण एवं

**मुख्य कार्यक्रम**

दूसरे से सबंधित प्रश्न और भावी शांति की स्थापना । (४) क्षतिपूर्ति जहाँ तक संभव हो सके पराजित देशों को युद्ध का हर्जाना देने को बाध्य करना ।

पेरिस के शांति अधिवेशन ने काफी वाद विवाद और समय के उपरांत इन विषयों को सुलझाया । और यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न असंख्य उलझी हुई समस्याओं को हल करने के प्रयत्न की दृष्टि से, मित्रराष्ट्रों और पराजित शक्तियों के मध्य, प्रमुख मित्रराष्ट्रों तथा नव-निर्मित देशों के साथ, यहां तक कि स्वयं मित्रराष्ट्रों के मध्य,

**वर्साय की संधि**

एक दर्जन से भी अधिक संधियों और कन्वेंशनों को लिखा गया और उन पर हस्ताक्षर किये गए, परन्तु जर्मनी के साथ सम्पादित संधि, शांतिपरिषद की निस्संदेह सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है[1] । यही कारण है पेरिस की शांति व्यवस्था को प्रायः वर्साय की संधि के नाम से संबोधित किया जाता है । वास्तव में वर्साय की संधि तो शांति समझौते के केवल एक भाग का नाम है, सम्पूर्ण व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण भाग, वह संधि जो मित्रराष्ट्रों द्वारा पराजित जर्मनी पर आरोपित ( dictated ) की गई थी और जिस पर प्रजातान्त्रिक जर्मनी के प्रतिनिधियों ने २८ जून १९१९ को अपने हस्ताक्षर किए ।

वर्साय की संधि में १५ भाग, ४४० अनुच्छेद और अनेक सूचियाँ हैं । संधि को अंग्रेजी और फ्रेंच दोनों भाषाओं में लिपिबद्ध किया गया था । संधि की महत्वपूर्ण बातें निम्न हैं—

जर्मन साम्राज्य का कुछ सीमा तक अंग भंग कर दिया गया । फ्रांस को अलसास और लारेन के प्रांत, बेल्जियम को यूपेन, मलमेडी और मोरेसनेट, लिथूएनिया को मेमल, पोलैंड को पूर्वी साइलेशिया और पश्चिमी प्रशा का भाग, चेकोस्लोवाकिया को अपर साइलेशिया का कुछ भाग, डेनमार्क को श्लेजविग प्रांत, मित्रराष्ट्रों के निरीक्षण में डेंजिग का बन्दरगाह, इत्यादि दिया गया । इसके अतिरिक्त सार की कोयले की खानों वाले क्षेत्र को १५ वर्षों के लिए फ्रेंच अधिकार में रखा गया । जर्मनी के प्रशान्त सागरीय द्वीप समूह चीन और जापान तथा अफ्रीका के उपनिवेश फ्रांस, ब्रिटेन और बेल्जियम में बाँट दिए गए और कुछ को राष्ट्रसंघ के नियंत्रण में रखा गया । जर्मनी पर क्षतिपूर्ति की रकम भी थोप दी गई । उसकी सैनिक शक्ति को कम कर दिया गया और युद्ध सामग्री पर अधिकार कर लिया गया या फिर नष्ट कर दी गई । इसमें राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव को भी सम्मिलित किया गया था ।

१० सितम्बर १९१९ को आस्ट्रिया के साथ सेंट जर्मेन की संधि की गई । इस संधि के पूर्व ही आस्ट्रिया-हंगरी का विस्तृत साम्राज्य समाप्त हो चुका था और

---

१—F Lee Benns—European History Since 1870

अब दो पृथक राज्यो–आस्ट्रिया और हगरी में विभाजित था । दानो राज्यो में प्रजातत्र की स्थापना हो चुकी थी । सेंट जर्मन की सधि के अनुसार आस्ट्रिया के बोहेमिया तथा मोरेविया के प्रदेशो को पृथक करके चेकोस्लोवाकिया का निर्माण किया गया । चेकोस्लोवाकिया को आस्ट्रियन साइलेशिया और आस्ट्रिया के नीचे के भाग का कुछ हिस्सा प्राप्त हुआ । बास्निया, हर्जीगोविना, क्रोशिया आदि सब प्रधान प्रांतो को सर्विया के साथ मिला दिया गया और यूगोस्लाविया का निर्माण किया गया । आस्ट्रिया के दक्षिणी टाइरोल, ट्रेनटीनो, ट्रीस्ट, इस्टेलिया तथा डालमेशियन तट के दो द्वीप, इटली को प्राप्त हुए । गेलेशिया पोलैण्ड को प्राप्त हुआ । रुमानिया को बुकोविना (Bukowina) प्राप्त हुआ । इस सधि ने आस्ट्रिया को मतप्राय कर दिया । उसका विस्तृत साम्राज्य समाप्त हो गया और अब वह एक छोटा थल राज्य मात्र रह गया और उसकी आबादी ७० लाख से भी कम हो गई । इसके अतिरिक्त उस पर भी क्षतिपूर्ति की गहरी रकम लाद दी गई । सधि की अन्य धाराएं वर्साय के समान ही थी । उसकी सैनिक शक्ति को कम करके ३०,००० तक सीमित कर दिया गया । सधि में एक महत्वपूर्ण व्यवस्था यह रखी गई कि भविष्य में आस्ट्रिया जर्मनी के साथ किसी प्रकार का सघ नही बनायेगा ।

**सेंट जर्मेन की सधि**

४ जून १९२० को हगरी के साथ ट्रायनो की सधि की गई । सधि में देरी होने का कारण हगरी का आतरिक गृह युद्ध था । हैप्सबर्ग वश के राज्य के समाप्त होते ही हगरी में एक प्रजातान्त्रिक सरकार की स्थापना की गई परन्तु शीघ्र ही साम्यवादियो ने अधिकार जमा लिया । रूमानिया की सहायता से साम्यवादी शासन का तख्ता पलटा गया और नवनिर्मित सरकार ने उपरोक्त सधि की । हगरी के पुराने राज्य के बडे बडे टुकडे उसके तीन पडौसियो–रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया ने बाट लिए गए । कुछ भाग आस्ट्रिया को भी प्राप्त हुआ । इस काट छाट के परिणाम स्वरूप हगरी का आकार पहले का एक तिहाई रह गया और उसकी आबादी ६० लाख तक रह गई । अन्य पराजित देशो की तरह उसकी सेना को भी कम कर दिया गया और क्षतिपूर्ति लाद दी गई ।

**ट्रायनों की सधि**

२७ नवम्बर १९१९ को बल्गेरिया के साथ न्यूली (Neuilly) की सधि की गई । बालकन राज्यो में यही एक हतभाग्य राज्य था जिसने जर्मनी का साथ दिया था । इस अपराध के लिए उसे ग्रेस को ईजियन सागर का तट प्रदेश यूनान को, मेसिडोनिया का अधिकांश भाग यूगोस्लाविया को, डाब्रूजा का भाग रूमानिया को देना पडा । सेना का विघटन, क्षतिपूर्ति तथा आर्थिक हानि अन्य पराजित राष्ट्रों की भांति उसे भी उठानी पडी

**न्यूली की सधि**

१० अगस्त १६२० को तुर्की के साथ सेव्रे की सधि को गई। इसके अनुसार यूनान को एशिया माइनर का अधिकाश भाग, एड्रियानोपल, गलीपोली तथा स्मर्ना का कुछ भाग प्राप्त हुआ। इटली को डाडेनीज द्वीप समूह, रहोडस और अडालिया के प्रात मिले। आर्मिनिया, हेजाज और कुर्दिस्तान को स्वतत्र कर दिया गया। साईप्रस, ब्रिटेन को मिला। मिश्र, इगलैण्ड के और सीरिया फ्रास के सरक्षण में रखे गए। सेना भी कम कर दी गई। परतु यह सधि कभी भी कार्यान्वित नही हो सकी। कमाल के नेतृत्व में तुर्कों ने कमाल कर दिया और २४ जुलाई १९२३ को दूसरी सधि 'लासेन' स्थान पर की गई।

**सेव्रे की सधि**

अब हम इन सधियो के सामूहिक चित्र का मनन करेंगे।

## प्रादेशिक व्यवस्था

## ( Territorial Settlement )

सन् १८७०-७१ के फ्रेंको प्रशियन युद्ध मे फ्रास को जर्मनी से पराजित होना पडा था और परिणाम स्वरूप अलसास और लारेन से हाथ धोना पडा। पेरिस शाति व्यवस्था की प्रादेशिक व्यवस्था के अनुसार जर्मनी को इन दोनो प्रातो से हाथ धोना पडा और ये प्रात पुन फ्रास को सौंप दिये गए। फ्रास को १५ वर्ष की अवधि के लिए सार की कोयले की खानो का स्वामित्व भी दिया गया। १५ वर्षों के बाद सार के निवासियों को अपने भविष्य का निर्णय करने का अधिकार दिया गया अर्थात् उन्हे यह तय करने का अधिकार दिया गया कि वे फ्रास के साथ रहना चाहते हैं या जर्मनी के साथ। चूँकि अधिकाश लोग जर्मन थे, अत यह पक्की सम्भावना थी कि वे जर्मनी के साथ मिलेंगे और १९३५ में ऐसा ही हुआ। जर्मनी के कुछ छोटे प्रात बेलजियम को दिए गए जिनका उल्लेख किया जा चुका है।

**फ्रैंको-जर्मन सीमान्त**

फ्रास राइन तक के प्रातो को लेने की ताक में था। बहुत से फ्रेंच लोगो को अभी भी यह याद था कि रोमन साम्राज्य के गॉल प्रात (फ्रास) की सीमा यहाँ तक फैली हुई थी। फॉच ने तर्क देते हुए कहा कि केवल इससे ही फ्रास को अपने शत्रु के विरुद्ध सुरक्षित सीमान्त प्राप्त हो सकेगा। परतु इगलैण्ड और अमेरिका ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। विल्सन आत्म निर्णय के सिद्धान्त में विश्वास रखता था। उसने स्पष्ट कहा कि किसी देश के सीमान्त का निर्णय सीमान्त निवासियो की इच्छा का ध्यान रखते हुए ही किया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में लाखो जर्मनो को अपनी मातृभूमि से पृथक होना पडता और विल्सन के सिद्धान्त की भी हत्या हो जाती। अत फ्रास को अपनी जिद छोडनी पडी।

सन् १८६४ ई० में जर्मनी ने डेनमार्क से जर्मन श्लेजविग प्रांत छीन कर अपने राज्य में मिला लिया था। अब इस प्रांत मे जनमत, लिया गया। जनमत के परिणाम स्वरूप श्लेजविग प्रांत का उत्तरी भाग डेन्मार्क को वापस लौटा दिया गया। इस प्रकार युद्ध में सम्मिलित हुये बिना ही डेन्मार्क को प्रादेशिक लाभ प्राप्त हो गया।



प्रथम महायुद्ध में जर्मनी द्वारा खोये गये प्रांत

**जर्मन पालिश सीमान्त**

जर्मनी के पूर्वी सीमान्त को तय करना सबसे अधिक कठिन कार्य सिद्ध हुआ। क्योंकि बाल्टिक से लेकर चेकोस्लोवाकिया तक, एक दूसरे के विरोधी और एक दूसरे से घृणा करने वाले जर्मन और पोल लोग, अत्यधिक अस्पष्ट रूप से अंतर्मिश्रित होकर बसे हुये थे। बाल्टिक तट पर विस्तुला के पूर्व में जर्मन आबादी वाला पूर्वी प्रशिया था तो विस्तुला के पश्चिम में डेंजिग बन्दरगाह के अतिरिक्त पोल आबादी का इलाका था। इसलिए आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार पूर्वी प्रशिया जर्मन ही बना रहा परन्तु पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने के लिए जो गलियारा दिया गया उसके परिणाम स्वरूप पूर्वी प्रशिया का जर्मनी से सम्बन्ध टूट गया। अर्थात् जर्मनी को फ्रेडरिक महान की विजय से वंचित कर दिया गया। डेंजिग जर्मन आबादी प्रधान नगर था परन्तु पोलैण्ड का प्राकृतिक सामुद्रिक द्वार भी था। इसलिए डेंजिग को जर्मनी से पृथक करके राष्ट्र संघ के संरक्षण में रखा गया। डेंजिग का स्वायत्त शासन जर्मन जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था को सौंप दिया गया और बन्दरगाह का प्रबंध पोलैण्ड को सौंप दिया गया। दूर दक्षिण में पोलैण्ड के पोसन प्रांत को जर्मनी से छीन लिया गया और इससे भी सुदूर दक्षिण में महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र अपर साइलेशिया जिसमें भी दोनों

जातियाँ इस भाँति बसी हुई थी कि आत्म निर्णय से किसी प्रकार का हल निकालना असम्भव था—को जर्मनी और पौलैण्ड में विभाजित कर दिया गया। कोई यह तो नही कह सकता कि जर्मन-पोलिश सीमान्त समस्या की इससे अधिक अच्छी और सही व्यवस्था की जा सकती थी। परतु शुरू से ही एक बात स्पष्ट थी कि यदि जर्मनी की शक्ति का पुनरुत्थान हुआ, तो यह सीमान्त, यदि उस समय तक जर्मन और पोल लोगो के मध्य मित्रता का अभ्युदय नही हो सका तो यूरोप का एक सघर्ष केन्द्र प्रमाणित होगा।

इस प्रादेशिक व्यवस्था से जर्मनी को बहुत से प्रातो से हाथ धोना पडा। लगभग पचास लाख नागरिको की जन शक्ति से वचित होना पडा। दो महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्रो अपर साइलेशिया और लोहे की खानो से भरपूर लारेन प्रात और अस्थायी तौर पर कोयले के समृद्धिशाली प्रात सार की घाटी स वचित होना पडा। फिर भी, सपूर्ण रूप में, सार घाटी की अस्थायी व्यवस्था और डेंजिग की विशेष व्यवस्था का छोडकर, ये परिवर्तन इन प्रातो मे बसने वाले निवासियो के बहुमत की इच्छानुकूल थे।

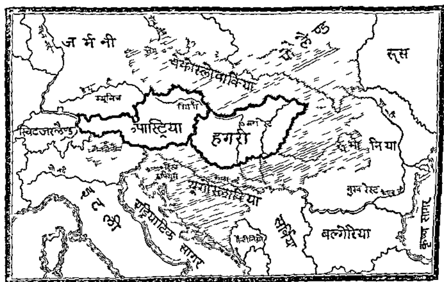
युद्ध समाप्ति से पूर्व, जर्मनी के पूर्वी तरफ एक बहुत बडा प्रदेश था जिसे जर्मनी ने ब्रेस्ट लिटोवस्क ( Brest Litovsk ) की सधि के द्वारा बलपूर्वक रूस से छीन कर अपने राज्य मे मिला लिया था। पेरिस शाति व्यवस्था के अनुसार इस विस्तृत प्रान्त से जर्मनी को हटने के लिये विवश किया गया। और तीन नवीन राज्यो एसथोनिया ( Estonia ) लटविया ( Latvia ) और लिथुएनिया ( Lithuania ) की स्थापना की गई। सुदूर उत्तर मे फिन लोगो का निवास था जिन्होने युद्ध समाप्ति के पूर्व जर्मनी की सहायता से रूसी प्रातो को हडपकर स्वतन्त्र फिनलैण्ड की स्थापना की थी। फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता बनी रही। पोलैण्ड ने न केवल लिथुएनिया की राजधानी विल्ना का लूट कर उसे प्रभाव हीन ही किया बल्कि रूसी सीमा में घुसकर शाति परिषद द्वारा निर्धारित सीमान्त रेखा का उल्लघन करके अपनी सीमा का विकास किया। इस प्रकार शाति व्यवस्था के निर्णयो की अवहेलना का कार्य शुरू हुआ।

**बाल्टिक राज्यों की स्थापना**

आस्ट्रिया-हगरी का विभाजन और विघटन वास्तव मे, राष्ट्रवादी विचारधारा व उत्साह की विजय का प्रतीक था। साथ ही लगभग सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यवस्थाओ के असतोषजनक चरित्र का दृष्टात भी था क्योकि जनसख्या इस भाँति अन्तरमिश्रित थी कि प्रत्येक राज्य मे दूसरे राज्य के अल्प सख्यक सम्मिलित थे। यह बात विशेषकर, चेकोस्लोवाकिया के बारे मे अधिक सही थी। चेकोस्लोवाकिया मे ६० लाख चेक, और २० लाख स्लोवाक ( जो किसी भी प्रकार एक दूसरे को देखना पसद नही करते थे ) के अतिरिक्त ३५ लाख सूडेटन जर्मनो, पोल और हगेरियन आदि अल्प

**आस्ट्रिया हगरी के अधिकारी राज्य**

सस्यको का निवास था। राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की दूसरी कमजोरी आर्थिक स्थिति थी। यह ठीक है कि यूरोप में यत्र तत्र छोटे २ स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण किया गया परन्तु इससे आर्थिक स्थिति बिगडती गई। अपनी सम्पूर्ण कमियों के उपरान्त भी आस्ट्रिया हंगरी एक संयुक्त संघ राज्य था। और इस दृष्टि से स्वतन्त्र व्यापार के लिए एक बहुत बडा क्षेत्र था। नये राज्यों ने आत्म निर्भर बनने के प्रयत्न में अपने सीमान्तों में आयात




आस्ट्रिया का अंग भंग

निर्यात होने वाले माल पर कर लगाना शुरू कर दिया और इस प्रकार व्यापार के प्राकृतिक मार्ग को अवरुद्ध कर दिया।

बाल्कन राज्यों में बल्गेरिया ही एक ऐसा दुर्भाग्यशाली राज्य था जिसने पराजित गुट का साथ दिया था। इसके परिणाम स्वरूप उसे एजियन सागर के तट के उस गलियारे से जो उसने १९१२ में विजित किया था वंचित होना पडा। बल्गेरिया ने जो खोया वह यूनान को प्राप्त हुआ। तुर्की को अरब आबादी वाले विस्तृत प्रान्त ईराक (मेसोपोटेमिया) सीरिया और पलस्टाइन से हाथ धोना पडा। सेव्रे की संधि ने तो उसे अनातोलिया (Asia Minor) के पश्चिमी प्रदेशों से भी वंचित कर दिया था। और इन प्रान्तों पर यूनान का अधिकार स्वीकार कर लिया गया परन्तु यूनान इन प्रान्तों को अपने नियन्त्रण में लाने में असफल रहा क्योंकि तुर्की ने कमाल पाशा के नेतृत्व में यूनानियों को मार भगाया। कमाल के कमाल फलस्वरूप मित्रराष्ट्रों ने सेव्रे की संधि के स्थान पर, तुर्की के साथ लासेन की संधि की और अनातोलिया के प्रान्तों पर पुनः तुर्की का अधिकार मान लिया गया। फिर भी महायुद्ध के परिणाम स्वरूप एशिया के तुर्की साम्राज्य ने यूरोप के प्राचीन तुर्की साम्राज्य के पथ का अनुसरण

**बल्गेरिया और तुर्की**

किया और उसका अस्तित्व लुप्त हो गया। अब जो कुछ बचा वह प्रमुखतः तुर्क राष्ट्रवादी राज्य अनातोलिया था जो तुर्कों का राष्ट्रीय घर था। तुर्की साम्राज्य की भूतपूर्व राजधानी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी कुस्तुनतुनिया का स्थान अकारा ने ले लिया।

## सुरक्षा और नि.शस्त्रीकरण

शान्ति परिषद के दो विषयो राष्ट्र सघ और क्षतिपूर्ति का अध्ययन हम पृथक अध्यायो में करेंगे। अब हम सुरक्षा और नि शस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करेंगे। शाति समझौते के सम्पन्न होने के बाद अमरिका अटलांटिक पार अपने घर चला जायेगा, ग्रेट ब्रिटेन भी, इस जानकारी के साथ कि सधि की शर्तों के अनुसार जर्मन नौ सेना ने आत्म समर्पण कर दिया है। और जर्मन नौ सेना का विघटन व पतन हो चुका है, चेनल के पार अपने घर चला जायेगा और चार करोड फ्रेंच जन सात करोड जर्मन लोगो का सामना करने को बच जायेंगे। फ्रास किस उपाय से भावी सुरक्षा उपलब्ध करे? फ्रास द्वारा प्रस्तावित फ्रेंच नियत्रण के अन्तर्गत "सशस्त्र राष्ट्र सघ" की योजना पहिले ही अस्वीकृत हो चुकी थी। राइन के किनारे किनारे हालैण्ड से अल्सास तक अपनी सीमा को पहुँचाने मे भी वह असफल रहा था। परन्तु फ्रांस को सतुष्ट करने के लिए मित्र राष्ट्रो ने दो सुझाव रखे। राईन के पश्चिम के सम्पूर्ण प्रांत और राईन के पूर्व तीस मील चौडी पट्टी पर मित्र सेना का १५ वर्षो तक नियत्रण रहे और यदि जर्मनी क्षतिपूर्ति की रकम देने में असफल रहे तो इससे भी अधिक समय तक मित्र सेना इन प्रान्तो मे डटी रहे। राइनलैण्ड से मित्र सेना के हटने के बाद इस प्रात का स्थायी रूप से असैनिकरण कर दिया जाये और अन्य बातो मे जर्मनी का पूर्ण नियत्रण रहेगा। केवल जर्मन सेना रखना और किलाबन्दी करना निषेध कर दिया गया था। यह व्यवस्था किसी सीमा तक फ्रास को सुरक्षा प्रदान कर सकती थी। क्योकि अब तक जर्मनी ने अपने सभी युद्ध अपनी भूमि पर नही बल्कि शत्रु की भूमि पर लडे थे। जर्मनी के अपने नगर, गाँव और नागरिक सुरक्षित ही रहे थे। यदि अब फिर कोई जर्मन युद्ध लडा जाता है तो वह इसी असैनिकरण प्रदेश मे ही लडा जायेगा। परन्तु इस व्यवस्था की स्थिरता में सन्देह था। क्योकि युद्ध के घावो के भरने के बाद, फ्रास के अतिरिक्त सभी देश यह सोचने लग जायेंगे कि जर्मनी को अपने प्रान्त में अपनी इच्छानुसार कार्यवाही करने से रोकना अन्याय युक्त है। अर्थात् जर्मनी को राइनलैण्ड मे सेना भेजने का अवसर प्राप्त हो जायेगा और सन् १९३६ ई० मे ऐसा ही हुआ।

राइनलैण्ड का असैनिकरण

फ्रास की भावी सुरक्षा के सम्बन्ध मे दूसरा सुझाव इङ्गलण्ड और अमेरिका का सयुक्त आश्वासन था कि यदि जर्मनी ने फ्रास पर आक्रमण किया तो दोनो देश शीघ्र ही फ्रास की सहायता को आ पहुँचेंगे। दुर्भाग्यवश सुरक्षा का यह साधन उस समय

समाप्त हो गया जब कि अमेरिका ने सम्पूर्ण संधि का अस्वीकार कर दिया और इसके साथ ही ब्रिटिश आश्वासन भी समाप्त हो गया क्योंकि ब्रिटेन ने अमेरिका के साथ संयुक्त रूप से सहायता देने का आश्वासन दिया था।

अब यह देखना बाकी रह जाता है कि निःशस्त्रीकरण के द्वारा फ्रांस को किसी प्रकार की सुरक्षा मिल सकती थी या नहीं। विल्सन का मत था कि कालांतर में सभी देश निःशस्त्रीकरण पर जोर दें। इंगलैण्ड के अधिकांश विचारक भी इससे सहमत थे। इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि शस्त्रीकरण युद्धों का एक प्रमुख कारण रहा है।

निःशस्त्रीकरण

परन्तु फ्रांस की हठ धर्मी के कारण इस समस्या को भविष्य के लिए छोड़ दिया गया। अभी केवल जर्मनी का निःशस्त्र करना ही पर्याप्त समझा गया। जर्मन सेना की संख्या एक लाख तक निश्चित करदी गई। उसकी जल शक्ति को नगण्य कर दिया गया और नभ सेना को समाप्त कर दिया गया। युद्ध सामग्री का निर्माण, आयात निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इस प्रकार सैनिक शक्ति की दृष्टि से जर्मनी को प्रभावहीन कर दिया गया।

जब तक जर्मनी निःशस्त्र था तब तक फ्रांस सुरक्षित था। इसके अतिरिक्त जर्मनी के पूर्वी नव निर्मित पड़ौसियों पोलैण्ड और चैकोस्लावाकिया के साथ सुरक्षात्मक सन्धियाँ करके फ्रांस ने अपनी स्थिति को और भी मजबूत बना लिया था। परन्तु यह व्यवस्था भी स्थायी प्रमाणित न हो सकी और १६३३ ई० के बाद जर्मनी पुनः शस्त्रीकरण की तरफ बढ़ा। एक लेखक के शब्दों में 'Either general disarmament, vaguely promised in the treaty would follow, or else German rearmament" जब फ्रांस को निःशस्त्रीकरण के लिये कहा गया तो उसने अस्वीकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी ने दूसरे मार्ग की तरफ कदम बढ़ाया और उसे रोकना असम्भव हो गया और फ्रांस की हठ धर्मी ने द्वितीय महायुद्ध की पृष्ठ भूमि का निर्माण किया।

## अल्पसंख्यकों की सुरक्षा

शांति संधियों द्वारा निर्मित नूतन सामान्त व्यवस्था ने राष्ट्रीय अल्प संख्यकों की एक जटिल समस्या को जन्म दिया। राष्ट्रवादी विचारों ने युद्ध और शांति सम्मेलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी और इससे राष्ट्रीय प्रतियोगिता की वृद्धि हुई। राष्ट्रपति विल्सन ने इस प्रवृत्ति को परख कर कहा था Nothing was more likely to disturb the peace of the world than the treatment which might in certain circumstances be meted out to minorities" भावी संकट को दूर करने के लिये अल्प संख्यकों की सुरक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक हो गया था। ऐसा अनुभव किया गया कि कम से कम नस्ल, जाति धर्म, सामाजिक, भाषा और आर्थिक दृष्टि से असंख्य राष्ट्रीय अल्प संख्यकों को समानता की प्रत्याभूति देना आवश्यक है।

आस्ट्रिया, हंगरी, बलोरिया और तुर्की के सम्बन्ध में, शांति समझौते में, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की प्रत्याभूति को सम्मलित किया गया। फिर, पोलण्ड रूमानिया, यूनान, यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया को बहुत विरोध के उपरांत भी इसी प्रकार की प्रत्याभूतियां से परिपूर्ण विशिष्ट संधियों पर हस्ताक्षर करने पड़े। यद्यपि सम्बन्धित देशों ने इसका विरोध किया और इस कदम को अपनी सार्वभौम सत्ता पर प्रहार माना परन्तु महान् शक्तियों ने उनके विरोध को कोई महत्त्व नहीं दिया और अपने निश्चय पर डटी रही। इस दिशा में राष्ट्रसंघ को निरीक्षक माना गया और राष्ट्रसंघ की कौंसिल के बहुमत से ही इसमें किसी प्रकार का संशोधन या पुनरावृत्ति करना तय किया गया। धीरे धीरे लिथुएनिया, लटविया, एसथोनिया, फिनलण्ड और अल्बानियों ने भी इस प्रकार की सन्धियों पर हस्ताक्षर किये।

## विल्सन और शांति समझौते



राष्ट्रपति विल्सन

**विल्सन का आदर्शवाद**

जनवरी १९१७ से १९१८ तक अमरिका के राष्ट्रपति विल्सन युद्ध से पीडित विश्व को युद्ध समाप्ति के उपरान्त सुन्दर व सुखी संसार के निर्माण का आश्वासन देते रहे और युद्ध बन्दी के लिये प्रयत्न भी करते रहे। वे एक आदर्शवादी पुरुष थे। उन्होंने युद्धकाल में अपने विश्व विख्यात "चौदह बिन्दुओं" (Fourteen Points) की घोषणा की और इनके आधार पर संसार के पुनर्निमाण का प्रयत्न भी किया। यही कारण था कि उन्होंने अपने पूर्वाधिकारियों की परम्परा को छोड़ कर अपने पद की अवधि में प्रशान्त को पार कर यूरोप में पदार्पण किया था। उनका कार्यक्रम स्पष्ट था। क्योंकि शांति समझौते को निपटाने में अमरिका के कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं थे और न ही उसे अपनी सुरक्षा का भय था। विल्सन एक ऐसी आदर्श सन्धि करवाना चाहता था जो सब राष्ट्रों के प्रति न्याय कर सके।

परंतु ऐसा नहीं हो सका। इसके बहुत से कारण थे। एक कारण विल्सन की अपनी कमियाँ थी। वह राजनीतिशास्त्र का प्राध्यापक, विश्वविद्यालय का आचार्य,

अमेरिकन राज्य का राज्यपाल रह चुका था और अब राष्ट्रपति पद को सुशोभित कर रहा था। वह भाषण दे सकता था, कानून बना सकता था परन्तु अपने समकक्षों से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की कला से अनभिज्ञ था। कीन्स के शब्दों में वह कोई वीर पुरुष अथवा पैगम्बर नहीं था, वह एक तत्ववेत्ता भी नहीं था, परन्तु उदार विचारों का ऐसा व्यक्ति था जिसमें दूसरे मनुष्यों की अनेकों दुर्बलताएँ थीं और जिसमें उस शासकीय बौद्धिक प्रखरता का अभाव था जो ऐसे चालाक और खतरनाक आकर्षण शील व्यक्तियों से निबटने के लिए आवश्यक थीं जिन्हें शक्तियों और व्यक्तियों के एक भयंकर संघर्ष ने राजनीतिक सौदा करने के काम में निपुण बना दिया था और इस दिशा में सफल माने जाने वाले व्यक्तियों की श्रेणी में एक ऊँचे शिखर तक पहुँचा दिया था।[1]

**विल्सन की कमियाँ**

दुर्भाग्यवश विल्सन यूरोप की जटिल एवं अंतर्मिश्रित समस्याओं के रूप से अपरिचित था। इसके अतिरिक्त उसने पहले से कुछ भी सोचा नहीं था। जब समस्याएं उसके सामने आई तो यह देखा गया कि उसके विचार अपरिपक्व और अपूर्ण थे। उसके पास केवल आदर्शवाद के अतिरिक्त कोई कार्यक्रम नहीं था, कोई ठोस योजना नहीं थी और न किसी प्रकार के रचनात्मक सुझाव ही थे। इतना ही नहीं बल्कि कभी कभी वह उन रिपोर्टों जो विशेषज्ञों के द्वारा कठिन परिश्रम व समय के उपरान्त तैयार की गई थी, पर भी ध्यान नहीं देता था। वह अपने आदर्श पर डटा रहना चाहता था और इसके लिये सब कुछ यहां तक कि घनिष्ठ मित्रता को भी छोड़ने को तैयार था। उसकी इस प्रवृत्ति को परख कर ही लगसम ने लिखा है—"Wilson's tactical mistakes were, in some measures, the result of his character and personality His idealism frequently was above the heads of the people and he found it difficult to make him understand"[2]

नवम्बर १९१८ में अमेरिका के आम निर्वाचन का भी बहुत प्रभाव पड़ा। विल्सन का डेमोक्रेटिक दल पराजित हुआ और उसके विरोधी रिपब्लिकन दल ने दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त कर लिया था। ये तथ्य उस समय और भी बुरे हो गये जब कि राष्ट्रपति विल्सन ने विरोधी दल के प्रभावशाली सदस्यों का साथ लिए बिना ही यूरोप को प्रस्थान कर दिया। इसके अतिरिक्त जनता का विश्वास प्राप्त न कर सकने के कारण विल्सन की शक्ति और प्रभुता में कमी आ गई थी, जब कि क्लीमेन्शो और लॉयड जार्ज को जनमत की शक्ति प्राप्त हो चुकी थी।

---

1 G P Gooch—History of Modern Europe
2 Langsam—The World Since 1919

विल्सन अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे असफल रहा और उसकी असफलता मे फ्रांस के प्रधानमन्त्री क्लीमेन्शो का जबरदस्त हाथ रहा। क्लीमेन्शो ने विल्सन को इस ढंग से प्रभावित किया कि विल्सन जान भी न सका कि वह ठगा जा रहा है। छोटी २ बातो पर क्लीमेन्शो ने उदारता का प्रदर्शन करते हुये विल्सन का समर्थन किया और उसके सहयोग को भी प्राप्त कर लिया। जब कि विल्सन ने इस बात पर जोर दिया कि राष्ट्र संघ का मसविदा पत्र शांति समझौते का ही एक अंग होना चाहिए तो इटली के ओरलेण्डो ने उसके प्रस्ताव का विरोध किया परन्तु क्लीमेन्शो ने उसका समर्थन किया। इसी प्रकार राइन के सीमान्त के सम्बन्ध में क्लीमेन्शो ने पहिले से ही बढ़ी चढ़ी मांग रखी और जब विल्सन ने विरोध किया तो उसने कुछ प्रान्तो को त्यागना स्वीकार कर लिया तो विल्सन ने इच्छा न होते हुये भी सार घाटी फ्रांस को देना स्वीकार कर लिया क्योंकि क्लीमेन्शो ने उसकी इच्छा के कारण अपनी मांग को कम कर दिया था। इसी प्रकार क्षतिपूर्ति तथा अन्य विषयो पर भी विल्सन को बाध्य होकर अपने सिद्धान्तो का गला घोटना पड़ा। क्योंकि क्लीमेंशो ने जो मांगे रखी थी वे सही थी। जब जर्मनी ने शांति समझौते में संशोधन की प्रार्थना की तो विल्सन ने अस्वीकार कर दिया क्योंकि जो मांगे सही थी वे तो शांति समझौते में रखी गई थी। अतः विल्सन सही समझौते में संशोधन करने को तैयार नहीं था।

**क्लीमेन्शो ने विल्सन की विचार धारा को प्रभावित किया**

विल्सन हैरिस[1] ने लिखा है कि वह (विल्सन) आंशिक रूप से असफल रहे। परन्तु उसका कारण यह नहीं था कि उन्होंने प्रयत्न नहीं किया। उनके सामने दो मार्ग खुले थे जिनमें से उन्हें एक को चुनना था वह या तो एक बुरे समझौते को स्वीकार करते या सम्मेलन को छोड़ देते, पर इस दूसरे मार्ग पर चलने का अर्थ यह होता कि समझौते का स्वरूप और भी अधिक बिगड़ जाता। उन्होंने वास्तव में इतना अधिक त्याग किया जिसका उन्हें अनुमान भी नहीं था। परन्तु उनका विश्वास था कि यदि राष्ट्र संघ की स्थापना हो गई तो उसके द्वारा ये सारी बुराइयाँ दूर की जा सकेंगी।

**विल्सन के दो मार्ग**

## चौदह बिन्दु और शान्ति समझौते

८ जनवरी १९१८ को राष्ट्रपति विल्सन ने अपने १४ बिन्दुओं की घोषणा की। इन बिन्दुओं में युद्धोपरान्त संसार की व्यवस्था का चित्र विद्यमान था। युद्ध के अंतिम दिनो में—युद्ध बन्दी के समय मे इनका महत्वपूर्ण भाग रहा। ये इस प्रकार थे—

(१) खुले ढंग से किये गये खुले करार। (२) सामुद्रिक यातायात की स्वतन्त्रता।

---

1 Lansing—The Big Four

(३) आर्थिक अवरोधों की समाप्ति (४) नि.शस्त्रीकरण (५) निष्पक्षता के साथ उपनिवेशों का निपटारा (६) रूसी प्रदेशों को खाली करना और रूसी स्वाधीनता को स्वीकार करना (७) बेलजियम को खाली करना और उसकी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करना। (८) फ्रांसीसी प्रदेशों को मुक्त करना तथा अल्सस लोरेन को देना (९) इटली की सीमाओं में राष्ट्रीयता के आधार पर संशोधन करना (१०) आस्ट्रिया-हंगरी की विभिन्न राष्ट्रीयताओं को स्वतन्त्रता प्रदान करना (११) रूमानिया, सर्बिया और मोंटीनिग्रो को खाली करना, सर्बिया को समुद्री द्वार प्रदान करना और बाल्कन राज्यों की सीमा निर्धारित करना (१२) आटोमन साम्राज्य को उसकी तुर्की की सीमाओं के लिए सम्पूर्ण प्रभु सत्ता का आश्वासन देना, तुर्क साम्राज्य के अंतर्गत निवास करने वाली राष्ट्रीयताओं को असंदिग्ध सुरक्षा और स्वाधीन विकास का अवसर प्रदान करना तथा डार्डनेल्स को सभी राष्ट्रों के लिए स्थायी रूप से खोलना। (१३) स्वतन्त्र पोलैंड राज्य की स्थापना करना तथा उसे समुद्री द्वार प्रदान करना और उसे उसकी अखण्डता का आश्वासन देना (१४) राष्ट्र संघ की स्थापना करना।

विल्सन ने इस चौदह सूत्री योजना के आधार पर शत्रु राष्ट्रों से संधि करने की अपील की थी परन्तु जो संधियाँ हुई वे इन बिन्दुओं से अधिक प्रभावित न थी। इसका एक कारण तो यह था कि जब तक जर्मनी को अपनी पराजय का पूर्ण विश्वास नहीं हो गया तब तक उन्होंने इस तरफ ध्यान ही नहीं दिया और जब उन्होंने इसे स्वीकार किया तब तक चौदह बिन्दुओं का कायाकल्प हो चुका था। चौदह बिन्दुओं के

**चौदह बिंदुओं का कायाकल्प**

प्रति जर्मनी का रुख प्रारम्भ से ही नकारात्मक रहा और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण रूस के साथ की गई ब्रेस्ट लिस्टोवस्क ( Brest Litovsk ) की संधि और रूमानिया के साथ की गई संधि है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी युद्ध बंदी के लिए तैयार नहीं है और जर्मन कोष में चौदह बिन्दुओं का अभिप्राय असामिल प्रदेशों को हड़पना है। अप्रैल १९१८ में विल्सन ने कहा था — I am ready to discuss a fair and just and honest peace at any time But the answer when I proposed such a peace (i e in Jan 1918) came from the German Commanders in Russia and I cannot mistake the meaning of the answer I accept the challange Germany has once more said that force and force alone shall decide whether justice and peace shall reign in the affairs of men" इस प्रकार जर्मनी ने रूस और रूमानिया के साथ क्रूर व्यवहार करके, शांति परिषद के बहुत समय पूर्व ही मित्रराष्ट्रों

से नेताओं की उदारता और सहानुभूति को ठोकर मारकर उन्हें आधित कर दिया था। विलसन और उसके सहयोगियों की यह धारणा निश्चित हो गई कि बिना विजय के जर्मनी के साथ संधि करने का सवाल ही नहीं उठता। यही कारण है कि युद्धबन्दी के पूर्व ही मित्रराष्ट्रों ने यह तय कर लिया कि उनके हितों के लाभ की दृष्टि से चौदह बिन्दुओं में संशोधन किये जा सकेंगे। अर्थात् शांति परिषद के अधिवेशन में क्लीमेंशो का पथ उन्मुक्त हो चुका था और चौदह बिन्दुओं का कायाकल्प भी पूर्ण हुआ।

१९१८ की सम्पूर्ण अवधि में विलसन ने शत्रुराष्ट्रों की जनता से यही अपील की कि चौदह बिन्दुओं के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही युद्ध को जारी रखा जा रहा है।

**मित्रराष्ट्रों की नीति**

मित्रराष्ट्रों ने उसका समर्थन किया था। क्योंकि रूस के पृथक हो जाने से उनकी शक्ति घट गई थी और अमरिका की निरन्तर सहायता व सहयोग पाने का एकमात्र उपाय यही था कि वे भी ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करें, ऐसी घोषणाएं करें जिससे विलसन को सन्ताप मिले। किसी भी मित्रराष्ट्र ने विभागीय दृष्टि से इन सम्पूर्ण बिन्दुओं को कभी भी स्वीकार नहीं किया, हालांकि संघर्ष काल में किसी ने इन बिन्दुओं का विरोध भी नहीं किया। परन्तु युद्धबन्दी के तुरन्त बाद ही विलसन और उसके सहयोगियों के मध्य चौदह बिन्दुओं को लेकर मतभेद उठ खड़ा हुआ और ऐसा होना भी स्वाभाविक था। प्रथम तो मित्रराष्ट्र एक दूसरे के साथ अनेक गुप्त संधियाँ कर चुके थे। दूसरे इंगलैण्ड और फ्रांस के युद्धोपरान्त निर्वाचनों में सत्तारूढ़दल ने जर्मनी के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करने की घोषणा की थी और अब वह समय आ गया था जब कि वे अपने वचनों को पूरा करते।

शांति परिषद् के अन्तिम निर्णयों का अध्ययन करके कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि विलसन के चौदह बिन्दु अपने अस्तित्व को बनाए रखने में असफल रहे।

**चौदह बिन्दु कहाँ तक सफल रहे ?**

अब हम एक एक बिन्दु को लेकर देखते हैं। प्रथम बिन्दु 'खुले करार' पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया और शांति समझौते के आलेखन का काम शांति परिषद् से दस की परिषद को, दस की परिषद से पांच की परिषद को और बाद में केवल तीन की परिषद को दिया गया और वह भी खुले ढंग से नहीं बल्कि बन्द कमरों में बैठकर करने के लिए। दूसरा बिन्दु "समुद्रों की स्वतन्त्रता" शांति परिषद के प्रारम्भ होने के पूर्व ही त्याग दिया गया परन्तु क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन इस पर विचार करने के लिए भी तैयार नहीं। तीसरा बिन्दु भी उपेक्षा का पात्र बना और व्यापारिक प्रतिबन्धों को नहीं हटाया गया। चौथे बिन्दु-"शस्त्रीकरण को सीमित करना" का पालन किया गया परन्तु केवल पराजित देशों के सम्बन्ध में। पांचवें बिन्दु-"उपनिवेशों का उचित निपटारा" का पालन पराजित देशों को उपनिवेशों से वंचित करने के लिए किया गया। छठे बिन्दु के

---

१ L C B Seaman—From Vienna to Versailles

अनुसार जर्मनी को तो भूतपूर्व रूसी प्रांतों को खाली करने के लिए विवश किया गया परन्तु स्वयं मित्रराष्ट्रों ने नवस्थापित साम्यवादी सरकार का तख्ता उलटने के प्रयत्न की दृष्टि से सैनिक टुकडियां भेजी। सातवें और आठवें का पालन किया गया। परन्तु नवें बिन्दु के अनुसार इटली को राष्ट्रीय सीमा न प्राप्त न हो सके। इसी प्रकार दसवें बिन्दु के अनुसार आस्ट्रिया हंगरी का राष्ट्रीयताओं की समस्याओं का ठीक समाधान न हो सका और बहुत से लोगों को विदेशी राज्य की अधीनता में रखा गया। ग्यारहवें बिन्दु का पालन किया गया और रूमानिया, मांटीनिग्रो और सर्बिया को खाली कर दिया गया। बारहवें बिन्दु के अन्तर्गत तुर्क शासन के अन्तर्गत विविध राष्ट्रीयताओं को स्वायत्त शासन भी नहीं दिया गया। अंतिम दोनों बिन्दुओं का पालन किया गया।

संक्षिप्त में, पांच बिन्दुओं का सही रूप में कार्यान्वित किया गया, चार बिन्दुओं को, केवल मित्रराष्ट्रों के लाभार्थ कार्यान्वित किया गया और पांच बिन्दुओं को त्याग दिया गया।

## क्लीमेन्शो और शांति समझौते



चित्र—क्लीमेन्शो

पेरिस के शांति समझौते के स्वरूप को निश्चित करने में सबसे अधिक प्रभाव का उपयोग करने वाला, शांति परिषद के प्रतिनिधियों का स्वागत करने वाले देश फ्रांस का प्रधान मंत्री और इस नाते शांति परिषद का निर्वाचित अध्यक्ष जार्ज क्लीमेन्शो था।

**परिचय और स्थिति**

वह इस समय अस्सी वर्ष का वृद्ध पुरुष था और उसकी अवस्था ने शांति परिषद के रंगमंच पर महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने में सहयोग दिया। सन् १८७०-७१ वर्ष के जर्मन युद्ध के समय वह पेरिस के एक जिले का मेयर था युद्ध के अन्तिम साल में वह फ्रांस का प्रधानमन्त्री था और फ्रेंच समाज उसे 'वृद्ध केसरी' तथा "महान विजेता" के नाम से सम्बोधित करता था। विजय की घड़ी में उसे फ्रांस वासियों के असीम विश्वास से पुरस्कृत किया गया था और आम निर्वाचन में उसे भारी सफलता मिली। यूरोप की तत्कालीन समस्याओं की जितनी विस्तृत जानकारी और गहरा ज्ञान उसको प्राप्त था उतना 'चार बड़ों' में किसी को नहीं था। इसके अतिरिक्त वह फ्रेंच, अंग्रेजी और इटा

लियन भाषाओं का विद्वान् था और इन भाषाओं को धारा प्रवाह मे बोलने की क्षमता से युक्त था।

क्लीमेन्शो आदर्शवादी नही था, वह एक व्यावहारिक कार्यकर्त्ता था। इसे विल्सन के चौदह बिन्दुओ या राष्ट्र संघ के प्रति कोई रुचि नही थी। उसका प्रमुख उद्देश्य था-फ्रास की सुरक्षा। उसके मस्तिष्क में संधि का उद्देश्य, विजय को फ्रास की स्थिर सुरक्षा में परिवर्तित करने का था। अन्य तथ्यो के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही था। फीस ने लिखा है कि फ्रास के प्रति उसका वही दृष्टिकोण था जो पेरीक्लोज का एथेन्स के सम्बन्ध में था। परन्तु सैद्धान्तिक रूप से राजनीति में वह बिस्माक का अनुगामी था। उसके सामने एक आकर्षण था फ्रास, और एक अनाकर्षण मानवता, जिसमें फ्रास के निवासी और विशेषकर उसके सहयोगी भी सम्मिलित थे।[1] लन्सिग के शब्दो में "वह शाति सम्मेलन पर छा गया था, उसमें महान् नेतृत्व के सभी आवश्यक गुण थे, वह जानता था कि कब अपने प्रतिपक्षी की बात को काटा जा सकता है, और कब उसे सन्तुष्ट करना आवश्यक होता है।[2]

उद्देश्य

शाति परिषद ने यूरोप का जो नया मानचित्र तैयार किया वह क्लीमेन्शो का स्वप्न था फ्रासीसी राजनीतिज्ञो द्वारा निर्मित यूरोप का मानचित्र था। क्लीमेन्शो धीरे २ कूटनीति के सहारे विल्सन को उसके चौदह बिन्दुओ से दूर हटाता गया और विल्सन को मालूम भी न हो सका। विल्सन क्लीमेन्शो की नीति का मूल्याकन करने में असफल रहा क्योकि क्लीमेन्शो की नीति पूर्वी व्यापारियो की तरह थी, अपनी मांगो को पहिले से ही दस गुना बढा कर रखने की थी ताकि वास्तविक मागो से कुछ अधिक ही हाथ लगे। राइनलैण्ड, सार घाटी, क्षतिपूर्ति, पोलैण्ड आदि सभी समस्याओं में उसने अपने अनुकूल निर्णय कराने में सफलता प्राप्त की। परिणामस्वरूप फ्रास के सभी शत्रुओ की शक्ति को निर्बल बना दिया गया और उनकी सीमाओ को सकुचित कर दिया गया। ऐसा मालूम पडता है मानो फ्रास के महान् सम्राट लुई चौदहवें के समय के यूरोप की पुनरावृत्ति करदी गई हो। इसलिए यदि कुछ आलोचको ने शाति व्यवस्था को 'क्लीमेन्शो का सन्धि" कहकर व्याख्या की है तो वह न्याय रहित नही है क्योकि नपोलियन प्रथम के यूरोपीय मानचित्र को छोडकर, अबतक के निर्मित यूरोपीय मानचित्र, तत्कालीन मानचित्र को शाति" फ्रास द्वारा निर्मित" मुहर से वंचित थे।

नवीन मानचित्र का निर्माता

## लॉयड जार्ज और शाति समझौते

क्लीमेन्शो और विल्सन के मध्य सतुलन को बनाये रखने वाला लॉयड जार्ज था जो

1 G P Gooch History of Modern Europe
2 Lansing—The Big four

युद्ध के अंतिम दो वर्षों से ग्रेट ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री था। वह विचारों और सिद्धान्तों का पुजारी नहीं था। उसकी नीति भी स्पष्ट नहीं होती थी और परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती थी। लैन्सिंग के शब्दों में 'उसके पास एक अद्भुत, सजग मस्तिष्क था जो अथक स्फूर्ति से छलकता रहता था। वह बड़ी तेजी के साथ निर्णय कर लिया करता था और उसमें न तो बारीकियों का ध्यान रखता था और न मूलभूत प्रश्नों का। जीवन से उत्फुल्ल, व्यवहार में शिष्ट और स्वभाव से सरल, वह सामाजिक दृष्टि से बहुत ही आकर्षक व्यक्ति था। परन्तु इस असाधारण व्यक्ति के पास कूटनीति की कला बिल्कुल भी नहीं था। फिर भी पेरिस में उसे अत्यधिक सफलता मिली।

**परिचय**

शान्ति अधिवेशन के प्रारम्भ होने के पूर्व ग्रेट ब्रिटेन के आम चुनाव में लॉयड जार्ज के कार्यक्रम का मुख्य आधारतत्व 'युद्ध के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को सजा दिलवाना और शत्रु से युद्ध का खर्चा प्राप्त करना था। अतः शान्ति अधिवेशन के प्रारम्भ होते ही उसे अपने कार्यक्रम का स्मरण हो आया। क्लीमेन्शो भी समय समय पर उसे उसके वचनों की याद दिलाता रहता। नतीजा यह हुआ कि लॉयड जार्ज को विल्सन का साथ छोड़कर क्लीमेन्शो का साथ देना पड़ा। यद्यपि कई विषयों पर उसने क्लीमेन्शो का जबरदस्त विरोध भी किया। उसके विरोध के फलस्वरूप ही फ्रांस अपने प्राकृतिक सीमान्त को प्राप्त करने में असफल रहा। उसके विरोध के कारण ही विल्सन के चौदह बिन्दुओं में कुछ बिंदुओं को छोड़ना पड़ा। वास्तव में, वह एक उदारवादी पुरुष था, जब जर्मनों ने शान्ति समझौते में संशोधन करने की दुहाई दी तो लॉयड ने उनका पक्ष लिया था परन्तु क्लीमेन्शो और विल्सन के विरोध के कारण वह असफल रहा और संशोधन नहीं किये गये।

**कार्यक्रम और योगदान**

## जर्मन सैनिक शक्ति और शांति समझौते

शान्ति व्यवस्था के आलोचकों का कथन है कि मित्रराष्ट्रों का प्रमुख उद्देश्य पराजित राष्ट्रों की सैनिकशक्ति को नष्ट करना था और वे अपने इस प्रयत्न में सफल भी रहे। वर्साय संधि की द्वितीय महत्वपूर्ण धारा ने, दूसरे देशों के क्षेत्रों में कार्यवाही व हस्तक्षेप करने वाली जर्मन प्रवृति, जो उसकी सर्वप्रिय, अनियन्त्रित व असीमित नीति का प्रधान अंग थी, को सीमित व नियन्त्रित कर दिया। यदि किसी संधि की धाराओं के आधार पर किसी देश का पुनः शक्तिशाली होने से रोका जा सकता था तो वर्साय की संधि में ऐसी धाराओं का अभाव नहीं था। वर्साय की संधि ने भी जर्मनी को पुनः शक्तिशाली सैनिकशक्ति बनने से रोकने का प्रयत्न किया। विश्वशांति को संकट से विमुक्त रखने का प्रयत्न किया गया। शांति और व्यवस्था को बनाये रखने के लिये तथा अन्य

**वर्साय की संधि जर्मन सैन्यशक्ति**

सेवा कार्यों की आवश्यकता के लिये, भविष्य में जर्मनी कितनी सख्या मे सनिक और अस्त्र शस्त्र रख सकेगा, इस विषय पर वर्साय की सधि में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। सामान्य तौर पर वर्साय की सधि ने जर्मनी की सशस्त्र शक्ति को काफी कम कर दिया और अब उसकी जो स्थिति थी वह छोटे छोटे राज्यो की स्थिति से किसी प्रकार अधिक उनत नही थी।

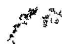
मार्च १६२० तक जर्मन सेना को एक लाख तक सीमित रखना आवश्यक माना गया। इस सेना में चार हजार से अधिक अधिकारी नही होने चाहिये। अनिवार्य सनिक सेवा को समाप्त कर दिया गया और केवल उन्ही लोगो को जो अपनी इच्छानुसार सेना में भर्ती होना चाहे, भर्ती करन का आदेश दिया गया। सनिक सेवा की अवधि निश्चित कर दी गई। सनिक के लिये १२ वष की और अधिकारी के लिए २५ वष की अवधि कायम की गई। एक शर्त और रखी गई—सेना के सदस्यो को उनके कायकाल की समाप्ति के पूव किन्ही भी कारणो के आधार पर प्रतिवर्ष पाच प्रतिशत से अधिक लोगो को सनिक सेवा से नही हटाया जायगा। सेना की अध्यक्षीय समिति तोड दी गई और इसके पुनर्निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

**सेना सम्बन्धी धाराऐ**

इन धाराओ से ऐसा मालूम पडता है कि सधि निर्माताओ ने इतिहास से शिक्षा ग्रहण की थी। क्योकि कई बार विजेताओ ने पराजित देशो को निश्चित सख्या मे सेना रखने को बाध्य किया था। परन्तु इन देशो ने शर्तों को मानते हुए भी अपनी सेना की शक्ति को विकसित करने के उपाय ढूँढ निकाले थे। ज्यो ही निश्चित सख्या के सनिक प्रशिक्षण समाप्त करते त्योही उन्हे सेवा कार्य से मुक्त कर दिया जाता और उनके स्थान पर नये रगरूटो को भर्ती कर लिया जाता। इस प्रकार की नीति मे निश्चित सख्या तो बनी रहती थी परतु वास्तव में सैनिक सेवा योग्य सनिको की सख्या बढती जाती थी। वर्साय की सधि ने इस प्रकार के उपायो को नियत्रित कर दिया। इतना ही नहीं, बल्कि अन्य नागरिक अधिकारियो और कर्मचारियो को सैनिक प्रशिक्षण देने पर रोक लगा दी गई। सनिक विद्यालयों को बन्द कर दिया गया।

वर्साय की सधि ने न केवल सेना की सख्या ही निश्चित की परन्तु सेना के काम आने वाले अस्त्र शस्त्रो और युद्ध सामग्री के निर्माण, आयात तथा निर्यात की भी सीमा निर्धारित कर दी। जर्मनी केवल निर्धारित सीमा तक केवल उन्ही कारखानो में जिन्हे पाँचो राष्ट्रो ने मान्यता दे दी हो, युद्ध सामग्री का निर्माण कर सकता था। दूसरे कारखानो को बन्द कर दिया गया या नष्ट कर दिये गये। विदेशो से युद्ध सामग्री मगवाने पर प्रतिबध लगा दिया गया। जर्मनी को दम घोटनेवाली विषैली गैसो, सनिक मोटर गाडियो और टैंको का निर्माण करने को मना कर दिया गया। इस प्रकार जर्मनी की प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया गया।

**युद्ध सामग्री का का निर्माण**



राइन के दाहिने किनारे या बायें किनारे के तीस मील तक के प्रातो में किसी दुर्ग को रखने या किलाबन्दी करने के लिये जमनी को मना कर दिया गया। इन प्राता में विद्यमान दुर्गों को नि शस्त्र करने या किलेबन्दी की दृष्टि से नष्ट करने का आदेश दिया गया। इन प्रातो में सनिक व्यवस्था पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

वसाय की सधि ने जमन नौ सेना को भी महत्वहीन बना दिया जहाजी बेडे में ६ लडाई के जहाज ६ हल्के, क्रूजर जहाज, १२ मारू जहाज और १२ टार्पीडो नावें और १५०० नाविक सनिका से अधिक सख्या पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जमनी को अपने

नौशक्ति

लडाकू जहाजो को सौंप देने का आदेश दिया गया परन्तु जर्मनी ने आत्म समपण के स्थान पर अपने जहाजी बेडे को समुद्र को भेंट कर दिया। पनडुब्बियो के निर्माण पर पाबन्दी लगा दी गई। हेलीगालैण्ड जो कि जमन नौ सेना का एक प्रमुख केन्द्र था, के किले को तोड दिया गया। इसी प्रकार बाल्टिक सागर तट की किले बन्दी को भी नष्ट कर दिया गया। कील नहर को सभी देशो के जहाजो के लिये खोल दिया गया।

सधि की धाराओ के अनुसार जर्मनी को किसी प्रकार के हवाई जहाज बनाने से अथवा ऐसी वस्तु जो हवा में फेकी जा सकती हो बनाने को या रखने को मना कर दिया गया।

इस प्रकार महायुद्ध के पूर्व यूरोप की प्रमुख सैनिक शक्ति को प्रभाव हीन बना दिया गया और अब उसकी सनिक शक्ति अपने विगत वमवकाल की शक्ति का आठवा हिस्सा ही रह गई। उसके पास सुरक्षित सैनिकों का एक दल भी नही रखा

निष्कर्ष

गया। उसकी नौ सेना जो इगलैण्ड के बाद विश्व की शक्ति शाली नौसेना थी अब बिल्कुल महत्वहीन स्थिति में पहुँच चुकी थी। इसके अतिरिक्त उसकी भूमि पर, उसके खर्च पर उसकी कार्यवाहियो का निरीक्षण करने और उसके कार्यों मे हस्तक्षेप करने के लिये विदशी सेनाओ को रखा गया। इससे अधिक अपमान और क्या हो सकता था। शायद इससे अधिक कठोर धाराए आज तक किसी सधि में सम्मिलित नही की गई। यदि इन धाराओ का मानने के लिये जर्मनी को विवश किया जाता तो शायद जमनी कभी सिर नही उठा सकता था। परन्तु ऐसा नही हो पाया और जमनी अपने कलक को धोने के लिये दूसरी बार उठ खडा हुआ। हालाकि परिणाम अनुकूल नही निकला।

## क्षतिपूर्ति और शाति समझौते

अब हम शाति व्यवस्था के सबसे अधिक असन्तोषजनक भाग का अध्ययन करते है। इस दिशा में दिसम्बर १९१८ में इगलैण्ड के आम निर्वाचन में ब्रिटिश मतदाताओं ने अत्यधिक रुचि दिखलाई और उनके नेता लॉयड जार्ज ने भी उन्हें आश्वासन दिया कि जहाँ तक सम्भव हो सकेगा जर्मनी से युद्ध का हर्जाना वसूल करने का प्रयत्न किया जायेगा।

कुछ सीमा तक यह बात न्याययुक्त भी थी। जर्मनी को अपनी पराजय के उपरान्त भी अपने प्रदेशों का, नगरों का और नागरिकों का विनाश नहीं देखना पड़ा। इसके अतिरिक्त सन् १८७०-७१ में जर्मनी ने भी फ्रांस पर इसी प्रकार का हर्जाना लादा था।

युद्धबन्दी के सम्बन्ध में होने वाली प्रारम्भिक वार्तालाप के समय मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को स्पष्ट रूप से बता दिया था कि जल, थल और नभ की लड़ाई के परिणाम स्वरूप नागरिकों को जो हानि उठानी पड़ी है उसकी पूर्ति जर्मनी को करनी पड़ेगी। इसमें फ्रांस तथा अन्य देशों के वीरान प्रांतों को फिर से आबाद करने का व्यय, डुबोये गये जहाजों के पुनर्निर्माण का व्यय भी सम्मिलित था। विशेषज्ञों ने अत्यधिक परिश्रम के उपरान्त यह मालूम किया कि इन कार्यों के लिये करीब ३,०००,०००,००० पौंड की आवश्यकता पड़ेगी। इस रकम पर ५ प्रतिशत के हिसाब से १५०,०००,००० पौंड वार्षिक ब्याज होगा। जर्मनी की आर्थिक स्थिति को देखते हुये वार्षिक ब्याज का चुकाना भी असम्भव प्रतीत होता था। इसी समय एक और नई उलझन पैदा हो गई। मित्रराष्ट्रों ने युद्धबन्दी के समय निर्धारित किये गये हर्जाने के दावों के साथ अन्य दावों को भी सम्मिलित कर लिया। परिणाम स्वरूप हानि की रकम बढ़ती गई। यद्यपि संधि में किसी निश्चित राशि का उल्लेख नहीं किया गया परन्तु फिर भी ऐसा अनुमान है कि हर्जाने की रकम ८,००६,०००,००० पौंड के लगभग निर्धारित की गई होगी।

**हर्जाने की समस्या**

अंत में, शांति सम्मेलन ने हर्जाना निश्चित करने और वसूल करने का सम्पूर्ण कार्य क्षतिपूर्ति आयोग को सौंप दिया। अमेरिका ने अपनी क्षति के बदले में हर्जाना लेने से अस्वीकार कर दिया। इस समस्या का विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया जायेगा।

## जर्मनी का आर्थिक ध्वंस

श्री हेम्पडन जेक्सन ने लिखा है कि शांति समझौते का प्रमुख अभिप्राय जर्मनी का आर्थिक ध्वंस करना था।[1] जेक्सन का कथन सत्य के काफी निकट है। वर्साय की संधि के अनुसार जर्मनी को अपने दो महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्रों अपर साईलेसिया और लोहे वाला लारेन प्रान्त तथा कोयले की सार घाटी से वंचित होना पड़ा। इसके अतिरिक्त उससे उसके उपनिवेश भी छीन लिये गये। केवल समुद्र पार के उपनिवेशों के छीन जाने से जर्मनी को दस लाख वर्ग मील क्षेत्र से हाथ धोना पड़ा। इन भागों के १,२०,००,००० निवासियों की सेवा से वंचित होना पड़ा। इससे जर्मनी का २५% रबड़, तेल तथा अन्य वस्तुओं का नुकसान हुआ। उसका व्यापारिक बेड़ा ५५ लाख से घटा कर केवल ४ लाख टनेज तक सीमित कर दिया गया। १६०० टन वजन वाले सम्पूर्ण व्यापारिक जहाज, १६०० से ८०० टन के वजन के

**छीना झपटी**

और मछली पकड़ने वाले चौथाई जहाज, मित्र राष्ट्रों को देने के लिये जर्मनी को विवश किया गया।

इसके अतिरिक्त जर्मनी पर युद्ध के हर्जाने की एक विशाल राशि लाद दी गई। इतना ही नहीं बल्कि जर्मन प्रान्तों में नियुक्त मित्र राष्ट्रों की सेना का व्यय भी जर्मनी पर डाला गया। मित्र राष्ट्रों मे जर्मनी की जितनी सम्पत्ति थी उसे बेचना आवश्यक माना गया। जर्मनी को कई प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करने से मना कर दिया गया। विदेशों में उसे जो व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त थी, उनको समाप्त कर दिया गया। जर्मनी के जो व्यापारिक अड्डे (विदेशों में) थे उन पर भी मित्र राष्ट्रों ने अपना अधिकार कर लिया इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वर्साय की संधि ने जर्मनी का आर्थिक ध्वंस कर दिया। क्योंकि एक तरफ तो उसके औद्योगिक व औपनिवेशिक केन्द्र छीन लिये गये, दूसरी तरफ उसके बड़े २ कारखाने नष्ट कर दिये गये और तीसरी तरफ हर्जाने की रकम लाद दी गई। ऐसी परिस्थिति में आर्थिक पतन नहीं होता तो और क्या होता। जर्मन जनता के लिये रोटी-रोजी की समस्या को हल करना कठिन हो गया और ऐसे क्षुब्ध, पीड़ित, पराजित और अपमानित परिस्थिति में ही नाजीवाद का जन्म हुआ।

**अन्य धाराएँ**

## सामान्य-समीक्षा

प्रत्येक देश में, प्रारम्भ से ही शांति समझौते को, व्यापक तथा विविध कारणों के आधार पर असंतोषजनक माना गया था और आज वे स्वयं दोषी सिद्ध होकर खड़े हैं क्योंकि उन्होंने विश्व शांति को स्थिर रखने के बदले में द्वितीय महायुद्ध को निमंत्रित करने में पूरा योगदान दिया था। परन्तु ये समझौते उस समय की परिस्थिति को देखते हुए बहुत अच्छे थे। विश्व के प्रमुख प्रजातांत्रिक राष्ट्रों के चुने हुए नेताओं ने जहाँ तक सम्भव हो सका अपने उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयत्न किया। उनके कार्यों की आलोचना करने के पहिले हमें उन परिस्थितियों को विस्मृत नहीं करना चाहिए जिनके अन्तर्गत उन्हें कार्य करना पड़ा था। यही पर हमारे सामने एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है, हालांकि जिसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्या १९१९ में निर्धारित की जाने वाली, किसी भी स्वरूप और चरित्र वाली संधि के द्वारा एक स्थिर शांति व्यवस्था, जिसके लिए विजेता राष्ट्र लालायित थे, की आशा की जा सकती थी? यह सही है कि शान्ति संधियों की नाटकीय ढंग से, परस्पर विरोधी दृष्टि कोणों से आलोचना की गई है। एक पक्ष का कहना है कि वे बहुत कड़ी थी। परन्तु दूसरे पक्ष वाले कहते हैं कि यदि जर्मनी को उदारतापूर्वक नम्र शर्तों के साथ छोड़ दिया जाता तो वह यथा शीघ्र अपना प्रतिशोध लेता। अतः संधियाँ कठोर नहीं

**परस्पर विरोधी दृष्टि कोण**

थी। प्रथम पक्ष का प्रत्युत्तर है कि जर्मनी को हमेशा के लिए दबा कर रखना सम्भव नही था। अत उसे जितनी सख्त सजा दी जायेगी, उसकी प्रतिक्रिया उतनी ही भयकर होगी, जब जर्मनी को अवसर मिलेगा।

किसी भी प्रसग में यह अवश्य याद रखना चाहिए कि १९१९ का ससार अतर्राष्ट्रीय घृणा से व्याप्त था—ऐसी घृणा जिससे ससार अभी तक अनभिज्ञ था और इससे पूर्व इस प्रकार की घृणा का कभी अनुभव नही किया गया था। क्योकि इससे पूर्व विश्व व्यापी पैमाने पर इतना भारी विनाश कारी महायुद्ध लडा भी नही गया था। युद्ध की ज्वाला ने सभी वर्गों के स्त्री पुरुषो को उस व्यापक पैमाने पर झुलस दिया था जिसका उदाहरण मानव इतिहास में मिलना दुलभ है। इस ज्वाला ने सम्पूर्ण मानव समाज की बौद्धिक प्रतिभा को अपने जाल में उलझा लिया था और व युद्ध को आहूत करने वालो के सर्वनाश के लिये तैयार हो चुके थे। शान्ति सन्धिया इस व्यापक घृणा को समाप्त नही कर सकती थी। वे तो केवल इस प्रवृत्ति के स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकती थी और उन्हाने ऐसा किया भी। इस नाते हम शाति सन्धियो को दोषी नही ठहरा सकते। परन्तु ये गम्भीर प्रश्न है और इनका निश्चित आधार निर्धारित करना असम्भव है। अत हमें इन उलझे प्रश्नो को छोडकर आगे बढना चाहिए।

**अन्तर्राष्ट्रीय घृणा का प्रभाव**

शान्ति समझौते अस्थायी आश्वासनो से परिपूर्ण थे। वे यत्र तत्र बिखरे आदर्शवाद और प्रभावशाली भौतिकवाद के मिश्रित रूप के प्रतीक थे। लैंसिग के शब्दों में "शर्ते बहुत अधिक कडी और अपमानजनक थी, और उनमें से अधिकाश शर्तें ऐसी थी जिन्हे कार्यान्वित किया जाना मेरी दृष्टि में असम्भव था।" इसी प्रकार कीन्स ने, जिन्होने क्षति पूर्ति सम्बन्धी समझौते के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट करने के लिए अर्थ विभाग के प्रतिनिधि पद से त्याग पत्र दे दिया था, इस "नृशसता पूर्ण प्रतिशोधात्मक शान्ति" की भर्त्सना एक पुस्तक मे की जिसे सम्पूर्ण ससार में रुचि तथा ध्यान पूर्वक पढा गया। सधिया पर हस्ताक्षर करने के बाद जनरल स्मटस ने कहा था कि, 'मैंने सधि पर इस कारण हस्ताक्षर नही किए कि मैं उस समस्याओ का एक सतोषजनक समाधान मानता हूँ, पर इस कारण कि युद्ध को किसी न किसी प्रकार समाप्त कर देना आवश्यक हो गया था। हमने अब तक उस वास्तविक शान्ति को प्राप्त नही किया है जिसकी ओर हमारे नागरिक टकटकी लगाए देख रहे हैं।'[2]

**सन्धियों के विरोध मे**

शाति सधियो पर कई दोषो का आरोप लगाया गया है। एक तो यह कि शाति व्यवस्था में उन कई आश्वासनो और सिद्धान्तो, जिनको ठीक ढग से व्यवहार में

1 Hampden Jackson—The Post war world
2 G P Gooch—History of Modern Europe

और मछली पकड़ने वाले चौथाई जहाज, मित्र राष्ट्रों को देने के लिये जर्मनी को विवश किया गया।

इसके अतिरिक्त जर्मनी पर युद्ध के हर्जाने की एक विशाल राशि लाद दी गई। इतना ही नहीं बल्कि जर्मन प्रान्तों में नियुक्त मित्र राष्ट्रों की सेना का व्यय भी जर्मनी पर डाला गया। मित्र राष्ट्रों में जर्मनी की जितनी सम्पत्ति थी उसे बेचना आवश्यक माना गया। जर्मनी को कई प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करने से मना कर दिया गया। विदेशों में उसे जो व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त थी, उनको समाप्त कर दिया गया। जर्मनी के जो व्यापारिक अड्डे (विदेशों में) थे उन पर भी मित्र राष्ट्रों ने अपना अधिकार कर लिया इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वर्साय की संधि ने जर्मनी का आर्थिक ध्वंस कर दिया। क्योंकि एक तरफ तो उसके औद्योगिक व औपनिवेशिक केन्द्र छीन लिये गये, दूसरी तरफ उसके बड़े २ कारखाने नष्ट कर दिये गये और तीसरी तरफ हर्जाने की रकम लाद दी गई। ऐसी परिस्थिति में आर्थिक पतन नहीं होता तो और क्या होता। जर्मन जनता के लिये रोटी रोजी की समस्या को हल करना कठिन हो गया और ऐसे क्षुब्ध, पीड़ित, पराजित और अपमानित परिस्थिति में ही नाजीवाद का जन्म हुआ।

**अन्य धाराएँ**

## सामान्य-समीक्षा

प्रत्येक देश में, प्रारम्भ से ही शांति समझौते को, व्यापक तथा विविध कारणों के आधार पर असंतोषजनक माना गया था और आज वे स्वयं दोष सिद्ध होकर खड़े हैं क्योंकि उन्होंने विश्व शान्ति को स्थिर रखने के बदले में द्वितीय महायुद्ध को निमन्त्रित करने में पूरा योगदान दिया था। परन्तु ये समझौते उस समय की परिस्थिति को देखते हुए बहुत अच्छे थे। विश्व के प्रमुख प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों के चुने हुये नेताओं ने जहाँ तक सम्भव हो सका अपने उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयत्न किया। उनके कार्यों की आलोचना करने के पहिले हमें उन परिस्थितियों को विस्मृत नहीं करना चाहिए जिनके अन्तर्गत उन्हें कार्य करना पड़ा था। यहीं पर हमारे सामने एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है, हालांकि जिसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्या १६१६ में निर्धारित की जाने वाली, किसी भी स्वरूप और चरित्र वाली संधि के द्वारा एक स्थिर शांति व्यवस्था, जिसके लिये विजेता लोग लालायित थे, की आशा की जा सकती थी? यह सही है कि शान्ति संधियों की नाटकीय ढंग से, परस्पर विरोधी दृष्टि कोणों से आलोचना की गई है। एक पक्ष का कहना है कि वे बहुत कड़ी थी। परन्तु दूसरे पक्ष वाले कहते हैं कि यदि जर्मनी को उदारतापूर्वक नर्म शर्तों के साथ छोड़ दिया जाता तो वह बहुत शीघ्र अपना प्रतिशोध लेता। अतः संधियाँ कठोर नहीं

**परस्पर विरोधी दृष्टि कोण**

थी। प्रथम पक्ष का प्रत्युत्तर है कि जर्मनी को हमेशा के लिये दबा कर रखना सम्भव नही था। अत उसे जितनी सख्त सजा दी जायेगी, उसकी प्रतिक्रिया उतनी ही भयकर होगी, जब जर्मनी का अवसर मिलेगा।

किसी भी प्रसग में यह अवश्य याद रखना चाहिए कि १६१६ का ससार अतर्राष्ट्रीय घृणा से व्याप्त था—ऐसी घृणा जिससे ससार अभी तक अनभिज्ञ था और इससे पूव इस प्रकार की घृणा का कभी अनुभव नही किया गया था। क्योकि इससे पूव विश्व व्यापी पैमाने पर इतना भारी विनाश कारी महायुद्ध लडा भी नही गया था। युद्ध की ज्वाला ने सभी वर्गों के स्त्री पुरुषो को उस व्यापक पैमाने पर

**अन्तर्राष्ट्रीय घृणा का प्रभाव**

झुलस दिया था जिसका उदाहरण मानव इतिहास में मिलना दुलभ है। इस ज्वाला ने सम्पूर्ण मानव समाज की बौद्धिक प्रतिभा को अपने जाल में उलझा लिया था और वे युद्ध को आहूत करने वालो के सवनाश के लिये तैयार हो चुके थे। शान्ति सन्धियाँ इस व्यापक घृणा को समाप्त नही कर सकती थी। वे तो केवल इस प्रवृत्ति के स्वरूप का अभिव्यक्त कर सकती थी और उन्होने ऐसा किया भी । इस नाते हम शान्ति सन्धियो को दोषी नही ठहरा सकते। परन्तु ये गम्भीर प्रश्न है और इनका निश्चित आधार निर्धारित करना असम्भव है। अत हमें इन उलझे प्रश्नो को छोडकर आगे बढना चाहिए।

शान्ति समझौते अस्थायी आश्वासनो से परिपूर्ण थे। वे यत्र तत्र बिखरे आदर्शवाद और प्रभावशाली भौतिकवाद के मिश्रित रूप के प्रतीक थे। लैंसिंग के शब्दो में, "शर्तें बहुत अधिक कडा और अपमानजनक थी, और उनमें से अधिकाश शर्तें ऐसी थी जिन्हे कार्यान्वित किया जाना मेरी दृष्टि में असम्भव था।" इसी प्रकार कीन्स ने, जिन्होने क्षति पूर्ति सम्बन्धी समझौते के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट करने के लिए अर्थ विभाग के

**सन्धियों के विरोध मे**

प्रतिनिधि पद से त्याग पत्र दे दिया था, इस "नृशसता पूर्ण प्रतिशोधात्मक शान्ति" की भत्सना एक पुस्तक में की जिसे सम्पूर्ण ससार में रुचि तथा ध्यान पूवक पढा गया। सधियो पर हस्ताक्षर करने के बाद जनरल स्मटस ने कहा था कि, 'मने सधि पर इस कारण हस्ताक्षर नही किए कि मैं उसे समस्याओ का एक सतोषजनक समाधान मानता हूँ, पर इस कारण कि युद्ध को किसी न किसी प्रकार समाप्त कर देना आवश्यक हो गया था। हमने अब तक उस वास्तविक शान्ति को प्राप्त नही किया है जिसकी ओर हमारे नागरिक टकटकी लगाए देख रहे हैं।'[2]

शान्ति सधियो पर कई दोषो का आरोप लगाया गया है। एक तो यह कि शान्ति व्यवस्था में उन कई आदर्शवादो और सिद्धान्तो, जिनको ठीक ढग से व्यवहार में

---

1 Hampden Jackson—The Post war world
2 G P Gooch—History of Modern Europe

नही लाया जा सकता था, को सम्मिलित करके बुद्धिमानो का काम नही किया गया। उदाहरणार्थ सैद्धान्तिक दृष्टि से जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार की प्रशसा की जा सकती है परन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त ने जितनी प्राचीन समस्याओं का समाधान किया उससे अधिक नूतन समस्याओं को जन्म भी दिया और ये समस्याएँ प्रतिशोध लेने वाले राष्ट्रों के नारे बन गई। इसी प्रकार शाति व्यवस्था में मित्र राष्ट्रों ने अपने ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाये थे और जिनको निभाना कठिन था, सम्मिलित नही किये जाने चाहिए थे। जैसे कि नि शस्त्रीकरण सधि की आर्थिक धाराओं की कठोरता की चर्चा हम कर चुके हैं। शाति समझौते के तुरन्त बाद ही एक बात स्पष्ट हो गई कि केवल धमकी के द्वारा जनता पर प्रजातान्त्रिक सस्था सफलतापूर्वक नही लादी जा सकती। अन्त में हम, एक जर्मन इतिहासकार का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं—

"The Treaty of Versailles could not have been better Calculated to nourish the revival of the nationalistic Germany With its tortuous division of territory, its dogmatic pronouncements on war responsibility, and its pious indication of an undefined general reduction of armaments, it provided every grievance the heart of a German nationalist could desire"[1]

शाति समझौते की धाराओं के अध्ययन एव समीक्षा के उपरान्त हम उनका सही मूल्यांकन कर सकते हैं। इन सधियों के द्वारा पूर्वी यूरोप में शान्ति और न्याय को बहुत सही अर्थों में स्थान दिया गया। द्वितीय महायुद्ध को निमन्त्रित करने में वर्साय की सन्धि का हाथ नही था बल्कि १९३८ और १९३९ में जर्मनी द्वारा सधियों की धज्जियाँ उडाने की सफलता का हाथ था।

**सही मूल्यांकन**

वर्साय सधि के सम्बन्ध में जर्मनी का वास्तविक शिकायत यह नही थी कि सधि एक निर्दयि सधि थी या विल्सन ने उनके साथ विश्वासघात किया था। उनकी वास्तविक शिकायत इस बात में थी कि उन्हें बिस्तुला और डेन्यूब की घाटियों पर प्रभुत्व बनाये रखने तथा शोषण करने से रोक दिया गया था, कि उन्हें मध्य एशिया और यूक्रेन से बहुत दूर कर दिया गया था, कि दक्षिण पूर्वी यूरोप में स्लाव को जर्मनी के समान अधिकार दिये गए थे। इसी तरह वर्साय सधि की कमजोरी यूरोप का बाल्कन करण करने में नही थी परन्तु जर्मनी के दक्षिण और पूर्व में छोटे २ स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना में थी। क्योंकि इन राज्यों के पास अपनी सार्वभौम सत्ता तथा अस्तित्व को स्थिर व सुरक्षित रखने के साधन नही थे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वर्साय

---

1 Vernon Barttott—Nazi Germany Explained

ने ऐसे छोटे २ राज्यो की स्थापना की जिनका सचालन स्पष्ट रूप से फ्रास के निर्देशन पर निभर था और फ्रास इतना अधिक शक्तिशाली नही था कि उन राज्यो की रक्षा कर सके। अत वर्साय व्यवस्था की समाप्ति भी स्वाभाविक ही थी।

## नये ससार की रूप रेखा

पेरिस शाति व्यवस्था के परिणाम स्वरूप विश्व के नूतन मानचित्र का रूप निखर उठा। नया ससार पहिले ससार से भिन्न था। नये ससार की रूप रेखा इस भाति थी।

**चार प्रमुख शक्तियों का अन्त**

युद्ध के पूर्व यूरोप की चार प्रमुख साम्राज्यवादी शक्तियाँ जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, हगरी और तुर्की का गौरव समाप्त हो चुका था। इनके साथ ही चार प्रमुख राजवश होहेनजोलर्न, रोमनोव, हैप्सवर्ग और ओटोमन का भी अन्त हो गया। जर्मनी अब एक समाजवादी राष्ट्रपति की अध्यक्षता में एक गणतन्त्रात्मक राज्य बन चुका था। जर्मनी के सम्राट कैसर और महाराजकुमार निर्वासित जीवन बिता रहे थे। जर्मनी का जहाजी बेडा समुद्र की तलहटी में आराम कर रहा था और उसके अधिकाश प्रान्तो को हडप लिया गया था। रूस के परम प्रतापी जार और उसके कुटुम्ब की हत्या कर दी गई थी और क्रेमलिन में बैठा एक साम्यवादी नेता रूसी साम्राज्य के अवशेषो के पुनरुद्धार में लगा हुआ था। रूसी समाज की प्रगति में सलग्न था। आस्ट्रिया हगरी हैप्सवर्ग के गर्वीले साम्राज्य के टुकडे २ किये जा चुके थे और टुकडो को मिलाकर नवीन राज्यो का निर्माण किया जा चुका था। उसका अन्तिम शासक स्विटजरलैण्ड में निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहा था। तुर्की अपने पूर्व आकार की छाया मात्र रह गया था।

शाति व्यवस्था ने कई नवीन राज्यो का निर्माण किया। पोलैण्ड, लिथुएनिया और बोहेमिया के ककालो को कब्र से निकाला गया और उन्हें नव जीवन प्रदान किया गया।

**नवीन राज्यों की उत्पत्ति**

फिनलैण्ड स्वतन्त्र था। एस्थोनिया और लटेविया स्वतन्त्र राज्य बन गए थे। सर्बिया ने सर्वो, क्रोटा और स्लाविनो के राज्य युगोस्लाविया" का विशाल स्वरूप ग्रहण कर लिया था। मोन्टीनिग्रो अदृश्य हो गया था। चेकोस्लोवाकिया भी स्वतन्त्र राज्य बन चुका था। टिएस्ट इटली के हाथ में, स्मर्ना यूनानी शासन के अन्तर्गत, दमिश्क फ्रास के पास और जेरूसलम तथा बगदाद ब्रिटेन के सरक्षण में चले गये थे।

वर्साय की सधि को प्रजातन्त्र के विकास का घातक माना जा सकता है। १९१४ ई मे युरोप में प्रजातान्त्रिक राज्यो की सख्या केवल पाँच तक सीमित थी जबकि १९१९ के बाद इस सख्या की वृद्धि होती गई और १९२२ में

**प्रजातन्त्र की प्रधानता**

यह सख्या १६ तक पहुँच गई। परन्तु बहुत से देशों की जनता पर प्रजातान्त्रिक सस्थाएँ बलपूर्वक लादी गई थी। परिणाम यह हुआ कि इन देशो में बहुत शीघ्र तानाशाही शासन की स्थापना हो गई। इसीलिए कुछ लोग तानाशाही की उत्पत्ति का कारण वर्साय की सधि को मानते है।



[redacted]

प्रथम महायुद्ध के पूर्व यूरोप (१९१४)

वर्साय की संधि के द्वारा जिस नवीन यूरोप का निर्माण किया गया, उसने परम्परागत "शक्ति सन्तुलन" ( Balance of Power ) के सिद्धान्त को समाप्त कर दिया। महायुद्ध के प्रारम्भ में यूरोप में जो दो महान् गुट बने थे उनका अस्तित्व मिट गया। फ्रांस, यूरोपीय महाद्वीप पर छा गया था ब्रिटेन सात समुद्रों की लहरों पर शासन कर रहा था। अमेरिका ने अचानक ही शांति समझौते से हाथ खींच लिया था और रूस नवीन सरकार की स्थिरता में व्यस्त था।

**शक्ति संतुलन की समाप्ति**

युद्ध समाप्त हो चुका था। शांति संधियों पर हस्ताक्षर किये जा चुके थे। पराजित देशों पर युद्ध का हर्जाना लाद दिया गया था परन्तु फिर भी विश्व का साधारण जनसमाज सुखी नहीं था। उसे कुछ फायदा नहीं हुआ। उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हो सका और सरकारें रोटी रोजी की समस्या का समाधान ढूंढने में असफल रहीं। फलस्वरूप कुछ वर्षों में सम्पूर्ण संसार "आर्थिक सङ्कट" के भवरजाल में फँस गया और बड़ी कठिनता से मानव समाज को मुक्ति मिल सकी।

राज्यों को पारस्परिक झगड़े से मुक्ति दिलवाने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई। परन्तु इसमें बहुत से दोष थे, जिनके कारण यह सफल नहीं हो सकी। एक नए संसार में, जहां परिचित मार्ग निर्देशक चिह्न, तूफान और भूकम्प से मिट चुके थे, *बुद्धिमानी इस बात को पहिचानने में थी कि यूरोपीय सभ्यता का अस्तित्व एक ऐसे राष्ट्रसंघ की क्रियाशीलता और मान्यता के साथ सम्बद्ध था* जो विजयी और पराजित सभी राष्ट्रों को अपने संरक्षण में ले सके।

संक्षिप्त में, वर्साय की संधि द्वारा निर्मित यूरोप का मानचित्र स्थिरता को प्राप्त करने में असफल रहा और दो दशाब्दियों के अन्दर ही अन्दर एक नवीन मानचित्र को बनाने का प्रयत्न शुरू हो गया।

## तृतीय-अध्याय

# राष्ट्रसंघ की कहानी

**भूमिका**

राष्ट्रसंघ की स्थापना, पेरिस शांति सम्मेलन का एक महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य था। इसे एक अच्छे विश्व संगठन की प्रगति के विकास प्रयत्न का एक भावी कदम कहा जा सकता है। यह पहला संगठन था जिसके पास वैधानिक अस्तित्व था। एक संविधान था और एक कार्यपालिका थी। इसकी स्थापना को विश्व इतिहास का एक क्रांतिकारी मोड़ बिन्दु कहा जा सकता है। राज्यों के बीच, राजनीतिक सम्बन्धों के क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रणाली को विकसित करने के लिए, अबतक किये गये प्रयत्नों में सर्वाधिक महत्वाकांक्षी प्रयत्न था। पवित्र संघ के पतन से लेकर प्रथम महायुद्ध के सूत्र पात तक अनेक विचारकों ने, राष्ट्रवादी सीमाओं के पार आर्थिक, धार्मिक, वैज्ञानिक नैतिक आदि हितों के क्षेत्र में, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को उन्नत करने की दृष्टि से, अपने आपको व्यक्तिगत संघों और संगठनों में संगठित कर लिया था। राज्यों ने भी संचार परिवहन, व्यापार, स्वास्थ्य, सफाई आदि विषयों से संबंधित समस्याओं को हल करने की दृष्टि से, सरकारों के बीच सहयोग स्थापित करने वाली व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया। परन्तु इस अवधि में, बड़े बड़े राजनीतिक प्रश्नों को शांतिपूर्वक तथा सहयोग के द्वारा सुलझाने के लिए एक विश्वव्यापी संगठन के निर्माण के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया गया। गेथोर्न हार्डी ने लिखा है—"राष्ट्रसंघ ने शांति की स्थापना के लिए प्रथमाक्रमण के निरोधक के रूप में सम्मेलन और निर्णायक बल के संगठन के परम्परागत विकल्पों को लागू किया। इस तन्त्र का नियन्त्रण अवश्य मुख्यतः यूरोपियन शक्तियों और योरोपियन समस्याओं तक सीमित था, लेकिन अब वह कम से कम सिद्धांततः विश्व व्यापी हो गया।"[1]

**अवधारणा (Conception)**

प्रथम महायुद्ध ने अनेक देशों के असंख्य राजनीतिज्ञों की विचार शक्ति को विक्षुब्ध कर दिया था और सम्पूर्ण संसार युद्ध की विभीषिका से उत्पन्न परिणामों की पीड़ा से कराह रहा था। विश्वव्यापी युद्ध के समय में दोनों पक्षों ने समस्त उपलब्ध साधनों का प्रयोग किया था। युद्धोपरान्त मानव समाज सोचने लगा कि क्या इन साधनों का प्रयोग विश्वशांति के लिए नहीं किया जा सकता? क्या अनियन्त्रित सैनिकवाद के विरुद्ध सामूहिक सहयोग से काम करने वाली शक्तियों का विश्वशांति की स्थापना के लिए

(1) जी. एम. गेथोर्न हार्डी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास।

हिक सहयोग का प्रयोग नही किया जा सकता ? प्रत्येक देश में इन विचारो की अभिव्यक्ति हुई और यह व्यर्थ नही रही। वर्साय सन्धि में समाविष्ट, राष्ट्रसघ का प्रतिश्रव (cove nant) इस अभिव्यक्ति का द्योतक है।

विश्वयुद्ध के सूत्रपात के तुरन्त बाद ही इगलैण्ड और अमेरिका में राष्ट्रसघ की सभावना क सम्बन्ध में, विश्वशाति की स्थापना के लिए, आशावादी और शातिवादी आन्दोलन की झलक देखने मे आती है। युद्ध काल में इस प्रवृत्त को और बल मिला। अमेरिका में भूतपूव राष्ट्रपति टेफ्ट के नेतृत्व में "शाति की स्थापना के लिये सघ" (League to Enforce Peace) की स्थापना की गई। सघ के लिये चार सूत्री कायक्रम अतर्राष्ट्रीय विवादो का मध्यस्थता के द्वारा निपटारा, अन्य झगडो को कौसिल के सामने रखना, सघ के निर्णयों का उल्लघन करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक तथा आर्थिक कायवाही करना और विश्वशान्ति की स्थापना के लिये सदस्यो का समय समय पर एक स्थान पर मिलते रहना, तयार किया गया। इस योजना को अत्यधिक समथन मिला। राष्ट्रपति विल्सन भी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का प्रमुख समथक था। २२ जनवरी १६१७ को विल्सन ने अमेरिकन सीनेट को सम्बोधित करते हुए "शाति के लिए विश्व सघ" (World league for Peace) की चर्चा की। ८ जनवरी १६१८ का युद्ध बन्दी के सम्बन्ध मे विल्सन ने अपने 'चौदह बिन्दुओ" की घोषणा की। अतिम बिन्दु का उद्देश्य एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना करना था। इगलैण्ड में 'अबाध्य शाति आन्दोलन" की झलक गर सरकारी प्रयत्नो में दिखलाई पडती है। फरवरी १६१५ को विस्काउण्ट ब्राइस की अध्यक्षता में कुछ वर्गो के मनुष्यो ने "युद्ध को टालने के लिए प्रस्ताव" नामक लेख प्रकाशित किया और जनमत के विचार जानने के लिए इसे वितरित किया गया। १६१७ में इसी दल ने 'भावी युद्धो का रोकने के लिए प्रस्ताव" नामक लेख प्रकाशित करवाया। लार्ड राबर्ट सेसिल ने शातिवादियो की कार्यवाहियो में गहरी रुचि ली। फ्रास में भी लिग्रावुजिओस इस दिशा में प्रचार कर रहा था। दक्षिणी अफ्रीका क प्रधानमन्त्री जनरल स्मटस ने भी इन कार्यों की सराहना की। इस प्रकार हम देखते है कि पेरिस शाति सम्मेलन के पूर्व ही राष्ट्रसघ से सबधित विचार प्रसिद्ध राजनीतिज्ञो और सरकारो के प्रतिनिधियो के मस्तिष्क में स्थान बना चुके थे।

राष्ट्र सघ की नीव अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के द्वारा रखी गई थी। यह ठीक है कि राष्ट्रसघ की योजना उसका निजी आविष्कार नहीं थी परन्तु फिर भी उसने इस दिशा में अन्य व्यक्तियो स अधिक परिश्रम किया था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति विल्सन, राष्ट्र सघ की स्थापना का दृढ विचार लेकर अमेरिका से रवाना हुआ था। वह सघ के प्रतिश्रव को शान्ति सधियो का

**राष्ट्रसघ का जन्म**

प्रथम भाग बनाने का निश्चय कर चुका था। जबकि इङ्गलैण्ड और फ्रास के नेता पहले शान्ति सधियो की धाराओं को निर्धारित करना चाहते थे और इनसे निवृत्त होने के बाद राष्ट्र सघ के लिए जो कुछ

सम्भव था, करना चाहते थे। विल्सन अपने विचार पर डटा रहा और उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही राष्ट्रसंघ की योजना को प्राथमिकता प्राप्त हो सकी, शांति संधियों में स्थान प्राप्त हो सका।

जनवरी १९१९ में पेरिस शान्ति परिषद का अधिवेशन शुरू हुआ। इस समय तक विभागीय और गैरविभागीय दोनों ही क्षेत्रों से संघ के निर्माण सम्बन्धी अनेक योजनाएँ प्रस्तुत की जा चुकी थी। मार्च १९१८ में ब्रिटिश विदेश विभाग द्वारा निर्देशित एवं लार्ड फिलीमोर की अध्यक्षता में एक कमेटी ने राष्ट्र संघ का प्रारूप तैयार किया। तीन महीने बाद विल्सन के प्रमुख सलाहकार कर्नल हाउस ने, विल्सन के आदर्शों के आधार पर एक पृथक प्रारूप तैयार किया। जुलाई १९१८ में विल्सन ने अपने प्रथम प्रारूप को अंतिम रूप दिया। दिसम्बर १९१८ में दक्षिणी अफ्रीका के जनरल स्मट्स ने कौंसिल और आदेश पद्धति ( Mandate System ) को सम्मिलित करते हुये एक नूतन प्रारूप तैयार किया। इसी समय लार्ड राबर्ट सेसिल ने फिलीमोर रिपोर्ट के आधार पर एक नया प्रारूप तैयार किया। १० जनवरी १९१९ को विल्सन ने अपना दूसरा प्रारूप ( Draft ) तैयार किया और दस दिन बाद शान्ति सम्मेलन के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए तीसरा प्रारूप तैयार किया। और इसी बीच में, ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल ने सेसिल और स्मटस के प्रारूपों को मिलाकर एक नया प्रारूप प्रस्तुत किया। विल्सन के अंतिम प्रारूप और ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डल द्वारा प्रस्तुत प्रारूप में बहुत अन्तर था, इसलिए इन दोनों को ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डल के कानूनी सलाहकार सेसिल हर्स्ट और अमरिकन सलाहकार डेविड हण्टर मिलर को संशोधन के लिए सौंपा गया। हर्स्ट मिलर ने मिलकर राष्ट्र संघ का एक नया प्रारूप तैयार किया जो ३ फरवरी १९१९ को शान्ति सम्मेलन के सामने प्रस्तुत किया गया।

शान्ति सम्मेलन ने इस नवीन प्रारूप का अध्ययन करने के लिए १९ सदस्यों का एक आयोग नियुक्त किया। राष्ट्रपति विल्सन इस आयोग के अध्यक्ष चुने गये। आयोग ने कठिन परिश्रम से अपना काम किया और १४ फरवरी को प्रारूप को सम्पूर्ण धाराओं सहित शान्ति सम्मेलन के सामने रखा गया। प्रारूप को प्रस्तुत करते हुये विल्सन ने कहा था कि "एक जीवित वस्तु पैदा हुई है।" राष्ट्र संघ के प्रतिश्रव में सम्मेलन ने कुछ परिवर्तनों को स्वीकार कर लिया और २८ अप्रैल १९१९ को संशोधित प्रारूप सम्मेलन की सर्व सम्मति से स्वीकृत कर लिया गया। वर्साय की संधि की प्रथम २६ धाराओं का सम्बन्ध राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव से है। अन्य शान्ति समझौतों के साथ भी राष्ट्रसंघ का सम्बन्ध जोड़ा गया। १० जनवरी १९२० ई० को राष्ट्रसंघ ने, वैधानिक दृष्टि से अपने अस्तित्व को प्राप्त किया।

श्री हार्डी ने प्रतिश्रव की व्याख्या करते हुए लिखा[1] है कि "यह सलेख उस प्रयत्न का एक प्रशसनीय नमूना था जो राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद में सामजस्य लाने के लिए किया गया था।" सर ए० जिमर्न के शब्दों[2] में "राष्ट्रसघ हर सूरत में दो पृथक विचारधाराओं के समागम से उत्पन्न हुआ था।" इनमें से एक में, जो अमेरिका के श्री टैफ्ट और अन्यो ने राष्ट्रपति विल्सन से भी पहले प्रतिपादित की थी, सघठित बल पर जोर दिया जाता था, इसके अनुसार बलात शान्ति कायम रखने के लिए राष्ट्रसघ की आवश्यकता थी। इस पहलू का समर्थन शान्ति सम्मेलन में फ्रांसीसियों की सगठित सुरक्षा की आकाक्षा के रूप में हुआ। दूसरी ओर, बलादारोपित शाति के विचार पर सोच विचार करने और अनिवार्य पच निर्णय के सिद्धात को मानने के प्रश्नो पर इस समस्या के विषय में इङ्गलैण्ड का रुख अत्यधिक सकोची था। ब्रिटिश सुझाव यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय परामर्श और सहयोग के क्षेत्र को विस्तृत करके भूतपूर्व योरोप की सविधा ( Concert of Europe ) की रीति को और विस्तृत कर दिया जाय। इस प्रकार यह दूसरे समाधान की अपेक्षा अधिक विकासो मुख था।"

**सघ के उद्देश्य**

राष्ट्रसघ के क्या उद्देश्य थे। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रसघ का निर्माण किया गया था, वह तो—जैसा कि राष्ट्रसघ के प्रतिश्रव के प्रस्थापना ( Preamble ) में वर्णित हैं,—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा की प्राप्ति करना था। इन उद्देश्यों की प्राप्ति तभी हो सकती था, जब सभी राष्ट्र यह मान ले कि वे युद्ध को बिल्कुल तिरस्कार कर देंगे, जब उनके मध्य स्पष्ट, उचित एव प्रतिष्ठा पूर्ण सम्बध स्थापित रहे, सभी सरकारें अपने वास्तविक आचरण म, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का दृढतापूवक पालन करें तथा न्याय का पालन किया जाए और सभी सगठित राष्ट्र, एक दूसरे के साथ अपने व्यवहार में सधि की शर्तों का विवेक पूर्ण पालन करें।

इससे निम्न उद्देश्य दृष्टिगोचर होते है—(१) युद्ध का तिरस्कार, सुरक्षा की व्यवस्था और राज्यो की यथास्थिति को बनाये रखना। (२) शाति की स्थापना। (३) १९१९ २० की शाति सधियो द्वारा सौपे गये कर्त्तव्यो का पूरा करना और (४) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास करना।

**स्थिति**

राष्ट्रसघ की स्थिति की व्याख्या एक कठिन और जटिल समस्या थी। असख्य लोगो ने सघ के सम्बन्ध में ऐसा सम्बोधन किया जैसे कि वह एक अतिराष्ट्रीय लोक सभा (Super National Parliament) हो। परतु वह ऐसी नही थी। वह कभी भी अतिराष्ट्रीय या अतिराज्य (Super-State) नही हो सकती थी, क्योकि उसके सदस्य राष्ट्र सार्वभौम राज्य बने रह और वे अपने अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता के आदेश को मानने के

( १ ) जी० एम० गेथोन हार्डी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सक्षिप्त इतिहास।
( २ ) सर ए० जिमर्न—दि लीग ऑफ नेशन्स एण्ड द रूल ऑफ लॉ।

लिए कभी तैयार नहीं थे। अतः साधारण शब्दों में, यह एक लोकसभा नहीं हो सकती थी। यह न तो राज्य ही था और न अतिराज्य ही। यह तो सधि के द्वारा निर्मित सगठित राज्यों का एक ऐसा सघ या ऐसा महासघ था, जो भिन्न विभिन्न था, इसे कानूनी व्यक्तित्व प्राप्त था, इसे कुछ सम्पत्ति भी थी तथा इसे अपना एक राज्यकोष एवं बजट भी था। परन्तु इसको न तो कोई राज्य प्रदेश था और न कोई नागरिक प्रजा और न कोई सेना, नौ सेना या पुलिस ही।

अब हम राष्ट्रसघ की शरीर रचना का अध्ययन करें। इसके प्रमुख अंग थे—असेम्बली, कौंसिल और सचिवालय। असेम्बली या साधारण सभा सघ की प्रतिनिध्यात्मक एवं व्यापक अंग थी। इनमें सघ के सभी सदस्य राष्ट्र सम्मिलित थे और प्रत्येक राष्ट्र को समान रूप से एक मत देने का अधिकार था, यद्यपि प्रत्येक राष्ट्र तीन तीन प्रतिनिधि भेज सकता था। समान मताधिकार की व्यवस्था प्राचीन राजनीतिक सिद्धान्त राज्यों की समानता पर आधारित थी। असेम्बली का अधिवेशन प्रतिवर्ष सितम्बर में जेनेवा में होता था। वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त अनेक बार असाधारण अधिवेशन भी बुलाये गये थे। बहुत से राष्ट्रों ने जेनेवा में अपने स्थायी प्रतिनिधि (Permanent Delegate) नियुक्त कर रखे थे। असेम्बली राष्ट्रसघ के प्रतिश्रव के आदर्शों के अनुसार अपने कार्याधिकारियों को अपने आप चुनती थी और इस सम्बन्ध में नियम भी बनाती थी। इसका एजेण्डा (Agenda) राष्ट्रसघ का महामंत्री पहले से ही बना कर तैयार रखता था। असेम्बली एजेण्डा में सशोधन कर सकती थी। इसकी सहायता के लिए स्वयं इसी के द्वारा सगठित ६ स्थायी समितियां बनी हुई थी—(१) सवैधानिक और कानूनी प्रश्नों के सम्बन्ध में, (२) प्राविधिक सगठनों से सम्बन्ध में, (३) निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में, (४) बजट के सम्बन्ध में (५) सामाजिक और मानववादी प्रश्नों के सम्बन्ध में और (६) राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में। इसके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट समस्याओं के समाधान के लिए भी समितियां बनाने को यह स्वतन्त्र थी।

**असेम्बली**

प्रथम असेम्बली को विल्सन ने आहूत किया था और १५ नवम्बर १९२० को इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। अंतिम असेम्बली का अंतिम अधिवेशन १८ अप्रैल १९४६ को हुआ था। इस अधिवेशन में उपस्थित ३४ सदस्यों ने सर्व सम्मति से राष्ट्र सघ को विघटित करने का प्रस्ताव पारित किया था।

राष्ट्रसघ की कौंसिल एक लघु समिति के समान थी। इसमें पांच महाशक्तियों अमेरिका, इगलैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान को स्थायी स्थान प्रदान किया गया था और छोटे राज्यों के लिये ४ अस्थायी स्थानों की व्यवस्था की गई। बाद में यह संख्या ६ करदी गई। असेम्बली प्रतिवर्ष ३ अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन करती थी। कौंसिल की अध्यक्षता, कौंसिल के सदस्यों में प्रति सम्मेलन पर, सदस्यों की फ्रेंच नामावलि के क्रमानुसार बदलती रहती थी। केवल कार्यपद्धति सम्बन्धी मामलों के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों पर कौंसिल

**कौंसिल**

के निर्णयों का सर्वसम्मत होना अनिवार्य था। कौंसिल में जब कोई ऐसा वाद विवाद चल रहा हो, जिससे किसी राष्ट्र का स्वार्थ अभिभावित होता है, तो वह अपना प्रतिनिधि इसके अधिवेशन मे भेज सकता था। कौंसिल एक वर्ष में तीन चार बार अपनी बैठक करती थी। इसके अतिरिक्त वह किसी भी समय पर विशेष बैठक भी कर सकती थी। कौंसिल की प्रथम बैठक राष्ट्रपति विल्सन द्वारा १६ जनवरी १९२० ई को परिस में बुलाई गई थी। कौंसिल की १०७ वीं या अन्तिम बैठक १४ दिसम्बर १९३९ को हुई थी। हालांकि राष्ट्रसघ का विघटन १९ अप्रेल १९४६ को हुआ था।

**सचिवालय**

सचिवालय ( Secretariat ) राष्ट्र सघ का स्थायी प्रशासकीय अग था। इसमें लगभग ६०० अधिकारी, कर्मचारी और विशेषज्ञ काम करते थे और उनकी नियुक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक सेवा के सिद्धात पर की गई थी। इसका केन्द्र जेनेवा मे था। सचिवालय का प्रधान अधिकारी 'महासचिव' (Secretary General) कहलाता था और इसकी नियुक्ति असेम्बली की स्वीकृति के साथ, कौंसिल करती थी। ग्रेट ब्रिटेन के सुयोग्य राजनीतिज्ञ सर इरुमण्ड (Sir Eric Drumond) ने १९२० से लेकर १९३३ तक इस पद को सुशोभित किया था। उन्होने कठिन परिश्रम के उपरान्त सचिवालय का सगठन किया था। महासचिव की सहायता के लिये दो उपसचिव और दो सहायक सचिव होते थे। सचिवालय विभिन्न विभागों में विभाजित था और प्रत्येक विभाग एक निरीक्षक के अन्तर्गत था।

**अन्य समितियाँ**

उपरोक्त प्रमुख अगो के अतिरिक्त राष्ट्रसघ की कई अभिकरणें (Agencies) थी। जैसे—(१) शस्त्रीकरण पर सलाह देने वाला स्थायी आयोग, (२) आदेश आयोग ( Mandate Commission ), (३) आर्थिक और वित्त समिति (४) सचार व परिवहन सगठन समिति (५) बौद्धिक सहयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समिति और (६) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन। इन समितियों में अन्तिम समिति काफी महत्वपूर्ण थी और उसका सक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया है।

**अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन**

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन (I L O) यद्यपि एक स्वायत्त सस्था थी, परन्तु फिर भी राष्ट्रसघ का एक अग था। इसका केन्द्र जेनेवा मे था और इसका सगठन राष्ट्रसघ के सगठन से मिलता जुलता था। इसकी एक साधारण सभा, एक शासकीय परिषद और एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय था। इसका निर्माण, पेरिस शान्ति परिषद द्वारा, सगठित श्रमिकों की मांगो को सतुष्ट करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समस्याओं को हल करने के लिए एकतत्र प्रदान करने के प्रयत्न का परिणाम था। इस सगठन का

प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण ससार में श्रमिक सम्बन्धी कानूनो के निर्माण में एकरूपता लाने का प्रयत्न करना था। नि सदेह सगठन ने समय समय पर सदस्य राष्ट्रो तथा अन्य राष्ट्रो को सुभाव भेजे परतु इनके कार्यों को केवल सुभाव मान लिया गया और इन सुभावो का कार्यान्वित करने का प्रयत्न नही किया गया। सगठन के कार्यों में जो समय और परिश्रम लगा, उसको देखते हुए उसकी उपलब्धियाँ नगण्य कही जा सकती हैं।

अब हम राष्ट्रसघ के अतिम परतु महत्वपूर्ण अग—अतर्राष्ट्रीय न्यायालय का उल्लेख करते हैं। प्रारम्भ में विश्व न्यायालय की रचना ११ न्यायाधीशो, जोकि कौंसिल और असेम्बली के द्वारा ९ वर्ष के सेवाकाल के लिए चुने जाते थे, से होती थी। कुछ समय बाद न्यायाधीशों का सख्या बढ़ा कर १५ कर दी गई। न्यायालय के अध्यक्ष का चुनाव स्वय न्यायाधीशो के द्वारा किया जाता था और अध्यक्ष की अवधि तीन वर्ष होती थी। हेग नगर को विश्व न्यायालय का केन्द्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसका वार्षिक व्यय लगभग ५००,००० डालर था, जो कि राष्ट्रसघ द्वारा चुकाया जाता था। न्यायालय का क्षेत्राधिकार दो प्रकार का था—ऐच्छिक और अनिवार्य। जब कोई राज्य विशिष्ट समझौता के द्वारा किसी झगडे को इस न्यायालय को निर्णयार्थ सुपुर्द करता था इसका अधिकार क्षेत्र "ऐच्छिक" था, और इसका अधिकार क्षेत्र अनिवार्य तब होता था, जब सधि के द्वारा राज्यो के बीच यह समझौता होता कि सधि सम्बन्धी झगडो को इसी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए तथा झगडे के पार्टी राज्यो ने साफ तौर से इस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को अपने उपर अनिवार्य मान लिया हो।

**अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय**

न्यायालय का अधिकार क्षेत्र तो ऐसे मामलो में था, जो कानूनी प्रकृति के हो, इसके अतगत सधियो, अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी किसी भी प्रश्न, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लघन तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के उल्लघन के लिए क्षतिपूर्ति का रूप एव मात्रा की व्याख्या करना शामिल था।

न्यायालय में मुकदमे के वादी प्रतिवादी के रूप में सिर्फ राज्य ही, जिनमें स्वतत्र उपनिवेश भी सम्मिलित थे, उपस्थित हो सकते थे। मूलत न्यायालय का कार्य तो केवल उन्ही मामलो के विचार तक सीमित कर दिया गया था जो राष्ट्र सघ के सदस्यो के बीच में होते थे, परन्तु बाद में गैर सदस्यो के लिये भी इस न्यायालय का द्वार खोल दिया गया। न्यायालय को कौंसिल तथा असेम्बली को सलाहकारी राय देने का भी अधिकार था। यद्यपि ये सुभाव अनिवार्य नही होते थे परतु प्राय इन सुझावो का स्वीकार कर लिया जाता था।

राष्ट्र सघ के प्रतिश्रव की प्रथम धारा में सघ की सदस्यता और सदस्यता छोडने के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि २६ देशो ने विविध

सधियो पर हस्ताक्षर करके अपने आपको राष्ट्र सघ का मूल सदस्य बना लिया था। वैसे अमेरिका, इक्वाडोर और हेड्राज ने भी सधियो पर हस्ताक्षर किये थे परतु उनकी सरकारो ने सधियो को अस्वीकार करके राष्ट्र सघ की सदस्यता भी छोड दी। इसके बाद तटस्थ देशो को सघ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया गया और १२ देशो ने निमन्त्रण को स्वीकार करके प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली।

**सदस्यता**

फिर नियमानुसार १७ देशो को सदस्यता प्रदान की गई। चार राज्यो को सदस्यता देने से इन्कार कर दिया गया। पाँच राज्यो-कोस्टारिका (१६२७) ब्राजील (१६२८) जर्मनी (१६३५) जापान (१६३५) इटली (१६३६) ने नियमानुसार दो वर्ष की पूर्व सूचना देकर सघ से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इस सम्बन्ध में दो बातें याद रखनी चाहिए। एक तो यह कि अमेरिका और इगलैण्ड शुरू से ही पराजित देशो का सघ का सदस्य बनाना चाहते थे परन्तु फ्रास की हठ धर्मी के कारण ऐसा नही हो सका और कुछ वर्षों के बाद ही उन्हे सदस्यता दी जा सकी। इसी प्रकार रूस को भी निमत्रित नही किया गया था परन्तु बाद में उसे सदस्यता दी गई। दूसरी बात यह कि राष्ट्र सघ की रचना म महत्वपूर्ण भाग अदा करने वाला देश अमेरिका, प्रारम्भ से ही सघ से पृथक रहा और सघ को इस कमी का दुख सहन करना पडा। यदि अमरिका सघ का सदस्य बन जाता तो अपने सीमित साधनो, महान् शक्ति की स्थिति उच्च प्रजातान्त्रिक परम्पराओ से सघ की उन कमियों को जिनके कारण उसका पतन हुआ था, दूर कर सकता था और इस प्रकार अपने राष्ट्रपति द्वारा रचित सघ को इतनी शीघ्रता से पतनोन्मुख होने से बचा सकता था।

**राष्ट्र सघ के क**

यदि कार्यों की दृष्टि से राष्ट्र सघ की व्याख्या की जाए तो प्रथम स्थान में, शाति सधियों में समाविष्ट नियमो तथा उपनियमो को कार्यान्वित करने वाली एक एजेन्सी कहा जा सकता है। इस स्थिति में राष्ट्र सघ के लिए शाति व्यवस्था द्वारा निर्मित यथा स्थिति (Status quo) को बचाये व बनाये रखना आवश्यक था। इसको ऐसे विशिष्ट प्रशासकीय तथा देख रेख के कार्य सौपे गये थे, जो युद्ध समाप्ति के बाद प्राय विजेताओ द्वारा सम्पादित किये जाते थे। इस प्रकार के कार्यों में निम्न प्रमुख थे—राष्ट्रीय अल्प सख्यको की सुरक्षा, स्वतन्त्र नगर डेजिग का निरीक्षण, सार घाटी का शासन प्रबध और आदेश प्रथा का सचालन। दूसर रूप में, स्वास्थ्य, सामाजिक समस्याएँ वित्त, सचार व परिवहन आदि विषयो के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को उन्नत करने का एक साधन थी। इस स्थिति में, इस समय में कार्यरत सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय सधा की कार्यवाहियो का सरक्षण व प्रोत्साहन देना था, अर्थात् उनकी अखडता को बनाये रखना था। तीसरे स्थान म राष्ट्र सघ युद्धो को रोकने का शाति पूर्ण निपटारा करने वाली एक अभिकरण थी। शाति को ...

वाली सम्पूर्ण कार्यवाहियाँ इसके क्षेत्राधिकार के अंतर्गत थी और सदस्य राष्ट्रों के मनम भी सिद्धान्त इसके अधिकार क्षेत्र में थे।

अब हम राष्ट्र संघ के दो प्रमुख अंगों असेम्बली और कौंसिल के कार्यों का अध्ययन करें। असेम्बली के कार्यों की व्याख्या करते हुए धारा ३ में कहा गया है कि असम्बली को संघ के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले मामलों और विश्व शांति को प्रभावित करने वाले विषयों पर विचार करने का अधिकार है। कौंसिल के कार्यों के बारे में भी इसी प्रकार का उल्लेख किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों अंगों को इन विषयों पर विचार करने का एकीभूत अधिकार था। कुछ विषय केवल असेम्बली के लिए थे तो कुछ केवल कौंसिल के लिए। कुछ विषयों में दोनों का सहयोग आवश्यक था और कुछ विषयों पर असेम्बली का अपनी स्वीकृति या वैकल्पिक सुझाना पड़ता था।

कार्य केवल असेम्बली के लिए—

(१) राष्ट्र संघ में नये सदस्यों की भर्ती। इसके लिए असेम्बली के २/३ सदस्यों का बहुमत आवश्यक था। (२) कौंसिल के अस्थायी सदस्यों के निर्वाचन और स्थिरीकरण के सम्बन्ध में नियम बनाना, विशेष कर ऐसे विनियमों और घोषणाओं का जिनका सम्बन्ध उनकी कार्यविधि और पुनर्निर्वाचन की योग्यता से हो। इसके लिए भी २/३ बहुमत आवश्यक था। (३) साधारण बहुमत से प्रतिवर्ष कौंसिल के तीन अस्थायी सदस्यों का चुनाव करना। (४) राष्ट्र संघ के सदस्यों को समय समय पर उन सन्धियों का जो प्रयोग में लाने से रोक दी गई हो, के सम्बन्ध में पुनर्विचार करने को कहना तथा ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर जिनके द्वारा विश्व शांति को संकट दिखलाई पड़ता हो, विचार करने के लिए कहना (५) राष्ट्र संघ के व्यय का सदस्य राष्ट्रों में आनुपातिक ढंग से विभाजित करना।

कार्य—केवल कौंसिल के लिए—

(१) महासचिव द्वारा की गई विभागीय नियुक्तियों को स्थायी करना (२) निःशस्त्रीकरण के लिए योजनाएँ बनाना तथा युद्ध के खतरा को दूर करना तथा उन देशों को सहयोग देना जो युद्ध सामग्री का निर्माण करने में असमर्थ हो। (३) आक्रामक कार्यवाही के समय सम्बन्धित देशों को कर्त्तव्यों का पालन करने का सुझाव देना (४) प्रतिश्रव की सुरक्षा के लिए यदि सेना की आवश्यकता आ पड़े तो कौन देश कितनी सैनिक सहायता देगा—इसका निर्णय करना। (५) प्रतिश्रव के नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्य को सदस्यता से पृथक करना। (६) शासनादेश प्राप्त राज्यों की वार्षिक रिपोर्ट को मंगाना और स्थायी आदेश आयोग (Permanent Mandates Commission) की सहायता से उस पर विचार करना तथा उन प्रान्तों के शासन प्रबन्ध का ध्यान रखना। इसके अतिरिक्त कौंसिल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य झगड़ों का निपटाना था। कौंसिल को इन झगड़ों को असेम्बली के पास भी भेजना पड़ता था।

इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, सार घाटी, डॅन्जिग और मिश्रित आयोगो की नियुक्त के सम्बन्ध में भी अनेक काम करने पडते थे ।

कार्य असेम्बली और कौंसिल दोनों के लिए—

(१ कौंसिल के अतिरिक्त स्थायी सदस्यो की मनोनान करना । (२) अतिरिक्त अस्थायी सदस्या की सख्या निर्धारित करना (३) राष्ट्रसघ के महासचिव की नियुक्ति (४) शाति सधियो में सशोधन (५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्या का निर्वाचन (६) न्यायालय के अन्य कर्मचारियो की नियुक्तियाँ । इन सभी कार्यों के लिए असम्बली और कौंसिल का मिला-जुला क्षेत्राधिकार था।

असेम्बली और कौंसिल के एकीभूत (Concurrent) कार्य—

असेम्बली और कौंसिल दाना को हा यह अधिकार था कि वे ऐसी किसी भी घटना पर विचार कर सके जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धा पर बुरा प्रभाव पड़ने की सभावना हो या जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय शाति या राष्ट्रो के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के बिगडने की आशका हो। इस प्रकार के विषयो पर राष्ट्रसघ का कोई सदस्य असम्बली या कौंसिल का ध्यान आकृष्ट कर सकता था। यदि कौंसिल किसी भी झगडे को असेम्बली के पास भेजती थी तो उस पर कुछ सशोधना के साथ असम्बली को कौंसिल के अधिकारा का प्रयोग करने का अधिकार था।

## राष्ट्रसघ की उपलब्धियाँ Achievements)

### (१) राजनीतिक,

**राजनीतिक कार्यवाहियाँ और उपलब्धियाँ**

राष्ट्रसघ के साथ दुखान्त सत्य यह था कि जिस प्रमुख उद्देश्य युद्ध को रोकना, की प्राप्ति के लिए उसका निर्माण किया गया था, उस सम्बन्ध में उसे असफल रहना पडा । यद्यपि जहाँ तक छाटे छोटे राज्यो के झगडो का सम्बन्ध था, राष्ट्रसघ कुछ सीमा तक सफल भी रहा । परन्तु जब बडे राष्ट्रो का सवाल आया तो उनकी कार्यवाहियो का रोकने के लिए या नियत्रित करने के लिए कुछ भी न कर सका । बड २ राष्ट्रो द्वारा प्रादेशिक लोलुपता की ओट में छेड़ जाने वाले युद्धो को रोकने में सघ पूर्णतया असफल रहा ।

छाटे राज्यो के झगडो को निपटाने में या उनके मत भेदो को दूर करने मे सघ को जो सफलता प्राप्त हुइ है, उसका प्रमुख कारण महाशक्तियो के आतक का वह भय था जो छाटे राज्यो म समाया हुआ था । इसके सदस्यो मे इसकी अन्तराष्ट्रीयता के प्रति कुछ श्रद्धा भी थी या नही, यह एक सदिग्ध प्रश्न है। क्योकि यदि ऐसा होता तो महाशक्तिया भी अपने आपको सघ को समर्पण कर देती और फिर युद्धो का सवाल ही नही उठता।

राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रसघ को प्रथम कार्यवाही करने का अवसर १६२०

मिला। १६२०-२१ में फिनलैण्ड और स्वीडन के बीच, बाल्टिक सागर में स्थित आलण्ड द्वीप समूहों की समस्या को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। यद्यपि सशस्त्र झड़प की कम सम्भावना थी। परन्तु वाक युद्ध चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उस समय फिनलैण्ड संघ का सदस्य नहीं था। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने राष्ट्रसंघ का ध्यान इस तरफ आकर्षित किया। कौंसिल ने इस समस्या पर विचार किया और इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय संविधान के तीन विशेषज्ञों की एक समिति को सुपुर्द कर दिया। समिति ने निर्णय देते हुए कहा कि इस मामले में संघ को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि यह उस द्वीप के निवासियों का घरेलू मामला था। परन्तु जूरी ( Jury ) की समिति ने इसके विरुद्ध निर्णय दिया। परिणाम स्वरूप कौंसिल ने तीन सदस्यों की एक जाँच समिति नियुक्त की। जाँच समिति ने फिनलैण्ड के पक्ष में निर्णय दिया। कौंसिल ने आलैण्ड द्वीपों पर फिनलैण्ड की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर लिया। स्वीडन ने भी कौंसिल के निर्णय को स्वीकार कर लिया।

**(१) आलैण्डद्वीप समूह की समस्या**

१६२१ में पोलण्ड और जर्मनी के बीच ऊपरी साईलेशिया की सीमान्त रेखा को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया। इस मामले को संघ के सामने रखा गया। कौंसिल ने दोनों देशों में समझौता करवा कर इस मतभेद को दूर किया। १६२५ में यूनानी सैनिक दस्ते यूनानी-बल्गेरियन सीमान्त पर एकत्र हो गये और कुछ सैनिक दस्ते वास्तव में बल्गेरियन सीमा का उल्लंघन भी कर बैठे जिसके परिणाम स्वरूप दोनों देशों में सशस्त्र संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई। बल्गेरियन सरकार ने इस मामले को संघ के सामने रखा। कौंसिल ने फ्रेंच ब्रिटिश और इटालियन सेनाधिकारियों को संघर्ष स्थान पर भेजा और दोनों देशों को अपनी अपनी सेनाओं को अपनी अपनी सीमा में हटा लेने को कहा गया। दोनों देशों ने इसे स्वीकार कर लिया। इसके बाद संघ ने एक जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति ने तीन सप्ताह के उपरान्त अपनी सिफारिशों के साथ रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर कौंसिल ने उत्तरदायित्व के प्रश्न का निर्णय किया, हर्जाना निश्चित किया और भविष्य में ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दोनों देशों को आवश्यक निर्देश भी दिये। यूनान और बल्गेरिया दोनों ही ने इसे स्वीकार कर लिया।

**(२) ऊपरी साइलेशिया और (३) यूनान बल्गेरिया की समस्या**

१६३२ में पेरू और कोलम्बिया सशस्त्र झड़प पर उतर आये। पेरू ने कोलम्बिया के लेटेसिया ( Laticia ) प्रांत के एक नगर पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। राष्ट्रसंघ ने इसमें हस्तक्षेप किया। और मामले को सुलझाया। एक राष्ट्रसंघीय आयोग ने लेटेसिया प्रांत को अपने नियन्त्रण में ले लिया (जून १६३३ में)। १६३४ में संघ के प्रयत्नों के कारण दोनों देशों में समझौता हो गया। पेरू ने अपने कृत्यों के लिए क्षमा याचना माँगी और उपरोक्त प्रान्त कोलम्बिया को वापस लौटा दिया गया।

**(४) पेरू और कोलम्बिया की झड़प**

१६२६ में मोसुल के धनी तेल क्षेत्रों के स्वामित्व को लेकर ईराक समादेश प्राप्त राज्य की स्थिति में ग्रेट ब्रिटेन और तुर्की में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। यह प्रथम अवसर था जबकि राष्ट्रसंघ के सम्मुख आने वाली समस्याओं में एक महान् शक्ति सम्मिलित थी। संघ का निर्णय महान शक्ति ब्रिटेन के पक्ष में रहा। छोटी और कमजोर शक्ति तुर्की को कुछ छोटी छोटी सुविधाएँ देकर सन्तुष्ट कर दिया गया। इस प्रकार राष्ट्र संघ महान शक्ति से टक्कर लेने में बच गया।

**( ५ ) मौसुल की समस्या**

उपरोक्त उदाहरण उन झगड़ों के थे जिन्हें सुलझाने में राष्ट्र संघ सफल रहा। परन्तु उन झगड़ों को जिन्हें सुलझाने में वह असफल रहा, बहुत महत्वपूर्ण थे और उनकी संख्या भी अधिक थी। १६२० में विल्ना नगर को लेकर पोलैण्ड और लिथुएनिया में झगड़ा हो गया। पोलैण्ड को फ्रांस का समर्थन प्राप्त था। संघ ने समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिल सकी क्योंकि महाशक्तियाँ पोलैण्ड के पक्ष में थी और तथ्य उसके विरुद्ध थे। पोलैण्ड ने विल्ना नगर पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया था और महान शक्तियों ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने संघ द्वारा प्रस्तुत मध्यस्थता के प्रस्ताव को ताक पर रख कर, पोलैण्ड की कार्यवाही को सहारा दिया।

**( ६ ) विल्ना का मामला**

इसी साल सीमान्त आयोग के इटालियन प्रतिनिधियों का यूनान की भूमि पर कुछ यूनानी डाकुओं ने कत्ल कर दिया। जिसके परिणाम स्वरूप यूनान और इटली में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इटली ने इस मामले को राष्ट्रसंघ के सामने नहीं रखा बल्कि अपनी स्वयं की नीति का अनुसरण करते हुये यूनान को क्षमा याचना मांगने तथा भारी हर्जाना अदा करने को कहा। इसके बाद, यूनान के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही इटालियन जहाजी बेड़े ने यूनान के कोर्फ्यू द्वीप पर अधिकार कर लिया। यूनान ने इस मामले को संघ के सामने रखा और कहा कि वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को मानने को तैयार है और हर्जाने की रकम पहले से ही न्यायालय में जमा करवाने को भी तैयार है। इटली ने इन सुझावों को अस्वीकार कर दिया और हर्जाने की रकम प्रत्यक्ष रूप से स्वयं को देने की मांग की। यूनान को हर्जाना देने के लिए बाधित किया गया और उसके बाद इङ्गलैण्ड और फ्रांस की मध्यस्था के कारण न कि राष्ट्रसंघ की मध्यस्था के कारण, इटालियन सेनिकों ने कोर्फ्यू द्वीप को खाली किया। इस घटना से राष्ट्रसंघ के प्रति महान् शक्तियों का रवैया स्पष्ट हो जाता है।

**( ७ ) कोर्फ्यू द्वीप**

सुदूर पूर्व की समस्याओं को सुलझाने में तो राष्ट्रसंघ पूर्ण रूप से असफल रहा। जापान ने संधि व्यवस्था का उल्लंघन करते हुए, एकदम अचानक से

नगर और मञ्चूरिया प्रान्त के अन्य स्थानों पर अधिकार कर लिया। चीन ने राष्ट्रसंघ का द्वार खटखटाया। संघ इस प्रांत का चीन को दिलवाने में असमर्थ रहा। संघ ने घटना स्थल पर एक जांच आयोग भेजा और इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जापान को आक्रामक घोषित किया और उसके कार्यों को अवैधानिक ठहराया। संघ ने प्रस्ताव भी पास किये। परन्तु केवल प्रस्तावों को पारित करने के अतिरिक्त संघ इस दिशा में सक्रिय कदम उठाने में असफल रहा और तब तक जापान ने लगभग सम्पूर्ण मञ्चूरिया पर अधिकार कर लिया और अपने संरक्षण में एक स्वतन्त्र 'मञ्चूकों' राज्य की स्थापना भी करली। संघ एक तमाशबीन की तरह तमाशा देखता रहा।

**( ८ ) मञ्चूरिया में जापान**

१९३५ ई० में जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और १९३७ में उसने बड़े पैमाने पर चीन में अपनी आक्रामक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। जुलाई १९३७ में चीन ने जापानी कार्यवाहियों का चिट्ठा भेजते हुए राष्ट्रसंघ से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। परन्तु राष्ट्रसंघ न तो चीन को उसकी भूमि ही दिलवा सका और न उसकी प्रादेशिक अखण्डता को कायम रख सका, न युद्ध बन्द करवा सका, और न जापान को दण्डित कर सका। २८ सितम्बर को राष्ट्रसंघ ने एक प्रस्ताव पास करके जापान द्वारा चीन में की जाने वाली कार्यवाहियों की निन्दा अवश्य की। इसी प्रकार अक्टूबर में दूसरा प्रस्ताव पास किया गया और चीन को नैतिक सहायता प्रदान की गई। इसके अतिरिक्त संघ के सदस्यों से अपील की गई कि वे कोई ऐसा कदम न उठायें जिससे चीन की संघर्ष करने की शक्ति पर प्रभाव पड़े या उसको कठिनाइयों की वृद्धि हो और इस बात पर भी विचार करें कि वे अपने व्यक्तिगत रूप में चीन की सहायता के लिए क्या कदम उठा सकते हैं। इसके अतिरिक्त चीन की सहायता के लिए कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया गया।

**( ९ ) दक्षिणी अमेरिका का झगड़ा**

१९२८ में दक्षिणी अमेरिका के दो राज्यों बोलीविया और परागवे ( Paraguay ), जो कि संघ के सदस्य भी थे, के बीच में स्थिति चाको प्रांत को लेकर युद्ध छिड़ गया। परागवे ने चाको क्षेत्र के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। यह मामला राष्ट्रसंघ के सामने लाया गया। संघ ने विचार विमर्श के उपरान्त घटनास्थल पर एक आयोग भेजा परन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। लगभग तीन साल तक युद्ध जारी रहा। नवम्बर १९३४ में संघ ने फिर कुछ सुझाव भेजे। बोलीविया ने तो इन सुझावों को स्वीकार कर लिया परन्तु परागवे ने सुझावों को ठुकरा दिया। जब संघ ने उस पर अधिक दबाव डाला तो उसने संघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। दोनों राज्यों के बीच तनावपूर्ण स्थिति का अन्त तभी हो सका जबकि अमेरिका के ६ राज्यों ने सामूहिक हस्तक्षेप किया। इससे भी संघ की निर्बलता स्पष्ट हो गई।

अबीसिनिया (इथोपिया) में इटली की आक्रमक कार्यवाही को नियन्त्रित करने में राष्ट्र संघ की असफलता ने राष्ट्रसंघ के खोखलेपन को स्पष्ट कर दिया। क्योंकि जापानी कार्यवाही के विरुद्ध अपनी असफलता पर पर्दा डालते हुए यह कहा गया कि अमेरिकन सहयोग के अभाव में प्रशान्त में जापान के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना सम्भव नहीं है। परन्तु अब इटली के मामले में इस प्रकार की व्याख्या के लिए कोई स्थान नहीं था। इटली और इथोपिया दोनों ही राष्ट्र संघ के सदस्य थे। इटली ने इथोपिया को हड़पने की तैयारी आक्रमण की तिथि से बहुत समय पहले ही कर रखी था। स्वेजनहर के मार्ग से इटालियन सैनिक और अस्त्र शस्त्र इटालियन सोमालीलैंड में पहुँचते रहे और राष्ट्रसंघ में कोई भी ऐसा नहीं था जो इस तरफ ध्यान दे सके। ३ अक्टूबर १९३५ को इटली ने इथोपिया की सीमा में प्रवेश किया और इथोपिया ने उसी वक्त संघ को इसकी सूचना भेज दी। ५ अक्टूबर को इथोपियाई प्रतिनिधि ने संघ से हस्तक्षेप करने तथा इटली को रोकने की प्रार्थना की। ७ अक्टूबर को राष्ट्रसंघ ने एक प्रस्ताव पास किया और इटली की निन्दा की परन्तु किसी प्रकार की अनुशास्तियां नहीं लगाई गई और जब लगाई गई तो बहुत सतर्कता के साथ। इटली के विरुद्ध आर्थिक अनुशास्तियाँ लगाई गई और आर्थिक घेरा बन्दी भी की गई परन्तु युद्ध में काम आने वाली आवश्यक वस्तु तेल पर छूट दे दी गई। फ्रांस और इंगलैण्ड में एक दूसरे के प्रति अविश्वास होने के कारण ये अनुशास्तियाँ भी प्रभावकारी सिद्ध न हो सकी। जब इटली ने सम्पूर्ण इथोपिया को निगल लिया तो ये अनुशास्तियाँ भी हटा ली गईं और इटली का इथोपिया पर अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया। राष्ट्र संघ के लिए इससे बढ़कर अनैतिक एवं अपमानजनक बात और क्या हो सकती थी।

**(१०) इथोपिया का अन्त**

सन्धियों की धाराओं को जिनका राष्ट्रसंघ प्रहरी था, तोड़ मरोड़ कर जर्मनी ने खुले रूप से अपना पुनः शस्त्रीकरण प्रारम्भ कर दिया और संघ में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उसे रोक सके। संघ निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में असफल रह चुका था, अतः जर्मनी को किस मुँह से मना करता। शस्त्रीकरण के साथ ही साथ जर्मनी का उत्थान होता गया और जर्मन भय ने राष्ट्रों को गुटों और सन्धियों का निर्माण करने को बाधित कर दिया। एक बार पुनः यूरोप दो सशस्त्र गुटों में विभाजित हो गया। जर्मनी ने आस्ट्रिया को हड़प लिया, चेकोस्लोवाकिया का अंग भंग कर डाला परन्तु राष्ट्रसंघ कुछ न कर सका। परिणामस्वरूप तानाशाहों की हिम्मत बढ़ती गई और संसार का वातावरण तनावपूर्ण होता गया। यूरोप में निःशस्त्रीकरण के स्थान पर शस्त्रीकरण का सूत्रपात हुआ अन्त में द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ।

**(११) जर्मनी का उत्थान**

इस स्थान पर राष्ट्रसंघ की असफलता के कारणों का उल्लेख करना ...

रही होगा। वर्साय की सन्धि के द्वारा सार घाटी का प्रशासन, १५ वर्षों के लिए राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ ने पाँच सदस्यों का एक कमीशन नियुक्त किया और उसे सार का प्रशासन सौंप दिया। प्रारम्भ में कमीशन पर फ्रांस का प्रभाव रहा और इसके कारण सार के निवासियों को सङ्कटों का सामना करना पड़ा। इस स्थिति का चित्र राष्ट्रसंघ के सामने भी रखा गया परन्तु राष्ट्रसंघ ने अपनी आँखें बन्द कर ली। बहुत वाद विवाद के बाद कमीशन में कुछ परिवर्तन किया गया। १९३५ में अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में वहाँ जनमत संग्रह किया गया और जनता ने जर्मनी के पक्ष में मत दिया। १ मार्च १९३५ को सार घाटी जर्मनी को लौटा दी गई। सार की घाटी के समान डेन्जिग के स्वतन्त्र नगर का प्रशासन भी राष्ट्रसङ्घ को सौंपा गया था। राष्ट्रसङ्घ ने डेन्जिग के शासन प्रबन्ध के लिए एक कमिश्नर नियुक्त किया। बाद में एक संविधान बनाया गया और प्रतिनिध्यात्मक विधान सभा का गठन किया गया। डेन्जिग के बन्दरगाह का नियन्त्रण पोलैण्ड के हाथ में था। अतः डेन्जिग नगर और बन्दरगाह के बीच कई प्रकार के झगड़े उठे परन्तु कमिश्नर के प्रयत्नों से शान्तिपूर्वक हल कर दिये गये। इस स्वतन्त्र नगर के प्रशासन में राष्ट्रसंघ को महत्वपूर्ण सफलता मिली परन्तु १९३९ में इसको दुर्भाग्यपूर्ण कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा।

**(१२) सार और डेन्जिग का प्रशासन**

## (२) आदेश पद्धति (Mandatory System)

आदेश पद्धति जिसे आदिष्ट और समादेश भी कहा जाता है, राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व था। प्रतिश्रव की २२ वीं धारा के अन्तर्गत समुद्र पार जर्मन उपनिवेशों (कियोचाओ को छोड़ कर) तथा ओटोमन साम्राज्य के भूतपूर्व एशियाई प्रान्तों में निवास करने वाले लोगों की उन्नति और विकास का उत्तरदायित्व राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था। राष्ट्रसंघ के द्वारा कुछ अधिक उन्नत राष्ट्रों को तथाकथित पिछड़े हुए क्षेत्रों पर संघ के नाम पर शासन करने के लिए, समादेश शक्तियाँ प्रदान की गईं। समादेश प्राप्त राज्यों के लिए अपने प्रशासन सम्बन्धी कार्यों का वार्षिक रिपोर्ट कौंसिल को प्रस्तुत करना आवश्यक था और इन रिपोर्टों की जाँच के लिए तथा कौंसिल को इसी दिशा में सहायता देने के लिए एक स्थायी समादेश आयोग की स्थापना की गई।

**उत्तरदायित्व**

समादिष्ट क्षेत्रों को उनकी राजनीतिक भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया गया। 'अ' वर्ग के समादिष्ट क्षेत्रों जिनमें तुर्की साम्राज्य की भूतपूर्व जातियाँ सम्मिलित थीं के बारे में यह धारणा निश्चित की गई कि ये उन्नति की उस स्थिति तक पहुँच चुके हैं जिसमें अस्थायी तौर पर इनकी स्वतन्त्रता के अस्तित्व को माना जा सकता है परन्तु ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब कि समादेश राज्य उन्हें

**वर्गीकरण**

प्रशासकीय सुझाव और सहयोग देकर उन्हें अपने पैरों पर खड़ा होने की शिक्षा दे। 'ब' वर्ग के समादिष्ट क्षेत्रों में मध्य अफ्रीका में स्थित जर्मनी के भूतपूर्व प्रदेश थे। इनके लिए निश्चित सरकारी निरीक्षण की आवश्यकता अनुभव की गई और इन प्रांतों को स्वायत्त शासन प्रदान करने की बात भविष्य के लिए टाल दी गई। 'स' वर्ग में दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका और प्रशान्त में स्थित द्वीप जिन पर एक समय जर्मनी का अधिकार था, सम्मिलित थे। कम आबादी के कारण, कम क्षेत्र के कारण सभ्यता के केन्द्रों से दूर होने के कारण, तथा समादेश प्राप्त राज्यों के प्रदेशों के पास होने के कारण तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों के कारण, यह सोचा गया कि इनका शासन प्रबन्ध समादेश प्राप्त राज्यों के प्रदेशों के एक भाग की भांति किया जाय परन्तु इस शर्त के साथ कि इन क्षेत्रों के निवासियों की उन्नति का ध्यान रखा जायेगा और उनके हितों की रक्षा की जायेगी।

**विभाजन**

'स' वर्ग में जर्मन दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका को दक्षिण अफ्रीका के संघ राज्य को, जर्मन सेमोआ न्यूजीलैण्ड को, नारू द्वीप ब्रिटिश साम्राज्य को, विषवत् रेखा के दक्षिण में अन्य जर्मन द्वीप आस्ट्रेलिया को और विषुवत् रेखा के उत्तर में स्थित जर्मन द्वीप जापान को दे दिये गये। 'ब' वर्ग के क्षेत्रों का इस ढंग से विभाजित किया गया कि ब्रिटेन को केमरून का १/६ भाग तोगोलैण्ड का १/३ भाग। और जर्मन पूर्वी अफ्रीका का अधिकांश भाग तथा फ्रांस को केमरून का ५/६ भाग, तोगोलैण्ड का २/३ भाग और बेलजियम को जर्मन पूर्वी अफ्रीका का उत्तर-पश्चिमी किनारा प्राप्त हुआ। 'अ' वर्ग के क्षेत्रों का विभाजन इस प्रकार किया गया—ईराक, पेलेस्टाइन और ट्रांसजोर्डन ब्रिटेन को और सीरिया तथा लेबनान फ्रांस को मिला।

**स्थायी समादेश आयोग**

१९२० के अन्त में, स्थायी समादेश आयोग (Permanent Mandates Commission) की स्थापना की गई। इसका कार्य समादेश प्राप्त राज्यों से भेजी जाने वाली वार्षिक रिपोर्टों की जांच करना तथा कौंसिल को अपनी सिफारिशें भेजना था। इस आयोग में ११ सदस्य थे जिन्हें उनकी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर अनिश्चित अवधि के लिए चुना गया था। आयोग के अधिकार पूर्ण रूप से सलाहकारी मात्र थे। परन्तु यह कौंसिल को सूचित करता रहता था कि समादिष्ट क्षेत्रों का शासन प्रबंध वहाँ के निवासियों के कल्याण तथा उन्नति की दृष्टि से तथा प्रतिश्रव की धाराओं के अनुसार हो रहा है या नहीं। दुर्भाग्यवश आयोग को समादिष्ट क्षेत्रों की अपीलों को सुनने का या उनका निरीक्षण करने का अधिकार नहीं था।

आदेश पद्धति बहुत ही मूल्यवान प्रमाणित हुई। इसके द्वारा औपनिवेशिक प्रशासन

की ओट में साम्राज्य वादी शोषण का अंत किया गया और पिछड़े हुए क्षेत्रों क निवासियो को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया गया। इगलैण्ड न शताब्दियो से पीडित यहूदियो को उनका राष्ट्रीय घर-जेरुसलम देने का आश्वासन दिया। १९३२ म ईराक को स्वतत्र कर दिया गया। इगलैण्ड और फ्रास ने यथा समय में सीरिया और पलस्टाइन से भी हटने का आश्वासन दिया। अफ्रीका में इस प्रणाली के बहुत अच्छे परिणाम निकले। इसन सयुक्त राष्ट्र सघ की ट्रस्टीशिप की बुनियाद रखी।

मूल्यांकन

## (३) अल्पसंख्यकों की सुरक्षा

पिछले अध्याय में अल्पसख्यको की समस्या का, उसके स्वरूप का और उस सुलभाने के निमित की गई विशिष्ट सधियो का उल्लेख किया जा चुका है। उसी स्था पर यह भी बतलाया जा चुका है कि अल्प सख्यको के साथ की गई सधियों के निरीक्षण का उत्तरदायित्व राष्ट्र सघ को सौपा गया था। इस प्रकार रा सघ के सरक्षण म मध्य और पूर्वी योरोप के राष्ट्रीय अल्पसख्यक के लगभग तीन करोड व्यक्ति रख दिये गये। उपरोक्त सधि मे यह व्यवस्था की गई थी कि यदि कोई राज्य अल्पसख्यको के सम्बन्ध में स्वीकृत वक्तव्यो का उल्लघन करता है तो कौंसिल का कोई भी सदस्य कौंसिल का ध्यान आकृष्ट कर सकता था। अल्पसख्यको के सम्बन्ध मे राष्ट्र सघ का उत्तरदायित्व बहुत भारी था। क्योंकि यह व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय नही थी और जिन देशो ने इस प्रकार की सन्धियो पर हस्ताक्षर नही किये थे उन्ह अल्पसख्यको पर अत्याचार करने से रोकना सरल काम नही था। पोलण्ड और रूमानियाँ ऐसे ही देश थे। पोलैण्ड ने तो स्पष्ट रूप से राष्ट्रसघ के सुझावो का ठुकरा दिया। कालान्तर में जर्मनी ने भी यहूदियो पर अमानुषिक अत्याचार किये और राष्ट्रसघ अल्पसख्यको की सुरक्षा करने में असफल रहा। कौंसिल को बहुत ही सतर्कता के साथ कदम उठाना पडता था, एक तरफ तो अल्प सख्यको के साथ होन वाले दुर्व्यवहार का रोकना और दूसरी तरफ बहुसख्यको के राष्ट्रीय अभिमान को ठेस न पहुँचाना। सघ की इस नीति की कटु आलोचना की गई। क्योंकि इसमें सख्त कार्यवाही को कोई स्थान नही था। बाद में कौंसिल ने यह नीति बनाली कि इस प्रकार के झगडो में निर्णय न देकर दोनो पक्षो में समझौता कराने का प्रयत्न करना चाहिये।

अल्पसख्यकों की सुरक्षा

## (४) अन्य उपलब्धियाँ

अब हम सघ की अन्य उपलब्धियो की चर्चा करते है। युद्ध के परिणाम स्वरूप बहुत से देशों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो चुकी थी। विशेषकर आस्ट्रिया और हगरी की। राष्ट्रसघ ने इन दोनो देशो का आर्थिक सहायता प्रदान की और उनक आर्थिक पुनर्निर्माण में योगदान दिया। शरणार्थियों का बसान में राष्ट्रसघ ने अत्यधिक महत्वपूर्ण भाग लिया। इस सम्बन्ध में सघ ने एक पृथक आयोग की नियुक्ति भी की। यूनान के ११ लाख शरणार्थियो को बसाने के लिए लगभग ५ करोड डालर की सहायता दी गई। इसी

अन्य उपलब्धियाँ

प्रकार बल्गेरिया को भी अपने शरणार्थियों को बसाने के लिए विदेशी ऋण दिया गया। केवल चार वर्षों में संघ के आयोग के तत्वाधान में दो लाख शरणार्थियों को बसाया गया। युद्ध बंदियों को वापस अपने देश भेजने के सम्बन्ध में भी संघ ने महत्वपूर्ण कार्य किया। दास व्यापार को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया गया। इसी प्रकार स्त्रियों और बच्चों के टर्की और एशिया माइनर में विपत्तन की भीषणता दूर करने के लिए भी कदम उठाये गये हैं। अफीम और कोकीन जैसी नशीली वस्तुओं के व्यापार को रोकने का प्रयत्न किया गया। कई सम्मेलन भी बुलाये गये। इसके अतिरिक्त पूर्वी यूरोप में टाइफस बुखार को फैलने से रोकने का भी सच्चा प्रयत्न किया गया। संक्षेप में, राष्ट्रसंघ ने उपकार परायण संस्था की भाँति कार्य किया।

## राष्ट्रसंघ—सामान्य समीक्षा

दो महायुद्धों के बीच की बीस वर्षीय अवधि में राष्ट्रसंघ ने बहुत से महत्वपूर्ण कार्य किये। इसने विविध प्रकार के झगड़ों जिनसे स्थानीय युद्ध छिड़ने की सम्भावना थी का निपटारा किया। इसने एक ऐसा साधन प्रदान किया जिसकी सहायता से विविध देशों के प्रमुख राजनीतिज्ञ एकसूत्र में आबद्ध हो सकें और सम्मुख पारस्परिक वार्तालाप के द्वारा आपसी मतभेदों को दूर कर सकें और विश्व शांति को स्थिर रख सकें। वास्तव में राष्ट्र संघ ने राष्ट्रीय सुरक्षा की खोज में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और यद्यपि निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में संघ असफल रहा परन्तु इस दिशा में उसके द्वारा किये गये प्रयत्नों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शायद राष्ट्रसंघ की देन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण देन थी—अपने प्रभाव के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार को विकसित करना। अन्य संस्थाओं की अपेक्षा राष्ट्रसंघ ने, जनता को संसार की स्थिति और समस्याओं के अस्तित्व से परिचित कराने का अत्यधिक प्रयत्न व परिश्रम किया। राष्ट्रों के एक समूह की अवधारणा प्राचीन थी परन्तु राष्ट्रों के संघ का वास्तविक रूप नूतन था। इतना ही नहीं बल्कि संयुक्त राष्ट्र संघ—अपने उद्देश्यों और सिद्धांतों, अपनी रचना और पद्धति, यहाँ तक कि प्रत्येक बिन्दु पर राष्ट्रसंघ के अनुभव से कृतज्ञ है।

**संघ का महत्व**

परन्तु फिर भी, जैसा कि हमें मालूम है, राष्ट्र संघ पूर्ण रूप से असफल रहा। क्या इसका पतन अवश्यम्भावी था? क्या इस प्रकार की कोई अन्य संस्था सन् १९१९-३९ तक विश्वशांति को बनाये रख सकती थी? ये प्रश्न कुछ उसी प्रकार के प्रश्नों की भाँति हैं जिनका हम उचित उत्तर नहीं दे सकते। इस समय हम केवल यही कह सकते हैं कि राष्ट्रसंघ ने दो बातों के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही बुरा कदम उठाया और सत्य तो यह कि राष्ट्र संघ का ढाँचा, अमेरिका और इंगलैण्ड के शांतिवादियों की आशा के अनुकूल बन ही नहीं पाया था।

**कमजोरियाँ**

फ्रांस की हठधर्मी के कारण जर्मनी को राष्ट्र संघ से पृथक रखना, प्रथम दुर्भाग्य था। राष्ट्र संघ, शान्ति के प्रथम चरण में-विजेताओं और पराजितों के मध्य व्याप्त वमनस्य और मतभेद को दूर करने में असफल रहा बल्कि उनको इनको और अधिक बढ़ाने में सहयोग ही दिया। पराजित देश सोचने लगे थे कि राष्ट्र संघ मित्र राष्ट्रों की संस्था है— पराजितों की नहीं।

अमेरिका के द्वारा शान्ति संधियों को अस्वीकार करना, दूसरा दुर्भाग्य था। इसके परिणाम स्वरूप अमेरिका ने राष्ट्र संघ को भी ठुकरा दिया क्योंकि यह संधियों का एक अंग ही तो थी। अमेरिका ने अपने 'यू-बोट' जहाज पर जर्मनी द्वारा किये गये आक्रमण तथा अत्याचार का प्रतिशोध लेने के लिए युद्ध में प्रवेश किया था। उस समय भी अधिकांश अमेरिकन लोग अपने देश की तटस्थता तथा एकांतप्रियता का त्याग करने के विरोधी थे। वे चाहते थे कि ज्योंही युद्ध समाप्त हो वे पुनः अमेरिका लौट आये और योरोप को अपने भाग्य पर छोड़ दें। उन्हें विल्सन के आदर्शवाद की तनिक भी चिन्ता नहीं था।

इस कारण राष्ट्र संघ ने अपना कार्य, जर्मनी के बिना, जिसे बहिष्कृत कर दिया गया था, अमेरिका के बिना जिसने सम्मिलित होने से अस्वीकार कर दिया था और रूस के बिना, जिसकी साम्यवादी नीति के कारण निमंत्रित नहीं किया गया था, प्रारम्भ किया। अर्थात् संसार की तीन प्रमुख शक्तियों के सहयोग के बिना राष्ट्र संघ अपनी मंजिल की तरफ बढ़ा। राष्ट्र संघ में सम्मिलित अधिकांश राष्ट्र छोटे छोटे थे और उन्हें अपनी उन्नति के लिए राष्ट्र संघ के सहयोग की, सहायता की आशा थी, न कि वे इस योग्य थे कि राष्ट्र संघ की शक्ति और अधिकार में वृद्धि करने में योगदान दे सकें।

श्री० जी० एम० गेथोर्न हार्डी के शब्दों में—"राष्ट्र संघ एक दृष्टि कोण से अत्यधिक राष्ट्रवादी आधार पर किये गये क्षणिक समझौते का और दूसरे दृष्टि कोण से नये अंतर्राष्ट्रीय वाद का उपकरण था। इस प्रकार दो असंगत सिद्धांत, जिनमें सामंजस्य पैदा करने को पहले ही समझौते का दुःसाध्य समस्या बताया जा चुका है, स्वयं राष्ट्र संघ के ढांचे में ही समाविष्ट थे। प्रश्न यह पैदा होता था कि क्या यह सामंजस्य सम्भव है और यदि नहीं है तो संतति अंत में अपने दोनों जनकों में से किसके सदृश होगी। इस योजना की सफलता इस धारणा की मान्यता पर निर्भर थी कि अब सारा संसार मुख्य प्रयोजनों के लिए एक सहकारी इकाई था, या बन सकता था। अमेरिका के हट जाने के परिणाम स्वरूप संसार का यह संगठन भूमण्डलीय के बजाय तुरंत गोलार्धीय होने लगा। इसके अलावा यह प्रश्न अनिर्णीत ही रहा कि क्या राष्ट्रीय आधार पर संगठित दुनियाँ सुरक्षा सम्बन्धी उपबंधों को लागू करने के लिए मिलकर काम करने की पर्याप्त निःस्वार्थ भावना प्रदर्शित करेगी या क्या एक दूसरे से बहुत अधिक भिन्न

सामर्थ्यों वाली दूर दूर बिखरी हुई इकाइयों में अपूर्व चिंतित सहयोग वास्तव में प्र
भी हो सकेगा।"[1]

उपरोक्त कमियों के अतिरिक्त राष्ट्र संघ के संविधान में भी कई दोष थे जिनके परिणाम स्वरूप संघ का पतन होकर ही रहा। संविधान इस तथ्य पर विचार करने में असफल रहा कि राष्ट्र सदैव उस सहकारी उत्साह और सदभावना से निर्देशित नहीं होते जो कि संघ को सफल बनाने की एक मात्र सम्भावना थी। निःसंदेह राष्ट्र संघ की एक अतिराज्य के रूप में कल्पना नहीं की गई थी परन्तु फिर भी अतिराज्य की धाराओं के बिना भी यदि फ्रेंच और इटालियन स्मरण पत्रों की धाराओं को सम्मिलित कर लिया जाता तो राष्ट्र संघ को अपने निर्णयों और सिफारिशों को लागू करने का अधिकार अवश्य ही प्राप्त हो जाता। यद्यपि धारा १० बाध्य कर्त्तव्यों के निर्माण के लिए थी परन्तु धारा १६ में विविध अनुशास्तियों की सिफारिश के साथ कार्यवाही करने की स्वतन्त्रता सदस्यों के पास छोड़ दी गई थी। अतः इन सिफारिशों का केवल सलाहकारी महत्व रह गया था।

**संघ असफल क्यों रहा ?**

राष्ट्र संघ के प्रतिपत्र की रचना के समय बहुत से राजनीतिज्ञों ने इस बात पर जोर दिया था कि संघ को अपने निर्णयों और आदेशों को कार्यान्वित करवाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना रखने का अधिकार होना चाहिए, नहीं तो संघ अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो सकेगा और वह एक निर्जीव संस्था मात्र रह जायेगा। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की गई। वैसे धारा १६ के अन्तर्गत अनुशास्तियों का उल्लेख किया गया है। ये दो प्रकार की है—(१) वित्त और वाणिज्यिक सम्बधी तथा (२) सैनिक, नाविक और वायु सेना सम्बधी। संघ के पास अपनी सेना तो थी नहीं। एक अड़ियल राष्ट्र को सही रास्ते पर लाने के लिए संघ को अपने सदस्यों की सेना पर निर्भर करना पड़ता था। आर्थिक अनुशास्तियों को लागू करने के लिए भी सेना की आवश्यकता थी और इस दिशा में राष्ट्र संघ को महान् शक्तियों पर निर्भर करना पड़ता था। क्या महान् शक्तियाँ राष्ट्र संघ को उसकी आवश्यकतानुसार सेना देने तथा अड़ियल राष्ट्र से युद्ध छेड़ने को सहमत हो सकती थी ? निःसंदेह, यदि ऐसा हुआ होता तो संसार को द्वितीय महायुद्ध का दुखद अनुभव नहीं करना पड़ता। परन्तु हुआ इसके प्रतिकूल। राष्ट्र संघ की विविध कार्यवाहियों के समय महान् शक्तियों का विश्वासघात दिन प्रतिदिन स्पष्ट होता गया। इससे एक बात स्पष्ट हो गई कि अच्छे विचार और पवित्र इच्छाएँ हमें अधिक दूर तक नहीं ले जा सकती और एक ऐसे संसार का जो कि युद्ध के भय से मुक्त हो निर्माण नहीं किया जा सकता।

**सैन्य शक्ति का अभाव**

---

१ जी० एम० गेथोन हार्डी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास।

राष्ट्र सघ के पतन का एक कारण उसके सदस्यो द्वारा अपने कर्त्तव्यो से विमुख होना था, उत्तरदायित्व से मुँह मोडना था। यह देखा गया कि राष्ट्रो ने अपने वादों को पूरा करने का प्रयत्न नही किया। अपना उत्तरदायित्व नहा निभाया। उन्होने न केवल अपने उत्तरदायित्वो से ही मुँह मोडने का प्रयत्न किया परन्तु इस बात का भी प्रयत्न किया कि सही तथ्य सघ के सामने न लाये जा सके ताकि उन्हे अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए अडयल राष्ट्रो के विरुद्ध अपनी सशस्त्र सेना न भेजना पडे। जब आक्रमक देशो को विश्वास हो गया कि महान् शक्तियां सघ के आदेशो को कार्यान्वित करवाने के लिए अपनी सशस्त्र सेनाओ का भेजने की जोखम लेने का तयार नही है, तब ही यह वे छोटे २ राज्यो का हडपन का साहस कर सके। जापान द्वारा मन्चूरिया पर आक्रमण किया गया। सघ ने जापान को आक्रामक घोषित करते हुए उसको निन्दा की और अपने सदस्यो से उसके विरुद्ध कार्यवाही करने का अनुरोध भी किया परन्तु सदस्यो ने इस अनुरोध को ठुकरा दिया। ग्रेट ब्रिटेन के विदेश मन्त्री सर जॉन सोमन ने तो स्पष्ट कहा था कि "मेरी नीति का उद्देश्य मेरे देश को सकट से दूर रखना है।' इसी प्रकार इथोपिया के मामले मे उसने कहा था कि 'इथोपिया के लिए म एक भी ब्रिटिश जहाज को खोने का खतरा उठाना नही चाहूँगा।" १९३४ में आस्ट्रिया को भूमि पर, आस्ट्रिया के राष्ट्रपति डालफस की हत्या कर दी गई। इस मामले को सघ के सामने रखना था। परन्तु मुसोलिनी द्वारा इस शर्त पर कि यदि यह मामला सघ के सामने उपस्थित नही किया गया तो म आस्ट्रिया को बचाने का प्रयत्न करूँगा, आश्वासन देने पर मामला दबा दिया गया। ब्रिटेन ने वर्साय को सन्धि का उल्लघन करते हुए फ्रास को सलाह लिये बिना जर्मनी के साथ नौ सधि की। इस प्रकार फ्रास ने इगलण्ड को सूचित किये बिना इटली के साथ व्यक्तिगत समझौता कर लिया। राइनलैण्ड का पुन शस्त्रीकरण किया गया, आस्ट्रिया का हडप लिया गया, नाजियो द्वारा यहूदियो का हत्याकाण्ड किया गया, स्पेनिश प्रजातन्त्र का गला घोट दिया गया, चेकोस्लोवाकिया का अग भग किया गया, परन्तु राष्ट्र सघ कुछ भी न कर सका। कोई भी सदस्य इन घटनाओ को सघ के सामने रखने तथा सघ के आदेशो को कार्यान्वित करवाने का उत्सुक नही था। छोटे छोटे राज्यो की कैसी भी दुर्दशा क्यो न हुई हो या हो रही हो, जब तक पश्चिमी देशों को प्रत्यक्ष सकट का सामना नही करना पडा, जब तक उनकी सुरक्षा को किसी प्रकार का भय नही उत्पन्न हुआ, तब तक उन्होने आक्रामक देशो के विरुद्ध किसी प्रकार का कार्यवाही करना ठीक नही समझा, चाहे राष्ट्र सघ का पतन हो क्यो न हो जाये। प्रसिद्ध लेखक शूमन के शब्दो में "Its leading actors were determined first to evade their own obligations and second to use the League as a Vehicle for appeasing the aggressors The League perished because its members failed

**उत्तरदायित्व का अभाव**

to use it to compel the orderly settement of disputes and to prevent lawless aggression "[1]

राष्ट्र संघ के पतन का एक कारण यह भी था कि उसके संविधान में कोई ऐसी प्रभावकारी धारा नहीं थी जिसके द्वारा सदस्यों को अपने आप राष्ट्र संघ की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए बाधित किया जा सके। सिर्फ एक धारा थी—सदस्य को संघ से पृथक करने की। परन्तु संघ राष्ट्रों का एक ऐसा संगठन था जिसकी सदस्यता 'ऐच्छिक' था और कोई भी राष्ट्र अपनी इच्छानुसार सदस्यता को त्यागने में स्वतंत्र था और एक बार राष्ट्र संघ से निकलने के बाद उस देश को राष्ट्र संघ के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था।

**प्रभावकारी धारा का अभाव**

राष्ट्र संघ के सदस्यों के तथा अन्य राज्यों के आपसी झगड़ों का निपटारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी किया करता था। परन्तु न्यायालय के निर्णयों को कार्यान्वित करवाने की कोई ठोस व्यवस्था नहीं थी। इसी प्रकार शान्ति संधियों में तथा संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया भी अत्यधिक जटिल थी। संविधान में सर्व सम्मत निर्णय पर जोर दिया गया है। इतनी विशाल सदस्य संख्या वाले संघ में सर्व सम्मत निर्णय पर पहुँचना बहुत ही दुष्कर कार्य था। यह अधिक अच्छा होता यदि संधियों में संशोधन या पुनरचना का काम अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय या किसी आयोग के सुपुर्द कर दिया जाता, क्योंकि असेम्बली और कौंसिल दोनों ही राजनीतिक परिषदें थी और उनकी सिफारिशें निष्पक्ष नहीं हो सकती थीं।

**संशोधन की जटिल प्रक्रिया**

राष्ट्रसंघ के प्रति सब साधारण जनता का और छोटे राज्यों का कुछ उत्साह जनक नहीं था। राष्ट्र संघ राष्ट्रों का संघ था। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपनी इच्छानुसार अपने किसी भी योग्य व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेज सकता था। अर्थात् संघ के सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि थे, जनता के नहीं। अतः संघ का सदस्य राष्ट्रों की जनता से किसी प्रकार का कोई सम्पर्क नहीं था। इसके अतिरिक्त संघ के सभी सदस्यों को संघ में न तो समान स्थिति ही थी और न समानधिकार ही। सच पूछा जाये तो संघ महान शक्तियों का राजनीतिक अखाड़ा था। कौंसिल, जो कि संघ की प्रमुख शक्तिशाली परिषद थी, आत्मा थी, में महान शक्तियों को स्थायी स्थान प्राप्त थे। जब कि संघ के अवशिष्ट सदस्यों को केवल ९ स्थान प्रदान किये गये और वे भी अस्थायी इतना ही नहीं बल्कि महान शक्तियों को निषेधाधिकार प्राप्त था जबकि छोटे राज्यों के पास अपने विचारों के अनुसार कार्य करने की कोई धारा नहीं थी। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इन छोटे

**असमानता**

---

1 Schuman—International Politics

राज्यो के मन में बडे राज्यो के प्रति वैमनस्य बढे। जबकि राष्ट्रसघ बडे राज्यो को उनकी आक्रामक कार्यवाहियो के विरुद्ध सजा देने में असफल रहा तो यह वैमनस्य उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया और इसने सघ के पतन में अपना योगदान दिया।

राष्ट्रसघ के पतन का एक कारण था—तानाशाहो का उत्थान। शाति सन्धियों के परिणाम स्वरूप राष्ट्रसघ का जन्म हुआ था और इसे शाति सधियो द्वारा कई कर्त्तव्य भी सौप गये थे। एक कर्त्तव्य था शाति व्यवस्था द्वारा स्थापित यथास्थिति को बनाये रखना। अब पराजित दशा की तरफ देखिये।

**विविध कारण** शाति सधियो ने उनके गौरव को समाप्त कर दिया था, उनकी शक्ति का नष्ट कर दिया था। और उनको आर्थिक स्थिति को दयनीय बना दिया था। अत उन्ह शाति सधियो तथा इस पर आधारित और इसके कर्त्तव्यो को निभाने वाली राष्ट्र सघ से घृणा थी। ऐसी परिस्थितियों म पराजित देशो तथा इटली और जापान में तानाशाहा का उत्थान हुआ। इन्होन अपने देशवासियो को प्राचीन गौरव को लौटाने का आश्वासन दिया और जनता ने उनका समर्थन किया। इन तानाशाहो की विदेश नीति भी सफल रही। इस समय रूस का साम्यवाद पश्चिम के पूँजीपतियो के लिऐ सिर दर्द बन चुका था। तानाशाहा ने अपने आपको साम्यवादी विरोधी घोषित किया और अपनी आक्रामक कार्यवाहियो तथा साम्राज्यवादी लिप्सा पर साम्यवादी विरोधी चादर डाल दी। पश्चिमी देशा ने उनका स्वागत किया। क्योकि वे तो यह चाहते ही थे कि साम्यवाद और तानाशाह एक दूसरे से लडकर कमजोर हो जायें। परतु हुआ इसके प्रतिकूल। साम्यवाद की शक्ति बढती गइ और छोटे २ राज्या का हडप कर तानाशाहो ने अपनी शक्ति भी बढाली। शक्ति सम्पन्न हाने ही तानाशाहा ने अपना असली रूप भी प्रगट कर दिया। अब पश्चिमी देश उन्ह सन्तुष्ट करने लग गये। इससे उनको हिम्मत और बढती गई और अन्त म द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ। यदि पश्चिमी देश इन समस्याओ को सघ के सामन रखने और मिल जुलकर कार्य करते तो न तो द्वितीय महायुद्ध ही छिडता और न राष्ट्र सघ का पतन हा होता।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जिनका उल्लेख यत्र तत्र किया जा चुका है, जैसे—निशस्त्रीकरण की समस्या को हल करने में सघ का असफलता अल्पसख्यको की सुरक्षा की समस्या, अमेरिका का असहयोग, आपसी मतभेद और वैमनस्य, श्रद्धा का अभाव आदि।

अन्त में, गैथोन हार्डी के इन शब्दो—'परन्तु राष्ट्र सघ शांति सम्मेलन का एक महान रचनात्मक कार्य था। इसकी आत्मा पूर्णत अन्तर्राष्ट्रीय थी, और उन सदस्यो के हाथो में जो निस्वार्थ भाव से इसका उपयोग सकल्प करते, यह शांति का एक शानदार उपकरण बन सकता था।'' के साथ राष्ट्र सघ की कहानी को समाप्त करते हैं।

चौथा अध्याय

# क्षतिपूर्ति की समस्या

मानव समाज के लिए युद्ध कोई नई बात नही है। शताब्दियो मे युद्ध होते आये हैं और विजेता अपने पराजित प्रतिद्वन्द्वियो से युद्ध का सम्पूर्ण व्यय वसूल करने के प्रयत्न में पीछे नही रहे है। इस सम्बन्ध में "युद्ध का दायित्व किसका है?" को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। वर्साय की संधि की धाराएँ भी इसी परम्परा की प्रतीक थी। परन्तु प्रथम महायुद्ध के व्यय का देखते हुए जर्मनी से इस विशाल राशि का वसूल करना असम्भव प्रतीत हो रहा था। इसीलिए ५ नवम्बर १९१८ को अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने अपने नोट मे कहा था कि जर्मनी से युद्धापराध का जुर्माना नही लिया जायेगा और इसी आधार पर मित्रराष्ट्रों को अपनी माग सीमित करनी पडी और युद्ध बन्दी के सम्बन्ध मे जर्मनी से की जाने वाली वार्ता में उन्होने स्पष्ट कर दिया कि "जर्मनी को बेलजियम के युद्ध ऋण और मित्रराष्ट्रो की नागरिक जनता और उसकी सम्पत्ति को हुई सारी क्षति की पूर्ति करना होगा।" जर्मनी ने इसे स्वीकार कर लिया और इसी कथन के आधार पर हथियार डाले थे।

**भूमिका**

परन्तु दुर्भाग्यवश मित्रराष्ट्र अपने कथन पर स्थिर न रह सके और रह भी कैसे सकते थे। प्रथम तो जर्मनी अब पूर्ण रूप से उनके चुंगल में फंस चुका था। दूसरे युद्धबन्दी के उपरान्त सम्पन्न होने वाले आम निर्वाचनो में इंगलैण्ड और फ्रांस के राजनीतिज्ञो ने मत प्राप्ति के चक्कर में पड कर जर्मनी से युद्ध की क्षति को वसूल करने के आश्वासन दे रखे थे। अत शांति सम्मेलन में क्षतिपूर्ति की समस्या का एक नया रूप दृष्टिगोचर हुआ। नागरिको को हुई क्षति की ओट में ५ नवम्बर १९१८ के दाव की न्याय्यता को ओझल कर दिया गया[1] और सैनिको की पेंशन और अलगाव भत्तो (Seperation allowances) की लागत को भी सम्मिलित कर लिया गया। इतना ही नही बल्कि जर्मन क्षेत्रो में नियुक्त मित्रराष्ट्रो की अधिकार सेनाओ का व्यय भी जर्मनी के मत्थे मढ दिया गया। फिर भी फ्रांस को सन्तुष्ट नही हुआ और पश्चिमी देशो में इस समस्या को लेकर मतभेद बढता गया। परिणाम यह

**शांति सम्मेलन और क्षतिपूर्ति**

---

१—जी० एम० गेथोन हार्डी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास

हुआ कि वे किसी एक निर्णय पर पहुँचने में सफल नहीं हो सके और क्षतिपूर्ति समस्या का अंतिम समाधान एक क्षतिपूर्ति आयोग (Reparation Commission) को सौंप दिया गया। इस आयोग को १ मई १९२१ तक अपना प्रतिवेदन (Report) प्रस्तुत करना था। तब तक के लिए जर्मनी को ५ ०००,०००,००० डालर का भुगतान करना था। इस राशि से सर्व प्रथम अधिकार सेनाओं (Armies of occupation) का व्यय चुकाना था और अवशिष्ट राशि को क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा निर्धारित क्षतिपूर्ति की कुल राशि के हिसाब में जमा कर देना था।

क्षतिपूर्ति आयोग में संयुक्त राज्य, ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, इटली और बेलजियम को प्रतिनिधित्व दिया गया तथा इस बात की भी व्यवस्था की गई कि छोटे २ राज्यों को भी उनसे सम्बन्धित समस्याओं पर, जब जब आवश्यकता पड़े,

**क्षतिपूर्ति आयोग** निमंत्रित किया जाये। लेकिन चूँकि अमेरिका की सीनेट ने

**और अमेरिका** वर्साय संधि का अनुसमर्थन (Ratification) नहीं किया था इसलिए अमेरिकन प्रतिनिधि को क्षतिपूर्ति आयोग में नियुक्त नहीं किया जा सका और यह काम बाकी चार सदस्यों पर आ पड़ा। अमेरिकन प्रतिनिधि के हट जाने से क्षतिपूर्ति आयोग में साम्यता की अकेली आवाज भी हट गई क्योंकि अमेरिका ने पहिले से ही अपने क्षतिपूर्ति दावे का परित्याग कर दिया था, इसलिए यह विश्वास किया जाता था कि वह इस बात पर जोर दे सकता था कि जर्मनी पर क्षतिपूर्ति प्रतिशोध लेने के विचार से नहीं बल्कि उसकी भुगतान शक्ति (Payment power) को विचार में रखते हुए नियत की जावे। क्षतिपूर्ति आयोग को साथी देशों के दावे और अधिकारों को सुनना था। तथा क्षतिपूर्ति की अंतिम राशि भी तय करनी थी।

एक तरफ क्षतिपूर्ति आयोग अपना काम कर रहा था और दूसरी तरफ क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित मित्रराष्ट्रों के राजनीतिज्ञ भविष्य में जर्मनी से प्राप्त होने वाली प्राप्तियों (Receipts) को आपस में बाटने की एक निश्चित प्रणाली को

**विभाजन अनुपात** ठोस रूप देने में लगे हुए थे। इस सम्बन्ध में उनके बीच कई असफल सम्मेलन हुए। असफल इसलिए कि मित्रराष्ट्र जो भी राशि निर्धारित करते जर्मन कुटिलता के साथ उसमें कमी करते जाते और इस प्रकार एक निश्चित निर्णय पर पहुँचना असम्भव हो गया था। जुलाई १९२० में होने वाले स्पा (Spa) सम्मेलन को कुछ सीमा तक सफल माना जा सकता है। इस सम्मेलन में पहली बार जर्मन प्रतिनिधियों को निमंत्रित किया गया था। इसमें दो महत्वपूर्ण विषयों का निपटारा भी किया गया। एक तो यह कि आगामी छः मास तक जर्मनी, फ्रांस व अन्य साथी देशों को कोयले का कितना भुगतान करेगा। दूसरा बात यह कि जर्मनी से मिलने वाली क्षतिपूर्ति का सम्बन्धित देशों में किस अनुपात से विभाजन किया जायेगा। अनुपात इस प्रकार से तय किया गया—

| | |
|---|---|
| फ्रांस | ५२% |
| ग्रेट ब्रिटेन | २२% |
| इटली | १०% |
| बेलजियम | ८% |
| यूनान, रूमानिया और यूगोस्लाविया | ६.५% |
| जापान | ०.७५% |
| पुर्तगाल | ०.७५% |
| | १००% |

यह स्मरण होगा कि बेलजियम के सम्पूर्ण युद्धऋण का दायित्व जर्मनी पर डाला गया था। इस सम्मेलन में यह भी निश्चित किया गया कि जर्मनी से मिलने वाली क्षतिपूर्ति पर बेलजियम को १,०००,०००,००० डालर तक ग्रहण करने का प्राथम्य ( priority ) प्रदान किया जाये।

**अन्तरिम भुगतान और जर्मनी**

अब हम पुनः जर्मनी की तरफ आते हैं। शांति सम्मेलन में यह तय किया गया था कि क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा १ मई १९२१ तक प्रतिवेदन प्रस्तुत करने की अन्तरिम अवधि में जर्मनी कोयले तथा अन्य वस्तुओं के रूप में या स्वर्ण के रूप में ५,०००,०००,००० डालर का भुगतान करे। उपरोक्त व्यवस्थानुसार जर्मनी ने अगस्त १९१९ से भुगतान ( payment ) करना शुरू किया। जनवरी १९२१ में जर्मनी ने घोषणा की कि उसने कोयले तथा अन्य सामान के रूप में निर्धारित अन्तरिम भुगतान अदा कर दिया है और जब तक क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा क्षतिपूर्ति की एक निश्चित राशि तय नहीं की जाती तब तक वह भुगतान का बन्द रखेगा। परन्तु जर्मनी के दुर्भाग्यवश मित्रराष्ट्रों ने जर्मन भुगतान का हिसाब किताब रख छोड़ा था और उन्होंने जाच के उपरान्त घोषणा की कि जर्मनी ने अब तक केवल २,०००,०००,००० डालर का ही भुगतान किया है। उन्होंने जर्मन दावे को झूठा बतलाते हुए कहा कि जर्मनी ने अपने सामान की कीमतें बढ़ा चढ़ा कर लगाई है और अभी तक लगभग ६०% भुगतान बाकी है तथा अब तक जो भुगतान मिला है उससे अधिकार सेनाओं का सम्पूर्ण व्यय भी वसूल नहीं हो सका है। कुछ समय तक अन्तरिम भुगतान की अदायगी के सम्बन्ध में मित्रराष्ट्रों और जर्मनी में पत्र व्यवहार होता रहा परन्तु इसका कोई परिणाम न निकला। २४ मार्च १९२१ को क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को जानबूझकर अपने दायित्व से मुँह मोड़ने के लिए दोषी घोषित कर दिया और मित्रराष्ट्रों ने राइन के पूर्व में स्थित रुहरोट, डुइसबर्ग और डसलडार्फ नामक औद्योगिक केन्द्रों पर अधिकार कर लिया। अतिरिक्त आय की आशा से, मित्रराष्ट्रों ने राइनलैण्ड के चारों तरफ चुंगी की दीवार ( customs wall ) खड़ी कर दी और जर्मनी से मित्रराष्ट्रों को भेजे जाने वाले सामान पर विविध कर भी लगा दिये गये।

श्री गेथोर्नहार्डी[1] ने मित्रराष्ट्रो की इन कार्यवाही के पीछे एक भय का बतलाया है। क्षतिपूर्ति की कुल राशि को निर्धारित करने के लिए जनवरी १९२ मित्रराष्ट्रों का पेरिस में एक सम्मेलन हुआ जिसमें मित्रराष्ट्रो ने अपनी प्रस्थाप (proposals) प्रस्तुत की परन्तु जर्मनी ने अपने प्रति प्रस्थापना (Count proposal) में न केवल सम्पूर्ण राशि को ही कम किया परन्तु राइनलैण्ड स अधिक सेनाएँ हटाने तथा ऊपरी साईलेशिया के अधिकार की भी माग की। इस पर मित्रराष्ट्रों ३ मार्च १९२१ को जर्मनी को चुनौती पत्र भेजा और ८ मार्च को उपरोक्त केन्द्रा अधिकार कर लिया। २४ मार्च को क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को दोषी करार देते मित्रराष्ट्रो के इस अशोभनीय एव आक्षेपयोग्य कार्यवाही पर वद्यता का प डाल दिया।

उपरोक्त घटना के लगभग सात सप्ताह बाद, २७ अप्रैल १९२१ को क्षतिपू आयोग ने जर्मनी द्वारा भुगतान की जाने वाली क्षतिपूर्ति की कुल राशि की घोषणा दी। जर्मनी को कुल मिलाकर, बेलजियम के युद्ध ऋण के अतिरि (लगभग १,०००,०००,००० डालर) १३२,०००,०००,० स्वर्ण मार्क अर्थात् लगभग ३२,००० ०००,००० डालर ६६० करोड पौंड का भुगतान करना था। यह सख्या पेरि सम्मेलन मे अर्थशास्त्रियो द्वारा सुझाई गई राशि से लगभ तीन गुणा अधिक थी[2]। एक कार्यक्रम (Schedule) के अनुसार उपरोक्त राशि में १२,५००,०००,००० डालर पर जर्मनी को ५% ब्याज देना था और इस राशि क भुगतान ५०० ०००,००० डालर की निश्चित वार्षिक किश्तो के रूप में करना था इसके अतिरिक्त जर्मनी को प्रतिवर्ष अपने निर्यात कर (Exports tax) के २६% भाग के बराबर राशि का भुगतान करना था। क्षतिपूर्ति आयोग के प्रतिवेद (Report) में यह भी कहा गया कि चू कि अब तक जर्मनी द्वारा किये गये भुगतान से अधिकार सेनाओ का सम्पूर्ण व्यय भी वसूल नही हो सका है, अत जर्मनी का कुल दायित्व अभी बाकी है। अत जर्मनी को ८ करोड पौंड (लगभग १ अरब स्वर्ण मार्क) की राशि का, मई मास के अन्त तक भुगतान करने को कहा गया। इस प्रतिवेदन को, बिना किसी सशोधन के, इस धमकी के साथ कि यदि जर्मनी ने इसे स्वीकार नही किया तो मित्रराष्ट्र रूहर (Ruhr) पर अधिकार कर लेंगे, जर्मन सरकार के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेजा गया। जर्मनी को १२ मई तक का अवकाश दिया गया। क्षतिपूर्ति के कुल दायित्व ने जर्मनी में मन्त्रिमण्डलीय सकट उत्पन्न कर दिया और काफी वाग्विवाद के बाद ११ मई १९२१ को जर्मनी के प्रधान मन्त्री जोसफ विथ की सरकार ने उपरोक्त चुकान कार्यक्रम (Schedule of Payment) स्वीकार कर लिया।

**क्षतिपूर्ति की कुल राशि और चुकान-कार्यक्रम**

---

१ जी एम गेथोर्नहार्डी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सक्षिप्त इतिहास।
२ Langsam—The World Since 1919

क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी के कुल दायित्व ( Total obligations ) की घोषणा करदी और जर्मनी ने रूहर के छीन जाने के भय से उपरोक्त दायित्व को स्वीकार भी कर लिया परन्तु मित्र राष्ट्रो को इस भुगतान को वसूल करने में और जर्मनी को अपने दायित्व को अदा करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडा।

**भुगतान चुकाने की कठिनाइयाँ**

मुख्य सवाल यह उठता है कि इतनी बड़ी राशि का भुगतान किस रूप में या कौन से साधनो के द्वारा किया जाय। गेथोन हार्डी ने लिखा है—' मोटे तौर से भुगतान सिर्फ तीन तरह से किया जा सकता है—अर्थात् सोने के पदार्थों के अथवा सेवाओ के हस्तान्तरण द्वारा।" जर्मनी के पास पर्याप्त मात्रा में सोना नही था। फिर क्षतिपूर्ति के आकडे सम्पूर्ण संसार के बाजार में उपलब्ध सोने के मूल्य से करीब तीन गुणा अधिक थे। चार वर्ष के निरंतर युद्ध ने जर्मनी के स्वर्ण को चूस लिया था और अब जर्मनी के पास इस बहुमूल्य धातु का स्थायी नाप बहुत कम था। पदार्थों के द्वारा भी भुगतान सम्भव नही था। क्योकि इस परिस्थिति में उत्तमर्ण देशो ( Creditor Nations ) की अर्थ व्यवस्था के विशृङ्खलित होने का भय था और इससे इन देशो में राशि पतन ( Dumping ) की सम्भावना थी। सेवाओ द्वारा भी भुगतान असम्भव था।

श्री एफ० ली० बेनस[1] ( F Lee Benns ) ने लिखा है कि कई परिस्थितियों ने जर्मन सरकार को अपने दायित्वो का पालन करने मे असफल बना दिया था। प्रथम तो जर्मनी के पास किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय उधार (International Credit) नही था, और यदि होता भी, अमेरिका को छोडकर संसार का कोई देश ऐसी स्थिति में नही था कि वह तुरंत जर्मनी को भारी रकम दे सके। अत विदेशी ऋणो की सहायता से वह तुरंत ही क्षतिपूर्ति का निपटारा नही कर सकता था। दूसरे स्थान में, मित्र राष्ट्रो की घेराबन्दी ने, जिसने बहुत लम्बे समय से जर्मनी को कच्चे माल के साधनो से वंचित कर रखा था और युद्ध पूर्व जर्मन व्यापारिक पद्धति जिसे कि नष्ट किया जा चुका था, जर्मनी को विदेशो से, विशाल मात्रा में कच्चा सामान खरीदने का विवश होना पडा और चूँकि इन आयातो का पूर्ण भुगतान तुरंत निर्मित निर्यात वस्तुओ से नहीं किया जा सकता था, उसे स्वर्ण का निर्यात करना पडा। इसी स्वर्ण से वह अपनी क्षतिपूर्ति अदा कर सकता था। विदेशो से, व्यापार के माध्यम से स्वर्ण कमाना तो दूर रहा, उसके पास जो स्वर्ण संचिति ( Reserve ) थी वह भी धीरे २ कम होती गई। तीसरे, जर्मनी को स्वदेशी पूँजी के विदेशो मे चले जाने से भी अत्यधिक संकट का सामना करना पडा। जर्मन पूँजीपतियो को भय था कि कही हमारी सरकार हमारी पूँजी को न हडप ले, इसलिए उन्होने अपनी पूँजी का विदेशी बैंको में विनियोजित ( Invested कर दिया था।

---

( १ ) F Lee Benns—European History Since 1870

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी थी। युद्ध बन्दा के बाद जर्मनी का नैतिक, आध्यात्मिक और आर्थिक दृष्टि से पतन हो चुका था। असन्तोष और अव्यवस्था, खाद्य सामग्री के अभाव, निधनता तथा घेराबन्दी के कारण जर्मन लोगों में वह उत्साह बाकी नही रह गया था कि वे ऐसे दायित्व का पालन कर सके। फिर, जर्मन लोगों में इस भुगतान को अदा करने की इच्छा भी नही थी। उन्होने, एक तरह से इसकी अवहेलना करना निश्चित कर रखा था। क्योकि प्रारम्भ मे ही उन्होने सधि की युद्ध अपराध ( War guilt ) धारा की सत्यता को स्वीकार नही किया था। उन्हें अपनी निर्दोषिता और अपने देश द्वारा छेड़े गये सघर्ष की वैधता मे दृढ विश्वास था। जर्मन और रूसी पत्रो के प्रकाशन ने उनके विश्वास को और भी दृढ कर दिया और वे इन पत्रो को अपने देश के व्यवहार की पवित्रता का लिखित प्रमाण समझने लगे।[1] अत उनकी दृष्टि में यह बात तर्कहीन थी कि पोते परपोते अपने बाप दादो के उस अपराध के लिए जो उन्होने कभी नही किया था, सोने के रूप मे, जुर्माना अदा करे।

इस सम्बन्ध में कुछ अप्रत्यक्ष कठिनाइयाँ भी थी। युद्धोपरान्त विजेताओ ने अपने व्यापारिक बन्धनो को मजबूत कर दिया और अपने चारो तरफ चुगी की ऊँची दीवारें खड़ी करदी। प्रत्येक राष्ट्र यहा तक कि अमेरिका ने भी, इसी मार्ग का अवलम्बन किया। इससे जर्मनी के लिए उचित मुनाफे पर अपनी वस्तुओ को विश्व बाजार में बेचना और कठिन हो गया। यदि ऐसा नही होता तो इस मुनाफे से क्षतिपूर्ति के भुगतान में सुविधा हो सकती थी।

**भुगतान चुकाने मे जर्मनी की असफलता**

उपरोक्त सब कठिनाइयो के परिणाम स्वरूप जर्मनी नगद भुगतान करने में असफल रहा। यहा तक कि पूर्ण रूप से वस्तुओ का भुगतान भी नही कर सका। यद्यपि निर्धारित चुकान कार्यक्रम के अनुसार जर्मनी ने अगस्त १६२१ में २५०,०००,-०० डालर की प्रथम किश्त अदा करदी थी परन्तु ऐसा करने से उसके मार्क ( जर्मन सिक्का ) की कीमत में गिरावट आ गई। साल के अन्त तक जर्मनी को विश्वास हो गया कि विदेशी ऋणो की सहायता के बिना या मार्क की कीमत में अत्यधिक गिरावट को सहन करने के बिना वह क्षतिपूर्ति का भुगतान करने में असमर्थ है। विदेशी ऋण मिल नही रहे थे और मार्क की कीमत में गिरावट को सहन करने की क्षमता भी जर्मनी में नही थी। युद्ध से पहिले २० मार्क का सामान्य मूल्य एक स्टर्लिंग पौंड था किन्तु १६२० के मध्य तक लगभग २५० मार्कों का मूल्य एक पौंड तक हो चुका था और १६२१ के ग्रीष्म से इसकी कीमत में गिरावट होती गई और नवम्बर में तो १००० मार्क का एक पौंड तक मूल्य हो गया।[2]

---

(१) Albjerj & Albjerj–Europe from 1914 to the Present
( २ ) ई एच कार-दो विश्व युद्धों के बीच अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध।

इसलिए, जर्मनी को भुगतान के सम्बन्ध में विलम्बकाल (Moratorium) की याचना करनी पड़ी। जर्मनी को १९२२ में एक अस्थायी विलम्बकाल दिया गया। परन्तु ज्यों ही जर्मनी ने पुनः भुगतान करने का प्रयत्न किया, विलम्ब काल की मांग मार्क की कीमत तेजी से गिरने लगी। फलस्वरूप जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों की नीति १९२५ के अन्त तक क्षतिपूर्ति के भुगतान को बन्द रखने की प्राथना की। जर्मनी की इस याचना से संसार को केवल यही नहीं ज्ञात हुआ कि जर्मनी दिवालिया हो गया है, बल्कि इसका भी ज्ञान हो गया कि उसके दोनों प्रमुख उत्तमर्णों में अब एक राय नहीं रह गई है। इंगलैण्ड जर्मनी की प्रार्थना स्वीकार करना चाहता था परन्तु फ्रांस इसके लिए तैयार नहीं था। इसका यह कारण नहीं था कि इंगलण्ड अधिक उदार था और फ्रांस जर्मन मांस का अंतिम पाउंड लेने को उत्सुक था बल्कि दोनों देशों की स्थिति भिन्न थी। ग्रेट ब्रिटेन बेकारी के प्लेग और युद्ध ऋणों के भुगतान के कारण जर्मनी के बाजारों की जरूरी से जल्दी पुनर्स्थापना करना चाहता था ताकि जर्मनी ब्रिटिश बाजार में खरीद कर सके और इससे बेकार ब्रिटिश श्रमिकों को खानों तथा कारखानों में काम मिल सके। आखिर ब्रिटेन यह बात भूला नहीं था कि युद्ध के पहिले जर्मनी उसका एक अच्छा ग्राहक था। दूसरी तरफ फ्रांस युद्ध काल में उजड़ हुए अपने इलाकों को पुनः आबाद करना चाहता था। फ्रांस को आशा थी कि १९२१ से ही जर्मनी से क्षतिपूर्ति की भारी रकम फ्रांस आने लगेगी। परन्तु जब भुगतान का समय आया तो जर्मनी टाल झांकने लगा। इस पर फ्रांस वाले झल्ला उठे। फ्रांसीसी लोकमत यह स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि एक बेकार दल अपने न्याय्य दायित्वों (Just obligations) से मुह मोड़ने का प्रयत्न करे और विजयी राष्ट्रों को अपने उजड़े क्षेत्रों की पुनर्स्थापना के लिए (जिसका वास्तविक दायित्व जर्मनी पर था) भारी बोझ मे दबना पड़े। फिर फ्रांस वालों का विश्वास था कि जर्मनी जान बूझ कर अदायगी (Payment) नहीं कर रहा है। कुछ अंशों में यह अनुमान ठीक भी था। बर्लिन ने देरी (Delay) की नीति का पालन किया था ताकि इंगलैण्ड और फ्रांस में व्याप्त मतभेद की खाई विस्तृत हो सके और उसके परिणाम स्वरूप [illegible] बिल की रकम में कुछ कमी हो सके। जो भी हो, फ्रांस का विरोध भी न्याय [illegible] इसलिए कि एक भी साल ऐसा नहीं था जिसमें कि जर्मनी ने अपने पूर्ण [illegible] हो। १९२२ में उन्होंने परिकल्पित (Speculated) ५,८२,४००,००० [illegible] में से केवल ३५० ६७१,४६४ डालर का ही भुगतान किया था। [illegible] कर देखा कि जहाँ वे अपने पुनर्स्थापना तथा अन्य कार्यों पर [illegible] १००० [illegible] व्यय कर रहे हैं वहीं जर्मनी केवल ३८१ डालर प्रतिनिधि [illegible] दे रहा है [illegible] वह भी रुक रुक कर। श्री ई एच कार[1] ने लिखा है, [illegible]

---

(१) ई० एच० कार—दो विश्व युद्धों [illegible] सम्बन्ध।

भोर तृष्णा की भावना थी । वह थी—यदि रूर पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार हो ज
ता न केवल फ्रांस की सुरक्षा बढ़ सकती थी, अपितु जर्मन उद्योग का लाभ भी मि
राष्ट्रों के राज कोषों (Exchequers) में बलात जमा कर लिया जा सकता था
यह योजना जो कि 'उत्पादक प्रत्याभूतियां' (Productive Guarantee
की नीति के रूप में घोषित की गई थी, कुछ फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों को अत्यन्त भा
प्रतीत हुई ।

इस अवसर पर जर्मनी के दुर्भाग्यवश फ्रांस का प्रधान मंत्री पोइनकारे (Po
caire) था जिसे कि "उत्पादक प्रत्याभूतियों" में गहरी रुचि थी । उसने जर्मनी
विलम्बकाल केवल इस शर्त पर देना स्वीकार किया-यदि उ

**रूहर पर आधिपत्य**

राइनलैंड की खनिज सम्पदा का फ्रेंच नियंत्रण में सौंप दि
जाये । परन्तु लॉयड जार्ज किसी भी प्रकार जर्मनी के आर्थि
जीवन को और अधिक नष्ट करने के पक्ष में नहीं था । १६
के अंतिम मास लंदन, पेरिस और बर्लिन के बीच पत्र-व्यवहार में ही व्यतीत हो ग
अन्त में पोइनकारे ने महादंड (Big stick) का प्रयोग करने का निश्चय कर लिय
दिसम्बर १९२२ में जर्मनी निश्चित वस्तु भुगतान की मात्रा को पूरा करने में असफ
रहा । फ्रांस ने इस तथ्य को क्षतिपूर्ति आयोग के सामने रखा और आयोग ने इस सम्ब
में जर्मनी से जबाव तलब किया । जर्मन प्रजातन्त्र ने प्रत्युत्तर में कहा कि कमी का कार
ऐच्छिक नहीं है बल्कि मुद्रा के ह्रास के कारण लकड़ी की प्रतिष्ठानों (Concerns)
साथ किये गये नये अनुबन्धों (Contracts) के परिणाम स्वरूप हो गया है । ब्रिटिश प्र
निधि के विरोध के उपरान्त क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को दोषी करार दे दिया । ज
वरी १९२३ में फ्रेंच, बेल्जियम और इटालियन सैनिक दस्ता ने सुदरपूर्व में स्थित डोर्टमु
(Dortmund) तक रूहर जिले पर अधिकार कर लिया । ब्रिटेन ने इस आधिपत्
को अवैधानिक ठहराते हुए इसमें भाग लेने से अस्वीकार कर दिया । मित्रराष्ट
को इस प्रकार की कार्यवाही करने का अधिकार वर्साय की सन्धि की उन धाराओं से
जिनमें इस बात का उल्लेख किया गया था कि यदि जर्मनी जान बूझ कर भुगतान से मु
मोडने का प्रयत्न करे तो मित्रराष्ट्र को दण्ड देने का अधिकार होगा प्राप्त हुआ था ।

श्री गेथोर्न हार्डी ने रूहर आधिपत्य के कानूनी पहलू की चर्चा करते हुए लिखा है
यह विवादास्पद है कि रूहर पर फ्रांस और बेल्जियम के आधिपत्य का वर्साय सं
के आधीन कानूनी रूप से उचित ठहराया जा सकता है या नहीं । इस

**रूहर आधिपत्य के कानूनी पहलू**

तीन मुख्य सवाल उठते हैं (१) क्या इस मामले में चूक का जो प्र
पैदा हुआ वह ऐसा प्रश्न था जिसे क्षतिपूर्ति आयोग का बहुमत से त
करने का अधिकार था ?—(२) क्या फ्रांस और बेल्जियम को अन
कार्यवाही करने का अधिकार था अथवा उन सरकारों का मिलकर कोई कार्यवाही कर
चाहिए थी जिनके प्रतिनिधि क्षतिपूर्ति आयोग में थे ? (३) क्या इस मामले में ताद्

ई अनुशास्ति आर्थिक और वित्तीय प्रतिषेधो और प्रतिशोधो (Prohibitions and reprisals तक सीमित था, अथवा जो कार्यवाही की गई वह वर्साय सन्धि आधीन की जा सकती थी ? इस प्रश्न का, विद्यार्थी को दोनो पक्षो का अध्ययन करने उपरान्त ही उत्तर देना चाहिए। फिर भी जो मार्ग अपनाया गया, उसके परिणामो को खते हुए कानूनी पहलू का महत्व बहुत कम रह जाता है।

**रूहर का महत्व**

रूहर (Ruhr) जर्मन उद्योगों का कलेजा था। यह सम्पूर्ण जर्मनी के काम म आने वाले कुल कोयला लोहा और फौलाद का ८० प्रतिशत उत्पन्न करता था और जर्मन रेलो का व्यापारिक यातायात भी इसी पर निर्भर था। क्योंकि जर्मनी के तीन प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों—सार, ऊपरी साईलेसिया और रूहर, में से दो पर तो पहिले से ही मित्र राष्ट्र कब्जा जमाये बैठे थे। रूहर बचा था। लोहे के कारखानो का जितना बडा केन्द्र रूहर था, उतना ससार मे दूसरा नही है। जगत विख्यात क्रप, स्टाइन्स और थाइसेन के कारखाने रूहर मे ही है। ऐसे प्रात को अपने अधिकार मे करने के दो उद्देश्य थे। प्रथम तो कारखाना की आमदनी मे क्षतिपूर्ति करना और दूसरे जर्मनी को हमेशा के लिए तबाह कर देना। इस उद्देश्य से पाइनकारे ने १० जनवरी १९२१ को रूहर पर अधिकार करने की आज्ञा दी थी।

**निष्क्रिय प्रतिरोध**

रूहर का अधिकार महासमर के बाद यूरोप की सबसे बडी रोमाचकारी घटना है। दो जातियो म ऐसा विचित्र, भीषण तथा दयनीय सघर्ष लडाई के समय भी नही हुआ था। क्रोधित जर्मनो मे लडने की शक्ति नही थी। अत उनके सामने एक ही रास्ता था—सत्याग्रह। अर्थात् निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)—शांति पूर्ण ढग से असहयोग आन्दोलन जिसमे सभी वर्गों ने सक्रिय भाग लिया। ज्यो ही फ्रेंच सेना रूहर में प्रविष्ट हुई, जर्मन श्रमिको ने काम करना छोड दिया। रैल के कर्मचारियो ने रेल चलानी छोड दी। टेलीफोन विभाग की लडकियो ने भी काम करने से इन्कार कर दिया। बर्लिन सरकार ने रूहर निवासियो को उत्साहित किया और उनके द्वारा उठाये गये कदम का अनुसमर्थन किया। इसके साथ ही वह इनको आर्थिक सहायता भी करती रहा और क्षतिपूर्ति का भुगतान भी रोक दिया। फ्रेंच लोगो के लिए जर्मनी की खानो की मशीनरी को समझना ही कठिन हो गया। नतीजा यह हुआ कि रूहर आधिपत्य से पूर्व उसे जर्मनी से उपलब्ध होने वाले कोयले के कुल भाग का चतुर्थांश भी प्राप्त नही हो सका।

**फ्रेंच नीति**

फ्रांसीसियो ने जर्मनी के निष्क्रिय प्रतिरोध का जवाब 'प्रत्युत्तर बहिष्कार' (Counter boycott) और अमानुषिक अत्याचार के द्वारा दिया। उन्होने अधिकृत और अनधिकृत जर्मन क्षेत्रो में भेद किया तथा अनधिकृत जर्मन क्षेत्र में निर्मित किसी भी वस्तु का निर्यात नही होने दिया। अधिकृत क्षेत्र के सहयोग विमुख अधिकारियो तथा प्रतिष्ठित नागरिको को या तो निर्वासित कर दिया गया या जेल में ठूँस दिया

और शुल्कों की आशा थी। यह था—कि रूहर पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार हो जा[ने से] न केवल कोयले का शुल्क वसूल सकती था, अपितु जर्मन उद्योग का लाभ भी मित्रराष्ट्रों के राजकोषों (Exchequers) में जमा कर लिया जा सकता था। यह योजना जो कि 'उत्पादक प्रत्याभूतियां' (Productive Guarantees) के नाम से घोषित की गई था, युद्ध कालीन राजनीतिज्ञों का अत्यन्त ... प्रतीत हुई।

इस अवसर पर जर्मनी के दुर्भाग्यवश फ्रांस का प्रधान मंत्री पोइनकारे (Poincare) था जिसे कि "उत्पादक प्रत्याभूतियों" में गहरी रुचि थी। उसने जनता ... विलम्बकाल केवल इस शर्त पर देना स्वीकार किया—यदि ... राइनलैण्ड की खनिज सम्पदा का फ्रेंच नियंत्रण में सौंप ... जावे। परन्तु लॉयड जार्ज किसी भी प्रकार जर्मनी के ... जीवन का और अधिक नष्ट करने के पक्ष में नहीं था। १६... के अन्तिम भाग लंदन, पेरिस और बर्लिन के बीच पत्र व्यवहार में ही व्यतीत हो ... अन्त में पोइनकेयर ने महादण्ड (Big stick) का प्रयोग करने का निश्चय कर लि[या।] दिसम्बर १६२२ में जर्मनी निश्चित वस्तु भुगतान की मात्रा को पूर्ण करने में अस[फल] रहा। फ्रांस ने इस तथ्य को क्षतिपूर्ति आयोग के सामने रखा और आयोग ने इस सम्ब[न्ध] में जर्मनी से जवाब तलब किया। जर्मन प्रजातन्त्र ने प्रत्युत्तर में कहा कि कमी का कार[ण] ऐच्छिक नहीं है बल्कि मुद्रा के ह्रास के कारण लकड़ी की प्रतिष्ठानों (Concerns) साथ किये गये नये अनुबन्धों (Contracts) के परिणामस्वरूप हो गया है। ब्रिटिश प्र[ति]निधि के विरोध के उपरान्त क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को दोषी करार दे दिया। ज[न]वरी १६२३ में फ्रेंच, बेलजियम और इटालियन सैनिक दस्तों ने सुदरपूर्व में स्थित डार्टमु[ण्ड] (Dortmund) तक रूहर जिले पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन ने इस आधिप[त्य] को अवैधानिक ठहराते हुए इसमें भाग लेने से अस्वीकार कर दिया। मित्रराष्ट्[रों] को इस प्रकार की कार्यवाही करने का अधिकार वर्साय की संधि की उन धाराओं [से] जिनमें इस बात का उल्लेख किया गया था कि यदि जर्मनी जान बूझ कर भुगतान से मु[ँह] मोड़ने का प्रयत्न करे तो मित्रराष्ट्रों को दण्ड देने का अधिकार होगा प्राप्त हुआ था।

**रूहर पर आधिपत्य**

श्री नेथान हार्डी ने रूहर आधिपत्य के कानूनी पहलू की चर्चा करते हुए लिखा है [कि] यह विवादास्पद है कि रूहर पर फ्रांस और बेलजियम के आधिपत्य को वर्साय स[न्धि] के आधीन कानूनी रूप से उचित ठहराया जा सकता है या नहीं। इस [सम्बन्ध में] तीन मुख्य सवाल उठते हैं (१) क्या इस मामले में चूक का जो प्र[श्न] पैदा हुआ वह ऐसा प्रश्न था जिसे क्षतिपूर्ति आयोग को बहुमत से त[य] करने का अधिकार था?—(२) क्या फ्रांस और बेलजियम को अन[ग] कार्यवाही करने का अधिकार था अथवा उन सरकारों को मिलकर कोई कार्यवाही कर[नी] चाहिए थी जिनके प्रतिनिधि क्षतिपूर्ति आयोग में थे? (३) क्या इस मामले में तागू ...

**रूहर आधिपत्य के कानूनी पहलू**

ई अनुशास्ति आर्थिक और वित्तीय प्रतिषेधो और प्रतिशोधो ( Prohibitions and reprisals तक सीमित था, अथवा जो कार्यवाही की गई वह वर्साय सन्धि आधीन की जा सकती थी ? इस प्रश्न का, विद्यार्थी को दोनो पक्षो का अध्ययन करने उपरान्त ही उत्तर देना चाहिए। फिर भी जो मार्ग अपनाया गया, उसके परिणामो को खते हुए कानूनी पहलू का महत्व बहुत कम रह जाता है।

रूहर (Ruhr) जर्मन उद्योगो का कलेवर था। यह सम्पूर्ण जर्मनी के काम म आने वाले कुल कोयला लोहा और फौलाद का ८० प्रतिशत उत्पन्न करता था और जर्मन रेला का व्यापारिक यातायात भी इसी पर निर्भर था। क्योकि जर्मनी के तीन प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों—सार, ऊपरी साईलेसिया और रूहर, में से दो पर तो पहिले से ही मित्र राष्ट्र कब्जा जमाये बैठे थे। रूहर बचा था। लोहे के कारखानो का जितना बडा केन्द्र रूहर था, उतना ससार म दूसरा नही है। जगत विख्यात क्रप, स्टाइन्स और थाइसेन के कारखाने रूहर म ही है। ऐसे प्रात को अपने अधिकार मे करने के दो उद्देश्य थे। प्रथम तो कारखानो की आमदनी से क्षतिपूर्ति करना और दूसरे जर्मनी का हमेशा के लिए तबाह कर देना। इस उद्देश्य से पोइनकारे ने १० जनवरी १९२१ को रूहर पर अधिकार करने की आज्ञा दी थी।

**रूहर का महत्व**

रूहर का अधिकार महासमर के बाद यूरोप की सबसे बडी रोमाचकारी घटना है। दो जातियो म ऐसा विचित्र, भीषण तथा दयनीय संघर्ष लडाई के समय भी नही हुआ था। क्रोधित जर्मनो मे लडने की शक्ति नही थी। अत उनके सामने एक ही रास्ता था—सत्याग्रह। अर्थात् निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)—शान्ति पूर्ण ढग से असहयोग आन्दोलन जिसमे सभी वर्गो ने सक्रिय भाग लिया। ज्यो ही फ्रेंच सेना रूहर में प्रविष्ट हुई, जर्मन श्रमिको ने काम करना छोड दिया। रेल के कर्मचारियों ने रेल चलानी छोड दी। टेलीफोन विभाग की लडकियो ने भी काम करने से इन्कार कर दिया। बर्लिन सरकार ने रूहर निवासियो को उत्साहित किया और उनके द्वारा उठाये गये कदम का अनुसमर्थन किया। इसके साथ ही वह इनको आर्थिक सहायता भी करती रही और क्षतिपूर्ति का भुगतान भी रोक दिया। फ्रेंच ताना के लिए जर्मनी की खानो की मशीनरी को समझना ही कठिन हो गया। नतीजा यह हुआ कि रूहर आधिपत्य से पूर्व उसे जर्मनी से उपलब्ध होने वाले कोयले के कुल भाग का चतुर्थांश भी प्राप्त नही हो सका।

**निष्क्रिय प्रतिरोध**

फ्रांसीसियो ने जर्मनी के निष्क्रिय प्रतिरोध का जवाब 'प्रत्युत्तर बहिष्कार' (Counter boycott) और अमानुषिक अत्याचार के द्वारा दिया। उन्होने अधिकृत और अनधिकृत जर्मन क्षेत्रो में भेद किया तथा अनधिकृत जर्मन क्षेत्र में निर्मित किसी भी वस्तु का निर्यात नही होने दिया। अधिकृत क्षेत्र के सहयोग विमुख अधिकारियो तथा नागरिको को या तो निर्वासित कर दिया गया या जेल में

**फ्रेंच नीति**

गया। जनता पर अमानुषिक अत्याचार किया गया। और जर्मन नेताओं को कोड़ों से पीटा गया। परन्तु देशभक्त जर्मनों ने शांति से सहन कर लिया और इस महान हड़ताल को जारी रखा। इतना होकर फ्रांस व उसके साथियों ने "विभाजन और शासन" (Divide and Rule) की नीति अपनाया। राइनलैण्ड में विदेशी शासन के भक्त निवासियों की सहायता से एक पृथक राज्य की स्थापना का आंदोलन चलाया गया। इसे ... आंदोलन (Separatist Revolution) भी कहते हैं। पृथक राज्य को Revol Republic भी कहा जाता है। इस आंदोलन को सफल बनाने के उद्देश्य से जर्मनी से असंतुष्ट श्रमिकों और क्रांतिकारियों को, मुक्त अपराधियों और गुंडों को राइनलैण्ड में एकत्र किया गया। फ्रांस की इस कार्यवाही का न केवल बर्लिन सरकार पर, बल्कि इंगलैंड सरकार ने भी तीव्र विरोध किया और अन्त में फ्रांस को इस आंदोलन से अपना हाथ खींचना पड़ा।

रूहर आधिपत्य भ्रष्ट और बदनामी की जड़ सिद्ध हुआ। जहाँ तक फ्रांस का प्रश्न है रूहर के कोयले और लोहे से (आधिपत्य काल में उपलब्ध) उसकी लागत ही नहीं निकली थी। इसके अतिरिक्त उसने ब्रिटिश प्रतिरोध से उपरांत इच्छानुसार कार्यवाही से ब्रिटिश का सहयोग खो दिया। कुल परिणाम उसके प्रतिकूल ही रहा। दूसरी तरफ रूहर आधिपत्य से जर्मनी का सारा आर्थिक जीवन ही ठप हो गया। आधिपत्य के कुछ ही समय पूर्व जर्मन मार्क का मूल्य गिरकर ३५,००० प्रति पौण्ड हो चुका था और अब १ पौंड में अरबों मार्क खरीदे जा सकते थे। तीसरे इस कार्यवाही ने जर्मन एकता की भावना को, जो बिस्मार्क के बाद शिथिल पड़ गई थी, बल प्रदान किया। तथ्य का मूल्यांकन करते हुए एक लेखक ने लिखा था कि "Two Men united the German people Bismark in 1871 and Poinca in 1923"

**रूहर आधिपत्य का परिणाम**

१९२३ में अविशिष्ट जर्मनी की स्थिति अत्यधिक शोचनीय हो गई। सरकार पूर्ण आत्म समर्पण या पूर्ण विनाश में से एक को चुनने के लिए विवश होना पड़ा। सितम्बर १९२३ में बर्लिन ने बिना शर्त के निष्क्रिय प्रतिरोध को बन्द करने की अधिघोषणा की। अन्ततोगत्वा पोंइनकारे विजयी हुआ परन्तु उसे इस विजय की भारी कीमत चुकानी पड़ी। जर्मनी क्षतिपूर्ति का भुगतान करने की स्थिति में नहीं था और फ्रांस जर्मनी से इस राशि को बलपूर्वक वसूल करने में असफल रहा। इसलिए इस प्रश्न पर पुनर्विचार करने तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति को नियुक्त करने का प्रस्ताव किया गया और इस बात पर जोर दिया गया कि समिति में ऐसे सदस्य नियुक्त किए जाय जो राजनीतिक समस्याओं के विशेषज्ञ न होकर आर्थिक समस्याओं के विशेषज्ञ हों और समिति का प्रतिवेदन भावना पर आधारित न होकर तथ्यों पर आधारित हो।

इस समिति के सदस्यो की नियुक्ति का कार्य क्षतिपूर्ति आयोग को सौंपा गया। आयोग ने अमेरिका, इगलैण्ड फ्रास, इटली तथा बेलजियम के दो दो प्रतिनिधियों को नियुक्त किया। अमरिका के वित्तशास्त्रीय जनरल चार्ल्स जी० डावस की अध्यक्षता मे जनवरी १०२४ मे समिति ने अपना काम शुरू किया और अप्रल में आयोग के सम्मुख अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। अपने अध्यक्ष के नाम के पीछे यह समिति "डावस समिति' के नाम से प्रसिद्ध है और इसके प्रतिवेदन को "डावस योजना" (Dawes Plan) कहा जाता है। डावस समिति का प्रमुख कार्य जर्मन बजट के सतुलन तथा मार्क की स्थिति को सुधारने के लिए अर्थोपायो (Ways and Means) का सुझाव देना था। इसके अतिरिक्त उस क्षतिपूर्ति की उस राशि को भी तय करना था जो कि जर्मनी सरकार के वार्षिक बजट में से चुकाई जाने वाली थी।

**डावस योजना (१९२४-३१)**

डावस योजना की रूप रेखा इस प्रकार थी—(१) रूहर को खाली किया जाय। (२) जर्मन तथा विदेशी सदस्यो के मिश्रित बोर्ड के निरीक्षण मे एक प्रचलन केन्द्रीय बैंक (Central Bank of Issue) की, जिसे पत्र मुद्रा Paper Currency) प्रचलन का एकाधिकार हो, की स्थापना। (३) प्रथम रूप मे क्षतिपूर्ति की राशि २४०, ००० ००० डालर हो और धीरे धीरे चार वर्षो के बाद ६ ०,०००,००० डालर प्रति वर्ष के हिसाब से भुगतान किया जाय। (४) ज्यो ज्यो जर्मनी को समृद्धि बढ़ती घटती रहे उसी अनुपात में वार्षिक किश्तो की राशि को बढ़ाया घटाया जाय। समृद्धि की जाच उसके आयात निर्यात के अको स की जाय और इस सम्बध में १९२७ २८ की आर्थिक स्थिति का आधार माना जाय। (५) जर्मनी को यथाशीघ्र २०००,०००,००० डालर का विदेशी ऋण दिया जाय (६) अदायगी की जमानत में, कर, रेलवे तथा औद्योगिक डिबेंचर Debentures) रखे जायें। (७) योजना के निरीक्षण के लिए एक महा अभिकर्त्ता (Agent General) नियुक्त किया जाय।

क्षतिपूर्ति आयोग ने डावस योजना को स्वीकार कर लिया। इगलैण्ड, इटली और बेलजियम ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। परन्तु फ्रास उस समय तक डटा रहा जब तक कि मई १९२४ के आम निर्वाचन ने पोइनकारे की शक्ति को कम नही कर दिया और उसके स्थान पर उदारवादी हरियट (Herriot) प्रधानमंत्री नही बन गया। १ सितम्बर १९२४ को योजना लागू की गई और रूहर को खाली किया गया।

योजना के सुझावानुसार एक अमरिकन व्यवसायी सिमार पारकर गिलबर्ट को महाअभिकर्त्ता नियुक्त किया गया। गिलबर्ट के निरीक्षण में योजना ने सुचारु रूप से कार्य शुरू किया और शीघ्र ही प्रगति के लक्षण दिखाई देने लगे। जर्मन उद्योग फिर से उन्नत होने लगा और आयात निर्यात के आंकड़ो में आशातीत वृद्धि हुई। क्षतिपूर्ति का भुगतान भी नियमानुसार होने लगा। जर्मनी की इस प्रगति को देखते हुए यह अनुमान लगाया जाने लगा कि उसके लिए भविष्य मे भारी वार्षिक किश्तो को चुकाना कठिन प्रतीत नही होगा।

फिर भी, डावस योजना में कुछ दोष थे। कुछ कमजोरियाँ थी। डावस समिति जर्मनी के कुल दायित्व को स्पष्ट नहीं कर सकी और उसे ऐसा करने का अधिकार भी नहीं दिया गया था। परन्तु फिर भी, यह समस्या तो बनी ही रही कि आखिर इस योजनानुसार जर्मनी कितने वर्षों तक भुगतान करता रहेगा। क्योंकि यह कल्पना करना निरर्थक था कि वह एक दीर्घ अवधि तक शांतिपूर्वक भुगतान करता रहेगा। अतः जर्मनी का भविष्य अब भी अन्धकारमय था और यदि उसकी समृद्धि भी होती है तो उसे क्या लाभ प्राप्त हो सकता था। क्योंकि समृद्धि के साथ-साथ भुगतान की राशि में भी वृद्धि की व्यवस्था की गई थी। अतः जर्मन लोगों को इस योजना के प्रति विशेष रुचि नहीं थी। यदि थी तो केवल इस बात के लिए कि उन्हें विदेशी ऋण प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया जिसकी सहायता से वे अपने राष्ट्र धन को क्षति पहुँचाये बिना क्षतिपूर्ति का भुगतान कर सकते थे। श्री कार[1] के शब्दों में—"डेविस योजना ने क्षतिपूर्ति चुकाने के लिए जर्मनी को आवश्यक धनराशि ऋणस्वरूप देने का घातक पूर्वोदाहरण प्रस्तुत कर दिया। अगले पांच वर्षों में जर्मनी की हर प्रमुख नगरपालिका और लगभग हर प्रमुख व्यापारिक प्रतिष्ठान ने या तो काफी ऋण लिए या अमेरिका में और कभी कभी ब्रिटेन में भी उधारी खाता खोला। उस समय बहुत ही थोड़े लोग यह अनुभव कर सकते थे कि जर्मनी अमरिका से पैसा लेकर अपना कर्ज चुका रहा है और उसकी हैसियत (Solvency) इस बात पर निर्भर करती है कि ऋणों का वॉलस्ट्रीट में सदैव ही स्वागत होना रहे।"

**डावस योजना के दोष**

१९२८ में क्षतिपूर्ति समस्या और राइनलैंड की व्यवस्था का और अधिक संतोषजनक ढंग पर हल करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। फलस्वरूप एक अमेरिकन ओवन डी० यंग की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जो 'यंग समिति' के नाम से प्रसिद्ध है। फरवरी १९२९ को पेरिस में समिति की प्रथम बैठक हुई और लगभग सत्रह सप्ताह के कठिन परिश्रम के उपरान्त समिति ने संबंधित सरकारों तथा क्षतिपूर्ति आयोग को अपना प्रतिवेदन भेज दिया। डावस समिति और यंग समिति में एक अंतर था। यंग समिति में जर्मन प्रतिनिधियों को भी निमंत्रित किया गया था और महासमर के बाद यह प्रथम अवसर था जबकि उन्हें यूरोपीय समस्या के समाधानों में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ।

**यंग समिति की योजना**

यंग योजना ने क्षतिपूर्ति का एक नया बिल तैयार किया। इसके अनुसार जर्मनी को ५८½ वर्षों में ८,०३२,५००,००० डालर का भुगतान करना था। (वास्तविक भुगतान, जो कि जर्मनी को मित्रराष्ट्रों को १९२९ से १९८८ तक करना था, वह ५५%

---

१—ई० एच० कार—दो विश्व युद्धों के बीच अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

ब्याज सहित २६,३५०,०००,००० डालर था ) महत्वपूर्ण बात यह थी कि वार्षिक किश्तो की राशि उतनी ही तय की गई जितनी कि राष्ट्रो को युद्ध ऋणो को चुकाने के लिए चाहिए थी। प्रथम ३७ वर्षो तक, सभी उत्तमर्ण देशो को, दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की औसत वार्षिक किश्त ५१२ ०००,००० डालर निश्चित की गई। अवशिष्ट २१ वर्षो के लिए औसत वार्षिक किश्त ३६० ०००,००० डालर तय की गई। इसके अतिरिक्त वार्षिक किश्तो को बिना किसी शर्त के स्थगित रखने की व्यवस्था भी की गई। इसके अन्तर्गत १६२,०००,००० डालर तक प्रति वर्ष की किश्त मे से स्थगित रखा जा सकता था। जर्मनी की आर्थिक स्थिति को अचानक धक्के स बचाने की दृष्टि से यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी लगभग दस वर्षो तक कुछ सीमा तक, वस्तु चुकान के द्वारा अपना भुगतान जारी रखे। क्षतिपूर्ति आयोग को समाप्त किया जाये। क्षतिपूर्ति की वार्षिक किश्तो के भुगतान का पूर्ण दायित्व जमन सरकार पर रहे। एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बक (Bank of International Settlement की स्थापना की जाय जिसका काम यह हो कि जमनी से जो रकम मार्क में मिले उसको दूसरे देशो के सिक्का में बदल कर उन देशो में भेजना। इसकी कुल जमा पूँजी १००,०००,००० डालर हो और इस राशि का चतुर्थांश यथाशीघ्र एकत्र किया जाय। जमनी अपना भुगतान ठीक ढग से कर रहा है या नही, इस बात का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप दिया गया।

कूटनीतिक क्षेत्रो में यग योजना का अच्छा स्वागत हुआ परन्तु फिर भी सरकारो की मान्यता काफी वाद विवाद के बाद ही प्राप्त हो सकी। जमनी में रीश बक के अध्यक्ष डा० शाख्ट (Schact) ने योजना के विरोध में अपने पद से स्तीफा दे दिया और बाद मे जनमत की स्वीकृति प्राप्त करने के बाद हो जमनी इसे स्वीकार कर सका। उधर मित्रराष्ट्रो ने जमनी के प्रति सद्भावना प्रदर्शित करते हुए जनवरी १६३० म राइनलैंड खाली कर दिया था। वसे वर्साय की सधि के अनुसार इसे १६३५ मे खाली किया जाना चाहिए था। यग योजना को लागू करते समय मित्रराष्ट्रो ने भावी सुख की कल्पना की थी परन्तु केवल दो वर्षो के अन्दर यग वार्षिकियो Annuities) का स्थगित करने पर विवश होना पडा।

सितम्बर १६३० से सम्पूर्ण ससार की आर्थिक स्थिति कुछ विचित्र करवट लेने लगी और कुछ ही महीनो बाद सम्पूर्ण ससार आर्थिक सकट के जाल में उलझ गया।

सीमा शुल्क ऐक्य

इसका विस्तृत विवरण हम आगे करेंगे। यहाँ केवल इतना उल्लेख करना काफी होगा कि इस मन्दी का जमनी की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। कुछ ही सप्ताहो म विदेशियो ने जर्मन रीश बक से लगभग २००,०००,००० डालर निकाल लिया और जमन मुद्रा की कीमत पुन गिरने लगी। अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने की दृष्टि से बर्लिन सरकार ने जमनी और आस्ट्रिया के मध्य व्यापारिक बाधाओ को दूर करने के लिए वियना प्रशासन से पत्र व्यवहार किया और सीमा शुल्क ऐक्य (Customs

Union) का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव के विरुद्ध फ्रेंच विरोध इतना उग्र रहा कि वाध्य होकर जमनी को अपना प्रस्ताव वापस लेना पडा। समृद्धि और क्षतिपूर्ति के भुगतान की सामर्थ्य का यह मार्ग बन्द हो गया।

जर्मन सरकार जो कि अपने ही प्रतिक्रियावादियों और साम्यवादियों की आलोचनाओं तथा फ्रास की कूटनीति के कारण शक्तिहीन हो चुकी थी, ने सतकता एव योग्यता के साथ आर्थिक विनाश को टालने का अथक प्रयत्न किया परन्तु फिर भी स्थिति म सुधार नही हो सका। समृद्धि जमन नागरिकों ने अपनी सरकार के दिवालिया हो जाने की आशका से विदेशों में पूंजी लगाना शुरू कर दी और चालाक अमेरिकनों ने जमनी में अपनी विनियोजित पूजी को समेटना शुरू कर दिया। जून १९३१ के प्रथम तीन सप्ताहों में ही रीश बैंक को अपनी स्वर्ण सचिति के ४१% भाग से हाथ धोना पडा।

इस स्थिति के मध्य अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने ससार की आर्थिक स्थिति के पुनरुद्धार के लिए एक वर्ष के विलम्ब काल की मांग रखी इस मांग की रूपरेखा इस प्रकार थी—(१) सम्पूर्ण अन्तसरकारी भुगतान और मशर्त क्षतिपूर्ति भुगतानो को ३० जून १९३१ से एक वर्ष के लिए स्थगित रखा जाय। (२) शर्तरहित क्षतिपूर्ति भुगतानो को जमनी अदा करते रहे परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बैंक सम्पूर्ण निधि को जमन रेलवे बंध पत्रो म लगा दे और रेलवे यथा शीघ्र इस निधि को सरकार को लौटा दे। (३) स्थगित भुगतानो का १९३३ से दस बराबर किश्तो में भुगतान किया जाय। (४) क्षतिपूर्ति से प्रभावित छोटे २ राज्यो को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बैंक (B I S) से ऋण दिया जाय। (५) जमनी इस बात का आश्वासन दे कि स्थगित भुगतानो का प्रयोग आर्थिक विकास कार्यों में किया जायेगा न कि सन्धि तयारी में।

**हूवर विलम्बकाल**

हूवर मुहलत के लागू हो जाने म कुछ लोगो को आशा की झलक दिखलाई दी। परतु जमनी की आर्थिक स्थिति में सुधार नही हुआ। जुलाई में जमनी को प्रसिद्ध बैंक 'डामस्टेडर अण्ड नेशनल बैंक" असफल हो गइ। इस पर जमन सरकार को विवश होकर अन्य बैंको को भी बन्द करना पडा। इस नये सकट पर विचार करने के लिए पेरिस और लदन में सम्मेलन हुए परन्तु कोई लाभदायक परिणाम नही निकला। इसी समय जमन चासलर ब्रूनिग ने घोषणा की कि जमनी क्षतिपूर्ति का भुगतान करने में असमर्थ है—इस सम्बन्ध में इच्छा का प्रश्न नही उठता। जमनी अदायगी करने योग्य सामर्थ्य शक्ति से हीन है।

**लासेन सम्मेलन**

जून १९३२ में इस समस्या पर विचार करने के लिये ब्रिटेन, फ्रास, जमनी, इटली, बेलजियम, और जापान के प्रतिनिधि लासेन पर एकत्र हुए और तीन सप्ताहों के उपरान्त एक समझौते पर पहुँचने में सफल हुए। इसके अनुसार जमनी पर लादी गई क्षतिपूर्ति का रद्द कर दिया और उसके दायित्व को केवल ७१४,६००,००० डालर तक

ोमित कर दिया गया। इस ऋण को चुकाने के लिए बर्लिन सरकार को सम्पूर्ण रकम : लिए ५ प्रतिशत बंध पत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बैंक को देना था, जो इन्हें तीन ाप तक ट्रस्टी की हैसियत से अपने पास रखे और बाद मे बर्लिन सरकार से इनके म्बन्ध में समझौता करने या इन्हें खुले बाजार में रख दें। जर्मनी किसी ी समय नही बेचे गये बंध पत्रों को विमोचित करवा सकता था और यदि बैंक १५ र्ष की अवधि में इन्हे नही बेच सकी तो बचे हुए बंध पत्र रद्द कर दिये जांय।

परन्तु लासेन समझौता अमेरिका की हठधर्मी के कारण कार्यान्वित न हो सका। ारिणाम स्वरूप यंग योजना सद्धांतिक रूप म कायम रही यद्यपि व्यवहारिक रूप में इसका अस्तित्व समाप्त हो चुका था।

**अन्तिम दौर**

लासेन सम्मेलन तक मित्र राष्ट्र के अनुसार जर्मनी ने क्षतिपूर्ति के हिसाब म ५,५००,०००,००० डालर का भुगतान किया था। यद्यपि ये भुगतान जर्मनी विदेशी ऋण की सहायता से ही कर सका। केवल अमेरिका ने इस अवधि में उसे लगभग १,३१५,६६२,००० डालर का ऋण दिया था। १९३२ के बाद जर्मनी ने क्षतिपूर्ति का किसी रूप में भुगतान नही किया और न ही उसने विदेशी ऋण के बदले में एक भी डालर चुकाया। नात्सी नेता हिटलर ने तो स्पष्ट शब्दो में क्षतिपूर्ति क भुगतान स अस्वीकार कर दिया। मित्रराष्ट्र पारस्परिक स्नेह और एकता खो बठे थे और वे अपनी ही आर्थिक समस्याओ का समाधान करने में लगे हुए थे। अन्त उन्ह विष का कडुआ घूंट पाना पड़ा और इस प्रकार इस समस्या का अन्त हुआ।

## मित्रराष्ट्रों के आपसी युद्ध-ऋण
## ( Allied Inter War debts )

**भूमिका**

युद्धापरान्त दूसरी समस्या जिसको समझने मे अधिक से अधिक शक्ति और समय बर्बाद करना पडा, वह थी मित्रराष्ट्रों के युद्ध कालीन ऋण पश्चिमी देश इस समस्या को क्षतिपूर्ति के साथ जोडने में अत्यधिक उत्सुक थे परन्तु अमेरिका जो कि उनका साहूकार था, इस प्रस्ताव को मानने को तैयार नही था। परिणाम स्वरूप इस समस्या पर एटलांटिक के दोनो तटो के बीच मतभेद पैदा हो गया। परतु यदि ध्यान पूर्वक देखा जाये तो इन दोनो समस्याओं का कोई सम्बन्ध नही था। क्षतिपूर्ति का अधिकार नागरिकों की सम्पत्ति की क्षति का मुआवजा था जबकि युद्ध कालीन ऋण मित्रराष्ट्रों द्वारा अमेरिकन सामग्री को खरीदने के लिए दी गई उधार रकम थी। परतु जब जर्मनी से ली जाने वाली क्षतिपूर्ति को सीमित रखने का प्रश्न आया तो दोनो समस्याओ का सम्बन्ध धीरे २ मजबूत होता चला गया।

अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने के पूर्व, फ्रांस, इटली, रूस और छोटे छोटे राज्यों ने ग्रेट ब्रिटेन से करोड़ डालर का ऋण लिया था। युद्ध देशों को फ्रांस ने ऋण दिया था। परन्तु अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने के

**ऋणों का इतिहास**

मित्रराष्ट्रों का ऋण देने का भार अमेरिका पर आ पड़ा। अमेरिका कांग्रेस ने केवल १८ दिनों के बाद (युद्ध में सम्मिलित होने के बाद) ३,०००,०००,००० डालर का ऋण मित्रराष्ट्रों को देना स्वीकार किया। इस राशि पर ३ से ५ प्रतिशत ब्याज लगाया गया। युद्ध के अंतिम समय और युद्धबन्दी के बाद भी अमेरिका ने ऋण दिया। कुल मिलाकर बीस देशों को लगभग १०,'३८,० ०,००० डालर ऋण दिया गया। इसमें से ७,०७७,०००,०० डालर युद्धबन्दी के पूर्व तथा बाकी युद्ध बन्दी के बाद दिये गये। यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि अमेरिका ने यह ऋण स्वर्ण के रूप में या मुद्रा के रूप में नहीं दिया था। इस राशि का बहुत कम अंश अमेरिकन तट से बाहर जा सका था। इसका अधिकांश अंश चुनाव में स्थित संघीय रिजर्व बैंक (Federal Reserve Bank) में जमा था, जहाँ पर यह मित्रराष्ट्रों के लिए अमेरिकन बाजारों में सामान खरीदने के लिए प्रत्यय का काम करता था।

शांति सम्मेलन के अवसर पर इंगलैण्ड ने यह इच्छा व्यक्त की थी कि वह स्वेच्छा से उन युद्ध कालीन ऋणों को जो उसने दूसरे देशों को दिये हैं, रद्द करने को तैयार है यदि अमेरिका भी इस सम्बन्ध में ऐसी ही नीति को अपनाने को तैयार हो। परन्तु अमेरिका के राष्ट्रपति ने इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया। इस प्रश्न पर अमेरिकन सरकार की नीति स्पष्ट थी। कांग्रेस तथा विल्सन से लेकर रूजवेल्ट तक, सभी राष्ट्रवादियों ने युद्ध कालीन ऋण को बाध्य दायित्व माना जिसे पूरा करना अधमर्ण (debator) देशों के लिये आवश्यक था।

१९२२ में अमेरिकन कांग्रेस ने ऋण की अदायगी के सम्बन्ध में विदेशी सरकारों से किसी प्रकार की व्यवस्था करने के लिए एक विश्वयुद्ध विदेशी ऋण आयोग की स्थापना की। क्योंकि अभी तक किसी ने ब्याज भी नहीं चुकाया था। १९३० तक सभी देशों से समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार कुल ऋण को ६२ वर्षों में अदा करने की व्यवस्था की गई।

बहुत वर्षों तक यूरोपियन राज्यों को अमेरिका के प्रति अपने दायित्वों को निभाने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ा क्योंकि डावस योजना के अनुसार उन्हें क्षतिपूर्ति के रूप में, उस रकम जो कि उन्हें अमेरिका को अदा करनी थी, अधिक रकम मिलती रही। परन्तु १९२९ में जब अमेरिकन लोगों ने जर्मनी को ऋण देना बन्द कर दिया तो क्षतिपूर्ति की अदायगी भी रुक गई और इसके साथ साथ मित्रराष्ट्रों ने भी अमेरिका को भुगतान करना बन्द कर दिया। जर्मनी इस बात पर अड़ गया कि विदेशी ऋण की सहायता के बिना वह क्षतिपूर्ति को अदा करने

असमर्थ है और मित्रराष्ट्रों ने भी स्पष्ट कह दिया कि बिना क्षतिपूर्ति की प्राप्ति के वे युद्ध ऋणों को चुकाने में असमर्थ है। इस समय तक अमेरिका भी क्षतिपूर्ति और युद्ध ऋणों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार करने को तैयार हो गया था। यही कारण था कि हूवर के विलम्बकाल प्रस्ताव में क्षतिपूर्ति के साथ साथ युद्ध-ऋणों को भी स्थगित रखने का उल्लेख किया गया।

**ऋणों को रद्द करने के पक्ष विपक्ष में तर्क।**

इस समय तक युद्ध ऋणों की अदायगी और उन्हें रद्द करने के सम्बन्ध में अमेरिकन जनमत भी विभाजित हो गया था। जो लोग ऋणों को वसूल करना चाहते थे उनके निम्न तर्क थे[1]—(१) नैतिक व्यापार के मूल सिद्धान्त के अनुसार अनुबन्धों के औचित्य को बनाये रखना आवश्यक था। (२) योरुप को अपनी साख बनाये रखने के लिए भुगतान करना आवश्यक था। दूसरी तरफ वे लोग थे जोकि ऋणों को रद्द करने के पक्ष में थे और वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते थे—(१) चूंकि अमेरिका ने अंतिम समय में युद्ध में प्रवेश किया इसलिए कम व्यक्ति खोये और कम मुद्रा खर्च की। अतः वह युद्ध ऋण को इस कार्य में अपना योगदान मान ले। (२) युद्ध से ही अमेरिका समृद्ध हुआ। क्योंकि उसने नगद रकम तो दी नही थी। अतः वह अब नये बाजारों से ही संतोष कर सकता है (३) विदेशी ऋणों की अदायगी केवल वस्तु-चुकान द्वारा ही सम्भव हो सकती थी। परन्तु इस तरीके से अमेरिकन निर्माणकर्त्ताओं को भारी क्षति उठानी पड़ेगी। (४) ऋण की अदायगी के सम्बन्ध में अड़ियल नीति अपनाने से यूरोप की शुभ कामना से वंचित होने का भय भी था जबकि ऋणों को रद्द करने से अन्तर्राष्ट्रीय शुभकामनाएँ अर्जित की जा सकती है।

**ऋणों का अन्त**

परन्तु अमेरिकन सरकार ने ऋणों को रद्द करने से अस्वीकार कर दिया और चेतावनी दी कि यदि मित्रराष्ट्रों ने ऋण की अदायगी नही की तो उन्हें भविष्य में किसी प्रकार का ऋण नही दिया जायेगा। फिर भी, ऋण की अदायगी नही हो सकी। १४ दिसम्बर १६३२ को फ्रांस ने ऋण अदायगी के स्थगन का फैसला कर लिया। १६३४ के बाद ब्रिटेन ने भी अपनी असमर्थता घोषित कर दी। १ जून १६३४ को फिनलण्ड को छोड़कर जो कि अन्त समय तक ऋण की अदायगी करता रहा, यूरोपियन देशों ने ऋणों का भुगतान बन्द कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षतिपूर्ति और युद्धकालीन ऋण एक दूसरे से चिपक गये और दोनों की अन्त में समान दशा हुई। वस्तुतः क्षतिपूर्ति और युद्धकालीन ऋणों का कानूनी अस्तित्व अब भी बना है किन्तु व्यवहारतः वे अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब के बट्टे खाते में डाल दिये गये हैं। द्वितीय महायुद्ध ने इन शब्दों का इतिहास में एक अतीत अध्याय बनाकर इन्हें समाप्त कर दिया।

---

१ Langsam—The World Since 1919

## विश्व की आर्थिक व्यवस्था का भग होना

१६३१ में सम्पूर्ण ससार तेजी से तेज मन्दी (Slump Boom) के च.. उलझ गया और ससार की आर्थिक व्यवस्था भग हो गई। ऐसा क्यों हुआ ? इस .. पर अर्थशास्त्रियो में आज भी मतैक्य नही है। इस पहलू के कारणा का अध्ययन करने पहिले हमें तत्कालीन घटनाओ का उल्लेख करना चाहिए। तभी हम इसके कारणों समझ सकते हैं।

तजी मन्दी (Slump boom) विपरीत अर्थ वाला शब्द है। तेजी (boom का अर्थ उस समय से है जिसमें समाज, जहाँ तक आर्थिक स्थिति का सम्बन्ध है, आ और विश्वास से परिपूर्ण होता है। उत्पादक लोग बड पैमाने कच्चा माल खरीदते है, बड पैमाने पर उत्पादन होता है, श्रमिको को काम मिलता है। नये नये कारखाने खोले ज है। इसके ठीक विपरीत मन्दी (Slump) या मूल्यपात अर्थ है। जब उत्पादित सामान का बेचना असम्भव हो जाता है। कई कारखाने बन्द जाते है। श्रमिक बेकार हो जाते है और वस्तुओ की कीमतें बढ जाती हैं परन्तु मुद्रा कीमत गिर जाती है।

**तेजी मदी की व्याख्या**

प्रथम महासमर ने यूरोप के अधिकाश देशो की आर्थिक कमर तोड दी थी। किसी न किसी प्रकार विशेष कर अमेरिकन ऋणो की सहायता से अपनी इज्जत बच बठे थे। परन्तु १६२६ के शरद में उन्ह अमेरिका से ऋण मिलना बन्द हो गया औ इसके साथ ही साथ आर्थिक सकट का सूत्रपात हुआ जो धारे अपनी चरमावस्था में पहुंच गया और सारा ससार आर्थिक रो का शिकार बन गया। उस समय ऐसा विश्वास किया जाता कि शायद अब ससार इस रोग से मुक्त नही हो सकेगा। सकट के सूत्रपात के साथ ही साथ क्रय शक्ति का ह्रास होता गया और मुद्रा की कीमत में विनाशकारी गिरावट आ गई। इससे कर्जदार देशो पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। एक तो उन्ह अमेरिका के ऋण चुकाने थे ( पराजित देशों को क्षतिपूर्ति का भुगतान करना था ) और दूसरे मूल्यपात के कारण जिन वस्तुओ के विक्रय से वे अपने कर्ज को चुकाने का विश्वास रखने थे, वह विश्वास भी टूट गया। अब भुगताना को अदा करने का केवल एक माग बचा था स्वर्ण हस्तान्तरण (Transfer of Gold)। इस माग पर चलन का भी प्रयत्न किया गया और परिणाम स्वरूप ससार का स्वर्ण अमरिका में सचित हो गया और ससार में स्वर्ण का कृत्रिम अभाव हो गया जिसके फलस्वरूप कीमते और भी गिर गई। बाध्य होकर कर्जदार देशो को स्वर्ण का निर्यात बद करना पडा तथा आयातनिर्यात पर कई प्रकार के बधन लगाने पडे। परतु इसका और भी बुरा प्रभाव पडा और अतर्राष्ट्रीय व्यापार ठप्प हो गया।

**सकट का सूत्रपात**

जमनी पर इस सकट का ध्वसकारी प्रभाव पडा। अन्य यूरोपियन राज्यो की स्थिति भी कुछ अधिक अच्छी नही थी। इस स्थिति को सुधारने के लिए विविध दशो में कई असफल सम्मेलन किये गये पत्र व्यवहार भी हुआ, राष्ट्रसघ में भी विचार किया गया पर तु कुछ लाभकारी परिणाम नही निकाला। इसी समय हूवर

**चरम सीमा**

प्रस्ताव आया। परन्तु इससे भी कोई विशेष लाभ नही पहुँचा। इसी समय एक रोमाचकारी घटना हुई जिसका बहुत व्यापक प्रभाव पडा। आस्ट्रिया की क्रेडिट एनस्टाल्ट बक' (Kredit Anstalt Bank) जिसकी विदेशो में बहुत सी शाखाएँ थी और जो आस्ट्रियन बैंको के तीन चौथाई भाग को नियत्रित करती तथा आस्ट्रियन उद्योगो का कलेवर थी, फेल हो गई। जर्मनी पर इसका बुरा प्रभाव पडा। क्योकि अधिकाश जमन बको की राशि इसमें लगी हुई थी। परिणाम यह हुआ कि जमनी का प्रसिद्ध बक "डामस्टेडर अण्ड नेशनल बक" भी असफल हो गया। इस स्थिति को सुधारने के लिए आस्ट्रा जमन सीमा शुल्क ऐक्य की योजना बनाई गई परन्तु वह कार्यान्वित न हो सकी। नतीजा यह निकला कि जमनी का निर्यात कम हो गया। १६२० में उसका निर्यात ६३०,०००,००० पौड था जबकि १६३२ में गिरकर २८०,०००,००० पौड रह गया। पजीयत (Registered) बेकारी की सख्या ४,०००,००० (१६२६ में) से बढकर ६ ०००,००० पर पहुँच गई।

इस आर्थिक सकट के कारण के बारे में मतैक्य नही है। कुछ अधिकारियो ने आर्थिक कठिनाइयो का कारण विश्व स्वर्ण की सप्लाइ की अनुमानित अपर्याप्त बतलाया है। उनका विश्वास है कि वस्तुओ की कीमतो की गिरावट का

**आर्थिक सकट के कारण**

अतर्राष्ट्रीय व्यापार पर विनाशकारी प्रभाव पडा। कुछ लोगो की मा यता है कि चादी के मूल्य के गिर जाने से, चादी के भुगतान से सामान खरीदने वाले देशो विशेष कर भारत और चीन की, क्रय शक्ति के नष्ट हो जाने से यह सकट उपस्थित हो गया। आस्ट्रियन तथा जर्मन बको का दिवाला भी एक कारण था। आस्ट्रेलिया और अर्जेंटाइना जो कि कृषि प्रधान देश है, को कृषि वस्तुओ के मूल्य की गिरावट की वजह से काफी क्षति उठानी पडी। और उन्हें स्वर्ण में भुगतान करना बन्द करना पडा। काफी बाजार में गिरावट के कारण ब्राजील को भी यही मार्ग अपनाना पडा। इगलण्ड को, जिसके इन तीनों देशो में अत्यधिक आर्थिक हित थे, काफी क्षति उठानी पडी। परन्तु कुछ भी हो, इस सकट का मूल कारण अमेरिकन ऋण का बन्द होना था। अमरिका ने अरबो डालर ऋण दे रखा था और इसमें अमेरिकन नागरिकों ने भी योगदान दिया था। परन्तु जब ऋणो की अदायगी ठीक ढग की नहीं हो सकी तो उसे ऋण देना बन्द करना पडा। इसके पीछे एक कारण यह भी था कि अमेरिकन उत्पादको ने बहुत बडे पैमाने पर सामान का उत्पादन कर रखा था परन्तु वे इसको खपाने में असफल रहे और उनकी पूँजी इसमे फँस गई। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश ने अपने घरेलू उद्योग को सुरक्षित रखने की दृष्टि

से भारत निर्यात नियमों का कड़ा कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ठप्प हो गया। इस संकट का एक प्रमुख कारण वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक उन्नति थी। इसके परिणाम स्वरूप कम श्रमिकों की सहायता से अधिक उत्पादन होने लगा और श्रमिक बेकार होते गये। युद्ध समाप्ति के बाद बहुत से हमारा सैनिक बेकार थे। अब बेकारी की समस्या और भी भीषण हो गई। अमेरिका और जर्मनी में तो उनकी संख्या शिखरावस्था (Peak figures) तक पहुंच गई। इन सब कारणों के सामूहिक परिणाम स्वरूप आर्थिक संकट का जन्म हुआ था।

**संकट को दूर करने के उपाय**

इस संकट को दूर करने के लिए जून १६३२ में लासेन में एक सम्मेलन किया गया परन्तु अमेरिका की हठधर्मी के कारण यह असफल रहा। इसी सम्मेलन ने राष्ट्र संघ से एक विश्व अर्थ सम्मेलन बुलाने की सिफारिश की थी। १६३३ में लंदन में विविध देशों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। अमेरिका इस शर्त पर सम्मिलित हुआ कि सम्मेलन में युद्ध ऋणों की चर्चा न की जाय। सोवियट रूस भी सम्मिलित हुआ। परन्तु 'स्वर्ण' गुट को समाप्त करने के सम्बन्ध में फ्रांस और अमेरिका में मत भेद हो गया और यह सम्मेलन भी असफल रहा। बाध्य होकर जर्मनी जापान और इटली तथा कुछ अन्य देशों ने एक नवीन नीति अपनाई जिसे 'मक्खन के स्थान पर बन्दूक' भी कहा जाता है। शक्ति का सहारा लेने के अतिरिक्त इस नवीन नीति के अन्तर्गत वैज्ञानिक साधनों की सहायता से कृत्रिम वस्तुओं का निर्माण शुरू किया गया जिससे कि देश अपनी घरेलू आवश्यकताओं को पूर्ण करने में आत्म निर्भर हो सके। दूसरा उपाय शक्ति का सहारा था।

**आर्थिक संकट के परिणाम**

आर्थिक संकट के परिणाम बहुत ही महत्व पूर्ण हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नष्ट हो जाने से आर्थिक राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इसके कारण प्रत्येक देश में आर्थिक आत्मनिर्भरता की भावना जाग्रत होने लगी और प्रत्येक देश अपने उद्योगों को उन्नत करने में लग गया और विदेशी आयात पर करों की मात्रा बढ़ा दी गई। (२) बेकारों को काम देना आवश्यक था और चूंकि प्रत्येक देश अपने उद्योगों की उन्नति में लगा हुआ था, अतः व्यापारिक उत्पादन को अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता था। इसलिए अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण शुरू किया गया ताकि लोगों को काम मिल सके। परन्तु अन्ततोगत्वा इसका परिणाम बहुत ही बुरा हुआ। (३) आर्थिक संकट के परिणाम स्वरूप ही इटली और जर्मनी में क्रम से फासिस्टवाद और नात्सीवाद को उन्नति करने का अवसर मिल सका। जर्मनी में ब्रूनिंग ने संकट पर काबू पाने के विचार से राइखस्टेग की सलाह बिना काम करना शुरू कर दिया और इस प्रकार अनजाने में ही उसने अधिनायक तन्त्र का मार्ग तैयार कर दिया। (४) फ्रांस में प्रजातन्त्र की नींव खोखली हो गई और आये दिन मन्त्रिमंडलीय संकटों की पुनरावृत्ति होने

अभिनय शुरू हो गया। (५) दक्षिणी अमेरिका पर भी इसका प्रभाव पडा। पेरू और बोलीविया में क्रांतियाँ हुई और सरकारो का परिवतन भी हुआ और नई सरकारें अपने पडोसियो से साथ झगडे में उलझ गई जिसके कारण राष्ट्र सघ का भी बदनामी उठानी पडी। (६) इससे साम्यवाद को प्रगति करने का अवसर मिला। (७) अप्रत्यक्ष रूप में इसने राष्ट्र सघ के पतन में महत्व पर्ण योगदान दिया। (८) सबसे महत्व पूर्ण परिणाम था—जापानियो द्वारा सैनिकवाद को अपनाना। जापान की बढ़ती हुई जनसख्या को भोजन देने के लिए जापान को साम्राज्यवादी नीति अपनाने को विवश होना पडा। क्योकि जापान की राजनीति पर पूँजीपतियो का नियन्त्रण था और पूँजीपतियो को पूँजी बढ़ाने का, तत्कालीन परिस्थिति में केवल यही रास्ता दिखलाई पडा। प्रोफेसर टायनबी[1] के शब्दा में—'विश्व मन्दी के लम्बे माग में आर्थिक प्रतियोगिता की विफलता से परेशान होकर अन्त में जापानी लोगो ने जापानी सेना का नेतृत्व अनुसरण किया और वाणिज्यिक प्रसार की नीति छोडकर सनिक विजय की नाति अपनाली वे तलवार से जीविका कमाने का यत्न करने के आदिकालीन भद्दे उपाय पर लौट आये, जिसका एक मात्र कारण यह था कि तलवार चाहे कितनी भी भद्दी और अपरिष्कृत उपकरण हो पर वह *कम से कम एक ऐसा उपकरण तो थी जिसे मानवीय लक्ष्यो की शक्य प्राप्ति के लिए* सम्भालने और चलाने में मानवीय हाथ समर्थ प्रतीत होता था।' (९) अन्तिम अप्रत्यक्ष परिणाम द्वितीय महायुद्ध का सूत्र पात था। सकट स उत्पन्न समस्याओ को हल करने में ससार के सभी देशा के राजनीतिज्ञ इस तरह से खो गये कि उन्हें अन्य राजनीतिक कठिनाइयो की तरफ ध्यान देने का समय ही नही मिला या उनका ठीक तरह से अध्ययन न किया जा सका और वे आँख मूँद कर सुविधाएँ देते गये। परन्तु जब उन्हें सही स्वरूप का पता चला तब तक काफी समय व्यतीत हो चुका था और अब सामूहिक प्रयास के द्वारा भी उसे ठीक करना असम्भव हो गया।

—··—

1 Toynbee—Survey of International Affairs

पंचम अध्याय

# सामूहिक-सुरक्षा प्रयत्न काल

युद्ध और शान्ति समझौते, बीसवीं शताब्दी की वसीयत नही है, बल्कि शताब्दि से चले आ रहे हैं। परन्तु इस बार कुछ बातें नई थी। प्रथम महायुद्ध के पूर्व इतने व्यापक पमाने पर कभी युद्ध नही लड़ा गया था। अत युद्ध समाप्ति के बाद सामान्य हमेशा कुछ शक्तिशाली राज्य बच रहते थे, जिन्हें शान्ति व्यवस्था को बनाये रखने में स होती थी। परन्तु चार वर्ष (१९१४-१८) के इस विनाशका

भूमिका

युद्ध ने ऐसे राज्यो का अस्तित्व नष्ट कर दिया। आस्ट्रिया हं की केवल स्मृति मात्र शेष थी, रूस विश्वशांति का पक्ष (Champion) बन चुका था, इटली अपनी उपलब्धियो से सतुष्ट होकर उदारवाद आवरण छोड़कर फासिज्म की आकर्षक चादर ओढनेकी तैयारी कर रहा था, स्पेन महा शक्ति की प्रतिष्ठा से वंचित हो चुका था। और नई दुनियाँ (अमेरिका) पुराने सस से सम्बन्ध विच्छेद करने की चिन्ता में थी। पराजित जर्मनी बोखलाया हुआ था अपनी कालिमा को धोने के लिए तन्वीर और तकदीर की ताक म था केवल फ्र और ग्रेट ब्रिटेन बचे हुए थे और उन दोनो पर यूरोप की शांति टिकी हुई थी। प दुर्भाग्यवश महायुद्ध के बाद, दोनो देशो में भावी नीति के मतभेद के कारण पारस्परि सम्बन्ध बिगडते जा रहे थे। अत यह कोई आश्चर्य की बात नही थी कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी यूरोप शान्ति को प्राप्त नही कर सका। विश्वशांति को बनाये रखने के लिए युद्ध को रोकने के उद्देश्य स निर्मित राष्ट्रसंघ के अस्तित्व के उपरात भी यूरोपीय राज्यों को अपनी सुरक्षा का भय बना रहा और इस भय से मुक्ति पाने के लिए सामूहिक सुरक्षा (Collective Security), की खोज के प्रयत्न भी होते रहे।

विश्वशांति के प्रत्याभूतक (Guarantor) राष्ट्रसंघ के पतन का प्रमुख कारण था—सुरक्षा, जिसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक देश आशा लगाये बैठा था। परन्तु इसको प्राप्त करने के सम्बन्ध में विविध दशा मे मूल मतभेद था। यह सही है कि इस

सुरक्षा के प्रति सन्देह

समय कोई भी राष्ट्र युद्ध का इच्छुक नही था, परन्तु प्रत्येक राष्ट्र को अपनी सुरक्षा के प्रति सन्देह था। इसलिए एक राष्ट्र के द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए अपनाया गया तरीका, दूसरे राष्ट्र की दृष्टि में अपनी असुरक्षा का तरीका समझ लिया जाता। उदाहरणार्थ—सुरक्षा के सम्बन्ध में फ्रास और जर्मनी के तरीके एक दूसरे से भिन्न थे। फ्रास द्वारा अपनी सुरक्षा के लिये उठाये जाने वाले हर कदम को जर्मन लोग अपनी सुरक्षा के लिए खतरा मानते थे। यही बात मध्य यूरोप के दूसरे देशों तथा इटली के

सुरक्षा सम्बन्धों के साथ थी। संसार को इस भय से मुक्ति दिलवाने के लिए राष्ट्र संघ का निर्माण किया गया था और संघ प्रतिश्रव ( Covenant ) का १० वां अनुच्छेद पूर्णरूप से सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त पर आधारित था। परन्तु इसमें एक कमी थी। इसने सदस्य राष्ट्रों को सुरक्षा सम्बन्धी सन्धियां और समझौते में सम्मिलित होने से नहीं रोका। प्रतिश्रव के २१ वें अनुच्छेद में सदस्य राष्ट्रों के इस अधिकार की स्पष्ट व्याख्या की गई थी। इसलिए १६२० से १६३६ तक राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में और उसके बाहर भी सामूहिक सुरक्षा या पारस्परिक सुरक्षा के प्रयत्न होते रहे।

श्री कार के शब्दों में "सन् १६१६ के बाद योरोपीय घटनाचक्र का सबसे महत्व पूर्ण एवं स्थायी तथ्य फ्रांस की सुरक्षा मांग ( Demand for Security ) था[1]।" इस कथन में काफी वजन है। यह ठीक है कि फ्रांस मध्य युग में एक शक्तिशाली राष्ट्र था और नेपोलियन प्रथम के समय में उसे अपनी शक्ति का अत्यधिक आत्माभिमान भी था। परन्तु नेपोलियन तृतीय के शासनकाल के अंतिम साल ( १८७० ) में उसका भ्रम समाप्त हो गया। उस समय तक मध्य यूरोप में, कूटनीतिज्ञ के गुरु बिस्मार्क के नेतृत्व में, जर्मनी का उत्थान हो चुका था। जिसके निवासियों में अपने राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना कूट कूट कर भरी हुई थी और जिनका सैन्य संगठन भी सर्वोच्च था। इसके अतिरिक्त उनके पास प्राकृतिक खनिज सम्पदा का विशाल भण्डार भरा पड़ा था। इस नव निर्मित राष्ट्र ने फ्रांस को एक बार नहीं बल्कि दो दो बार पराजित किया। यह ठीक है कि दूसरी बार, अपने साथियों की सहायता से उसने जर्मनी से अपनी पराजय का प्रतिशोध ले लिया था परन्तु फिर भी फ्रेंच लोग विजयी जर्मन सैनिकों की पदचाप ध्वनि को भूल नहीं थे। फ्रांस के दुर्भाग्यवश, उसकी जनसंख्या चार करोड़ के आंकड़े पर स्थिर हो चुकी थी जबकि उसके प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी की जनसंख्या लगभग सात करोड़ थी और प्रतिवर्ष बढ़ती ही जा रही थी। अतः फ्रांस को अपनी सुरक्षा खतरे में दिखाई दे रही थी। फ्रेंच भय का एक कारण था। वह यह कि राइन नदी के दोनों किनारों पर जर्मनी का अधिकार था और जर्मनी ने हमेशा इसी मार्ग से फ्रांस पर आक्रमण किया था। अतः पेरिस के शांति सम्मेलन के अवसर पर फ्रेंच प्रतिनिधियों ने निष्ठापूर्वक यह वकालत की थी कि फ्रांस की सुरक्षा और यूरोप की शांति तभी स्थिर रह सकती है जबकि राइन का सम्पूर्ण पूर्वी तट जर्मनी से पृथक कर दिया जाय। क्योंकि प्रारम्भ से ही फ्रांस को राष्ट्रसंघ की सामर्थ्य शक्ति में विश्वास नहीं था। परन्तु आदर्शवादी विल्सन को राष्ट्रसंघ की सफलता में अटूट निष्ठा थी और ब्रिटेन राइन के ५० लाख जर्मनों को जर्मनी से पृथक करने को तैयार नहीं था। अतः फ्रांसीसी वकालत सफल नहीं हो सकी। फ्रांस ने दूसरा मांग

**फ्रांस और सुरक्षा की समस्या**

---

( १ ) श्री ई० एच० कार—दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

और जब राष्ट्रसंघ के प्रतिश्रव की रचना की जा रही थी तब उसने राष्ट्रसंघ के शांति व्यवस्था बनाये रखने तथा प्रतिरोधक शक्तियों को सजाने के लिए शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सेना के रूप में 'दात प्रदान करने का सुझाव दिया। परन्तु उसके इस सुझाव को भी मान्यता प्राप्त न हो सकी।

फ्रांस को सन्तुष्ट करने के लिए मित्रराष्ट्रों ने निम्न व्यवस्था का सहारा लिया (१) राइन के बायें तट पर १५ वर्षों तक मित्रराष्ट्रों की सेना का अधिकार रहे (२) इस क्षेत्र का स्थायी रूप से असैनीकरण ( Demilitarisation ) कर दिया जाय और (३) इंगलण्ड, अमेरिका और फ्रांस का त्रिमुखी समझौता। इसके अनुसार अमेरिका और इंगलण्ड ने संयुक्त रूप से फ्रांस को फ्रांस पर जर्मनी द्वारा किये जाने वाले किसी आक्रमण के विरुद्ध सहायता देने तथा उसकी प्रादेशिक अखण्डता को स्थिर रखने की प्रत्याभूति दी। परन्तु अमेरिका द्वारा इस संधि का अनुसमर्थन न करने के कारण इसका महत्व जाता रहा। क्योंकि इंगलैंड भी जिसने संयुक्त रूप में आश्वासन दिया था, इससे मुक्त हो गया। अतः फ्रांस उस प्रत्याभूति से वंचित हो गया जिसके बल पर उसने राइन के पूर्वी तट की मांग का त्याग और राष्ट्रसंघ को स्वीकार किया था।

ऐसी स्थिति में फ्रांस ने अपने आपको संदिग्ध स्थिति में होने का अनुभव किया और अपनी इस भयावह व नाजुक स्थिति के परिणाम को सोचकर वह महाद्वीप के छोटे छोटे राज्यों की तरफ झुका और उनके साथ सुरक्षात्मक समझौते किये। १९२० में उसने बेलजियम के साथ एक सैनिक समझौता किया। इसी प्रकार का समझौता १९२१ में पोलण्ड और १९२४ में चेकोस्लोवाकिया के साथ किया गया।

**फ्रांस के सुरक्षात्मक समझौते**

इन राज्यों के हित भी फ्रांस से मिलते जुलते थे। इसी बीच यूरोप के तीन छोटे राज्यों चेकोस्लोवाकिया, रूमानियाँ और यूगोस्लाविया जिन्हें आस्ट्रिया हंगरी के अंग भंग से काफी लाभ हुआ था, ने हंगरी के विरुद्ध एक समझौता कर लिया था जो कि 'लघु मैत्री संघ' (The Little Entente) के नाम से प्रसिद्ध है। फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया के साथ समझौता करके लघुमैत्री संघ" से भी नाता जोड़ लिया और बाद में उसने रूमानिया और युगोस्लावाकिया से भी संधि करली। इस प्रकार फ्रांस ने अपनी स्थिति दृढ़ करली और अपने परम्परागत शत्रु जर्मनी को चारों तरफ से घेर लिया। उपरोक्त समझौते फ्रांस के एकाकी प्रयत्न के परिणाम थे। ये समझौते गुण और दोष दोनों से युक्त थे। गुण तो यह था कि फ्रांस की सुरक्षा सीमा में वृद्धि हो चुकी थी और दोष यह थे कि इस गुट में अकेला फ्रांस ही एक महान शक्ति था और उस अपने कमजोर साथियों को आर्थिक सहायता देनी पड़ती थी तथा बाल्कन क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले सभी विवादों में हस्तक्षेप करना पड़ता था।

इस स्थान पर एंग्लो फ्रेंच सम्बन्धों का उल्लेख तर्क संगत ही होगा। १९२१ २२ में फ्रांस ने इंगलैण्ड के साथ सैनिक समझौता करने का प्रयत्न भी किया था और इंगलैण्ड फ्रांस को इस शर्त पर 'कि यदि फ्रेंच भूमि पर जर्मनी द्वारा अकारण ही आक्रमण किया गया तो इंगलैण्ड उसकी सहायता करने को तयार रहेगा, का आश्वासन देने को राजी भी हो गया था। परन्तु उसी समय फ्रेंच मन्त्रिमंडल का नव निर्माण हुआ और पोइनकारे प्रधानमन्त्री बना। उसने इंगलैण्ड के साथ होने वाले सैनिक समझौते के सम्बन्ध में सम्पूर्ण या शून्य की नीति पर जोर दिया। वह यह बात स्पष्ट करना चाहता था कि फ्रांस पर आक्रमण होने की स्थिति में इंगलैण्ड किस प्रकार की और कितने पैमाने पर सैनिक सहायता देगा। इंगलैण्ड इस सीमा तक स्पष्टीकरण करने के पक्ष में नहीं था। अत सधि की वार्ता समाप्त हो गई। पोइनकारे की इस नीति के पीछे फ्रांस की सुरक्षा सधियों के क्षेत्र में मिलने वाली सफलता थी।

**अन्य देशों के प्रयत्न**

बाल्कन राज्यों के साथ फ्रांस का मैत्री भाव, इटली द्वारा सदिग्ध दृष्टि से देखा जाने लगा और उसने इसके विरुद्ध अपनी सुरक्षा के लिए समझौते के नये जाल का ताना बाना बुनना शुरू कर दिया। यह कार्य मुसोलिनी के सत्ता प्राप्त करने के बाद ही शुरू हो सका था। उसने हगरी, आस्ट्रिया और बल्गेरिया के साथ मैत्री सम्बन्धों का विकास किया। उधर रूस भी चुपचाप नहीं बैठा था। उसने जर्मनी के साथ रापालो की सधि की। तुर्की के साथ भी अपने सम्बन्ध स्थापित किये और अपने पड़ौसी देशों के साथ भी मैत्रीभाव का दृढ किया। इस प्रकार परिस सम्मेलन के कुछ ही वर्षों के बाद ससार पुन तीन प्रमुख गुटों में विभाजित हो चुका था।

**प्रतिश्रव और सुरक्षा का प्रश्न**

राष्ट्रसघ विश्वशांति का प्रत्याभूतक और शांति व्यवस्था का प्रहरी था। परन्तु वह अपने इस महान् दायित्व को सफलतापूर्वक निभा सकेगा या नहीं, [illegible] विविध राष्ट्रों को शका ही थी। वैसे प्रतिश्रव के १० वें अनुच्छेद के कारण सदस्य राष्ट्र तत्कालीन [illegible] और प्रादेशिक अखण्डता (Territorial integrity) को बनाये रखने के लिए वचनबद्ध थे और १६ वें [illegible] के विरुद्ध राष्ट्र के विरुद्ध अनुशास्तियाँ और दड की [illegible] कार्यवाही के लिए परिषद की निर्विरोध सिफारिश [illegible] थी। क्योंकि निर्विरोध सिफारिश की आशा [illegible] कि फ्रांस सघ के सविधान को [illegible] (१) [illegible] त्मक कार्यवाही की स्पष्ट व्याख्या नहीं [illegible] वाली कार्यवाही का भी स्पष्ट [illegible]।

संघ के इस अभाव को दूर करने तथा अनुच्छेद १६ की शक्ति का बढ़ान ... विविध देशों के द्वारा विविध प्रयत्न किये गये। १६२३ में लार्ड राबर्ट सेसिल और कर्नल रेपिंगटन ने अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission —जिसे निःशस्त्रीकरण प्रश्न पर विचार करने के लिए नियुक्त किया गया था—के सामने इस सम्बन्ध में पृथक पृथक रूप से दो मसविदे प्रस्तुत किये। इन दोनों का समन्वय किया गया और परस्पर सहायता संधि का प्रारूप (The Draft Treaty of Mutual Assistance) तैयार किया गया। इस समय तक एंग्लो-फ्रेंच सम्बन्धों में भी सुधार हो चुका था। ब्रिटेन में (जनवरी १६२४ में) रेम्जे मैकडोनल्ड प्रधान मंत्री बन चुके थे। वे अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में पूर्णरूप से सुधार करने के पक्षपाती थे और इस बात से भी परिचित थे कि यह समस्या फ्रांस की सुरक्षा से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। उधर फ्रांस में भी पाइनकारे के स्थान पर हेरियो (Herriot) प्रधान मंत्री बन चुके थे। अतः आशा की किरणें दिखलाई दे रही थीं।

**परस्पर सहायता संधि का प्रारूप**

श्री गेथोर्न हार्डी के शब्दों में—"संधि का यह मसविदा एक आम गारंटी और स्थानीय मंत्रियों की प्रणाली के अपने अपने लाभों को समन्वित करने और उनकी कमियों को दूर करने का एक अत्यधिक बुद्धिमत्ता पूर्ण यत्न था। इसमें युद्ध को एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध बताया गया था, और प्रत्येक हस्ताक्षर कर्त्ता पर सम्मिलित रूप से और पृथक पृथक रूप से यह दायित्व था कि वह आक्रमणात्मक युद्ध में दूसरे की सहायता करे पर सैनिक, नौ सैनिक या वायु सैनिक कार्यवाही करने का दायित्व सिर्फ उन राज्यों पर डाला गया था जो उस महाद्वीप में स्थित हों, जिसमें वह आक्रमण हुआ है।"[1] प्रारूप संधि में यह व्यवस्था की गई थी कि किसी भी युद्ध के सूत्रपात के चार दिनों के भीतर ही भीतर राष्ट्रसंघ की कौंसिल उस पर विचार करेगी और यह तय करेगी कि युद्ध का दायित्व किस पक्ष पर है। इसके निर्णय के साथ ही साथ सदस्य राष्ट्रों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक सहायता दें। प्रारूप संधि की चर्चा करते हुए श्री कार ने लिखा है कि "इसलिए इस व्यवस्था का उद्देश्य न केवल अनुबंधपत्र (Covenant) के अनुच्छेद १६ की मिट्टी खराब होने से बचाना था, अपितु सैनिक अनुशास्तियों का आप ही आप लागू होने योग्य और अनिवार्य बनाकर उस अनुच्छेद को दृढ़ बनाना था।"[2] "परन्तु ग्रेट ब्रिटेन, हालैण्ड तथा स्केण्डेनेवियन आदि राज्यों के द्वारा संधि का अनुसमर्थन न होने के कारण योजना विफल हो गई। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा संधि अस्वीकार करने का प्रमुख कारण यह था कि उसका साम्राज्य हर महाद्वीप में फैला हुआ था और युद्ध के विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिक भार उसे ही उठाना पड़ता और उसके अधिराज्य (Dominion states) इसके लिए तैयार नहीं थे।

---

(१) श्री गेथोर्न हार्डी—अन्तरराष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास।
(२) श्री ई० एच० कार—दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

जो भी हो, प्रारूप सन्धि ने अपनी असफलता के उपरान्त भी यारोपीय देशों को सही मार्ग बतला दिया था और अपने उत्तराधिकारी जेनेवा प्रोटोकल (Geneva Protocol) या समझौता की रचना की पृष्ठभूमि का निर्माण किया। १६२४ में राष्ट्र संघ की सभा ने तथाकथित जनेवा उपसंधि का मसविदा तैयार किया और सर्वसम्मति से सदस्य राष्ट्रों से, इसे स्वीकार कर लेने की अपील की गई। इस उपसंधि के द्वारा प्रतिश्रव Covenant के अनुच्छेदों की सीमा का अतिशयन (Exceeded) करने की व्यवस्था की गई थी। इसके अनुसार प्रतिश्रव की सीमा के बाहर प्रत्येक अन्त राष्ट्रीय विवाद का पंचनिर्णय (Arbitration) या शांतिसमझौता (Conciliation) के द्वारा अनिवार्य रूप से व्यवस्था करने वाले 'यंत्र' (Instrument) की व्यवस्था की गई। इसमें कहा गया था कि एक राज्य जो कि पंचनिर्णय को स्वीकार करने से इन्कार करता है या विवाद के शांतिपूर्ण हल के विरुद्ध कार्यवाही करता है तो वह 'स्वरूप से ही' (Ipsofacto) आक्राता है और इस प्रकार के आक्राता के विरुद्ध समझौता पर हस्ताक्षर करने वाला प्रत्येक देश अपनी भौगोलिक तथा सैनिक शक्ति की सामर्थ्यानुसार, कार्यवाही में योग दे।

**जेनेवा प्रोटोकल (समझौता या उपसंधि)**

जिन साधनों से संधि के उद्देश्य को प्राप्त करने की योजना थी, उनका संक्षिप्त रूप इस प्रकार था—(१) प्रोटोकल का अनुसरण करने वाले राष्ट्रों -चाहे वे संघ के सदस्य हों या न हों, के विरुद्ध युद्ध का सहारा नहीं लेना। (२) कुछ विशिष्ट मामलों में अन्तराष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना। (३) राजनीतिक विवादों का राष्ट्र संघ या पंच समितियों के सम्मुख रखना। (४) पंच समिति के सम्मुख किसी विवाद के विचाराधीन अवधि में सैनिक प्रयाण आदेश न देना। (५) समझौते के विरुद्ध युद्ध का सहारा लेने वाले राष्ट्र को आक्रामक स्वीकार करना। (६) आक्रामक देश को, अपनी सामर्थ्य शक्ति के अनुसार युद्ध का व्यय देने की राय दी गई, परन्तु युद्ध का क्षतिपूर्ति में प्रदेशों का आधिपत्य सम्मिलित नहीं होना चाहिए। (७) उपसंधि (Protocol) को लागू करने के पूर्व प्राथमिक अवस्था में, एक अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लिया जाय। अन्त में यह तय किया गया कि झगड़े में लिप्त राष्ट्र को आक्रामक माना जाय यदि राष्ट्र संघ की कौंसिल सब सम्मति से इस सम्बन्ध में कोई दूसरा निर्णय न दे।

२ अक्टूबर १६२४ को संघ ने उपसंधि के मसविदे को सरकारों के पास भेजा। इसी समय बहुत दूर एक बवेरियन कारावास में, सामूहिक सुरक्षा का अन्त करने वाला जर्मनी का भावी तानाशाह एडोल्फ हिटलर अपने "मेरा संघर्ष" (Mein Kampf) को अन्तिम रूप दे रहा था।

कूटनीतिक क्षेत्रों मे उपसंधि का अच्छा स्वागत किया गया और पाड । में लगभग १७ राष्ट्रों ने इसको मान्यता प्रदान करने की घोषणा भी कर दी। फिर भी अगले वर्ष म ही यह योजना मृतप्राय हो गई।

**उपसंधि के पतन के कारण**

समय तक ग्रेट ब्रिटेन में मजदूर-दलीय सरकार का पतन हो था और सत्तारूढ अनुदार दल ने संधि का अनुसमर्थन दिया। ग्रेट ब्रिटन का इस नीति ने उपसंधि का सारमय बना दिया। इसलिए बहुत से आलोचकों का कथन है कि उसकी असफलता का प्रमुख कारण मजदूर नेता रेम्जे मेक्डानल्ड जिन्होंने उपसंधि का में महत्वपूर्ण भाग लिया था की सरकार का पतन था। परन्तु विरोध का यही एक मात्र कारण नहीं था। ब्रिटेन की विदेश नीति की निष एक प्रथा रही है और अनुदार दल इस प्रथा को किसो अन्य दल की अपेक्षा दृढता से निभाने वाला था। वास्तविक बात यह थी कि ब्रिटन को यह आशंका था। उपसंधि को स्वीकार करने से किसी भी समय अमेरिका से युद्ध छिड़ सकता था। अमेरिका संघ का सदस्य नहीं था और किसी सदस्य राष्ट्र से उसका झगडा हो पर उसे पंच निर्णय के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। फिर इंगलैण्ड के लोगों में भी इस संधि के प्रति असंतोष था। उनका विश्वास था कि इस संधि स्वीकार करने का अर्थ था—ब्रिटिश नौ सेना को जेनेवा के नियन्त्रण में रख देना क्योंकि संसार में जहां कहीं झगडा उठ खडा होता ब्रिटेन को वहीं सैनिक पहुँचाने के लिए बंध जाना पडता। और ब्रिटिश जनता इतने बड़े दायित्व के बोझ उठाने के विरुद्ध थी। यहाँ पर हमें एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रारम्भ ब्रिटिश सरकार ने संधि के अनुसमर्थन के लिए समय मांगा था क्योंकि उस दो महत्वपूर्ण समस्याएँ—(१) रूस में जीनो वीव ( Zinoview letter ) से उ समस्या और (२) नवम्बर १६२४ में मिश्र में सर लीस्टेक ( Sir Lee Stack की हत्या से उत्पन्न समस्या आ खडी हुई थी। इसी बीच ब्रिटिश अधिराज्यों (Dominions) ने भी उपसंधि के प्रति अपना रोष प्रकट किया। क्योंकि वे पुरा समस्याओं में उलझने को उत्सुक नहीं थे। मूलकारण तो यही था। इसके साथ ही ब्रिटिश अधिराज्य संधि में उपबंधित घरेलू क्षेत्राधिकार में राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप स्वीकार करने को भी तैयार नहीं थे। कार के शब्दों में 'ब्रिटिश अधिराज्य यह मानने के लिए सर्वाधिक अनिच्छुक थे कि आप्रवासन (Immigration) के से सम्बंधित उनके कानूनों पर किसी भी स्थिति में राष्ट्र संघ में चर्चा हो या उन्हें दा जाए।"

उपसंधि की असफलता के लिए कुछ अन्य तथ्य भी जिम्मेवार थे। अनिवार्य पंच निर्णय की व्यवस्था ठीक नहीं थी। क्योंकि इससे संघ को राज्यों सार्वभौम सत्ता में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल जाता था, जिसे सहन नहीं कि

सकता था। दूसरे, आक्रान्ता देश पर युद्ध का खर्चा लादना भी समझदारी का काम न था। अभी तक जर्मन क्षतिपूर्ति की समस्या से ही मुक्ति नही मिल पाई थी। अत आक्रान्ता के विरुद्ध लागू की जाने वाली अनुशास्तियों का स्वरूप स्पष्ट नही किया गया था।

फिर भी उपसंधि की योजना का अपना महत्व है। इसने प्रतिश्रव की कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया तथा इसमे सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण के सन्तुलन को बनाए रखने की व्यवस्था भी की गई। फ्रांस के लिए भी, कुछ सीमा तक, लाभदायक थी क्योंकि इसमे शांति समझौते और उसकी प्रादेशिक व्यवस्था की अखण्डता को बनाए रखने की व्यवस्था थी। ब्रिटेन द्वारा संधि का अनुसमर्थन रोकने पर ब्रिटिश नीति की आलोचना करते हुए लार्ड सेसिल[1] ने लिखा है कि वस्तुत जैसा कि देखा जायेगा, ब्रिटिश सरकार ने प्रोटोकॉल को अस्वीकार कर दिया था और एक बार पुन शांति के मार्ग में बाधक के रूप में सामने आया, जबकि फ्रांस ने इस शांति मार्ग को स्वीकार करना तय कर लिया था।

उपसंधि की उपयोगिता

मार्च १९२५ मे ब्रिटिश सरकार ने अन्तिम रूप से जनेवा उपसंधि को अस्वीकार कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप उसको लागू करना भी असम्भव हो गया। उपसंधि के अवसान के साथ ही साथ फ्रांस के सामने सुरक्षा का प्रश्न पुन आ खड़ा हुआ। अत एक बार पुन प्रादेशिक व्यवस्था पर विचार करना आवश्यक हो गया। फ्रांस की मुख्य चिंता राइन सीमान्त से ही सम्बन्धित थी। इस सम्बन्ध में जर्मनी भी कम चिंतित नही था। उसने १९२२ में फ्रांस के सामने एक हल प्रस्तुत किया था। इसके अनुसार राइन सीमांत से सम्बन्धित शक्तियो को एक पीढ़ी तक युद्ध न करने की प्रतिज्ञा करने का मार्ग सुझाया गया था। परतु तत्कालान फ्रेंच प्रधानमंत्री पोइनकारे ने जर्मनी के प्रस्ताव को एक 'भौंडी चाल'' कहकर अस्वीकार कर दिया था। १९२३ में जर्मनी ने पुन प्रस्ताव रखा था परतु कोई लाभ नही हुआ।

लोकार्नो–समझौता —पृष्ठभूमि

१९२४ के प्रारम्भ से ही जर्मनी से समझौते के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा हो रहा था। डावेस कमेटी ने एक ऐसे युग का उद्घाटन किया जिसको यूरोपीय राजनीतिज्ञो ने "शांति युग" का नाम दिया है। क्षतिपूर्ति का झगड़ा समाप्त हो चुका था। रूर भी खाली कर दिया गया था। फ्रांस की विदेशनीति के सामने भी कुछ अन्य समस्याए आ गई थी। मोरक्को में अब्दुल करीम के नेतृत्व में रिफ् जाति ने स्वतंत्रता का झंडा उठाया था। सीरिया में द्रूसे जाति ने स्वाधीन होने की चेष्टा की। इन लड़ाइयो के कारण फ्रांस की आर्थिक स्थिति खराब हो गई थी और फ्रांस के

1 Viscount Cecil—A Great Experiment

यह नितात आवश्यक हो गया कि वह जमनी की तरफ से निश्चित हो जाय। वह अपनी शक्ति एकाग्र होकर इन उपद्रवों को दबाने में लगा सके। इसके पाइनकारे के स्थान पर उदारवादी हरिग्रो (Herriot) फ्रास के प्रधानमंत्री चुके थे फ्रास के विदेशमंत्री ब्रियाण्ड (Briand) और जमनी क विदेशमंत्री दानो हो, दाना देशों के बीच एक समझौता करने को उत्सुक थे। ब्रिटेन के चेम्बरलेन भी इस प्रकार के समझौते के पक्ष में थे। अत इस उपयुक्त वातावरण को देखते हुए जमना ने ५ फरवरी १९२४ को पुन फ्रास के सामने अपना प्रस्ताव रखा। फिर भी फ्रेंच लोकमत इस प्रकार के समझौते के लिए शीघ्र ही तैयार न हो सका काफी वाद विवाद के बाद ही उसे राजी किया जा सका।

५ अक्टूबर १९२४ को, स्विटजरलण्ड के लोकार्नो स्थान के रम्य वाताव मे समझौता सम्मलन, बड समारोह स प्रारम्भ हुआ। इसमें चेम्बरलेन, मुसोलिनी, स्ट्रेसमान, वीनेस, एक्जिन्स्की तथा ने भाग लिया। दस बारह दिन के अथक परिश्रम के 'सप्त-सधि समूह' का प्रारूप तयार किया गया और अक्टूबर को उस पर हस्ताक्षर किये गये। वसे या विधिवत् हस्ताक्षर १ दिसम्बर १९२४ को लन्दन में ही किये जा सके। ये इतिहास मे लोकार्नो समझौता ( Locarno Pact ) के नाम से प्रसिद्ध है।

**लोकार्नो सम्मेलन**

इन सात सधियो का विभाजन इस प्रकार था —(१) सीमात प्रत्याभूति सधि (२) दो विशिष्ट प्रत्याभूतक सधियाँ और (३) चार पचनिर्णय की (Convention) सधियाँ। अब हम इन सधियो में विहित व्यवस्था का अध्ययन करे। (१) इसे वास्तव में लोकार्नो की सधि कहा जाता है। यह फ्रेंको जमन बेल्जो जमन सीमातो की प्रत्याभूतक सधि थी। आपसी प्रत्याभूति की यह सधि ब्रिटेन, बेलजियम, फ्रास, जमनी और इटली के बीच हुई थी। इस सधि के द्वारा सभी पक्षो ने, सामूहिक तथा पृथक रूप में, जमनी और बेलजियम तथा जर्मनी और फ्रास सीमाओ की यथास्थिति (Status quo) को बनाए रखने की प्रत्याभूति दी। और बेलजियम तथा जमनी और फ्रास ने एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण न तथा युद्ध का आक्रमण न करने का वचन दिया। (२) दूसरी से पाचवी तक सधियाँ पचनिर्णय या समझौता की सधियाँ है। ये सधियाँ जर्मनी और फ्रास, जमनी और बेलजियम, जमनी और चेकास्लोवाकिया, और जमनी और पोलैंड के थीं। इन सधियो के द्वारा जर्मनी ने सधियो मे सम्बधित पक्षों के साथ उत्पन्न होने वाले किसी भी विवाद को पचसमिति या समझौता समिति को सौंपना स्वीकार किया। जर्मनी ने अपने पश्चिमी सीमात अर्थात फ्रेंको जर्मन और बेल्जो जर्मन सीमान्त स्थायी स्वीकार कर लिया। परतु उसने अपनी पूर्वी सीमात को निर्णायक सामान

**लोकार्नो सधियाँ**

में स्वीकार नहीं किया। हालांकि उसने यह अवश्य स्वीकार किया कि वह पूर्वी मान्त के किसी विवाद को हल करने के लिए सशस्त्र कार्यवाही का सहारा नहीं ा। यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जर्मनी के पश्चिम सीमान्त की ण्डता के लिए ब्रिटेन और इटली ने प्रत्याभूति प्रदान की थी जबकि पूर्वी सीमान्त सम्बध में उन्होंने चुप्पी साध रखी था। (३) अन्तिम दो संधियाँ विशिष्ट प्रत्याभूतक संधियाँ कहा जा सकता है। ये फ्रांस और गोस्लावाकिया तथा फ्रांस और पोलैंड के बीच हुई थीं। इन दोनों न्धियों के अनुसार सम्बंधित पक्षों ने एक दूसरे को "पारस्परिक प्रत्याभूति संधि र चार पक्षनिर्णय संधियों" की सुविधाएँ देने का आश्वासन दिया। इन अंतिम नों संधियों का एक उद्देश्य जर्मन चेकोस्लोवाकिया और जर्मन पोलिश सीमान्त की क्षा का आश्वासन देना था।

लोकार्नो पेक्ट के द्वारा युद्ध की सम्भावना को दूर करने का प्रयत्न किया गया। न्तु वास्तव में युद्ध को अवैध नहीं ठहराया गया था। सदस्य राष्ट्र निम्न परिस्थि या में युद्ध का सहारा ले सकते थे—(१) आत्म रक्षा के लिए। (२) भूतपूर्व संधियों रा सौंपे गये दायित्व को लागू करने के लिए या (३) संघ प्रतिश्रव या लोकार्नो संधि की जम्मेवारियों को पूरा करने के लिए। डा० लैंगसम[1] ने लिखा है—मूल रूप से, केवल आक्रामक युद्धों को अवैध ठहराया गया था, और इस प्रकार के मामलों में भी, अनुशा-स्तियों को लागू करने की उचित व्यवस्था नहीं की गई थी। इस बात की अवश्य व्यवस्था ी गई थी कि यदि राष्ट्रसंघ की सर्वसम्मति से स्वीकृत निष्पत्ति का उल्लंघन कोई करेगा ो उसके विरुद्ध इंगलण्ड और इटली लड़ेंगे। इंगलैण्ड और इटली को लोकार्नो समझौता ा प्रत्याभूतक (Guarautor) बनाया गया क्योंकि इनका इस समझौते से कोई त्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। इसके साथ ही साथ एक और महत्वपूर्ण निश्चय किया गया। ह यह कि जर्मनी राष्ट्रसंघ में शामिल होगा और उसको कौंसिल में स्थायी स्थान या जायगा।

**लोकार्नो समझौते की आलोचना**

यह ठीक है कि विश्वशांति की स्थापना में लोकार्नो एक महत्वपूर्ण कदम था। परन्तु इसमें कई दोष थे। ब्रिटिश और इटालियन सरकारों ने जर्मनी के पश्चिमी सीमान्त की अखण्डता की प्रत्याभूति और पूर्वी सीमान्त के सम्बन्ध में चुप्पी रखकर ठीक नहीं किया। इससे एक नूतन ध्वनितार्थ (impli cation) उत्पन्न हुआ जिसका अर्थ यह हुआ कि जर्मनी के पूर्वी सीमान्त के सम्बन्ध में वैसी अनुशास्तियाँ नहीं लगाई जा सकती जैसी कि पश्चिमी सीमान्त के। अर्थात ब्रिटेन और इटली ने जर्मनी की इस इच्छा को कि उसके पूर्वी सीमान्त अंतिम नहीं है स्वीकार कर लिया था। जर्मनी के द्वारा अपनी

---

१ Langsam—World Since 1914

पूर्वी सीमा का अतिक्रमण करने के मार्ग में किसी भी प्रकार की रुकावट खड़ी नहीं की गई। इस परिस्थिति में रूस का यह सोचना स्वाभाविक ही था कि ब्रिटेन और फ्रांस अपनी सुरक्षा को दृढ़ करना चाहते हैं परन्तु रूस को जर्मनी से टकराना चाहते हैं। परिणाम यह हुआ कि २४ अप्रैल १९२६ में रूस को जर्मनी से सधि करनी पड़ी। इसके अनुसार १९२२ की रापालो की सन्धि का समर्थन करते हुए यह निश्चय हुआ कि यदि रूस अथवा जर्मनी पर तीसरी शक्ति आक्रमण करे तो वे उसमें तटस्थ रहेंगे। यदि मित्रराष्ट्र रूस अथवा जर्मनी के आर्थिक बहिष्कार के लिए गुट बनाएंगे तो वे उसमें शामिल नहीं होंगे। अतः यह स्पष्ट हो गया कि वर्साय की सधि नहीं चल सकती। दूसरे शब्दों में लोकार्नो सधि ने अप्रत्यक्ष रूप से वर्साय की सधि और सघ प्रतिश्रव का विनाश कर दिया। इसीलिए कार[1] ने लिखा है' अन्ततोगत्वा, लोकार्नो सधि से वर्साय की सधि और अनुबंध पत्र दोनों ही को हानि पहुँची।'

इससे जर्मनी में एक भय उत्पन्न हो गया कि रूस के साथ सघ के सदस्यों के छिड़ने वाले सघर्ष में, रूस के विरुद्ध उससे सैनिक सहयोग न मांग लिया जाय। जर्मनी और रूस मित्रता के सम्बन्ध में बंधे हुए थे। परंतु इस भय का शीघ्र ही निवारण कर दिया गया। मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को सूचित किया कि प्रतिश्रव की धाराओं से सैनिक सहयोग के लिए राज्यों की भौगोलिक स्थिति तथा सैनिक शक्ति का ध्यान रखा जाएगा है और इसी आधार पर किसी राज्य से सहयोग की माग की जा सकेगी और क्योंकि जर्मनी निःशस्त्र है, अतः उसे सैनिक सहयोग देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

इस प्रकार की सधियों से सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी क्योंकि इनके विधायकों में सत्यनिष्ठा की कमी थी। जिस भावना के साथ इन सधियों पर हस्ताक्षर किए गए थे उसका निर्वाह नहीं किया जा सकता था। उदाहरणार्थ, फ्रांस लघु राज्यों की गुटबन्दी के मार्ग पर बराबर चलता रहा। जब जेनेवा में जर्मनी को स्थान देने का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उसने अड़गा लगाना शुरू कर दिया और अपने लघु राज्यों चेकोस्लावाकिया और पोलैण्ड के लिए भी स्थायी स्थान की माँग की। फ्रेंच नीति के कारण ऐसा प्रतीत होता था कि लोकार्नो की सब आशाएँ मिट्टी में मिल जायगी। परन्तु चेम्बरलेन ने स्थिति को सुधार लिया। यहीं पर एक दूसरी समस्या खड़ी हुई कि क्या ब्रिटेन हमेशा अवसर आने पर अपने दायित्व को निभा सकेगा? इस दिशा में बहुत से राष्ट्रों को शंका थी।

उपरोक्त कमियों के उपरांत भी लोकार्नो का अपना एक विशिष्ठ स्थान है। लोकार्नो का मुख्य उद्देश्य जर्मनी को उस समाज में मिलाना था जो अपने को संसार की शांति का संरक्षक कहता था। उस समाज का नाम था राष्ट्रसंघ। जर्मनी के राष्ट्रसंघ से बाहर रहते हुए सघ का यूरोप में मान्य होना असम्भव था। अतः जर्मनी को संघ में सम्मिलित करने की इच्छा से ही लोकार्नो का महत्व बढ़

**लोकार्नो सधि का महत्व**

(१) ई एच कार—दो विश्व युद्धों के बीच अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

महायुद्ध के उपरान्त की जाने वाली संधियों में यह प्रथम संधि थी, जिसमें ानी को स्वतन्त्रता पूर्वक विचार व्यक्त करने का अवसर दिया गया था। प्रथम बार े समानता का सम्मान मिला था और जिसमें वह अपनी इच्छानुसार सम्मिलित ा था। इसके पूर्व की गई संधियों को जर्मन लोग "आरोपित संधि" ( Dictated eace ) कहते थे। लोकार्नो की संधि ने जर्मन लोगों की इस शिकायत को दूर र दिया।

लोकार्नो की संधियों को यूरोप के पुनर्निर्माण के इतिहास में एक महत्वपूर्ण टना माना जाता है। इससे जर्मनी और फ्रांस को सुरक्षा की चिंता से मुक्ति मिली। द्ध की सम्भावना को दूर करने का प्रयत्न किया गया। सभी झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से वनिर्णय के द्वारा निपटाने की व्यवस्था की गई और यह बात स्पष्ट हो गई कि द्ध के सूत्रपात के बाद आक्रान्ता के विरुद्ध कार्यवाही करने या उसे रोकने से अधिक च्छा तो युद्ध के पूर्व ही ऐसे देशों को साम, दाम, दण्ड भेद की नीति से डरा धमका र युद्ध से दूर रखना अधिक अच्छा है।

लोकार्नो संधियों के महत्व के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख लेखकों के विचार इस कार हैं—चर्चिल[1] ने लोकार्नो की संधियों को "यूरोप के पुनर्निर्माण की चरम सीमा" ा नाम दिया है। हार्डी ने लिखा है—'इसके निर्माण कर्त्ता श्री चेम्बरलेन के मन का ौचित्य बहुत कुछ सिद्ध हो जाता था और वह मत था कि संधि युद्ध के वर्षों और ति के वर्षों के बीच वास्तविक विभाजक रेखा को अंकित करती है'[2]। कार के ब्दों में "जो कार्य डेविस योजना ने प्रारम्भ किया था वही कार्य इस संधि ने ा किया"[3]।

१९२६ से १९२९ के मध्य तक युद्ध के विरुद्ध सुरक्षा को मजबूत बनाने तथा द्ध को अवैध ठहराने के लिए विविध देशों के द्वारा विविध प्रकार के प्रयत्न किए गये। ... 'योजनाएँ' बनाई गई। राष्ट्रसंघ में भी इस सम्बन्ध पर काफी विचार होता रहा। हर अधिवेशन में कोई न कोई प्रस्ताव आता ही रहता था। २६ सितम्बर १९२८ को संघ की असेम्बली ने "अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण समाधान के लिए सामान्य अधिनियम' ( General Act of Arbitration ) स्वीकार कर लिया। यह ामान्य नियम आदर्श संधियों और अधिनियमों का समन्वय था। इसमें चार अध्याय और इस सामान्य अधिनियम की एक विचित्र विशेषता यह थी सदस्य राष्ट्र इसको

**लोकार्नो के बाद सुरक्षा प्रयत्न**

---

[1] Sir Winston Churchill—Second World War Part I

[2] गेथोन हार्डी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास।

[3] कार—दो विश्व युद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

पूर्ण रूप में या किसी भाग मात्र को स्वीकार कर सकते थे। प्रथम अध्याय समझौते सम्बन्धित था। इसमे यह व्यवस्था की गई थी कि सभी विवादो को यहाँ तक राजनीतिक विवादो को भी, जिनका कूटनीति के द्वारा समाधान नही हो सकता है एक द्विपक्षी समझौता आयोग (Bilateral Conciliation Commission को सौंप दिया जाय। इस सम्बन्ध में यह सुझाया गया कि प्रत्येक दो राज्य मि एक स्थायी समझौता आयोग की स्थापना करे। दूसरा अध्याय न्यायिक व्यव सम्बन्धित था। इसमें यह व्यवस्था की गई कि सभी कानूनी झगडे अन्तर्राष्ट्रीय न्या के सम्मुख रखे जाय और न्यायालय का निर्णय बन्धनकारी ( Binding ) ह तीसरा अध्याय पंच निर्णय से सम्बन्धित था। इसमें यह व्यवस्था की गई कि विवाद एक पंच समिति के सामने रख जाय। चौथे अध्याय मे सामान्य बातो उल्लेख है।

सामान्य अधिनियम, निस्सन्देह एक महत्वपूर्ण कदम था। इसमें राजनीति विवादो व अन्य विवादो को व्यवहारिक रूप से निपटाने की अधिक की व्यवस्था की गई थी। इङ्गलण्ड और फ्रास ने कुछ झिझक के उपरात स्वीकार कर लिया और उनकी स्वीकृति के बाद अधिकाश राज्यो ने इस स्वीक कर लिया। बेलजियम, नार्वे, डेनमार्क और फिनलण्ड ने चारो अध्याय स्वीकार किए हालण्ड और स्वीडन ने प्रथम दो अध्याय ही स्वीकार किये। इगलण्ड ने कुछ शर्तो साथ इसे स्वीकार किया था। परन्तु फिर भी मोटे तौर पर, अधिनियम को अधि सफलता नही मिली।

सामूहिक सुरक्षा के उपरोक्त प्रयत्नो के उपरात भी, युद्ध घोषणा का कानू अस्तित्व बना हुआ था और युद्ध का अवैधीकरण नही हुआ था। अत युद्ध को विध विरुद्ध ठहराने के लिए प्रयत्न शुरू हुए। फ्रांस और अमेरिका इस प्रयत्न में लगे व

**कैलाग ब्रियाण्ड समझौते की पृष्ठभूमि**

इस कार्य में फ्रास अग्रसर हुआ। १९२८ में फ्रास के प्र मत्री ब्रियाण्ड ने अमेरिका के विदेश सचिव कैलाग के सा एक प्रस्ताव रखा कि दोनो देशो के बीच, इस आशय का कि युद्ध राष्ट्रीय नीति का साधन नही रहेगा एक समझौता जाय। कैलाग ने काफी समय के बाद इसे स्वीकार तो लिया परन्तु फ्रास की शर्तों के अनुसार नही बल्कि अपनी शर्तो के साथ। उसकी शर्त यह थी कि इस प्रकार का समझौता बहुपक्षीय ( Multilateral ) ह चाहिए। फ्रास तत्काल इसका निर्णय नही कर सका। जहा तक अमरिका के साथ प्रकार का समझौता करने का प्रश्न था, वह बहुत सरल था क्योकि अमरिका और फ के हित आपस मे टकराते नहीं थे और युद्ध की आशका भी नही थी। परन्तु बहुप समझौते के मार्ग में कठिनाइयाँ थी। उसके सिर पर संघ के सदस्य, विविध संधियों निर्माता तथा प्रत्याभूतक की हैसियत से बहुत से दायित्वो का भार था। फिर भी,

सोच विचार के उपरांत, ब्रियाण्ड ने फ्रैंको अमरिकन पत्र व्यवहार को ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, इटली और जापान की सरकारों के पास भेजना स्वीकार कर लिया। कलाग ने भी, १३ अप्रैल १९२८ को, उपरोक्त सरकारों के पास प्रस्तावित संधि का प्रारूप भेजा।



चित्र 'ब्रियाण्ड"

संधि के प्रारूप ने बहुत सी सरकारों के सामने भ्रम पूर्ण धारणाओं को पैदा कर दिया। २६ अप्रैल को कलाग ने इस प्रकार की भ्रम पूर्ण धारणाओं को दूर करने का प्रयत्न किया। उसने इस बात पर जोर दिया कि युद्ध हर स्थित में अवैध नहीं माना गया है। आत्म रक्षा के लिए युद्ध का सहारा लिया जा सकता है, अमेरिका फ्रांस और ब्रिटेन ने अपनी २ स्थिति का स्पष्टीकरण किया। आत्म रक्षा की दृष्टि से अमरिका ने मुनरो सिद्धान्त का उल्लंघन करने वाली किसी भी कार्यवाही के विरुद्ध कदम उठाने का अधिकार जतलाया तो फ्रांस ने अपने पुराने संधि करारों की शर्त रखी। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने सम्बन्ध में स्पष्ट किया कि 'विश्व के कुछ ऐसे भागों की, जिनका कल्याण और असण्डता, उसकी शांति और सुरक्षा के लिए विशेष तथा महत्वपूर्ण है, की रक्षा करने का अधिकार भी शामिल है। इस प्रकार सभी देशों ने आत्म रक्षा की सीमा निर्धारित कर ली। इससे यह अनुमान लगाया गया कि यह संधि एक अनुबंधीय दायित्व ( Contractual obligation ) की अपेक्षा केवल एक सैद्धांतिक घोषणा ( Declaration of principle ) मात्र है।

२७ अगस्त १९२८ को संधि के प्रारूप का निर्माण करने वाले १५ देशों ने पेरिस में इस पर हस्ताक्षर कर दिये। चूँकि पेरिस में हस्ताक्षर हुए इस लिए इस संधि को पेरिस समझौता भी कहा जाता है। वैसे अपने निर्माण कर्त्ताओं के नाम के पीछे यह 'कलाग ब्रियाण्ड पैक्ट' के नाम से भी विख्यात है। बाद में, इसे अन्य राज्यों के शामिल होने के लिए भी खोल दिया गया और अपेक्षाकृत थोड़े ही समय में लगभग ६५ राज्यों ने इसे स्वीकार कर लिया। अरब के नजदहेजाज और यमन राज्यों को निमन्त्रित नहीं किया गया और अर्जेन्टाइना, ब्राजील और बोलीविया ने इसे स्वीकार नहीं किया। यह एक आश्चर्य की बात थी कि सोवियत

**पेरिस समझौता (कैलाग ब्रियाण्ड पैक्ट)**

सरकार ने प्रारम्भ में तो कुछ झिझक के साथ इसे स्वीकार किया था परन्तु बाद में वह इसका प्रबल पक्षधर ( Champion ) प्रमाणित हुई।

इस समझौते के महत्वपूर्ण अनुच्छेद इस प्रकार थे—(१) उच्च हस्ताक्षरकर्ता क्रमानुसार अपने लोगों के नाम पर यह घोषणा करते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए युद्ध के आश्रय की भर्त्सना करते हैं और एक दूसरे युद्ध को राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में परित्याग करते हैं। (२) उच्च हस्ताक्षरकर्ता स्वीकार करते हैं कि आपस में उत्पन्न होने वाले सभी विवादों या झगड़ों की चाहे व किसी भी स्वरूप या उद्गम के हो, का हल सिर्फ शांति पूर्वक तरीकों के अतिरिक्त अन्य किसी तरीके से नहीं किया जायेगा।

**समझौते की धाराएँ**

राष्ट्रों के इतिहास में, राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बहिष्कार एक महत्वपूर्ण घटना थी। इतिहास में, व्यक्तिगत रूप से, शासकों द्वारा (जैसे अशोक) इस प्रकार के प्रयत्न का उल्लेख तो अवश्य मिलता है परन्तु राज्यों के द्वारा, सो भी इतनी बड़ी संख्या में इस प्रकार का प्रयत्न पहले कभी नहीं किया गया था। इस समझौते ने सैद्धांतिक दृष्टि से परस्पर विरोधी राज्यों अमेरिका और साम्यवादी रूस को एक संयुक्त खेमें में लाने का महान् सफल प्रयत्न किया था यह प्रयत्न राष्ट्र संघ की सीमा के बाहर किया गया था, इससे इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। क्योंकि अब तक जितने भी समझौते हुये थे, वे राष्ट्र संघ के निर्देशन में हुए थे। तथा कथित समझौता विश्व के विविध देशों की युद्ध के सम्बन्ध में क्रांतिकारी नीति का द्योतक था। कार के शब्दों में— 'यद्यपि पेरिस समझौता अपूर्ण था तथापि वह एक पयन्त सीमा चिह्न था। राष्ट्रों ने मिलकर, कम से कम सैद्धांतिक तौर पर ही सही यह तो स्वीकार किया ही कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध एक सामान्य और वैध मार्ग नहीं है।" गैथोन हार्डीने लिखा है ' एक ऐतिहासिक घटना के रूप में, युद्ध का नीति के साधन के तौर से यह प्रायः सार्वजनिक प्रत्याख्यान अभूत पूर्व महत्व रखता प्रतीत होता है। युद्ध के प्रति एक नैतिक रुख व शक्ति के रूप में यह निःसंदेह प्रभावोत्पादक था।"

**पेरिस पेक्ट की समालोचना**

उपरोक्त विशेषताओं के उपरांत भी पेरिस पेक्ट में कई कमियाँ थी जिसके कारण पेक्ट सिद्धांतों की घोषणा मात्र ही रहा। इसमें ऐसी व्यवस्था नहीं थी जिसके द्वारा हस्ताक्षर कर्त्ता द्वारा पेक्ट का अतिक्रमण करने पर उसके विरुद्ध कार्यवाही की जा सके। यदि पेक्ट को इस सम्बन्ध में कुछ अधिकार सम्पन्न बनाया गया होता तो शायद इसे अत्यधिक सफलता उपलब्ध हो सकती थी। परन्तु ऐसा नहीं होना था। इससे एक बात और स्पष्ट हो गई कि किसी भी समझौता का अस्तित्व केवल अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर ही नहीं टिक सकता।

सुरक्षा की समस्या, जिसके बारे में यह अनुमान लगाया गया था कि लोकार्नो पेक्ट और पेरिस पेक्ट हल करने में सफल होंगे, उस प्रकार के विश्वास को जैसा कि अपेक्षित था, उत्पन्न करने में असफल रहे। इसका प्रमुख कारण यह था कि अधिकांश राज्यों ने केवल आलोचना के भय से इसमें सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया था। यही कारण था कि पेक्ट का उल्लंघन हस्ताक्षर की तिथि के कुछ ही समय बाद शुरू हो गया। एक लेखक ने लिखा है कि इस संधि ने लोलुप राज्यों के लिए बिना युद्ध की घोषणा के अतिक्रमण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जापान और इटली ने इस दिशा में पहल की। जापान ने अपनी कार्यवाही को पुलिस कार्यवाही बतलाया और इटली ने आत्मरक्षात्मक युद्ध कहा।

लोकार्नो की भांति इसमें भी एक दोष था। रूस की सुरक्षा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई कदम नहीं उठाया गया। चिचेरिन ने इसकी व्याख्या करते हुए इसे एक "पश्चिमी यूरोपीय संगठित" और "सोवियट रूस के विरुद्ध युद्ध की तैयारियों का एक भाग" बताया। यदि लोकार्नो ने वर्साय की संधि और प्रतिश्रव के विनाश की पृष्ठभूमि का निर्माण किया था तो पेरिस पेक्ट ने उसके अधूरे कार्य को तो पूरा किया ही परन्तु स्वयं लोकार्नो का भी सर्वनाश कर दिया।

सच्ची बात तो यह है कि इस प्रकार की संधियों से सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी। वे जिस बात का प्रस्ताव करते थे, उसको स्वयं पालन करने का विचार नहीं रखते। एक ओर युद्ध के उपकरणों को बढ़ाने की घोर प्रतिस्पर्धा चल रही थी और दूसरी ओर इस बात का झूठा प्रयत्न हो रहा था कि युद्ध को विधान विरुद्ध करार दिया जाय। यह कैसे सम्भव हो सकता था ?

आर्थिक मन्दी के प्रारम्भिक वर्षों और विशेषकर जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष के बाद, यूरोपीय सम्बन्धों में सन्देह और प्रतियोगिता का जो प्रादुर्भाव हुआ था, उसके परिणाम स्वरूप दो अतिरिक्त शांति समझौते का निर्माण हुआ।

**रोम और लन्दन के समझौते**

एक रोम का समझौता (Pact of Rome) और दूसरा लंदन समझौता (London Agreement)। युद्ध के भावी बादलों को दूर करने के लिए मुसोलिनी ने सुझाव रखा कि पश्चिम की प्रमुख शक्तियाँ एक निश्चित अवधि तक शांति का प्रत्याभूति देने के सम्बन्ध में कदम उठायें। उसके प्रयत्न के परिणामस्वरूप १९३३ में रोम में, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और इटली ने एक दस वर्षीय समझौते पर हस्ताक्षर किये। हस्ताक्षरकर्ताओं ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों, निःशस्त्रीकरण की पद्धति आदि को सफल बनाने में योग देने और एक बार पुनः संधि संशोधन को (जैसा कि प्रतिश्रव के १९ वें अनुच्छेद में है) मान्यता देने के सम्बन्ध में एक दूसरे से विचार विमर्श करके कार्य करना स्वीकार कर लिया।

सोवियट संघ को इस समझौते से चिंता हो गई क्योंकि वह इसे शांति का प्रत्याभूतक मानने को तैयार नहीं था। वह इसे साम्यवाद के विरुद्ध एक दूसरा समझौता मानता था। अतः उसने अपने पड़ोसी देशों के सामने एक सामान्य अनाक्रमण संधि का

प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का स्वागत किया गया और लंदन में सोवियत दूतावास पर, अफगानिस्तान, सोवियत संघ, तुर्की युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया एस्थोनिया, लटाविया, लिथुएनिया, पर्शिया आदि देशों ने तीन समझौते पर हस्ताक्षर किये (१६३३में)। हस्ताक्षरकर्ताओं ने एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण न करने का वचन दिया और यह विचार व्यक्त किया कि 'कैलाग पैक्ट" (जिसमें वे सभी सम्मिलित थे) ने आक्रमण का निषेध कर रखा है और आक्रमणकर्ता की परिभाषा भी स्पष्ट की गई है— अमल किया जाय। अर्थात् इस संधि ने कुछ सीमा तक कैलाग पैक्ट में विहित सिद्धान्त का सहारा लिया।

इस प्रकार हम देखते है कि १६२० से १६३३ तक के युग में सामूहिक सुरक्षा के लिए विविध प्रयत्न किये गये परन्तु अन्ततोगत्वा सभी प्रयत्न असफल प्रमाणित हुए और संसार को शीघ्र ही द्वितीय महायुद्ध की ज्वाला में भस्म होना पड़ा।

———

## षष्ठ अध्याय

# निःशस्त्रीकरण की समस्या

शस्त्रास्त्र (Armaments) की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता महायुद्ध के प्रमुख कारणों में से एक थी। युद्ध समाप्ति के बाद यह सामान्य विश्वास विकसित हो चुका था कि यदि इस प्रतियोगिता का अंत कर दिया जा सके, इसमें कमी की जा सके तो राष्ट्रों द्वारा युद्धाश्रय के अवसरों में भी कमी आ सकेगी और युद्ध को रोका जा सकेगा। युद्ध के परिणाम स्वरूप होने वाली क्षति—धन, जन, समय और परिश्रम की क्षति को बचाया जा सकेगा और इसे मानव कल्याण के मार्ग की तरफ निर्देशित किया जा सकेगा जिससे एक सुंदर और सुखी संसार का स्वप्न साकार हो उठेगा। वर्साय की संधि के निर्माताओं ने कठोरता के साथ जर्मनी को निशस्त्र कर दिया था। परन्तु ऐसा करने का तात्पर्य केवल जर्मन आक्रमण को नियन्त्रित करने का ही नहीं था। पेरिस शांति सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों ने अपने इस कदम की व्याख्या करते हुए घोषणा की थी कि जर्मन निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य "सभी राष्ट्रों के शस्त्रीकरण की व्यापक सीमा (Limitation) प्रारम्भ करना सम्भव बनाना था"। प्रतिश्रव के आठवें अनुच्छेद में भी यह स्वीकार किया गया था कि 'राष्ट्रीय सुरक्षा का ध्यान रखते हुए किसी भी राष्ट्र के शस्त्रास्त्रों की निम्नतम सीमा निर्धारित करना शांति बनाये रखने के लिये आवश्यक है।"

**निःशस्त्रीकरण समस्या**

उपरोक्त दोनों घोषणाओं ने निःशस्त्रीकरण का पक्ष लेते हुए भी इस समस्या को जटिल बनाने में अनायास ही अभूतपूर्व योगदान दे दिया। एक तरफ जर्मन निःशस्त्रीकरण का उद्देश्य सार्वदेशिक (Universal) निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक अग्रगामी कदम माना गया (वर्साय के अनुसार) तो दूसरी तरफ राष्ट्रीय सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए इसे स्वीकार करने की घोषणा की गई थी। राष्ट्रीय सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण की समस्या को आपस में सम्बन्धित करना एक भयंकर भूल थी।

**कठिनाइयाँ**

जो भी हो, इन घोषणाओं के उपरान्त भी, निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में बहुत कम प्रगति की जा सकी थी। राष्ट्रीय सुरक्षा (National Security) और निःशस्त्रीकरण में संघर्ष शुरू हो गया। प्रत्येक राष्ट्र निःशस्त्रीकरण की उपयोगिता को तो स्वीकार करता था परन्तु उसे अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा का भी भय बना रहता था और इस कारण चाहते हुए भी वह इस दिशा में कदम उठाने में हिचकिचाता था। फ्रांस और पोलैण्ड ऐसे देशों में

प्रगणी थे और हालाकि अमेरिका और ब्रिटेन ने उनकी भर्त्सना भी की, परन्तु प्रत्युत्तर था कि यदि उन्हे संभावित जर्मन आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा की ( Guarantee ) दे दी जाय तो वे इस दिशा में कदम उठाने को तयार है। विश्वास था कि इस प्रकार की प्रत्याभूति के अभाव मे, निःशस्त्रीकरण पर अमल से, जर्मनी विश्वास सहित आक्रमणात्मक कार्यवाहियो की तरफ अग्रसर होने को शुरू कर देगा। कुछ सीमा तक फ्रास का तर्क सही भी कहा जा सकता है परन्तु का प्रचार का बहाना मिल गया। उसने फ्रास और पोलैण्ड की इस नीति को करण की माग घोषित किया जो वर्साय की संधि और राष्ट्रसंघ की मर्यादा के थी। परन्तु फ्रास लाचार था। यूरोप की तत्कालीन स्थिति अत्यधिक नाजुक थी अमेरिका यूरोपीय राजनीति से अलग हो चुका था। ग्रेट ब्रिटेन का अपनी स्थिति के कारण सुरक्षा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भय नहीं था। जर्मनी, और अपमान की ज्वाला म जल रहा था और गुप्त रूप से अपनी सैनिक शक्ति को बनाने के प्रयत्न में लगा हुआ था। पोलण्ड को भी अपने पूर्वी सीमान्त का भय हुआ था। रूस समाजवाद का पक्षधर (Champion) बन चुका था और परस्पर प्रजातान्त्रिक राज्यो की नीव खोखला करने में लगा हुआ था। इटली और यूगोस्लाविया आपसी सम्बन्ध बिगड चुके थे। बाल्कन अब भी खतरनाक क्षेत्र बना हुआ था यूनान तथा बल्गेरिया को शीघ्र ही आपसी संघर्ष मे उलझना पडा। यूरोप की सामान्य स्थिति इस प्रकार की था कि किसी भी समय युद्ध का सूत्रपात हो सकता था। ऐसी परिस्थिति में निःशस्त्रीकरण की दिशा में कदम उठाना, बहुत से दृष्टियो दृष्टि में मूर्खता थी। इसके लिए विश्वास की भावना की आवश्यकता थी। विश्व निःशस्त्रीकरण की मूलभूत बात है, यह सन्देह और अविश्वास की नीव पर कभी नहीं किया जा सकता। फिर भी, इस दिशा म कुछ प्रयत्न किये गये हैं। सुरक्षा आश्वासन देने के उद्देश्य से 'आपसी सहायता प्रारूप संधि" "जेनेवा उपसंधि" "लोकार्नो समझौता" की रचना की गई। परन्तु वे अपेक्षित परिणाम उपलब्ध करने में असफल रहे। १९२० के प्रारम्भ म राष्ट्रसंघ ने एक अस्थायी मिश्रित आयोग नियुक्ति की, परन्तु आयोग के अथक प्रयत्नो से भी किसी प्रकार का कोई परिणाम नहीं निकला।

१९२२ ई तक यूरोप निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में नगण्य प्रगति ही कर परन्तु नौ सेना निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में इस वर्ष में, वाशिंगटन सम्मेलन ने महत्वपूर्ण कदम उठाया। इस सम्मेलन का आयोजन

**वाशिंगटन सम्मेलन**

के निमन्त्रण पर हुआ था। यद्यपि मोटे तौर पर यह सम्मेलन प्रशांत महासागर की समस्याओ का हल करने की दृष्टि से आयोजित किया गया था, परन्तु इसमें नौ सैनिक निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भी किए गये। विश्व की पाच महान् शक्तियो—अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, फ्रास, जापान

इटली तथा प्रशात सागर से सम्बन्धित तीन राष्ट्रो –चीन, नीदरलैण्ड और पुतगाल ने किसी अन्य कारणवश बेलजियम ने सम्मेलन में भाग लिया। सम्मेलन की प्रथम बैठक नवम्बर १६२१ में हुई। ग्रेट ब्रिटेन ने प्रस्ताव रखा कि पनडुब्बियो ( Submarines ) का अत कर दिया जाय। परन्तु सम्मेलन ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया। इसके स्थान पर यह व्यवस्था की गई कि व्यापारिक जहाजो के विरुद्ध पनडुब्बियो का प्रयोग न किया जाए। फ्रास ने दस हजार टन वजन से हल्के लडाकू जहाजो में कमी करने से इन्कार कर दिया, परन्तु सभी नौ राष्ट्रो (Naval Powers) ने युद्धपोतो (Capital Ships) और भारी गश्ती जहाजो ( heavy cruisers ) की सख्या में कमी करने तथा उनका कुल टनेज ( Total tonnage ) निर्धारित करना स्वीकार कर लिया। इस समझौते को 'पाच राष्ट्रो की सधि (Five power Treaty ) कहा जाता है। इस सधि पर हस्ताक्षर करनेवाले पाच देश थे— अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रास, जापान और इटली।

पाच राष्ट्रो की सधि के अनुसार युद्धपोतो और भारी गश्ती जहाजो का कुल टनेज (वजन) इस प्रकार निर्धारित किया गया—अमरिका और ग्रेट ब्रिटेन ५२,५००० टनेज (पृथक-पृथक), जापान ३१५००० टनेज फ्रास और इटली १७५००० टनेज (पृथक-पृथक)। इस कुल वजन का अनुपात क्रमश इस प्रकार था–५ ५ ३ १ ६७ १ ६७।

बहुत से विद्वानो की राय म सम्मेलन सफल रहा और इसने यह स्पष्ट कर दिया कि नि शस्त्रीकरण, जो यूरोप में अब तक असफल रहा था केवल एक आदर्श और सिद्धात की वस्तु ही नही था वल्कि व्यवहारिक राजनीति का एक तत्व था।

**सम्मेलन की समालोचना**

इस सम्बध में ग्रेटब्रिटेन का नीति सराहनीय कही जा सकती है क्योकि उसने शाति के नाम पर अपने परम्परागत सामुद्रिक आधिपत्य और श्रेष्ठता को छोडना भी स्वीकार कर लिया था। इस त्याग को एक ठोस योगदान माना जा सकता है। परन्तु सम्मेलन की गश्ती जहाजो (Cruisers) और विध्वसको (Destroyers), पनडुब्बियो और अन्य सहायक यानो ( Auxiliary crafts ) की सख्या सीमन ( Limitation ) के सम्बध मे असफलता के परिणामस्वरूप नौ सेना को वृद्धि के लिए प्रतियोगिता का द्वार अब भी उन्मुक्त था। ग्रेटब्रिटेन के पास अब भी अत्यधिक सख्या में गश्ती जहाज थे जिन्हे अमेरिका कम करने को उत्सुक था। परतु उसकी उत्सुकता के पीछे भी वाशिंगटन सधि द्वारा प्रदत्त समानता को बनाये रखने की आकाक्षा थी। जापान को ग्रेटब्रिटेन की नाविक शक्ति का ७० प्रतिशत भाग रखने का अधिकार दिया गया। इससे फ्रास और इटली असतुष्ट हो गये और नौ शक्ति के असतुलन के कारण राष्ट्रो के बीच सुरक्षा कायम न हो सकी। यदि ध्यान से देखा जाये तो सम्मलन का निर्णय नि शस्त्रीकरण की दिशा में प्रगतिसूचक कदम नही था अपितु अमेरिका और जापान के सम्बन्ध में शस्त्रीकरण की वैधता पर अपनी मुहर लगाने वाला था। फिर भी, परिस्थितियो को देखते हुए सम्मलन के महत्व को स्वीकार करना ही पडता है।

वाशिंगटन-संधि पर शीघ्र ही अमल किया गया। ग्रेट ब्रिटेन ने इस दिशा में सवप्रथम कदम उठाया और १९२७ तक उसने १,७६७,००० टन वजन तक बहुत से युद्धपोतों और भारी गश्ती जहाजों को अपनी नाविक सेना से

**जेनेवा सम्मेलन**

पृथक कर दिया। परन्तु इसी वर्ष में हल्के लड़ाकू जहाजों के निर्माण में प्रतियोगिता प्रारम्भ हो गई जिसके परिणामस्वरूप हल्के गश्ती जहाजों, विध्वंसक जहाजों और पनडुब्बियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गई। इस नूतन समस्या का हल करने तथा इसको नियंत्रित करने की दृष्टि से अमेरिका के राष्ट्रपति कूलिज (Coolidge) ने एक सम्मेलन का प्रस्ताव रखा। फ्रांस और इटली ने निमंत्रण अस्वीकार कर दिया और पांच प्रमुख नाविक शक्तियों में से केवल तीन—अमेरिका, ब्रिटेन और जापान ने सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार किया। १९२७ में जेनेवा में इन तीनों के बीच दूसरा नौ सम्मेलन (Naval Conference) हुआ। अमेरिका ने प्रस्ताव रखा कि वाशिंगटन अनुपात ५ : ५ : ३ का अन्य सब प्रकार के जहाजों पर भी लागू किया जाए। ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसने अनुमान लगाया कि खाद्य सामग्री के यातायात को सुरक्षित रखने, साम्राज्य के दूरस्थ हिस्सों के साथ सम्पर्क बनाये रखने तथा लाल सागर एवं पर्शियन खाड़ी में विश्राम केन्द्रों में गश्त लगाने के लिए उसे कम से कम ७० हल्के गश्ती जहाजों की आवश्यकता थी। ब्रिटेन ने सुझाव रखा कि गश्ती जहाजों को दो श्रेणी में विभाजित किया जाए—टनेज और भारी तोपखाने की दृष्टि से। भारी गश्ती जहाजों पर वाशिंगटन अनुपात लागू किया जाय और छोटे या हल्के गश्ती जहाजों के निर्माण की छूट दी जाय। अमेरिका इस सुझाव को मानने के लिये तैयार नहीं था क्योंकि उसे संदेह था कि इंगलैण्ड वाशिंगटन संधि द्वारा अमेरिका को दी गई नाविक समानता से मुँह मोड़ना चाहता है। परन्तु सही बात यह थी कि ब्रिटेन भारी युद्धपोतों से उकता चुका था क्योंकि इनके निर्माण में व्यय भी अधिक होता था और पनडुब्बियों तथा अमवर्षक यानों से इनकी सुरक्षा भी खतरे में थी। दूसरी तरफ हल्के गश्ती जहाजों में महान् युद्धाभिनय (Manoeuvre) की योग्यता थी और खर्च भी कम करना पड़ता था। इनके द्वारा वह एक महान् दक्षतापूर्ण नूतन युद्ध प्रणाली का सूत्रपात करना चाहता था। इसी से उसने हल्के गश्ती जहाजों के निर्माण के संबंध में किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं किया। उपरोक्त मतभेद के कारण सम्मेलन समाप्त हो गया और यह सम्मेलन पूर्ण रूप से असफल कहा जा सकता है। इसके कुछ ही दिन बाद अमेरिकन कांग्रेस ने १५ नये जहाजों के निर्माण की स्वीकृति दे दी। कार ने सम्मेलन के परिणाम के सम्बन्ध में लिखा है "निशस्त्रीकरण प्रयास की यह प्रथम प्रकट पराजय थी[1]।"

१९२७ में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के बीच निःशस्त्रीकरण की समस्या के स-

[1] ई० एच० कार—दो विश्व युद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

एक सम्मेलन हुआ। प्रारम्भ में दोनों देशों के बीच मतभेद उठ खड़ा हुआ। फ्रांस ने माँग की कि सनिक निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में सेवारत सैनिकों को ही सम्मिलित किया जाय और प्रत्येक राष्ट्र को निर्धारित टनेज ( tonnage ) के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के जहाजों को बनाने की छूट दी जाय। ग्रेट ब्रिटेन ने दोनों प्रस्तावों का विरोध किया। परन्तु अन्त में दोनों के बीच एक समझौता हो गया। इसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने फ्रांस की प्रथम माँग को स्वीकार कर लिया और फ्रांस ने ग्रेटब्रिटेन की यह माँग स्वीकार कर ली कि नौ सेना का सीमन ( Limitation ) टनेज के आधार पर न किया जाकर, जहाजों के आकार और तोपखाने के स्वरूप की दृष्टि से किया जाय। बहुत से लोगों ने इस समझौते का गलत मूल्यांकन करते हुए इसे एक नूतन मैत्री ( A new Entente ) कहा है और यह भय भी व्यक्त किया कि इससे संघ की स्थिति दुर्बल हो जायेगी और सन्धियों की प्राचीन परम्परा का पुनरुद्धार हो जायगा। अमरिका और जर्मनी में इस संधि को सन्देह व असंतोष की दृष्टि से देखा गया।

**अंग्लो फ्रेंच समझौता**

मार्च १६२६ में हूवर अमरिका का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ और मई में रेम्जे मैक्डॉनल्ड की द्वितीय मजदूर दलीय सरकार बनी। अक्टूबर में मैकडॉनल्ड ने अमेरिका की यात्रा की। यात्रा के दौरान में अमेरिका और ग्रेटब्रिटेन ने जनवरी १६३० में एक नौ सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। इस बार पाँचों नाविक शक्तियों—अमेरिका ब्रिटेन, जापान फ्रांस और इटली ने सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन के अवसर पर ग्रेट ब्रिटेन समझौते की भावना से पूर्ण था और उसने अपनी ७० गश्ती जहाजों की माँग को घटा दिया था। अब उसने केवल ५० गश्ती जहाजों की माँग रखी। परन्तु इस बार फ्रांस की माँग बढ़ गई। उसने वही मार्ग ग्रहण किया जो ब्रिटेन ने जनेवा सम्मेलन में पकड़ा था। वह अपने उपनिवेशों की सुरक्षा की दृष्टि से एक शक्तिशाली नौ सेना का निर्माण करना चाहता था और वाशिंगटन संधि के अनुपात में भी परिवर्तन चाहता था। इटली भी अपनी नाविक सेना की वृद्धि करना चाहता था परन्तु फ्रांस इस सम्बन्ध में उसे छूट नहीं देना चाहता था। जापान, जो कि अब तक वाशिंगटन अनुपात को निभा रहा था, अब सभी प्रकार के जहाजों के सम्बन्ध में ब्रिटेन और अमेरिका के साथ समानता का अधिकार चाहता था। फ्रांस और इटली ने किसी प्रकार के अनुपात को मानने से इन्कार कर दिया। जापान ने भारी युद्धपोतों के सम्बन्ध में वाशिंगटन अनुपात को स्वीकार कर लिया। हल्के गश्ती जहाजों के सम्बन्ध में उसे ७० प्रतिशत और पनडुब्बियों में अमेरिका तथा ब्रिटेन के साथ बराबरी का अधिकार दिया गया। इस प्रकार तीनों राष्ट्रों—अमरिका, ब्रिटेन और जापान में एक समझौता हो गया। इस संधि के अनुसार भारी युद्धपोतों में इस प्रकार कमी की गई—ब्रिटेन ५, अमरिका ३, जापान १। परन्तु प्रत्येक राष्ट्र ने अपने टनेज में वृद्धि करने के अधिकार को सुरक्षित रखा यदि उनमें से

**लंदन नौ-सम्मेलन**

किसी एक का आभास हो कि उनकी राष्ट्रीय सुरक्षा, किसी अन्य राष्ट्र द्वारा नौ शक्ति के विकास के कारण खतरे में पड़ने वाली है। फ्रांस और इंगलैण्ड इस तो पृथक रहे परन्तु इन पांच राष्ट्रों की संधि पर हस्ताक्षर किये जिसके वाशिंगटन संधि की अवधि को पांच वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया।

१९३४ में जापान ने इस आशय का नोटिस दिया कि यदि उसे अमरिका ब्रिटेन के बराबर स्थान न दिया गया तो वाशिंगटन और लन्दन संधियों के (renewal) पर उसकी स्वीकृति प्राप्त न हो सकेगी।

**नौसैनिक संधियों की समाप्ति**

सूचना से दोनों संधियों को भारी धक्का लगा। क्योंकि अमेरिका और इङ्गलैण्ड इस प्रस्ताव को स्वीकार करने तैयार नहीं थे। अत: १९३७ में जापान ने अपने को के दायित्व से मुक्त करके, इच्छानुसार कदम उठाना शुरु कर दिया। जिसके फल नाविक शक्ति के क्षेत्र में एक तेज में प्रतियोगिता का प्रारम्भ हुआ। प्रत्येक राष्ट्र ने नाविक शक्ति को मजबूत बनाने के लिए अत्यधिक व्यय करना शुरू कर दिया। वाशिं और लंदन नाविक सीमन संधियां प्रभावहीन हो चुकी थीं।

नौ सेना को सीमित करने के लिए जो उपरोक्त सम्मेलन हुए थे, वे निजी रूप किये गये थे न कि राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में। राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त आयोग स्वतंत्र थे। अब हम, निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में किये प्रयत्नों का उल्लेख करते हैं।

राष्ट्रसंघ विश्वशांति का प्रत्याभूतक था। विश्वशांति को स्थिर रखने के लि निःशस्त्रीकरण करना आवश्यक था क्योंकि इसके बिना राष्ट्रीय सुरक्षा का भय दूर भगाया जा सकता था और राष्ट्रीय सुरक्षा के भय से मुक्त हुए बिना निःशस्त्री असम्भव था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रसंघ के सामने एक दुविधाजनक असाध्य समस्या थी। इस दिशा में उसने १९२० में एक 'अस्थायी मिश्रित (Temporary Mixed Commission) की नियुक्ति कर प्रथम उठाया। परन्तु आयोग अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सका।

लोकार्नो सम्मेलन ने, निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ की गतिविधियों में जीवन का संचार किया। समझौते के अंतिम भाग में, हस्ताक्षर कर्त्ताओं ने नि करण के सम्बन्ध में संघ द्वारा शुरू किये गये प्रयत्नों को

**राष्ट्र संघ के प्रयत्न**

बनाने में कर्त्तव्यनिष्ठ सहयोग देना स्वीकार किया था। दिस १९२५ में राष्ट्रसंघ ने एक आम निःशस्त्रीकरण स तैयारी के सम्बन्ध में एक प्रारम्भिक आयोग (Preparato Commission for Disarmament Conference) की नियुक्ति इस समिति की प्रथम बैठक फरवरी १९२६ में जेनेवा में करना तय किया परन्तु रूस की अनिच्छा के कारण बैठक की तिथि को स्थगित करना पड़ा। १९२३

म लासेन सम्मेलन में भाग लेने वाले रूसी प्रतिनिधि की हत्या के कारण रूस और स्वीट जरलैण्ड के सम्बन्ध बिगड चुके थे। और इसलिए रूस स्वीटजरलैण्ड में होने वाली बैठक मे भाग लेने को तैयार नही था। स्थगित बैठक की तिथि मई मास में रखी गई और यह अनुमान लगाया गया कि तब तक दोनो देशो के सम्बन्धो में सुधार हो जायेगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और रूस की अनुपस्थिति मे ही बैठक हुई। इसका परिणाम ठीक नही रहा। क्योंकि रूस के बिना, उसकी सीमा पर स्थित रूमानिया पोलैण्ड आदि राज्यो के साथ किसी समझौते पर पहुंचना सम्भव नही था। लगभग एक वर्ष तक प्रारम्भिक आयोग किसी प्रकार की प्रगति नही कर सका।

नि शस्त्रीकरण प्रश्न को तीन विषयो म विभाजित किया जा सकता है—(१) भूमि सेना (२) युद्ध सामग्री और (३) नौ सेना। वायुसेना इस समय तक शैशवावस्था में ही थी, इसलिए उसे छोडा जा सकता था। नौ सेना के सम्बन्ध म नाविक शक्तिया प्रयत्न कर ही रही थी। मुख्य समस्या पदाति सेना और युद्ध सामग्री की थी। प्रत्येक विषय पर महान् शक्तियो में गहरा मतभेद था। अत आयोग किसी निर्णय पर पहुँचने मे असफल रहा और इसे अपनी बैठक स्थगित करनी पडी। ३० नवम्बर १९२७ को आयोग की पुन बैठक हुई और यद्यपि पेरिस समझौते तथा रूसी और तुर्की प्रतिनिधियो की उपस्थिति से वातावरण में काफी सुधार हो चुका था परन्तु फिर भी आयोग किसी निर्णय या समझौते पर पहुँचने, म असफल रहा। अप्रैल १९२८ में पुन बैठक हुई। सोवियट प्रतिनिधि लिटविनाव ने राष्ट्रसंघ की भर्त्सना करते हुए प्रस्ताव रखा कि सम्पूर्ण सेनाएं और नौ सेनाएं एव अनिवार्य सैनिक भर्ती की प्रथा का अन्त कर दिया जाना चाहिए। जर्मन प्रतिनिधि मडल ने भी संघ की भर्त्सना में रूस का साथ दिया। परन्तु दूसरे सदस्यो ने राष्ट्रसघ के कार्य म सहयोग न देने के कारण रूस की भर्त्सना की। मतभेद की उग्रता के कारण बैठक पुन स्थगित की गई। १९३० में नौ सम्मेलन की सफलता से उत्साहित होकर आयोग की पुन बैठक हुई परन्तु इस बार भी आयोग किसी निर्णय पर पहुँचने म असफल रहा। हाँ आयोग एक समझौते पर पहुंचने मे सफल हुआ कि १९३२ म एक आम नि शस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन किया जाए।

२ फरवरी १९३२ को नि शस्त्रीकरण सम्मेलन का अधिवेशन शुरू हुआ। कुल मिलाकर ६१ राज्यों ने इसम भाग लिया। इनमें स पाच राज्य संघ के सदस्य नही थे।

**नि शस्त्रीकरण सम्मेलन**

आर्थर हैंडरसन सम्मेलन के अध्यक्ष थे। उन्हें १९३१ मे निर्वाचित किया गया था और उस समय वे ब्रिटेन के विदेश मन्त्री थे। परन्तु अब स्थिति बदल चुकी थी। हैंडरसन नाक सभा के सदस्य भी नही थे। अत उनका अध्यक्ष बनना ठीक नही रहा क्योकि उनके पीछे सरकारी शक्ति नही था। कार के शब्दों में—'यह एक अप्रत्याशित दुर्भाग्य था। यदि इस सम्मेलन का अध्यक्ष ब्रिटिश सरकार का उच्च पदाधिकारी रहा होता, तो वह सम्मेलन को मामलो पर विचार करने और निर्णय लेने में सहायता करने म अधिक

समर्थ हो सकता था। सम्मेलन का अन्तिम परिणाम तो सम्भवत वही होना था कि
था, किन्तु फिर भी सम्मेलन को गिराने वाले टान मट्टन और हिचकिचाहट स
हो जा सकता था।[1] सम्मेलन के दुर्भाग्य का यही अन्त न था। ग्रट ब्रिटेन और
ने मन्त्रिमण्डलीय स्तर के प्रतिनिधि जिनका कार्य ही नीति सचालन था, को न
भी बुरा किया। इसके अतिरिक्त १९३० के आर्थिक सकट के कारण सम्पूर्ण ससार
स्थिति शोचनीय हो चुकी थी। जून १९३२ में जर्मनी में समझदार और सुयोग्य
की सरकार का पतन हो चुका था और उसके स्थान पर प्रशियन और क्रूर पापन
सरकार आ चुकी थी। सुदूर पूर्व में, जापान ने मचूरिया पर आक्रमण कर दिया था
इन परिस्थितियों के कारण ससार का वातावरण भय तथा सन्देह से परिपूर्ण हो
था और सम्मेलन की सफलता के बारे में बहुत कम आशा था।

सम्मेलन के प्रारम्भ में फ्रेंच प्रतिनिधि मडल ने सदस्यों के बीच एक स्मरण (Memorandum) वितरित किया जिसमें राष्ट्रसघ के पुलिस दस्ते का बमवर्षक वायुयानो का राष्ट्रसघ के एकाधिकार में रखने तथा राष्ट्रसघ को जरूरत पड़े सदस्य राष्ट्रों की सेनाओं की सेवा प्राप्त करने का अधिकार आदि सुझाव थे। छोटे राज्यों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया परन्तु अमेरिका और ब्रिटेन ने विरोध किया। फ्रास ने भी अधिक जोर नहीं दिया परन्तु निशस्त्रीकरण के सम्बन्ध जब कभी कोई ठोस सुझाव आता तो वह अपनी सुरक्षा की प्रत्याभूति की माग कर जाता और वह ठोस सुझाव, केवल सुझाव मात्र रह जाता।

२२ जून को अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर ने सुझाव दिया कि सभी राष्ट्र शस्त्रास्त्रों में कमी करें और केवल उतनी ही मात्रा में शस्त्रास्त्र रखें जितने कि पुलिस के दायित्वों का निबाह करने के लिए आवश्यक हो। परन्तु इस सुझाव का स्वागत नहीं हुआ। इसी समय जर्मनी ने प्रस्ताव रखा कि प्रत्येक राष्ट्र वर्साय सधि में निर्दिष्ट माप दण्ड के अनुपात जैसा कि जर्मनी पर लागू किया गया था आधार पर शस्त्रास्त्रों में कमी करें या फिर जर्मनी को भी समानाधिकार दिया जाए ताकि वह पुन शस्त्रीकरण की तरफ अग्रसर हो सके। फ्रास ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। सम्मेलन को नवीन दिशा सुझाने की दृष्टि से सर जॉन साइमन ने रखा कि "परिणामात्मक सीमन" (Qualitative limitation) पर विचार जाय। इस प्रस्ताव का अभिप्राय यह था कि शस्त्रास्त्रों को दो वर्गों और प्रति रक्षात्मक में विभाजित किया जाय और आक्रमणात्मक शस्त्रों को सीमित किया जाय। परन्तु शस्त्रास्त्रों में इस प्रकार का वर्गीकरण करना कठिन हो क्योंकि इस सम्बन्ध में राष्ट्रों में उग्र मतभेद हो गया। एक शस्त्र एक राष्ट्र के प्रतिरक्षात्मक हो सकता था तो दूसरे के लिए वही आक्रमणात्मक प्रमाणित हो स

(१) ई एच कार– दो विश्व युद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

गा । उदाहरणार्थ ब्रिटिश नौ सेना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए प्रतिरक्षात्मक वस्तु थी बकि जर्मनी के लिए आक्रमणात्मक । अतः यह सुझाव भी समझौते का मार्ग प्रशस्त करने में असफल रहा ।

आखिरकार २० जुलाई को एक समझौते का प्रारूप तैयार किया गया । इसमें तीन बातो पर जोर दिया गया था—(१) हवाई बमवर्षा पर रोक, वायुयानो का सीमन और सैनिक वायुयानो के नियमो को तय किया जाय । (२) भारी तोप खाना और टैको का सामन और (३) रासायनिक और कीटाणु युद्ध पर रोक लगाना । ४१ राज्यो ने इस समझौते का स्वागत किया, आठ राज्यों ने मतदान में भाग नही लिया, दो राज्यो-जर्मनी और रूस ने विरोध किया और इटली सहित आठ राज्य अनुपस्थित रहे । १६ सितम्बर १९३२ सम्मेलन के लिए दुर्भाग्य पूर्ण साबित हुआ । इस रोज जर्मनी सम्मेलन से पृथक हो गया और घोषणा कि जब तक राष्ट्रो के समानाधिकार को मान्यता नही दी जाती तब तक जर्मनी सम्मेलन में भाग नही लेगा । ब्रिटिश और फ्रेंच सरकार जर्मनी को सुविधाएँ देने को तैयार नही थी और जर्मन सहयोग के बिना किसी समझौते पर पहुँचना असम्भव हो रहा था । दिसम्बर में पाँच राष्ट्रो—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जर्मनी का जेनेवा में एक पृथक सम्मेलन हुआ और ११ दिसम्बर को एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार "जर्मनी का यह दावा स्वीकार कर लिया गया कि उसे किसी भी समझौते में शामिल होने के समान अधिकार प्राप्त है जिसके अनुसार सभी देशो की सुरक्षा सध सके।" यह समझौता जर्मनी की प्रथम विजय था और वह पुन सम्मेलन मे आ गया परन्तु फिर भी फ्रांस के पास अब भी "सुरक्षा" रूपी तुरुप का पत्ता (Trump Card) था ।

**सम्मेलन का अंतिम दौर**

फरवरी १९३३ में सम्मेलन का अधिवेशन फिर शुरू हुआ । इस समय तक परिस्थितियाँ बदल चुकी थी । ३० जनवरी १९३३ को नात्सी नेता हिटलर जर्मनी का चान्सलर बन चुका था । २४ फरवरी को जापान ने राष्ट्र सघ की सदस्यता छोडने की नोटिस दे दी थी । इससे सम्मेलन का भविष्य अन्धकारमय हो गया । वर्साय सन्धि के अनुसार सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण या जर्मनी के पुनःशस्त्रीकरण के अधिकार की माग में जबरदस्त टक्कर हो रही थी । ऐसी विषम परिस्थिति में इगलण्ड के प्रधानमन्त्री एक योजना के साथ जेनेवा आये । इस योजना को "मेकडानल्ड योजना" कहते है । इस योजना मे प्रत्येक राष्ट्र की सेना और सैनिक सामग्री का विस्तृत उल्लेख था । परन्तु उग्र मतभेद के कारण यह योजना भी असफल रही । अतः सम्मेलन को हेमन्त ऋतु तक इस विश्वास के साथ स्थगित कर दिया गया कि अंतरिम काल में निजी वार्ता के द्वारा स्थिति में सुधार हो जायेगा । परन्तु जब सम्मेलन पुन प्रारम्भ हुआ तो फ्रेंच रूख अपरिवर्तनीय ही रहा । जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष ने फ्रेंच सुरक्षा को और भी नाजुक बना दिया था और वह उस समय तक निःशस्त्रीकरण के पक्ष में नही था जब

ाप कि उसे जर्मन आक्रमण के विरुद्ध ठोस प्रत्याभूति न दी जाय। १४ अक्टूबर १
को जर्मनी ने सम्मेलन तथा राष्ट्र संघ से पृथक होने की घोषणा कर दी। इससे
सम्मेलन की गतिविधि को धक्का मार गया और कार्य ठप्प हो गया। क्योंकि
सहयोग के बिना उस समय तक समझौते पर नहीं पहुँचा जा सकता था
अन्य राष्ट्र संगठित होकर सामूहिक रूप से जर्मनी पर सम्मेलन के निर्णय को
न्द निश्चय न करे। परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में कोई भी राष्ट्र ऐसा क
को उत्सुक नहीं था। क्योंकि इसका अर्थ था—एक दूसरा महायुद्ध, और कोई
समय दूसरा महायुद्ध लड़ने को तैयार नहीं था।

जर्मनी सम्मेलन से पृथक हो गया परन्तु उसके साथ वार्ता जारी रखी गई।
(Eden) ने बर्लिन, रोम और पेरिस की यात्रा की। इटली ने ८ दिसम्बर
स्पष्ट कर दिया। इसके अनुसार 'राष्ट्र संघ के साथ इटली
राष्ट्र संघ के संविधान, संगठन और उद्देश्यों में अल्पावधि में क्रान्तिकारी सुधार
कार्यान्वित करने, पर ही निर्भर है।" हिटलर ने भी कुछ शर्तों के साथ
करना स्वीकार कर लिया परन्तु फ्रांस को ये शर्तें मान्य नहीं थी। उधर जर्मनी
रूप से और फिर खुले रूप से शस्त्रास्त्रों की वृद्धि करनी शुरू कर दी। फ्रांस ने
पुनर्शस्त्रीकरण के वैधकरण (Legalisation) के प्रति जबरदस्त विरोध प्रकट
इन नवीन परिस्थितियों में सम्मेलन किसी निश्चित योजना को धकलने में असमर्थ
,१९३४ के अन्त में सम्मेलन समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार, प्रारम्भिक
नियुक्ति से लेकर सम्मेलन की समाप्ति तक लगभग दस वर्षों के अथक
उपरान्त भी, निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में किसी प्रकार की प्रगति नहीं की जा सकी
पुनर्शस्त्रीकरण में प्रगति अवश्य हुई।

**पुनर्शस्त्रीकरण प्रतियोगिता**

जून १९३३ में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ३२ नये लड़ाकू जहाजों के
स्वीकृति दी। जापान ने तत्काल ही इससे अधिक जहाजों के निर्माण की घोषणा
जुलाई में अमरिकन नौ सेना ने हवाई द्वीप के पास युद्धा
(Manoeuvre) का प्रदर्शन किया। अगस्त में
इसका प्रत्युत्तर उत्तर-पश्चिमी प्रशान्त में व्यापक नौ
युद्धाभिनय से दिया। फ्रांस और इटली भी पीछे नहीं
ग्रेट ब्रिटेन ने भी तेजी के साथ तैयारी कर दी। हिटलर के नेतृत्व में
द्रुतगति से शस्त्रास्त्रों के निर्माण में अग्रसर हो चुका था। शूमेन ने लिखा है[1]
१६ मार्च १९३५ को जर्मनी ने वर्साय सन्धि के पांचवें भाग का अति क्रमण करते
अनिवार्य सैनिक भर्ती को लागू किया। ७ मार्च १९३६ को जर्मनी ने वर्साय सन्धि
४२ वें और ४३ वें अनुच्छेद तथा लोकार्नो की धज्जियां उड़ाते हुये राइनलैण्ड

१ शूमेन—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

निक क्षेत्र में सैनिक दस्तों को भेज दिया। १६ वर्षों के बाद असंतोष की समाप्ति । जर्मनी के निःशस्त्रीकरण के साथ ही साथ राष्ट्र संघ के निःशस्त्रीकरण प्रयत्नो सूत्रपात हुआ और जर्मनी पुनर्शस्त्रीकरण के साथ ही साथ राष्ट्र संघ के निःशस्त्रीकरण प्रयत्नों का अंत हो गया। यूरोप की सामूहिक समझदारी ने सुरक्षा उपलब्धि की ति में असफल हो कर आत्महत्या की तरफ मुँह किया।

१९१९ से १९३५ के मध्य, निःशस्त्रीकरण की समस्या को हल करने के लिए, राष्ट्र संघ के अन्तर्गत और इसके बाहर, कई प्रकार के प्रयत्न किए गए, परन्तु वे असफल रहे और अन्ततोगत्वा संसार को दूसरा महायुद्ध लड़ना पड़ा। आखिर क्या बात थी कि महान् शक्तियों को भी इस दिशा में असफल रहना पड़ा। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा कारण दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का सम्बन्ध था। सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण राष्ट्रीय सुरक्षा की भावना प्रत्येक राष्ट्र में अपना घर कर चुकी थी। यूरोप की असुरक्षित स्थिति को देखते हुए राष्ट्रों को निःशस्त्र होने में भय लगता था। उनका विश्वास था। कि शांति संधियों या राष्ट्र संघ से उनकी सुरक्षा नहीं हो सकती बल्कि सुसंगठित सेनाओं के द्वारा ही सुरक्षा प्राप्त की जा सकती है। फिर भी, वे निःशस्त्र होने को तैयार थे यदि उन्हें सुरक्षा की ठोस प्रत्याभूति दी जाती। परन्तु इस स्थिति में प्रत्याभूतक देश भी यदि निःशस्त्र हो जाय तो फिर आक्रमण के समय उनकी सुरक्षा किस प्रकार की जा सकेगी। अर्थात् प्रत्याभूतक देशों की सैनिक शक्ति स्थिर रहनी चाहिए। फिर निःशस्त्रीकरण की समस्या कम हल हो। यही एक समस्या थी।

**सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण—असफलता के कारण**

इसके साथ ही साथ राष्ट्रों में निःशस्त्रीकरण की समस्या को सुलझाने के साधनों व उपायों के बारे में भी मतभेद था। क्योंकि कुछ राष्ट्र युद्ध का सहारा लेने को उत्सुक थे तो कुछ शांति के उपासक। कुछ लोग ऐसे भी थे जो सत्ता हड़पने के लिए अपने देश के नागरिकों का ध्यान विदेश नीति में ही उलझाना चाहते थे ताकि उन्हें अपने देश की आन्तरिक स्थिति का भान न हो। ऐसे नेताओं का तर्क था कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान शांतिमय तरीकों से करने की बात सोचना भी मूर्खता है।

जर्मनी की माँग ने भी एक कठिनाई खड़ी करदी। जर्मनी सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण या जर्मन पुनर्शस्त्रीकरण का अधिकार चाहता था। फ्रांस और उसके साथी दोनों में से एक भी माँग को पूरा करने को तैयार नहीं थे।

इसके साथ ही साथ एक और कठिनाई थी। वह यह कि आखिर कौन कौन से शस्त्रों का निःशस्त्रीकरण किया जाय। प्रतिरक्षात्मक और आक्रमणात्मक शस्त्रों में भेद

करना चाहता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश का अलग अलग प्रकार के माल में विशेष हित था और वह अपने हित का बलिदान करने को तैयार नहीं था। सच बात तो यह है कि पूँजीपतियों के प्रभाव में आकर—जिनके पास शस्त्रास्त्र तैयार करने वाले बड़े २ कारखाने थे, सरकार इस दिशा में किसी प्रकार का कदम उठाने में रुचि नहीं रखती थी। क्योंकि इससे पूँजीपतियों को हानि पहुँचता था।

अन्त में परिस्थितियों का प्रभाव भी महत्वपूर्ण था। संसार आर्थिक संकट से गुजर रहा था और लाखों बेकारों को काम देने का प्रश्न भी था। यदि निःशस्त्रीकरण पर अमल किया जाता तो इस संकट को दूर करना तो दूर रहा उल्टा और भी बुरा हाल हो जाने की आशंका थी। फिर मन्त्रि मण्डलों का परिवर्तन भी इसके लिए जिम्मेवार था। इस प्रकार विविध कारणों और परिस्थितियों के कारण निःशस्त्रीकरण के प्रयास असफल रहे।

---

## सातवाँ अध्याय

# फासिस्टवाद, नाजीवाद व साम्यवाद

**भूमिका**

शांति संधियों की असफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे मूलभूत कारण जिन्होंने प्रथम विश्व युद्ध को उत्पन्न किया था, न तो युद्ध के द्वारा ही और न शांति व्यवस्था के द्वारा ही दूर किये जा सके थे। महायुद्ध समाप्ति के प्रथम दशक के उपरान्त, एक बार पुनः सम्पूर्ण संसार को अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं और आर्थिक अव्यवस्था से उलझना पड़ा और इन्हें सुलझाने में वह असफल रहा जिसके परिणामस्वरूप एकशास्ताओं (Totalitarians) का अभ्युदय हुआ और राष्ट्रीय हितों के संघर्ष का सूत्रपात हुआ। विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों ने एकशास्ता आक्रमणकारी राज्यों को तत्कालीन सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) प्रणाली के द्वारा नियंत्रित करने व रोकने के स्थान पर अपने दायित्वों से मुँह मोड़ना शुरू कर दिया और 'प्रसादन' (Appeasement) की नीति का आश्रय लिया। परन्तु प्रसादन नीति एकशास्ताओं की तृष्णा को तृप्त करने में असफल रही और अन्त में एक दूसरे महायुद्ध से निपटना पड़ा।

उपरोक्त एकशास्ता राज्यों में इटली, जर्मनी और रूस प्रमुख थे। इन राज्यों में क्रमशः फासिस्टवाद, नाजीवाद और साम्यवाद की जड़ मजबूत हो चुकी थी। वस्तुतः जापान का सैनिकवाद भी एक प्रकार से एकशास्ता शक्ति का दूसरा रूप ही था।

## (१) इटली फासिस्टवाद के चंगुल में

१९१७ की रूसी क्रांति की भाँति फासिज्म (Fascism) की उत्पत्ति अनेक वर्षों पूर्व एकत्र सामग्री के कारण हुई है। इसके लिए मुसोलिनी के रंगमंच पर आने के पूर्व के राजनैतिक और आर्थिक इतिहास की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

**पृष्ठभूमि**

इटली प्रथम विश्व युद्ध के पाँच विजेता राष्ट्रों में से एक था। उसने १९१५ में लंदन की गुप्त संधि द्वारा प्रस्तावित प्रादेशिक विस्तार के प्रलोभन में आकर अपने मित्रों—जर्मनी और आस्ट्रिया का साथ छोड़कर मित्रराष्ट्रों का पक्ष लिया था। परन्तु युद्ध समाप्ति के बाद लंदन की गुप्त संधि द्वारा प्रस्तावित विस्तार के वचन को मित्रराष्ट्रों ने पूरा नहीं किया। यह ठीक है कि इटली को बहुत कुछ प्रादेशिक लाभ प्राप्त हुआ परन्तु उसे इससे भी अधिक प्रदेशों की आशा थी। जब उसने, पेरिस शांति सम्मेलन में अपने दावे को रखा तो उसे अपमानित किया गया और उसके साथ भूतपूर्व शत्रुओं की भाँति व्यवहार किया गया। इससे इटलीवासियों में यह धारणा फैलना गई कि यद्यपि उसने युद्ध में विजय

प्राप्त की थी, उसने शान्ति को खा दिया है। इसका एक कारण यह भी था कि इटली प्रजा अपनी किशोरावस्था में थी। उसमें अभी प्राचीन राष्ट्रों की सम्माननीय और शान्तिप्रिय प्रजातान्त्रिक परम्पराएं नहीं आ पाई थी। युद्ध में उसे अपार धन जन को क्षति उठानी पड़ी और जब लूट का बटवारा किया गया तो उसे टरका दिया गया। यह बात इटली को खटक गई। इतना ही नहीं १६१६ म इटली के नवयुवको ने कवि अ जियो (D' Annunzio) के नेतृत्व म फियूम (Fiume) पर अधिकार कर लिया तो महाशक्तियाँ क्रोधित हो उठी और इटालियन सरकार को फियूम, युगोस्लाविया को लौटाना पडा। इससे इटालियन लोकमत और भी बिगड गया। इसी प्रकार अलबानिया के मामले में भी इटली को निराश होना पडा। युद्ध काल से इस प्रांत पर इटली का अधिकार था, परन्तु शान्ति सम्मेलन ने इसे स्वतन्त्र राष्ट्र मान लिया। मध्यपूर्व में भी इटली के हितो की हत्या की गई।

इटालियन सरकार की इस दब्बू नीति से जनता असन्तुष्ट हो गई। उसने अनुभव किया कि इटली में शक्तिशाली सरकार की स्थापना की आवश्यकता है। क्योंकि तत्कालीन सरकार जहा एक तरफ विदेश नीति म असफल हो रही थी, वही दूसरी तरफ वह भ्रष्टाचार आदि के कारण भी बदनाम हो रही थी। राजनीतिक नेताओं का नैतिक पतन हो चुका था। इसके अतिरिक्त इटली की आर्थिक स्थिति बुरी तरह से बिगड चुकी थी। राजकोष रिक्त हो चुका था। बेकार सैनिको को जीविकार्जन के लिए कठिनाइयों का सामना करना पड रहा था। करो की मात्रा भी बहुत भारी पैमाने पर बढ चुकी थी। चीजो की कीमते बढ गई और मध्यमश्रेणी के लिए अपनी इज्जत को बचाना कठिन हो गया। उधर औद्योगिक पतन भी अपना रूप दिखला रहा था। सम्पूर्ण इटली में हडतालो, विद्रोह और लूटमार का बाजार गरम था। पूंजीपतियो को साम्यवाद से भयकर अनिष्ट की सम्भावना थी। इन परिस्थितियो में फासिज्म का उदय हुआ। हर्ट बटनर ने लिखा है—[१] "इटली और जर्मनी दोनों ही देशो म फासिज्म का आरम्भ युद्ध और उसके परिणामो म उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो और विनाश के विरुद्ध मध्यम श्रेणी के तरुणो के विद्रोह के रूप में हुआ। उनके सामने कोई भविष्य नहीं था, उनके कुटुम्ब अपनी सारी जमा पूजी खो चुके थे व्यवसायों म पैर रखने की जगह न थी आर्थिक प्रगति के अवसर इतने कम थे कि वे सोच ही नहीं सकते थे कि विवाह कर सके और सभ्य जीवन का निर्वाह कर सकें। जब उन्हें केवल नौकरी ही नहीं दी गई परन्तु एक आदर्श भी सामने रखा गया जो उनके देश के नैतिक और आर्थिक पुनर्निर्माण का आदर्श था तो सर्वश्रेष्ठ नवयुवको मे से बहुतो ने अनुभव किया कि उन्हें एक ऐसी वस्तु मिल गई था जिसने उनके जीवन को सार्थक बना दिया था जो केवल रुपया कमाने की तुलना मे कही अधिक प्रेरणाप्रद थी। यह अमर्यादित राष्ट्र सेवा का एक बडा चमकीला अवसर था।"

---

१) जी० पा० गुच और एम० पा० वर्मा—आधुनिक यूरोप का इतिहास।

फासिज्म की उत्पत्ति राजनीतिक अराजकता विश्वयुद्ध के उपरांत की घटनाओं से उत्पन्न राजनीतिक विक्षोभ के कारण हुई। जो लोग महायुद्ध के उपरान्त इटली का स्वर्ण प्रभात देखने को उत्सुक थे उन्हें अन्धकार देखना पड़ा और इस अन्धकार के मध्य दिखलाई पड़ी—फासिस्ट रूपी क्षीण प्रकाश की रेखा जो उन्हें स्वर्ण प्रभात की याद दिला रहा था। अतः यह वर्ग शीघ्र ही फासिज्म के प्रभाव में आ गया। पूंजीपति वर्ग को साम्यवाद के प्रसार से घृणा थी और फासिज्म साम्यवादियों से संघर्ष करने और सार्वजनिक व्यवस्था की पुनः व्यवस्था की घोषणा कर रहा था। अतः पूंजीपति वर्ग भी इसका समर्थक हो गया। फिर नवयुवक वर्ग था, जिसे साहसिक कार्यों में रुचि थी, प्राचीन गौरव के प्रति श्रद्धा थी और आदर्शवाद के प्रति लगन थी शीघ्र ही फासिज्म का कट्टर समर्थक बन गया। इसके अतिरिक्त असंख्य लोग राजनीतिक ज्ञान से वंचित, सामाजिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों से शून्य थे, शीघ्र ही फासिस्टवादी जाल के शिकंजे में आ फँसे। इस प्रकार हम देखते हैं कि फासिज्म की उत्पत्ति इटली की तत्कालीन परिस्थितियों की उपज थी। एक सुनिश्चित योजना का फल नहीं बल्कि अवसर की उपयोगिता का फल थी।

**फासिज्म की उत्पत्ति**

इस विचारधारा का प्रेरक बेनिटो मुसोलिनी था। मुसोलिनी का जन्म १८८३ में रोमेगना प्रांत के राजनीतिज्ञ लुहार के घर हुआ। उसका पिता बकुनिन ( Bakunin ) का अनुयायी था। यह क्रांतिकारी समाजवादी था। उसने मुसोलिनी को स्थानीय पाठशाला में अच्छी शिक्षा दिलवाई। शिक्षण समाप्ति के बाद मुसोलिनी ने पहिले अध्यापक का, फिर सम्पादक का काम किया और बाद में समाजवादी दल में सम्मिलित हो गया। इसके बाद वह स्विटजरलैण्ड चला गया जहां उसे दुःख और गरीबी में जीवन बिताना पड़ा। १९११ में पुनः इटली लौट आया और समाजवादी दल का काम करने लगा। युद्ध काल में उसने इटली की तटस्थता के विरुद्ध आन्दोलन किया और घोषणा की कि इटली को युद्ध में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में सम्मिलित हो जाना चाहिए। उसकी इस कार्यवाही के कारण उसे समाजवादी दल से निकाल दिया गया क्योंकि दल युद्ध में भाग लेने का विरोधी था।

**मुसोलिनी प्रारम्भिक जीवन**

२३ मार्च १९१९ को मुसोलिनी ने प्रथम फासिस्ट वर्ग ( Fascio di Combattimento या Fighting Groups ) का निर्माण ( मीलान नगर में ) किया। इसके सदस्यों की संख्या केवल ४०–४५ थी। इस दल का कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था। १९२१ तक फासिस्ट दल की नीति किसी प्रकार की रही हो, मुसोलिनी ने बार बार सम्पत्ति मालिकों के स्वाधिकारों की सुरक्षा का आश्वासन दिया। आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों एवं सुधारों की घोषणा की। उसने किसानों को भूस्वामित्व का, श्रमिकों के लिए आठ घंटे श्रम व्यवस्था का

**फासिस्ट दल का उत्थान**

नियंत्रण म हिस्से का युद्ध सामग्री के उद्योगो के राष्ट्रीयकरण का, और मुनाफे खोरी से उड़ा देने का वचन दिया। परन्तु इस प्रकार के वचनो से उसे ... न मिल सकी और १९१९ के आम चुनाव में फासिस्ट दल का एक भी स्थान न हो सका।



चित्र "मुसालिनी"

परन्तु मुसोलिनी अपनी से राजनीतिक क्षेत्र से पीठ दिखा भागने वाला नहीं था। वह टटा रहा समाजवादियो की सफलता ने भविष्य को उज्जवल बना दिया वादियो की सफलता ने धनवानो और मध्यम श्रेणी के लोगो में भय को जाग्रत कर दिया। इसी समाजवादी दल ने अत्यधिक ... का आश्रय भी लिया। अगस्त १९२० में उत्तरी इटली में अनेक कारखा मिलो आदि पर श्रमिको ने अधिकार कर लिया। इन घटनाओं पूंजीपति वर्ग में भय उत्पन्न हो उन्होने समाजवाद के विरोधी मुस की सहायता करना तय कर लिया। १९२०-२२ में सम्पूर्ण इटली में फासिस्टो वाला कुर्ती वालो और समाजवादियो में खुल्ले आम झड़पें हुई और समाजवादियो के केन्द्र जला दिये गये। इटली का समाजवादी प्रधानमंत्री जियोलिटी ( Giolitti ) मुसोलिनी का समर्थक बन गया। मार्च १९२१ में उसने लोकसभा को भंग कर दि और नवीन चुनाव किये गये। इस बार फासिस्ट दल को ३२ स्थान प्राप्त हुए मुसोलिनी ने लोकसभा में घोषणा की—"वह प्रतिक्रियावादी है, क्योकि वह ... सभात्मक विरोधी, प्रजातांत्रिक विरोधी और समाजवाद विरोधी है।"

१९२१ के निर्वाचन में फासिज्म की विजय महत्वपूर्ण थी। इस विजय के परिणामस्वरूप फासिज्म के संगठन में भी महत्वपूर्ण सुधार किये गये। १९२१ तक फासिज्म एक आन्दोलनमात्र था, एक दल नहीं। ७ नवम्बर १९२१ को रोम के फासि सम्मेलन में एक निश्चित फासिस्ट-दल की स्थापना का निश्चय किया गया। दल का संग ढङ्ग म, सैनिक पद्धति के आधार पर, प्राचीन रोमन सैनिक दस्तो की प्रणाली पर ... किया गया। अनुशासन और दल के नेता ड्यूस ( Duce ) के प्रति स्वामिभक्ति पर ... जोर दिया गया।

१९२२ में इटली के प्रजातान्त्रिक शासन का पतन हो गया। सितम्बर १९२२ मे मुसोलिनी ने अपने दल के सनिक सदस्यो की सहायता मे राजधानी रोम पर अधिकार करके सत्ता हथियाने का फसला कर लिया। २८ अक्टूबर को ५०,००० काली कुर्तीवाले फासिस्ट स्वयसेवक नेपल्स में एकत्र हुए और २८ अक्टूबर को रोम की ओर अभियान किया गया। अभियान घोषणा में यह स्पष्ट कर दिया गया कि यह अभियान सम्राट, सेना या देश के उत्पादक तत्वो के विरुद्ध नही है बल्कि उन लागो के विरूद्ध है जो सत्ता का दुरुपयोग कर रहे हे। सम्राट न विद्रोह को कुचलने के सबध में तत्कालीन प्रधान मत्री लुजीफेक्टो के प्रस्ताव को रद्द कर दिया और २९ अक्टूबर १९२२ को मुसोलिनी को मत्रिमडल बनाने को निमत्रित किया। १९२१ से १९२८ तक मुसोलिनी ने धीरे धीरे अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया और अन्त म इटली का वास्तविक एकशास्ता बन गया।

## ( २ ) जर्मनी–नाजीवाद के प्रभुत्व मे

प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप जमनी के होहन जोलन राजवश के साथ ही साथ राजतन्त्र का भी अवसान हो गया और प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली की स्थापना की गई।

**पृष्ठभूमि**

१९ जनवरी १९१९ को जमन रीष्ट (लोकसभा) के चुनाव हुए और ६ फरवरी को वीमर ( Weimar ) नगर में तत्कालीन जमन नेता एबट ने असेम्बली को आहूत किया। एबट को जमन प्रजातन्त्र का राष्ट्रपति चुना गया और उसने शीडमान ( Scheidmann ) को चासलर नियुक्त किया। वर्साय की आरोपित ( diktat ) सधि के साथ वीमर प्रजातन्त्र क सहयोग, एक पक्षीय निशस्त्रीकरण उपनिवेशो की क्षति राइनलैण्ड पर एग्लो फ्रेंच आधिपत्य, सार पर फ्रेंच नियत्रण और १९२३ में रूर पर अधिकार और अत्यधिक क्षतिपूर्ति की रकम – इन सबने मिलकर वीमर प्रजातन्त्र के भविष्य को अन्धकारमय कर दिया था। रूर आधिपत्य ने तो मध्यमवर्ग पर इतना जबरदस्त प्रहार किया कि उनकी कमर ही टूट गई और एक ही रात्रि में उनकी जमा पूजी समाप्त हो गई। १९१९ से १९३२ तक जमन प्रजातन्त्र को कई महत्वपूर्ण एव कठिन परिस्थितिया से गुजरना पडा। आर्थिक सकट ने प्रजातन्त्र की नीव खोखली कर दी और जर्मनी मे नात्सीवाद की प्रगति का द्वार उन्मुक्त हो गया।

**प्रजातन्त्र की विदेश नीति**

विदेशनीति के क्षेत्र में भी जमन प्रजातन्त्र को कोई महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त नही हुई। १९१९ से १९३२ तक जमन राजनीति का प्रमुख उद्देश्य था—पितृभूमि के लिये राष्ट्रो के परिवार में सम्मानपूर्वक प्रवेशाधिकार की पुन प्राप्ति। इस दिशा में जमन राजनीतिज्ञ में मतैक्य नही था। कुछ रूस से मित्रता करने के पक्ष मे थे तो दूसरे अपने शत्रु राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष मे थे। प्रथम वर्ग का कहना था कि रूस के साथ मित्रता स्थापित करके सधि के अपमानजनक अनुच्छेदो का अस्वी

नरण कर देना चाहिए। जबकि दूसरे गुट का कहना था कि पुराने शत्रुओं के मिलकर काम करना चाहिए और सन्धि के दायित्व का पालन करना चाहिए।

शुरू में ऐसा दिखाई पड़ता था कि प्रथम गुट विजयी रहेगा क्योंकि १९२२ जर्मनी ने रूस के साथ रपालो, (Rappallo) की सन्धि की। चार वर्ष के बाद सन्धि के आधार पर रूस के साथ एक दूसरी सन्धि भी की गई। परन्तु इसके बाद, गुट की बन आई और रूसी झुकाव कम पड़ गया। दूसरे गुट का नेता था—डा० स्ट्रे (Dr Stresemann)

अगस्त १९२३ में स्ट्रेसमान जर्मनी का चांसलर बना परन्तु कुछ ही मह में उसे अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ा। इसके बाद वह विदेश मंत्री बना और मृत्यु तक ( (अक्टूबर १९२९ ) इस पद पर बना रहा। स्ट्रेसमान की विदेश नीति मूल ध्येय मित्र राष्ट्रों से विशेषकर फ्रांस से मित्रता बढ़ाना और राष्ट्रों के परिवार जर्मनी को अपना खोया हुआ स्थान दिलवाना था। उसने रूर में चलने वाले आन्दोलन को बन्द किया। डावेस योजना का स्वागत किया और विविध राष्ट्रों के व्यापारिक सन्धियाँ की तथा विदेशी विश्वास का प्राप्त करने में सफल हुआ। सर्वोच्च महत्वपूर्ण कार्य लोकार्नो समझौता और राष्ट्रसंघ में जर्मनी का प्रवेश इसका परिणाम भी अच्छा रहा। १९२७ में जर्मनी से आधिपत्य सेनाएँ हटाली १९२८ में जर्मनी ने पूर्ण सम्मान के साथ अन्य राष्ट्रों के साथ पेरिस सन्धि पर हस्ताक्षर किया। १९२९ में क्षतिपूर्ति का नवीन हल गया और यंग योजना लागू की गई। १९३० में राइनलैण्ड को मित्रराष्ट्रों ने खाली कर दिया।

स्ट्रेसमान की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी डा० कर्टियस ने समय तक उसकी नीति को जारी रखा परन्तु आस्ट्रो जर्मन सीमा शुल्क ऐक्य विरोध के कारण उसे त्यागपत्र देना पड़ा। उसके साथ ही स्ट्रेसमान की नीति का भी अन्त हो गया। हिटलर के उत्थान तक जर्मन राज्य की विदेशनीति इधर उधर अंधेरे में भटकती रही। नात्सी दल ने उसे एक निश्चित ध्येय प्रदान किया।

नात्सी दल का संस्थापक एडोल्फ हिटलर था। हिटलर का जन्म १८८९ ई० में जर्मनी में नहीं बल्कि आस्ट्रिया में एक मध्यम परिवार में हुआ था। प्रारम्भ से ही हिटलर को चित्रकला में रुचि थी और वह चित्रकला का शिक्षक बनना चाहता था। परन्तु प्रथम महायुद्ध ने उसके भाग्य को मोड़ दिया। वह जर्मन सेना में भर्ती हो गया। उसकी बहादुरी के उपलक्ष में उसे "आइरन क्रास" से सम्मानित किया गया। परन्तु युद्ध में जर्मनी को पराजित होना पड़ा और उस पर आरोपित अपमानित सन्धि ने हिटलर के मानस पर भयंकर आघात किया। उसने इस

**नात्सी नेता हिटलर**

राजय का, कल्पित अपमान का बदला लेने का निश्चय कर लिया। अतः उसे राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा।



चित्र "हिटलर"

१९१९ ई० में अपने कुछ सैनिक साथियों की सहायता से हिटलर ने राष्ट्रवादी समाजवादी दल की स्थापना की और १९२० ई० में उसने अपने दल की नीति और कार्यक्रम की घोषणा प्रकाशित की। वह इस प्रकार थी—(१) वर्साय सन्धि का अस्वीकरण (२) जर्मनी से छीने गये प्रान्तों को पुनः प्राप्त करना। (३) जर्मन सैन्य शक्ति का प्रसार (४) जर्मन एकीकरण को पूर्ण करना और विदेशी हस्तक्षेप को रोकना (५) समाजवादियों और साम्यवादियों को कुचलना (६) भ्रष्टाचार पर आधारित लोकसभात्मक शासन प्रणाली का अन्त करना।

१९२३ ई० में हिटलर और उसके साथियों ने आर्थिक अव्यवस्था से उत्पन्न परिस्थिति से लाभ उठाकर तत्कालीन जर्मन सरकार को उलटने का प्रयत्न किया परन्तु वह अपने उद्देश्य में असफल रहा। प्रजातान्त्रिक सरकार ने हिटलर के विरोध को "मदिरालय का विप्लव" नाम देकर कुचल दिया और हिटलर को एक वर्ष का कारावास का दण्ड दिया गया। कारावास में हिटलर ने "मेरा संघर्ष" ( Mein Kampf ) लिखा।

१९२४ से हिटलर के राष्ट्रवादी दल की संख्या धीरे धीरे बढ़ने लगी। म्यूनिख केन्द्र से जर्मनी के सम्पूर्ण भागों में राष्ट्रवादी दल का जाल सा बिछ गया और १९२९-३० में जब जर्मनी की आर्थिक स्थिति चारों तरफ से बिगड़ने लगी तो नाजियों के केन्द्र इतनी शीघ्रता से बढ़े कि १९३२ ई० के रीष्टाग के निर्वाचन में अन्य दलों के मुकाबले में उनकी सदस्य संख्या अधिक रही। इसका रहस्य हिटलर की संगठन शक्ति की अद्भुत प्रतिभा में था।

**नात्सी दल की प्रगति**

नाजीदल के सदस्यों को एक नागरिक सेना के रूप में संगठित किया जाता था। इनकी वर्दी के रूप में एक भूरी कुर्ती और लाल रंग का भुजबन्द जिस पर काला स्वस्तिक चिन्ह ( 卐 ) बना रहता था, पहनाया जाता था। साधारण बोलचाल में इनको एस० ए० ( S A ) अर्थात् तूफानी दस्ते

( Sturm Abteilungen ) कहा जाता था। इनका कार्य नाजी शक्ति को प्रदर्शित करना तथा नाजी सभाओं की रक्षा करना और अन्य दलों को समाप्त करना था।

१९३२ ई० के चुनावों में हिटलर राष्ट्रवादी दल की तरफ से राष्ट्रपति हिंडेनबर्ग के विरुद्ध राष्ट्रपति पद के लिए खड़ा हुआ। यद्यपि इस में हिन्डेनबर्ग पुनः विजयी हुआ परन्तु फिर भी हिटलर को ३७% मत मिले। रीष्टाग के चुनाव में इस दल को सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुए। लोक सभा के ५८४ स्थानों में से ११६ स्थान मिले। परन्तु हिटलर को चांसलर न (Schleicher) को चांसलर नियुक्त किया गया। आठ सप्ताह बाद उसे पद से त्यागपत्र देना पड़ा और ३० जनवरी १९३३ को हिटलर को जर्मनी का नियुक्त किया गया।

हिटलर चांसलर तो बन गया परन्तु उसको अपने ग्यारह सदस्यों वाले आठ राष्ट्रवादियों को नियुक्त करना पड़ा। केवल तीन नात्सी मंत्री थे। रीष्टाग में भी नात्सीदल का बहुमत नहीं था। अतः हिटलर ने रीष्टाग भंग करके २७ फरवरी १९३३ को नवीन निर्वाचन की घोषणा की। चुनाव के कुछ दिन पहिले नात्सी सरकार ने विरोधियों की धर पकड़ शुरू करदी। रीष्टाग का भवन रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में जल गया और इसका सारा दोष साम्यवादियों के मत्थे मढ़ दिया गया। उत्तेजना से परिपूर्ण वातावरण में ६,०००,००० नागरिकों ने मत में भाग लिया। १७,०००,०००, से अधिक लोगों ने नात्सीदल को मत दिया। को २८८ स्थान और उसके साथियों को ५२ स्थान प्राप्त हुए। इस समय रीष्टाग के कुल सदस्य संख्या ६४७ थी। इस प्रकार नात्सीदल और उसके सहयोगी दल को में बहुमत प्राप्त हो गया।

**नात्सी सत्ता का दृढ़ीकरण**

२३ मार्च १९३३ को रीष्टाग ने ९४ मतों के विरुद्ध ४४१ मतों से एक विधेयक पास करके संविधान को स्थगित करके हिटलर को तानाशाही अधिकार प्रदान कर दिये। हिटलर को नियमों के निर्माण का एकाधिकार प्राप्त हो गया। अगस्त १९३४ में जर्मनी राष्ट्रपति हिंडेनबर्ग की मृत्यु हो गई और हिटलर राष्ट्रपति तथा प्रधान मंत्री दोनों बन गया। उसने 'इम्पीरियल लीडर' की पदवी धारण की। जनता ने ९०% मतों से हिटलर के कार्य को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार हिटलर जर्मनी का एकमात्र शासक बन गया और इसके साथ ही जर्मनी प्रजातन्त्र का अन्त तथा नाजी साम्राज्यवाद का सूत्रपात हुआ।

यहाँ पर उन कारणों का उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा जिनके आधार पर ...लर की शक्ति का विकास सम्भव हो सका था। सर्वप्रथम कारण हिटलर का असाधारण व्यक्तित्व था। हिटलर एक मंजा हुआ राजनीतिक खिलाड़ी थी। वह एक प्रतिभावान एवं महान् वक्ता था। उसमें एक विचित्र मोहनी शक्ति थी, जो जर्मन समाज को आकर्षित करने की अपूर्व क्षमता से परिपूर्ण थी। उसकी स्वरलहरी [illegible] ...ने के लिए दूर दूर से श्रोतागण एकत्र हो जाते थे। उसमें राजनीति के दाव पेंचों को ...ना आवश्यकतानुसार कार्यान्वित करने की अद्भुत योग्यता था। इसी में [illegible] ...ति का रहस्य था।

उन्नति के कारण

युद्ध और शांति व्यवस्था ने, नैतिक तथा भौतिक दृष्टि से जर्मनी को [illegible] ...या था। जर्मन लोग, पराजय, अपमान और वर्साय की आरोपित [illegible] ...ी भूल सकते थे। फ्रांस का सतत विरोधी रूख रूर आधिपत्य, [illegible] ...धिपत्य, उपनिवेशों की क्षति, क्षतिपूर्ति की रकम, जर्मनी का [illegible] ...ाम ने जर्मन जनता के क्रोध को उत्साहित करने में योगदान दिया। [illegible] अस्थायी आर्थिक पुनरुत्थान के काल में ये विचार और [illegible] ...का अस्तित्व बना रहा और आर्थिक संकट के काल में [illegible] ...ए रंगमंच पर आ डटे।

तीसरा कारण था प्रजातांत्रिक लोकसभात्मक [illegible]। ...त से जर्मन लोग, लोकसभात्मक शासन प्रणाली, [illegible] नहीं थी, ...से असंतुष्ट थे क्योंकि उन्हें वे दिन याद थे [illegible] ...ए व्यवस्था थी, न कि वाद विवाद और [illegible]। [illegible] ...ज केवल वचनों और थोथी प्रतिज्ञाएं करते [illegible] ...ती व्यक्ति को जर्मनी के भाग्य विधाता [illegible] ...न लोगों की तत्कालीन शोचनीय स्थिति [illegible]।

श्रान्दोलन तथा साम्यवादियो का दमन, श्रमिको का शापितो मे मुक्ति का ... था उत्पादको से, छोटे छोटे व्यापारियो को बडे २ मुनाफाखोरो से बचाने का ... किया गया। हिटलर के इस कूटनीतिक कार्यक्रम ने सबको सतुष्ट कर दिया। ... अतिरिक्त इस कार्यक्रम का प्रचार भी जोर शोर के साथ किया गया। तूफानी ... में प्रदर्शन से अन्य दल भय भीत हो गये और सर्वसाधारण का यह विश्वास हो गया ... नात्सी दल जर्मनी के कलक को धोने की शक्ति रखता है और नात्सी शासन जर्मनी ... स्थायी शान्ति तथा व्यवस्था प्रदान करने में सफल रहेगा।

## ( ३ ) रूस साम्यवादी हो गया

साम्यवाद की उत्पत्ति की विस्तृत व्याख्या तो दूर रही सक्षिप्त व्याख्या भी, ... स्थान पर करना कठिन है। केवल कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। कार्ल मार्क्स ... आधुनिक समाजवाद के सिद्धान्तो को जन्म दिया और इन सिद्धान्तो की नीव पर साम्यवाद की उत्पत्ति और उन्नति हुई है। मार्क्स के मतानुसार राज्य की सत्ता किसान व मजदूर के हाथ मे होनी चाहिए। जब राज्यसत्ता जनता के हाथ मे रहेगी और ... व पूजी पर व्यक्तियो का स्वामित्व न रहेगा और सब लोग श्रमी की हैसियत से ... करने लगेंगे, तो स्वय एक श्रेणी व वर्ग विहीन समाज का निर्माण हो जायेगा जि... कोई किसी का शोषण नही कर सकेगा।

कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तो का सर्वप्रथम रूस में सफलतापूर्वक कार्यान्वित ... गया। प्रथम महायुद्ध के उत्तरार्द्ध मे ८ मार्च १९१७ ई० को रूस में तत्कालीन ... वश के जार के निरकुश शासन के विरुद्ध क्रान्ति का सूत्रपात और १४ मार्च १९१७ को समसामयिक सरकार की स्थापना साथ ही जारशाही का अन्त हो गया और रूस प्रजातन्त्र

**रूसी क्रान्ति**

गया। समसामयिक सरकार का अध्यक्ष प्रिंस ल्वोव था। केरेन्सकी को न्याय ... बनाया गया। परन्तु क्रान्ति के सचालक व कर्मचारी वर्ग श्रमिकों को कोई स्थान नही ... गया। केरेन्सकी युद्ध जारी रखना चाहता था परन्तु जनता रोटी चाहती थी। ... बोल्शेविक दल के नेतृत्व मे पुन विद्रोह हुआ। यह सघर्ष काफी समय तक चलता ... परन्तु अन्त में ७ नवम्बर १९१७ को लेनिन के नेतृत्व मे बोल्शेविक दल की विजय ... और मेनशेविक दल व नेता केरेन्सकी का पतन हुआ। इस प्रकार रूस में लेनिन का प्र... स्थापित हुआ।

लेनिन के सामने बहुत सी कठिनाइयाँ थी। उसने इन कठिनाइयो को दूर क... के लिए जर्मनी से मार्च १९१८ मे ब्रेस्ट लिटोवस्क नामक स्थान पर सधि करली ... युद्ध से पृथक हो गया। इसके बाद उसने आर्थिक सुधारो की तरफ ध्यान दिया। १९... मे लेनिन की मृत्यु हो गई और स्टालिन रूस का कर्णधार बन गया। तब तक ... पूर्णरूप से साम्यवादी बन चुका था।

परन्तु यह सब कुछ आसानी से या अनायास ही नहीं हो गया। इसके लिए ...गियों का अधिक बलिदान करना पड़ा। क्योंकि रूसी क्रांति पश्चिम के लिए एक जबरदस्त चुनौती थी। संसार का पूंजीवादी वर्ग साम्यवादी सफलता से कांप उठा। साम्यवादी रूस ने जारशाही के विदेशी ऋणों को चुकाने से अस्वीकार कर दिया और सम्पूर्ण संसार में साम्यवाद के प्रसार की घोषणा की। रूस ने न ...वल गुप्त संधियों की भर्त्सना ही की परन्तु जारशाही द्वारा की गई गुप्त संधियों को ...काशित करके पश्चिमी राष्ट्रों के काले ...रनामों को भी स्पष्ट कर दिया, इससे ...श्चिमी राष्ट्र बौखला उठे और उन्होंने ...लेन प्रशासन को उलटने के लिए सक्रिय ...स्तक्षेप किया। जनरल कारनिलव ने ...नाजतन्त्र की स्थापना के लिए प्रयत्न किया, ...जनरल डेनिकन और जनरल रेनजल ने ...'श्वेत' रूसी सेनाओं की सहायता से यूक्रेन ...पर आक्रमण किया, काकेशस और बाल्टिक ...में ब्रिटिश और फ्रेंच सक्रिय थे, ब्लाडी-...स्टक में अमेरिकन और जापानी सैन्य ...शक्ति, साइबेरिया में कोलचक और डान्स ...में जर्मन सक्रिय थे। भूतपूर्व दासुआ सहित ...१४ राष्ट्र और उनकी २९ सैनिक टुकड़ियाँ ...लेनिन का तख्ता उलटने में लगी हुई थी। एक समय तो ऐसा भी आया जबकि लेनिन ...के प्रतिद्वन्द्वियों के पास उससे ज्यादा भूमि थी। परन्तु लेनिन ने धैर्य पूर्वक इन बाधाओं ...को दूर किया। परन्तु मित्रराष्ट्रों के इस हस्तक्षेप ने रूस को उत्तेजित कर दिया। ...रंतु रूस के सामने एक समस्या थी कि पश्चिमी देशों से कैसे सम्पर्क स्थापित किया जाय। ...राष्ट्रसंघ के माध्यम से सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता था केवल उन देशों के साथ ...क्योंकि पश्चिम के प्रभाव से दूर थे, सम्पर्क बढ़ाया जा सकता था।





चित्र लेनिन

इस समय जर्मनी पराजित व अपमानित स्थिति में था। वह राष्ट्रसंघ से भी पृथक ...या गया था। अतः रूस ने १९२२ में जर्मनी के साथ रपालो की संधि की। हिटलर ...उत्कर्ष तक दोनों देशों में आर्थिक और सैनिक सहयोग बना रहा। इससे पूर्व इंगलैण्ड के ...थ १९२१ में व्यापारिक संधि की जा चुकी थी। पोलैण्ड के साथ भी रूस ने ... ...संधि की। १९२४ में रूस ने चीन के साथ संधि की। १९२७ के बाद मास्को ... ...एवं हमला तथा आक्रमण की व्याख्या से सम्बन्धित अनेक समझौतों पर हस्ताक्षर किये। ...रिग पैक्ट का उसने जबरदस्त समर्थन किया। १९३... में रूस ने फ्रांस के साथ गुट ...

सम्बन्धी समझौता सम्पन्न किया। इसी प्रकार चेकोस्लोवाकिया के साथ भी स
समझौता किया। इस प्रकार साम्यवादी रूस ने धीरे धीरे पश्चिमी देशों का कुछ
तक विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में उसे जो सफलता मिला
श्रेय स्टालिन की नीति को है। क्योंकि उसके पूर्व लेनिन का उद्देश्य सम्पूर्ण संसार
साम्यवाद का प्रसार करना था। परन्तु स्टालिन इस नीति के पक्ष में नहीं था। उ
ध्येय पहिले रूस को आर्थिक दृष्टि से उन्नत करना था और फिर साम्यवाद का प्रसार
प्रयत्न करना था। हिटलर के उत्कर्ष से रूस की विदेश नीति में महान् अन्तर आ
१९३४ में वह राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया और पश्चिमी देशों के अधिक निकट
गया परन्तु पश्चिम ने समय समय पर उसके साथ विश्वासघात करके उसकी
को खो दिया। इसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में दिया गया है।

———

आठवाँ अध्याय

# सामूहिक सुरक्षा का अवसान

सामूहिक सुरक्षा से हमारा अभिप्राय उस प्रणाली से है जिसके अन्तगत किसी आक्रान्ता देश द्वारा सवमान्य प्रादेशिक अखण्डता का अतिक्रमण करने पर या अकारण ही आक्रमण करने पर, दूसरे अन्य देश मिल कर उसका प्रतिरोध करते हैं अर्थात् सामूहिक कार्यवाही करते हैं। इस प्रकार की प्रणाली का एक विशिष्ट महत्व है और इसके सहारे युद्धों के भय को दूर किया जा सकता है तथा विश्वशांति को अक्षुण्ण रखा जा सकता है। इतिहास के असख्य युगों में, किसी न किसी रूप में इसका अस्तित्व रहा है। यूरोप के इतिहास में नेपोलियन के विरुद्ध लडे गये युद्धों में इस प्रणाली का प्रत्यक्ष दर्शन उपलब्ध होता है। यूरोप की सविदा (Concert of Europe) भी कुछ सीमा तक, इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। बिस्मार्क की कूटनीति ने सामूहिक सुरक्षा की नींव को खोखली कर दिया और जर्मन एकीकरण पूर्ण किया गया। सयुक्त जर्मनी विश्व शांति के लिए एक सकट बन गया और इस सकट को दूर करने के लिए प्रथम महायुद्ध लडा गया जिसमें एक बार फिर सामूहिक सुरक्षा का सहारा लिया गया। युद्ध समाप्ति के बाद युद्धकालीन सामूहिक सहयोग को बनाये रखने की दृष्टि से राष्ट्रसघ की स्थापना की गई। परन्तु राष्ट्रीय हितों ने महान शक्तियों में आपसी मतभेद उत्पन्न कर दिया और सामूहिक सुरक्षा पुन खतरे में पड गई। इससे एकशास्त्रों का उत्साह बढा और उन्होंने प्रादेशिक विस्तार योजनाएँ बनानी व कार्यान्वित करनी शुरू करदी। प्रारम्भ में महान् शक्तियों ने प्रसादन (Appeasement) की नीति का सहारा लिया। परन्तु प्रसादन की नीति एकशास्त्रों की तृष्णा को पूर्ण रूप से तृप्त करने में असफल रही और जब एकशास्त्रों की उन्नति से महान् देशों की स्वय की सुरक्षा भी खतरे में दिखलाई पडने लगी तो एक बार पुन महायुद्ध लडा गया और सामूहिक कदम उठाया गया।

**सामूहिक सुरक्षा**

अब हम उन घटनाओं का उल्लेख करते हैं जिनके कारण युद्धोपरान्त सामूहिक सुरक्षा का ढाचा चरमरा कर टूट गया।

सामूहिक सुरक्षा प्रणाली पर प्रथम भयकर प्रहार करने वाली घटना थी—जापान के द्वारा चीनी प्रांत मचूरिया पर अधिकार। यहाँ हम इस घटना का सक्षेप में वर्णन करते हैं। विस्तृत उल्लेख यथा स्थान पर किया जायेगा। १८ सितम्बर १६३१ की रात्रि को मुकदन के पास दक्षिणी मचूरियन रेल्वे को बम विस्फोट से नष्ट कर दिया गया। जापानियों ने इस घटना का दोष समीप में स्थित चीनी सनिक छावनी पर डाला और उसने दूसरे दिन मुकदन पर अधिकार कर लिया। चीन ने इस घटना का

**मचूरिया पर जापानी अधिकार**

सम्मुख रखा। परन्तु राष्ट्रसंघ कागजी कार्यवाही के अतिरिक्त या आयोग नियुक्त करने के अतिरिक्त कोई सक्रिय कदम नहीं उठा सका। उधर जापान ने फरवरी १९३२ में सम्पूर्ण मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और इसे स्वतन्त्र राज्य घोषित करते हुए अपनी कठपुतली सरकार स्थापित करदी। इस पर राष्ट्रसंघ ने जापान को दोषी ठहरा दिया। प्रत्युत्तर में जापान ने २७ मार्च १९३३ को राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध विच्छेद करने की घोषणा कर दी।

मंचूरिया के मामले में सामूहिक सुरक्षा को लागू न करना एक भयंकर भूल थी। बाद की घटनाओं से स्पष्ट हो गया कि १९३१-३२ में चीन की क्षति पर जापान को सन्तुष्ट करने की नीति से भावी जापानी प्रसार की योजना में किसी प्रकार की कमी न आई। उल्टे संसार का सामूहिक सुरक्षा से विश्वास उठ गया। इसके अतिरिक्त महान् शक्तियों का मतभेद स्पष्ट हो गया और एकशास्ता राज्यों को अपनी तृष्णा पूर्ण करने में अत्यधिक उत्साह प्राप्त हो गया।

**हिटलर की विदेश नीति का आधार**

इससे पूर्व कि हम हिटलर के कार्यों का उल्लेख करें, हमें उसकी विदेश नीति के मूल रूप को समझ लेना चाहिए। हिटलर द्वारा सत्ता हड़पने के उपरान्त जो वैदेशिक नीति अपनाई गई थी वह राष्ट्रीय समाजवादी दल द्वारा १९२० में स्वीकृत कार्यक्रम की नीति से भिन्न थी। इसलिए प्रश्न उत्पन्न होता है कि नाजी शासन में जर्मन वैदेशिक नीति के सच्चे रूप को कौन प्रकट करता था? यदि "मेरा संघर्ष" (Mein Kampf) का सही मान लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इससे शांति व्यवस्था की आशा दुराशामात्र थी। "मेरा संघर्ष" में लिखा है—'यूरोप में कभी भी दो महाद्वीपीय शक्तियों का उदय न होने दो। जर्मन सीमान्त पर एक दूसरी सैनिक शक्ति को संगठित करने के प्रत्येक प्रयत्न को, चाहे वह एक सैनिक शक्ति के योग्य राज्य बनाने के रूप में ही हो, जर्मनी पर आक्रमण समझो और ऐसे किसी राज्य के उत्थान को रोकने के लिये और यदि यह पहले से मौजूद हो तो इसे विध्वंस करने के लिए हथियार उठाने को न केवल अपना अधिकार बल्कि कर्तव्य समझो।" परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि 'मेरा संघर्ष उस समय (१९२०) के अविवेक का फल परिणाम था, जो कि अब त्याग दिया गया था। जिसका लेखक एक गैर जिम्मेदार आन्दोलनकारी था और इस कार्यक्रम का चुनाव में सफलता प्राप्त करने की दृष्टि से बनाया गया था। 'हिटलर की विदेशनीति का मूल लक्ष्य जर्मनी के लिये महाद्वीपीय आधार प्राप्त करना था। विस्तृत प्रांतों को मातृभूमि के आस पास ही प्राप्त करना था न कि उपनिवेशों को प्राप्त करना था।'

४ अप्रैल १६३३ ई० को हिटलर के निर्देशन में जर्मन सुरक्षा परिषद की स्थापना गई और इस परिषद को गुप्त रूप से युद्ध के लिये लामबन्दी की योजनाओं को बनाने का अधिकार भी दे दिया गया। परन्तु यह नीति राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल थी, क्योंकि राष्ट्रसंघ शस्त्रों को कम करना चाहता और जर्मनी को निःशस्त्रीकरण में कोई रुचि नहीं थी। इसलिए १४ अक्टूबर १६३३ को जर्मनी निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से अलग हो गया और राष्ट्रसंघ से भी सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। हिटलर ने अपने इस कार्य को संघ की सदस्यता से पृथक होने को, १२ नवम्बर १६३३ में जर्मन मतदाताओं के सामने रखा और ६५% मतदाताओं ने उसका समर्थन किया। यह नाजी शासन का प्रथम प्रहार था। हिटलर की यह नीति इस बात की स्पष्ट चेतावनी थी कि सम्मान की सहयोगी नीति का अन्त हो चुका है और हिटलर आक्रमणात्मक नीति को अपनाने का दृढ़ संकल्प कर चुका है।

**राष्ट्रसंघ से अलग होना**

परन्तु फिर भी, कुछ समय के लिए हिटलर को दूसरा मार्ग अपनाना पड़ा। वार्साय की संधि के द्वारा पोलैण्ड को बहुत से जर्मन प्रांत मिले थे। हिटलर इन प्रांतों को पुनः हड़पना चाहता था। परन्तु संसार को अपनी शांति प्रियता का प्रमाण देने हेतु उसने पोलैण्ड के साथ दस वर्ष के लिए एक अनाक्रमण समझौता कर लिया। परन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य फ्रांस की उस सुरक्षा प्रणाली को निर्बल करना था जिसका पोलैण्ड भी एक सदस्य था। इस समझौते के बाद पोलैण्ड सामूहिक सुरक्षा नीति से दूर खिसकने लगा और फ्रांस की यह विचारधारा कि पोलैण्ड, रूस और जर्मनी के बीच संतुलन बनाये रखने में सफल होगा—धूमिल पड़ गई।

**पोलैंड के साथ अनाक्रमण समझौता**

हिटलर का अगला कदम आस्ट्रियन राज्य को जर्मन राज्य में मिलाना था। हिटलर के उत्कर्ष के पहले आस्ट्रियन जनता भी जर्मनी के साथ ऐक्य स्थापित करने को उत्सुक थी परन्तु अब स्थिति बदल चुकी थी। २५ जुलाई १६३४ को आस्ट्रियन प्रधानमन्त्री डालफस को कत्ल करवा दिया गया और आस्ट्रियन नाजियों ने विद्रोह कर दिया। परन्तु आस्ट्रियन सेना ने इस विद्रोह को कुचल दिया। उधर मुसोलिनी भी आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए तैयार था। अतः हिटलर को सफलता नहीं मिल सकी। परन्तु इस घटना से हिटलर को मुसोलिनी की मित्रता का महत्व मालूम हो गया।

**आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयत्न**

हिटलर की नीति का यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर तत्काल प्रभाव पड़ा। १६३४ के जून में हिटलर की प्रगति को रोकने की दृष्टि से रूस, पोलैण्ड और रूमानियाँ ने अपनी सीमान्तों की अखण्डता की प्रत्याभूति दी। तीन मास बाद रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बन गया। फ्रांस भी सतर्क हो गया। उसने युद्धोपरान्त फ्रांस और इटली में विद्यमान मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया और जनवरी १६३५ में इटली के साथ

एक संधि करली। इसके अनुसार फ्रांस ने इटली को फ्रेंच अफ्रीका के कुछ प्रदेश व स्वामित्व वाली जिबटी अदीस अबाबा रेलवे (Djibouti Addis Ababa Rl में कुछ हिस्सा भी प्रदान किया। इस संधि से मुसोलिनी कुछ समय के लिए फ्रेंच।। में आ गया।

इधर हिटलर संधि की शर्तों के विरुद्ध गुप्त रूप से जर्मनी का पुनर्शस्त्रीकरण क में जुटा हुआ था। उसने यह कार्य इसलिए नहीं किया कि पहिले वह अत्यधिक मात्रा युद्ध सामग्री एकत्र करना चाहता था। इसके अतिरिक्त उस भी भय था कि कहीं मित्रराष्ट्र वर्साय संधि के द्वारा खाली जाने वाले सार क्षेत्र को खाली करने से इन्कार न करदें। जनवरी १९३५ को सार क्षेत्र में राष्ट्रसंघ के आयोग के मतसंग्रह किया गया और जिसका परिणाम जर्मनी के पक्ष में रहा। राष्ट्रसंघ की ने मतदान के आधार पर १७ जनवरी को सम्पूर्ण सार क्षेत्र जर्मनी को सौंप १ मार्च को १९३५ को औपचारिक विधि भी पूरा करदी गई।

**जर्मनी का पुनर्शस्त्रीकरण**

अब हिटलर को किसी प्रकार का भय नहीं था। एक पक्ष के बाद, १६ मार्च हिटलर ने जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण की घोषणा की जिसमें कहा गया कि चूंकि मित्र वर्साय संधि के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण का पालन करने में असमर्थ रहे हैं, अतः संधि के एक पक्षीय पहलू या दायित्व का पालन करने को बाध्य नहीं है। जर्मन र तत्काल ही अनिवार्य भर्ती के द्वारा अपनी शांति कालीन सेना में ५ लाख सैनिकों वृद्धि करेगी। हिटलर के इस कदम के विरुद्ध ब्रिटिश फ्रेंच और इटालियन सरकारों ने पत्र भेजे। राष्ट्रसंघ ने भी हिटलर की भर्त्सना की। परन्तु जर्मनी को अपने दायित्व का करने को बाधित करने के सम्बन्ध में किसी भी देश द्वारा व्यक्तिगत या सामूहिक किसी प्रकार का कदम नहीं उठाया गया। क्योंकि वे स्वयं अपने दायित्वों से मुह चुके थे। ब्रिटिश सरकार की भावी नीति से तो यह स्पष्ट हो गया कि वह हिटलर नीति को स्वीकार कर चुकी है। १८ जून १९३५ को एक एंग्लो जर्मन समझौता गया जिसके अनुसार जर्मनी को ब्रिटिश नौ सेना का ३५ प्रतिशत भाग के बराबर नौ रखने का अधिकार दे दिया गया। इसके साथ ही जर्मनी को पनडुब्बियां को रखने की छूट दे दी गई। ये दोनों ही बातें वर्साय संधि के विरुद्ध थीं। फ्रांस और दूसरे देशों ऐसा अनुमान था कि ब्रिटेन समुद्र पर अपना नियंत्रण बनाये रखने के जर्मनी का पुनः एक सैनिक शक्ति बनने में तथा महाद्वीप के लिए एक संकट उत्पन्न में सहयोग दे रहा है।

इस बीच में २ मई १९३५ को नात्सी आक्रमण का सामना करने की दृष्टि फ्रांस और रूस में एक समझौता किया गया। यह पाँच वर्ष की अवधि के लिए गया और इसमें आपसी सहायता का वचन दिया गया। इस समझौते के अनुसमर्थन के पूर्व जर्मनी ने दूसरे देशों का ध्यान इस तरफ आकर्षित करते हुये कहा था कि

समझौता लोकार्नो संधि के विरुद्ध है और फ्रांस लोकार्नो द्वारा उपबंधित दायित्व का पालन नहीं कर रहा है। फिर भी, इस समय हिटलर ने लोकार्नो संधि के अस्वीकरण की घोषणा नहीं की। इसका कारण यह था कि जर्मनी राइनलैंड के सैनिकरण की ताक में था। इस प्रकार का अवसर उसे इटालो इथोपिया संघर्ष के समय प्राप्त हो गया जबकि लोकार्नो गुट टूट चुका था और इटली के विरुद्ध आर्थिक अनुशास्तियों को लागू करने के कारण संसार की राजनीतिक स्थिति विषम बन चुकी थी। हिटलर ने समय का सदुपयोग करते हुए ७ मार्च १९३६ को वर्साय संधि और लोकार्नो संधि के अस्वीकरण की घोषणा करते हुए २०,००० जर्मन सैनिकों को राइनलैण्ड में भेज दिया।

इसके पांच दिन बाद लोकार्नो संधि के हस्ताक्षर कर्ता (जर्मनी को छोड़कर) एक स्थान पर मिले और सर्वसम्मति से स्वीकार किया कि जर्मन कार्यवाही स्पष्ट रूप से वर्साय और लोकार्नो का अतिक्रमण है। एक सप्ताह बाद राष्ट्रसंघ ने भी जर्मनी को दोषी करार दे दिया। राष्ट्रसंघ में जर्मनी के विरुद्ध आर्थिक अनुशास्तियां को लागू करने का प्रस्ताव रखा गया परन्तु ब्रिटिश विरोध के कारण प्रस्ताव रद्द हो गया। [illegible] के अनुसार इस प्रकार का कदम केवल उसी राज्य के विरुद्ध उठाया जा [illegible] कि गैर कानूनी ढंग से युद्ध का आश्रय लिया हो। ऐसा जर्मनी ने नहीं [illegible]। इसके अतिरिक्त बहुत से राष्ट्रों ने यह तर्क दिया कि जर्मनी यदि अन्य [illegible] के [illegible] स्थान प्राप्त करता है तो यह नैतिक दृष्टि से ठीक ही है। इस प्रकार के [illegible] के कारण जर्मनी के विरुद्ध किसी प्रकार का कदम नहीं उठाया गया। [illegible] यह स्पष्ट हो गया कि विविध राष्ट्र, एक राज्य को [illegible] के [illegible] का पालन करने के लिये बाध्य करने के सम्बन्ध में [illegible] उठाने में असमर्थ है। मित्रराष्ट्रों की इस असफलता का [illegible] सुसज्जित सैनिक जर्मनी।

इस अन्तरिम अवधि में राष्ट्रसंघ के [illegible] द्वारा मुसोलिनी को इथोपिया (अबीसिनिया) पर [illegible] में [illegible] दे। [illegible] दिसम्बर १९३४ को इटालियन और [illegible] के बीच [illegible] स्थान पर छुट पुट भिड़न्त हो गई [illegible] दे। [illegible] तुरंत ही इटली का विरोध पत्र [illegible] का [illegible]

**इटली द्वारा इथोपिया पर अधिकार**

की [illegible] और। [illegible]

को छिपाकर, [illegible] तैयारी में लग [illegible]।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना युक्ति सगत होगा कि ... इथोपिया को अपना शिकार क्यों चुना ? श्री गेथानहार्डी[1] ने निम्नलिखित ... बतलाये हैं—(१) इटली की प्रसार की आवश्यकता फासिस्ट नीति का एक मूल तत्व थी। पूर्व की तरफ शान्ति पूर्ण प्रसार या अफ्रीका में और अधिक औपनि... निक क्षेत्र प्राप्त करना (२) इथोपिया एक ऐसा भूमि खण्ड था जिस ... में ... प्रतिस्पर्धी यूरोपियन शक्ति के साथ सीधी टक्कर नहीं होती थी। जहाँ अग्रसर (Forward Policy) के लिए प्रलोभन विशेष रूप से प्रबल था। (३) जिसके ... में यह विख्यात था कि उसके अन्त प्रदेश में, जिसका अभी तक विकास नहीं ... गया था, अत्यधिक खनिज सम्पदा (Mineral wealth) विद्यमान है। (४) ... स्थिति और यूरोप के बाहर से युद्धों के प्रति राष्ट्रसंघ द्वारा अपनाये गये ... को देखते हुए एबिसीनिया के विरुद्ध आक्रमण की परियोजना अपेक्षतया निरापद ... प्रतीत होता था। इसके अतिरिक्त इटली को युद्ध पूर्व की इथोपिया के हाथों की पराज... का अपमान खटक रहा था और वह प्रतिशोध लेने की ताक में था।

मुसोलिनी द्वारा इथोपियन प्रस्ताव के ठुकराये जाने के उपरान्त भी, ... का शान्ति पूर्ण ढंग से निपटाने के लिए प्रयत्न किये गये। ३ जनवरी १६३५ ... इथोपिया ने राष्ट्रसंघ के सामने इस मामले को रखा परन्तु मुसोलिनी के कहने ... वह पंच निर्णय को स्वीकार कर लेगा, राष्ट्रसंघ ने इस सम्बन्ध में विचार ... रखा। ३ सितम्बर को पंच समिति ने सर्वसम्मति से अपना निर्णय प्रकाशित कर दिया ... इसके अनुसार दोनों देशों को दोषमुक्त घोषित किया गया।

इसी बीच, राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सुझाव पर इंगलैण्ड, फ्रांस और इटली ने मिलकर इस समस्या का हल करने के लिए सुलह वार्त्ता शुरू की। इंगलैण्ड और फ्रांस ने प्रस्ताव रखा कि राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में इटली को इथोपिया के वित्तीय और प्रशासनिक संगठन का आदिष्टकर्त्ता बना दिया जाये। परन्तु मुसोलिनी ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और ब्रिटेन वार्त्तालाप से हट गया। फ्रांस इटली की सहायता करना चाहता था परन्तु जब ब्रिटिश सरकार ने इटली के विरुद्ध निश्चित रूप से सामूहिक कदम उठाने का निर्णय कर लिया तो फ्रांस को ब्रिटेन का साथ देने को विवश होना पड़ा। सितम्बर में राष्ट्रसंघ की कौंसिल की बैठक हुई और इटली के विरुद्ध अनुशास्तियों के लागू किये जाने की सम्भावना शत प्रतिशत दिखाई दे रही थी, यदि मुसोलिनी इथोपियन योजना से पीछे नहीं हट जाता। मुसोलिनी ऐसा करने को तैयार नहीं था। इस बात का पता उसी समय चल गया जब कि उसने राष्ट्रसंघ के आयोग की सिफारिशों को ठुकरा दिया। ३ अक्टूबर १६३५ को इटालियन सैनिकों ने इथोपिया पर हमला कर दिया।

(१) गेथोर्न हार्डी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास।

चार दिन बाद राष्ट्रसंघ ने, पहिली बार एक महान् शक्ति को आक्रान्ता घोषित किया। इटली के विरुद्ध अनुशास्तियों को लागू करके के सम्बन्ध में पांच प्रस्ताव रखे गये और अन्त में यह तय किया गया कि (१) इटली को किसी प्रकार का ऋण या साख न दी जाए (२) इटली की सभी वस्तुओं का आयात बन्द कर दिया जाए। (३) इटली को युद्ध सामग्री का निर्यात न किया जाये। ये अनुशास्तियाँ १८ नवम्बर १९३५ से लागू की गई।

यद्यपि राष्ट्रसंघ ने अनुशास्तियां लागू करके एक ठोस कदम उठाया परन्तु सदस्य राष्ट्रों ने इन पर पूर्ण रूप से अमल नहीं किया और इस प्रकार संघ की सफलता का प्रथम कदम निरर्थक हो गया। इसके अतिरिक्त कुछ आवश्यक वस्तुओं पर जिसकी युद्ध को जारी रखने के लिए इटली को सख्त आवश्यकता थी, किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया गया जैसे कि तेल पर। इसका कारण यह था कि इंगलैंड और फ्रांस दोनों जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष से चिंतित थे और अभी हाल ही में उसने राइनलैण्ड का सैनिकरण कर स्थिति को और भी गम्भीर बना दिया था। इसलिए पश्चिमी देश यह नहीं चाहते थे कि कठोर अनुशास्तियों के कारण मुसोलिनी बौखला उठे और हिटलर की तरफ झुक जाये। वैसे अपनी कमजोरी को छिपाने के लिये यह दलील दी गई कि इस प्रकार की वस्तुओं पर तब तक प्रभावकारी अनुशास्तियाँ नहीं लगाई जा सकती जब तक कि अमरिका और जर्मनी राष्ट्रसंघ का सहयोग न दें। क्योंकि ऐसी स्थिति में अमेरिकन तेल कम्पनियाँ इटली के बाजार पर अधिकार कर लेंगी और उससे राष्ट्र की तेल कम्पनियों को भारी क्षति सहनी करनी पड़ेगी। उधर मुसोलिनी ने यह घोषणा भी कर दी थी कि तेल पर अनुशास्तियां लगाने का अर्थ यह माना जायेगा कि पश्चिमी राष्ट्र इटली के प्रति शत्रुतापूर्ण नीति अपना रहे हैं और वे एक प्रकार से युद्ध में सम्मिलित हैं। इंगलैण्ड और फ्रांस के राजनीतिज्ञों को अब भी शांतिपूर्ण समाधान की आशा थी। अतः उन्होंने युद्ध की आवश्यक वस्तुओं पर अनुशास्तियाँ नहीं लगाई।

मुसोलिनी को सन्तुष्ट करने के लिए दिसम्बर १९३५ में 'होर-लावल' प्रस्ताव रखा गया जिसके अनुसार इरीटिया और इटालियन सोमालीलैण्ड के आसपास के इथोपियन प्रांतों को इटली को देने तथा दक्षिणी इथोपिया में इटली के आर्थिक एकाधिकार में एक विस्तृत क्षेत्र की स्थापना करने का सुझाव रखा गया। इस प्रस्ताव के विरुद्ध जनमत की आलोचना अति तीव्र रही और होर तथा लावल दोनों को ही विदेश मन्त्री पद से त्याग पत्र देना पड़ा। फिर भी, मुसोलिनी ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।

इस अन्तरिम काल में इटालियन सेनाएं तेजी से इथोपिया को हड़पने में लगी हुई थीं। २ मई १९३६ को इथोपियन सम्राट हेलसेलसी फ्रेंच सोमालीलैण्ड को भाग गये। ५ मई को इटालियन सेना ने राजधानी अदीस अबाबा (Addis Ababa) पर अधिकार कर लिया। इसी दिन, रोम में मुसोलिनी ने घोषणा की 'इथोपिया इटली का हो गया है।' चार दिन बाद इटली के सम्राट ने इथोपियन सम्राट की उपाधि भी धारण

पूर लो। ४ जुलाई १९३६ का राष्ट्रसंघ की असेम्बली ने अनुशास्तियों का . .
दिया। इटली जीत गया और आक्रमणकारी के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा प्रणाली को
अन्य जबरदस्त प्रहार सहन करना पड़ा।

सवाल यह उठता है कि इटली के विरुद्ध ठोस कदम क्यों नहीं उठाये गये।
कारण यह था कि निःशस्त्रीकरण के कारण ब्रिटिश नौ सेना की शक्ति
गई थी। दूसरा कारण यह था कि एंग्लो फ्रेंच नीति में समन्वय नहीं था।
कारण यह था कि जर्मनी की नीति का भरोसा नहीं किया जा सकता था और
कारण यह था कि राष्ट्रसंघ युद्ध को रोकने वाली संस्था थी युद्ध का संचालन
वाला नहीं।

जो भी हो, इस घटना के परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण निकले। (१) इसके
रोम बर्लिन धुरी के निर्माण का मार्ग उन्मुक्त हो गया। (२) इसने राष्ट्रसंघ की
को मिट्टी में मिला दिया और (३) इस घटना से एंग्लो फ्रेंच समन्वय और
बिगड़ गये जिसके परिणाम स्वरूप सामूहिक सुरक्षा का भविष्य अन्धकारमय हो
और एकसत्ताओं को अपनी भूख मिटाने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

**रोम बर्लिन टोकियो धुरी का निर्माण**

यह शायद स्वाभाविक ही था कि तीन असंतुष्ट महान् शक्तियाँ—जर्मनी,
और इटली, जो कि १९३१–३६ के समय में अपनी आक्रमणात्मक कार्यवाहि
द्वारा सम्पूर्ण संसार को क्षुब्ध किये हुए थीं, आपसी
के लिए एक दूसरे के समीप आ जायं। इसलिए कि १९३
प्रारम्भ से प्रत्येक देश पृथक् खड़ा था और संसार की
को खो चुका था। सर्व प्रथम जर्मनी ने अपने
तोड़ने का प्रयत्न किया। ११ जुलाई १९३६ को हिटलर ने आस्ट्रिया की
स्वीकार करते हुए यह मान लिया कि आस्ट्रिया का राजनीतिक ढांचा उसका
मामला है और वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा।
की इस नीति के पीछे मुसोलिनी की मित्रता को प्राप्त करने की भावना थी
आस्ट्रिया में जर्मन हस्तक्षेप के कारण ही वह हिटलर से चिढ़ा हुआ था। इसी
स्पेन में गृह-युद्ध छिड़ा और हिटलर ने इटली के विश्वास को प्राप्त करने के लिये
कदम उठाया। मुसोलिनी जनरल फ्रांको की मदद करने का निश्चय कर चुका
जर्मनी ने इस दिशा में इटली का हाथ बँटाया। इससे हिटलर और मुसोलिनी को
दूसरे के निकट आने का अवसर मिला। २५ अक्टूबर १९३६ को इटली और
में एक समझौता हो गया। इसमें यह व्यवस्था की गई—(१) 'समान हित से सम्ब
सम्पूर्ण मामलों में दोनों के बीच सहयोग। (२) साम्यवाद के विरुद्ध यूरोपियन
की सुरक्षा। (३) डैन्यूब क्षेत्र में आर्थिक सहयोग और (४) स्पेन की . .
औपनिवेशिक अखण्डता। इटली के इथोपियन साम्राज्य को जर्मनी ने स्वीकार कर

इटली ने अपने इस साम्राज्य में जर्मनी को आर्थिक सुविधाएँ प्रदान करना स्वीकार लिया। इस प्रकार रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण हुआ।

परन्तु हिटलर को इससे संतोष नहीं हुआ। उसे सोवियत रूस के विरुद्ध एक शक्तिशाली साथी की आवश्यकता थी। २५ नवम्बर १९३६ को जर्मनी ने जापान के साथ एक सन्धि की। इसके अनुसार दोनों देशों ने कोमिन्टर्न (Commintern) की कार्यवाहियों को सूचित करने तथा इसके विरुद्ध कदम उठाने के सम्बन्ध में आपसी सलाह व सहयोग देने का वचन दिया। ६ नवम्बर १९३७ को इटली भी इस समझौते में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार तीन प्रमुख असंतुष्ट महान् शक्तियाँ 'कामिन्टर्न-विरोधी' की चादर ओढ़ कर एकता के बन्धन में बँध चुकी थीं और रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी की रचना पूर्ण हो चुकी थी।

एकशासक शक्तियों का सहयोग, कई अवसरों पर उनकी संयुक्त नीति से शीघ्र स्पष्ट हो गया। १९३७ में इटली ने घोषणा की कि वह जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को ... में मिलाने के प्रयत्न के विरुद्ध आस्ट्रिया की सुरक्षा के लिए सैनिक सहायता नहीं देगा। ... प्रकार दोनों पश्चिमी देशों ने जापान द्वारा स्थापित 'मन्चूको' राज्य की स्वतन्त्रता को स्वीकार करके आपसी सहयोग का परिचय दिया। रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी के आपसी सहयोग का अगला सबूत उस समय मिला जब कि १९३८ में हिटलर ने चीन की राष्ट्रवादी सरकार को सुझाव देने वाले जर्मन सैनिक अधिकारियों को चीन छोड़ देने को कहा। १९३८ ... महान् शक्तियाँ १९१४ की भाँति दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित हो चुकी थीं।

रोम-बर्लिन धुरी के निर्माण में योगदान देने वाले प्रमुख तत्व स्पेनिश गृह युद्ध का ... में वर्णन करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इस गृह-युद्ध का सामूहिक सुरक्षा प्रणाली पर भयंकर प्रभाव पड़ा था। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त

**स्पेन का गृह युद्ध**

स्पेन की राजनीतिक स्थिति शोचनीय हो गई थी। सैनिक नेताओं को सम्राट का पूर्ण सहयोग प्राप्त था और वे राजनीतिज्ञों के नियन्त्रण से बाहर निकल रहे थे। प्रजातन्त्र की स्थिरता ... जिस मध्यम वर्ग की आवश्यकता होती है, उस मध्यम वर्ग का भी स्पेन में अभाव था। १९३१ में स्पेन के सम्राट अलफान्जो तेरहवें (Alfonso XIII) ने सिंहासन का परित्याग कर दिया तथा स्पेन में प्रजातन्त्र की स्थापना की गई। 'सन् १९३१ से १९३६ ... इस प्रजातन्त्र में दक्षिण पक्षी राजसत्तावादियों और अन्य प्रतिक्रियावादियों तथा वाम ... अराजकतावादियों एवं साम्यवादियों में शुद्ध अस्थायी सन्तुलन (Precarious Balance) बना रहा। राज्य की सारी व्यवस्था अस्तव्यस्त पूर्ण हो गई तथा सार्वजनिक व्यवस्था का प्रायः सर्वथा अभाव हो जाता था।"[1]

इस प्रकार के संकट पूर्ण वातावरण में १७ जुलाई १९३६ को स्पेनिश मोरक्को में ... सेना के जनरल फ्रांको ने सैनिक विद्रोह की घोषणा की और अपना सेना सहित

---

[1] ई० एच० कार० : दो महायुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

स्पेन मे प्रवेश किया । इस प्रकार स्पन में गृह युद्ध का सूत्रपात हुआ । ब्रिटेन और फ्रांस ने *'अहस्तक्षेप की नीति'* तथा अमरिका ने *तटस्थता के सिद्धान्त'* की आड़ में किसी दल को अस्त्र शस्त्र या नैतिक समर्थन देने से अस्वीकार कर दिया । परन्तु राष्ट्रों जर्मनी और इटली ने खुल्लमखुल्ला जनरल फ्रांको की सहायता की । इस गृह-युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्व धारण कर लिया । रूस स्पेनिश प्रजातन्त्र की लिए व्याकुल था परन्तु एंग्लो फ्रेंच विरोधी रुख के कारण किसी प्रकार ... उठा सका । २६ जनवरी १९३९ तक जनरल फ्रांको ने सम्पूर्ण स्पेन पर ... पत्य जमा लिया । जर्मनी और इटली इससे पूर्व ही फ्रांको के स्पेन को मान्यता दे चुके थे । २७ फरवरी १९३९ को इंगलैंड और फ्रांस ने भी मान्यता दे दी ।

स्पेन के गृह युद्ध के परिणामों के सम्बन्ध में आज भी विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वानों का कथन है कि द्वितीय महायुद्ध का वास्तविक प्रारम्भ यहीं से हुआ, विशेषकर उस समय से जब कि धुरी राष्ट्रों ने फ्रांको का प्रत्यक्ष समर्थन किया । यह कथन पूर्णतया असत्य नही है । इस युद्ध ने धुरी राष्ट्रों की शक्ति और मित्रता को दृढ़ कर दिया और इंगलैण्ड तथा फ्रांस की स्थिति की निर्बलता को स्पष्ट कर दिया। एकशास्ताओं को विश्वास हो गया कि पश्चिमी देश साम्यवाद हौवे से भयभीत हैं और साम्यवादी विरोधी कार्यवाहियों की आड़ में, जैसा कि उन्होंने स्पेन में हस्तक्षेप को *साम्यवादी विरोधी करार दिया था, यदि वे अपनी साम्राज्यवादी* ... पूर्ण करते जायें तो उन्हें रोकने वाला कोई नहीं है । इस गृह युद्ध ने सामूहिक ... प्रणाली को मृत प्राय कर दिया । राष्ट्रसंघ की आत्मा तो बिल्कुल मृत प्राय ...

**जापान द्वारा चीन पर आक्रमण**

इस अन्तरिम अवधि में, जापान ने सामूहिक सुरक्षा प्रणाली पर एक और प्रहार किया । उसने घोषणा की कि 'पूर्वी एशिया में शान्ति के भवन को स्थिर रखने वाला वह एकमात्र स्तम्भ है इस लिए उसे समर्पण द्वारा ... करना पड रहा है ।' अप्रैल १९३४ में जापान विभाग ने कहा कि चीन में विश्वापिता का प्रसार ... राष्ट्रसंघ की गति विधियाँ, अमरिका द्वारा चीन को ... वाले ऋण, चीनी सेना की सहायता के लिए विदेशी विशेषज्ञों की उपस्थिति जापानी हित के विरुद्ध है और पश्चिम के द्वारा इस प्रकार के प्रयास जारी रहे तो जापान को बाध्य होकर सैनिक शक्ति का सहारा लेना पड़ेगा और इसका उत्तरदायित्व ... पर आ पड़ जायेगी । इससे यह स्पष्ट हो गया कि जापान, जापानी सुरक्षा और ... आर्थिक प्रसार की दृष्टि से, चीन को नियन्त्रित करने के प्रथम अधिकार को बनाये रखने का दृढ़ निश्चय कर चुका था ।

१९३५ से द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक जापानी सेनाएँ चीन की ... अधिकार करती रहीं । इसका विस्तृत उल्लेख आगे किया जायगा । यहाँ इतना ... पर्याप्त रहेगा कि चीन ने बार बार राष्ट्रसंघ से प्रार्थना की सामूहिक सुरक्षा ...

...। परन्तु उसे जापानी आक्रमण के विरुद्ध किसी प्रकार की सहायता प्राप्त न हो सकी। ... बार पुन सामूहिक सुरक्षा एक टूटी रीढ प्रमाणित हुई। राज्यों का कोई भी गुट, ... को जापानी आक्रमण से बचाने के लिए आवश्यक धन-जन हानि की कीमत का ... ने के लिए तैयार नही था।

... १९३८ तक पश्चिम की राजनीतिक स्थिति इतनी असदिग्ध हो चुकी थी कि ... टलर को अपनी चिर अभिलाषित इच्छा आस्ट्रिया को हडपना को पूर्ण करने का ... अवसर मिल गया। मुसोलिनी जिसने कि पहिले जर्मनी का इस सम्बन्ध मे विरोध किया था अब हिटलर का मित्र बन चुका था और उसने घोषणा भी करदी थी कि वह आस्ट्रिया की सुरक्षा के लिए इटालियन सेना को भेजने में असमर्थ है। फ्रांस भी इस समय मन्त्रिमण्डलों की अस्थिरता के काल में से गुजर रहा था और एक निश्चित ... कारी कदम उठाने की स्थिति में नही था। ग्रेट ब्रिटेन मे चैम्बरलेन सरकार के ... सदस्य प्रसादन की नीति के पक्ष में थे, इतने अधिक पक्ष मे थे कि इस नीति ... विरोधी एन्थोनी ईडन का २० फरवरी १९३८ मे विदेश मन्त्री के पद से त्यागपत्र देने ... विवश किया गया। कुछ लोगों का तो यहा तक विश्वास है कि चेम्बरलेन की ... सरकार ने आस्ट्रिया पर जर्मन आधिपत्य का स्वीकार कर लिया।

आस्ट्रिया पर जबरदस्ती

... हिटलर ने आस्ट्रिया के सम्बन्ध में अपना प्रथम कदम १२ फरवरी १९३८ को ... या, जबकि आस्ट्रियन चान्सलर शुशनिग ( Schuschnig ) हिटलर से मिलने ... के बवेरियन प्रासाद बर्चेस गडन (Berchtesgaden) आया। फ्यूरर (हिटलर) ... धमकियों के कारण आस्ट्रियन चान्सलर को, आस्ट्रियन नाजी नेता आर्थर सेइस ... क्वार्ट ( Arthur Seyss Inquart ) को गृहमन्त्री तथा अन्य नाजी नेताओं ... न्याय तथा विदेश मन्त्री नियुक्त करने के लिए मजबूर होना पडा। शुशनिग ने वापस ... कर घोषणा की कि इस प्रश्न पर चार दिन के बाद मतसग्रह लिया जायेगा। ... विश्वास था कि इतने कम समय में नाजी लोग अपने प्रचार कार्य में सफल नहीं ... गे और जनमत उनके विपक्ष में रहेगा और ससार को मालूम हो जायेगा कि ... स्ट्रियन जनता जर्मनी के साथ मिलना नहीं चाहती और जर्मनी उस पर जबरदस्ती ... र रहा है।

... परन्तु हिटलर मतसग्रह के पक्ष में नहीं था। उसने शुशनिग को मतसग्रह रद्द ... करने तथा त्याग पत्र देने को कहा और यह धमकी भी दी कि यदि ऐसा नहीं किया ... गया तो जर्मन सेना आस्ट्रिया पर आक्रमण कर देगी और ससार की कोई ताकत ... आस्ट्रिया को नहीं बचा सकेगी। अपने देशवासियों को रक्तपात से बचाने के लिए शुशनिग ... दोनों मांगें स्वीकार करली। सेइस इनक्वार्ट चान्सलर बनाया गया और उसने ... जर्मनी से प्रार्थना की कि आस्ट्रिया मे शान्ति बनाये रखने के लिए जर्मन ... जाये। १३ मार्च को जर्मन राष्ट्रीय ने एक कानून बनाया जिसके अनुसार आस्ट्रिया

रीष्टाग का एक राज्य स्वीकार कर लिया गया। आस्ट्रियन राष्ट्रपति मिकलास त्यागपत्र देना पड़ा। १४ मार्च को हिटलर ने सशस्त्र जर्मन सेना के साथ वियना प्रवेश किया। जनता ने भारी उत्साह के साथ उसका स्वागत किया। इस प्रकार का हड़प लिया गया।

आस्ट्रिया के अपहरण के सम्बन्ध में विदेशी प्रतिक्रिया बड़ी रुचिपूर्ण इङ्गलैण्ड में यह माना गया कि साम्यवादी तूफान को रोकने के लिए जो बांध था वह और अधिक मजबूत हो गया। कुछ लोगों ने इसे आत्म निर्णय का मुदर्शन माना। मुसोलिनी भी घबड़ा गया परन्तु उसने अपनी घबराहट को प्रगट नहीं किया पोलैंड को अपनी सुरक्षा की चिन्ता हो गई। फ्रांस को बहुत अफसोस हुआ। इस तरफ मध्य यूरोप में जर्मनी की स्थिति मजबूत हो गई और हिटलर को अपनी 'पूर्व की तरफ प्रसार'' ( Drang nach osten ) की नीति को साकार करने मार्ग मिल गया। इस समय जर्मनी की सीमा इटली, युगोस्लाविया और हंगरी से प्रत्यक्ष रूप से मिली हुई थी। आस्ट्रिया पर प्रभुत्व ने जर्मनी को दक्षिण पूर्वी यूरोप सम्पूर्ण यातायात का वास्तविक नियन्त्रण प्रदान कर दिया। चेकोस्लोवाकिया पड़ गया। उसके व्यापारिक मार्ग जर्मनी में से होकर जाते थे, जो अब उसकी दया निर्भर थे। उसके दक्षिणी और दक्षिण पूर्वी रेल और नदी मार्ग भी जर्मनी की निर्भर करते थे। जर्मनी चेकोस्लोवाक सीमान्त सुरक्षा को बहुत सुगमता के साथ कर सकता था। यद्यपि हिटलर ने ११ मार्च १६३८ को चेकोस्लोवाकिया की प्रा अखंडता को स्वीकार किया था फिर भी यदि जर्मन नाजियों ने अपना ध्यान चेको की तरफ केन्द्रित किया और उसमें आबाद अपने ३५ लाख बन्धुओं की मुक्ति का निश्चय किया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

हिटलर की अगली योजना चेकोस्लोवाकिया का अंग भंग थी। इस योजना कार्यान्वित करने के कई कारण थे—( १ ) चेकोस्लोवाकिया लोकसभात्मक राष्ट्र ( २ ) राष्ट्रसंघ का कट्टर समर्थक था। ( ४ ) फ्रांस और रूस का मित्र था। ( वर्साय की सन्धि से इसकी उत्पत्ति हुई थी। ( ५ ) चेक सेना का अस्तित्व संकट का कारण था। ( ६ ) दृष्टि से महत्वपूर्ण था और ( ७ ) हिटलर का विश्वास था इस समय कोई भी राष्ट्र उसकी सहायता करने को नहीं सकेगा।

**चेकोस्लोवाकिया का अङ्ग भंग**

इसके अतिरिक्त चेकोस्लोवाकिया विविध जातियों का घर था। १९३० जनगणना के अनुसार इसमें ७४,४७,००० चेक, ३२,३१,६०० जर्मन २६,८८ स्लोवाक, ६,६१,००० मगयार ५,४८,००० रुथानियन और ८१,७०० पोल

निवास करते थे। इसलिए मूलवंशीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त यदि लागू किया जाता तो स्वाभाविक रूप से उसका अंग भंग हो जाता।




चित्र—चेकास्लोवाकिया का अंग भंग

यहां पर भी हिटलर ने अपने पुराने नुस्खे का प्रयोग किया। चेकोस्लोवाकिया जर्मन आबादी वाले सूडेटन जर्मन प्रदेश की सूडेटन जर्मन पार्टी की आड़ में अपना कार्य किया। इस पार्टी का नेता था कानाड हनलिन (Konard Henlien)। उसने चेकोस्लोवाकिया में स्थित सभी जर्मनों को अपने दल में सम्मिलित होने की प्रार्थना की और मंत्रिमंडल के जर्मन सदस्यों से त्याग पत्र दिलवाने में भी सफल रहा। इसके बाद हेनलिन की मांगें बढ़ती गई। मई १९३८ में ग्राम चुनावों के समय स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि बहुतों को यह सन्देह हुआ कि चुनाव के परस्पर विरोधी राष्ट्रीय वर्गों के आंतरिक झगड़े की ओट में, कहीं जर्मनी, सूडेटन जर्मनों के पक्ष के बहाने चेकोस्लोवाकिया में न घुस जायें। परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

यद्यपि फ्रैंच सरकार ने चेकोस्लोवाकिया से अनुरोध किया था कि वह कुछ सीमा तक सूडेटन जर्मनों को सुविधायें प्रदान करके उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करे, परन्तु फिर भी उसने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि चेकोस्लोवाकिया पर जर्मनी ने आक्रमण किया तो वह अपने साथी की सहायता को पहुंच जायेगा। ब्रिटिश सरकार ने पेरिस के साथ निरन्तर सम्पर्क कायम रखा और बर्लिन तथा प्रेग दोनों को शान्तिपूर्वक झगड़े को निपटाने की सलाह दी। इधर जर्मनी ने राइन के किनारे किनारे स्विटजरलैण्ड से लेकर नीदरलैंड तक दुर्गबन्दी शुरू करदी। इसे "पश्चिमी दीवार" (west wall) कहा जाता है और इसका उद्देश्य पश्चिम में फ्रांस को रोकना था, यदि पूर्व में जर्मनी चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करदे।

जुलाई में, ब्रिटिश सरकार ने चेक सरकार की स्वीकृति के बाद, सूडेटन जर्मनों के विवाद को निपटाने में, चेक सरकार की सहायता के लिए लार्ड रंसीमन (Runciman) को सलाहकार के रूप में प्रेग भेजा। ७ सितम्बर १६३८ को चेक सरकार ने रंसीमैन की सिफ़ारिश में तैयार की हुई एक योजना हेनलिन को भेजी। यह सूडेटन जर्मनों की समस्त प्रारम्भिक मांगों को वास्तविक रूप में पूरा करने वाला था। १२ सितम्बर को एक सार्वजनिक सभा में भाषण करते हुए हिटलर ने कहा कि सूडेटन जर्मनों को आत्म निर्णय का अधिकार दिया जाना चाहिए। यदि वे अपनी सुरक्षा प्राप्त नहीं कर सकते तो उन्हें हमसे सहायता मिलेगी। इस घोषणा से स्थिति और भी खराब हो गई और उपद्रव बढ़ता ही गया।

इस प्रकार की सकटकालीन स्थिति में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन हिटलर को सन्तुष्ट करने तथा भावी युद्ध को टालने की दृष्टि से, हिटलर को मुलाकात के लिए लिखा और १५ सितम्बर को बर्चेसगेडन महल में मुलाकात भी हो गई। यहां पर चेम्बरलेन को मालूम हुआ कि हिटलर यह तय कर चुका है कि सूडेटन यदि जर्मन राष्ट्र के साथ मिलना चाहते हैं तो उन्हें यह अधिकार दिया जाना चाहिए और वह उन्हें यूरोपियन युद्ध के जोखिम पर भी सहायता देने को कटिबद्ध है। ब्रिटिश और फ्रेंच सरकार को युद्ध टालने का एक ही मार्ग दिखलाई पड़ा आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना। १६ सितम्बर को दोनों सरकारों ने अपने निर्णय को चेक सरकार के पास भेज दिया और यह भी कह दिया कि यदि वह इस पर अमल नहीं करेगी तो उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं दी जायगी।

चेकोस्लोवाकिया के प्रति एंग्लो फ्रेंच विश्वासघात के कई कारण थे। सर्वप्रथम दोनों देशों के लोकमत में यूरोपियन युद्ध से बचने की तीव्र अभिलाषा थी। दूसरे, दोनों देश इस समय युद्ध लड़ने की स्थिति में नहीं थे जबकि जर्मन वायुसेना काफी सशक्त थी और लन्दन और पेरिस को क्षण भर में नष्ट किया जा सकता था। तीसरे, दोनों देश चेकोस्लोवाकिया की रक्षा के लिए बलिदान करने को तैयार नहीं थे। कुछ लोग राज्य को एक कृत्रिम उत्पादन मानते थे और उनका विश्वास था कि जब तक इस का अस्तित्व बना रहेगा पड़ोसी राष्ट्रवादी देश इसके अंग भंग के प्रयत्न में लगे रहेंगे। फ्रांसीसियों का मत था कि चेकोस्लोवाकिया के पीछे जर्मनी से युद्ध मोल लेने पर फ्रांस में साम्यवादियों का जोर बढ़ जायेगा और ऐसा उन्हें पसन्द नहीं था। फिर हिटलर अपने आपको साम्यवादियों का शत्रु घोषित करता था। अतः यदि साम्यवादी प्रसार के विरुद्ध हिटलर को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ त्याग करना पड़े तो अन्याय युक्त नहीं होगा। क्योंकि हिटलर ने घोषणा की थी कि इसके बाद वह यूरोप में किसी प्रकार की प्रादेशिक महत्त्वाकांक्षा नहीं रखता। चेम्बरलेन और दलादियर (Daladier) को अब भी विश्वास था कि हिटलर के शासन में युद्ध से बचा जा सकता है।

चम्बरलेन और दलादिये ( फ्रेंच विदेश मन्त्री ) के निर्णय का कोई भी कारण रहा हो, निर्बल चेकोस्लोवाकिया को उनके आदेश का स्वीकार करना पड़ा। चेक नेताओं की यह इच्छा नहीं थी कि संसार उन्हें दूसरे महा युद्ध के लिए दोषी ठहराये। इस समय वे इस बात के लिए भी सहमत नहीं थे कि उनके देश की रक्षा साम्यवादी रूसी सेना करे। अन्त २१ सितम्बर को उसने एंग्लो फ्रेंच प्रस्ताव मान लिया। चेम्बरलेन इस खुशखबरी के साथ जर्मनी गया। हिटलर ने अपनी मांगें बढ़ा चढ़ा कर रखी। वे इस प्रकार थी–(१) जर्मनी को सौंप जाने वाला सम्पूर्ण क्षेत्र १ अक्टूबर तक जर्मनी को सौंप दिया जाय। (२) इस क्षेत्र से किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं हटाई जाय और न नष्ट की जाय। (३) चेक सेना या पुलिस के सूडेटन जर्मनों को मुक्त कर दिया जाय और जर्मन कैदियों को भी रिहा कर दिया जाय। (४) अंतिम निपटारा जर्मन चेक या अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के नियन्त्रण में मत संग्रह द्वारा हो। यह मत संग्रह २५ नवम्बर तक हो जाना चाहिए।

२४ सितम्बर को प्रेग सरकार ने जर्मन मांगों को सर्वथा और बिना शर्त अस्वीकार्य' (Absolutely and unconditionally unacceptable) कहकर ठुकरा दिया। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने भी इन मांगों को अनुचित बतलाया। चेम्बरलेन, दलादिये और रूजवेल्ट ने मुसोलिनी से अनुरोध किया कि वह हिटलर को शक्ति प्रयोग से रोकने के लिए अपने प्रभाव का सदुपयोग करे। मुसोलिनी ने टेलीफोन पर हिटलर से वार्तालाप की और हिटलर ने अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की मांग को स्वीकार कर लिया। उसने मुसोलिनी चेम्बरलेन और दलादिये को २९ सितम्बर को म्यूनिच आने का निमन्त्रण दिया।

निश्चित दिन पर चारों राजनीतिज्ञ म्यूनिख स्थान पर मिले और एक समझौता हो गया जो कि हिटलर की मांगों का ही दूसरा रूप था। यह ध्यान देने की बात है कि इस सम्बन्ध में न तो चेकोस्लोवाकिया को ही और न रूस को ही बुलाया गया। निःसहाय चेक सरकार के सामने म्यूनिख समझौते को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था।

**म्यूनिख समझौता**

१ अक्टूबर १९३८ को प्रातःकाल जर्मन सैनिकों ने सूडेटन लैंड पर अधिकार कर लिया। इसी अवसर पर उसे तेसचेन के आस पास का लगभग ४०० वर्ग मील का क्षेत्र जिसकी आबादी २४,०००० थी, पोलैंड को सौंपना पड़ा क्योंकि पोल सेनाएं इस क्षेत्र की सीमा तक बढ़ आयी थी। हंगरी ने भी मग्यार आबादी वाले क्षेत्र का दावा किया और २ नवम्बर को ४८०० वर्ग मील का क्षेत्र हंगरी को सौंपना पड़ा। इस प्रकार चेकोस्लोवाकिया का अंग भंग हो गया।

म्यूनिख समझौते का यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इसने साठे तार पर फ्रांस द्वारा निर्मित महाद्वीप सुरक्षा पद्धति को नष्ट कर दिया। पश्चिम में अपने शक्तिशाली साथियों के विश्वासघात के कारण चेकोस्लोवाकिया शीघ्र

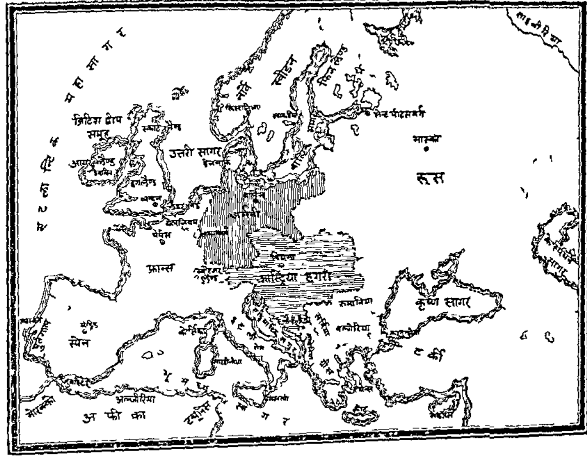
हो जमन प्रभुत्व में चला गया। पोलैंड, रूमानिया और यूगोस्लाविया, जिनके फ्रांस एक दीघ समय से शांति व्यवस्था द्वारा स्थापित यथा स्थिति का बनाये के लिए प्रतिज्ञा बद्ध था, सामान्य रूप स सामूहिक सुरक्षा और विशेषकर फ्रेंच के प्रश्न पर सदिग्ध हो उठे। मास्को स अफवाह आती रही कि सोवियत सरकार के साथ सम्बन्ध विच्छेद करने वाली है। यह बात ठीक भी थी। वाद सोवियत सरकार का विश्वास हो गया था कि इगलण्ड और फ्रांस ने कर हिटलर को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया है ताकि वह पूव की तरफ प्रसार नीति को कार्यान्वित कर सके और सोवियत सघ स उलझ जाय। शूमन ने लिखा है "The Munich Pact was the culmination of appeasement and warrant of death for the Western Democracies. It was the symbol of the collapse of the system of Collective Security." वास्तव मे यह समझौता सामूहिक सुरक्षा प्रणाली के अवसान प्रतीक था।

म्यूनिख समझौते के समय हिटलर ने यह विश्वास दिलाया कि सूडेटन लैण्ड बाद यूरोप में उसकी कोई प्रादेशिक महत्वाकांक्षा नहीं है। परन्तु यह विश्वास भी के विश्वासो की भांति दिखावा मात्र था। उसका ध्यान चेकोस्लोवाकिया का हडपने की तरफ लगा हुआ था। और मोरेविया में नवीन हवाई अड्डो की प्राप्ति, चेक सेना के शस्त्रो की प्राप्ति की अभिलाषा, चेक विदेशी स्वर्ण और मुद्रा का प्रलोभन, कृषि और मानवीय शक्ति को प्राप्त करने तथा सामरिक दृष्टि से जमनी को मजबूत करने इच्छा से जमन तानाशाह ने चेक जनतन्त्र का समाप्त करने का निश्चय कर लिया। उसने स्लोवाकिया प्रांत के नाजी जमात को चेक सरकार से स्वतन्त्र होने के लिए उकसाया। फलस्वरूप १४ मार्च १९३९ को स्लोवाकिया की स्वतन्त्रता स्वीकार ली गई। परन्तु हिटलर की तृष्णा तृप्त नहीं हुई। उसने चेक राष्ट्रपति हृच्चा को बुलाया और उसे डरा धमका कर चेक शासन की बागडोर जर्मन नाजी दल को सौंपने को विवश किया गया। १५ मार्च १९३९ को जर्मन सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश किया और सम्पूर्ण देश को अपने अधिकार में ले लिया। हिटलर के इस कार्य ने पश्चिमी देशो की निद्रा तोड दी। मुसोलिनी भी क्रोधित हो उठा परन्तु अब धुरी छोडने का समय नहीं था।

**म्यूनिख के बाद**

हिटलर का अगला शिकार लिथुएनिया बना। २१ मार्च को उसने मेमल प्रान्त को पुन जर्मन राष्ट्र को सौंपने की माग की। लिथुएनिया फ्यूरर की माग को ठुकराने की स्थिति में नहीं था और न ही उसे पश्चिमी देशों की सहायता का विश्वास था। अत उसने तुरन्त ही बर्लिन सरकार के साथ समझौता कर लिया। २३ मार्च को हिटलर ने मेमल में प्रवेश किया। तब तक लिथुएनिया ने इस पूर्ण रूप से खाली करके नाजी राजकर्मचारियों को

**मेमल**



ब्रिटिश द्वीप समूह
आयरलैण्ड
इंगलैण्ड
स्काटलैण्ड
उत्तरी सागर
स्वीडन
फिनलैण्ड
रूस
फ्रान्स
आस्ट्रिया हंगरी
रूमानिया
बल्गेरिया
कृष्ण सागर
स्पेन
अल्जीरिया
अफ्रीका

साप दिया था। मेमन आधिपत्य पश्चिमी राष्ट्रों की सामूहिक सुरक्षा नीति। असफलता का एक ज्वलन्त उदाहरण था।

सामूहिक सुरक्षा नीति पर अगला प्रहार फासिस्ट नेता मुसोलिनी द्वारा ... मुसोलिनी ने अल्बानिया को अपना शिकार बनाया। अपनी योजना को लागू

अल्बानियाँ

पूर्व, मुसोलिनी ने हिटलर से विचार विमर्श कर लिया था और अपने अनुकूल भी बना लिया। अल्बानिया पर अधिकार ... कारण यह था कि अल्बानिया के बादशाह जोगू और ... गहरा असंतोष उत्पन्न हो गया था। सर्व प्रथम मुसोलिनी ने खाली धमकियां और ... से अपना कार्य करना चाहा। परन्तु जब वह इसमें सफल नहीं हुआ तो उसे ... सहारा लेना पड़ा। ८ अप्रैल १६३६ को इटालियन सेनाओं ने तूतरी और (Tirana) नामक स्थानों पर अधिकार कर लिया। जोगू इटालियन सेना का ... नहीं कर सका और वह यूनान भाग गया। अल्बानियन राज्यसभा ने अल्बानियन का राजमुकुट इटली के सम्राट् को अर्पित कर दिया। १५ अप्रैल को इटालियन ... ने घोषणा की कि विक्टर एमेनुअल की उपाधि अब "इटली और अल्बानियाँ ... तथा इथोपिया का बादशाह" होगी। इस प्रकार इटली ने बाल्कन में अपना प्रभाव और अपनी स्थिति को भी दृढ़ बनाया।

हिटलर के उपरोक्त कदमों से प्रसादकों का विश्वास भी समाप्त हो गया ... से लोगों को विश्वास भी हो गया कि हिटलर का अगला प्रहार पालैण्ड पर होगा। ३१ ...

प्रसादन का अन्त

१६३६ को इंगलैण्ड और फ्रांस ने घोषणा की कि "... कदम या घटना जिससे पोलिश स्वतन्त्रता के नष्ट होने का ... हो, या जिसका पोलिश सरकार अपनी राष्ट्रीय शक्ति से ... करना उचित व महत्वपूर्ण समझे, वे तुरन्त ही पोलैण्ड को अपनी शक्तिनुसार ... देंगे।" पोलैण्ड के ही समान यूनान और रूमानिया को भी सहायता की ... गई। इंगलैण्ड और फ्रांस दोनों देशों ने तुर्की के साथ आपसी सहायता सन्धि भी ...

इस बीच, पोलैण्ड के एक अन्य विक्षोभ केन्द्र बनने के चिन्ह दिखलाई देने ... मार्च में ही जर्मन प्रेस ने पोलिश गलियारे में स्थित जर्मनों पर होने वाले अत्याचारों ... को बढ़ा चढ़ा कर छापना शुरू कर दिया और पोलैण्ड की इस नीति की बड़ी भर्त्सना की ... लगी। २८ अप्रैल १६३६ को हिटलर ने डेन्जिग बन्दरगाह को पुनः वापस सौंपने की ... माग की। पोलैण्ड ने इस माग को ठुकरा दिया।

इसी समय इंगलैण्ड और फ्रांस ने सोवियत रूस से आपसी सहायता सम्बन्धी ... वार्ता शुरू की। क्योंकि पूर्वी यूरोप में तत्काल ही सैनिक सहायता पहुँचाना ... अत्यधिक कठिन था। वार्तालाप अगस्त तक जारी रहा परन्तु परिणाम कुछ नहीं ... इसका दोष पोलैण्ड का ही दिया जा सकता है। पोल लोग रूस के साथ सैनिक ... करने के पक्ष में नहीं थे और इसके बिना रूस, पश्चिमी देशों के साथ आपसी ...

ंध करने का तैयार नही था। दूसरी बात यह थी कि इस बीच रूस जमनी के साथ
। वातालाप कर रहा था। वास्तव में रूस, जिसे दोनो पक्षा का रत्ती भर भी विश्वास
ो था, दाहरा खेल खेल रहा था और अपनी मित्रता व सहायता की सौदेबाजी करने
लगा हुआ था। २३ अगस्त १६३६ का जमनी और रूस के बीच एक अनाक्रमण
मझौते पर हस्ताक्षर कर दिये गये। इसके साथ ही एक गुप्त समझौते पर भी हस्ताक्षर
ये गये। गुप्त समझौते के अनुसार पूर्वी यूरोप को जमनी और रूसी प्रभावक्षेत्रा म
भाजित किया गया। रूस का फिनलैण्ड, लटाविया, एसथोनिया मे छूट दी गई और
लैण्ड मे विस्तुला और सान नदियो के पूर्वी प्रदेश पर अधिकार करने की छूट दी गई।
क्षिण में, उसे बसारविया पर पुन अधिकार करने की छूट दी गई।

इस समझौते को करने के लिए हिटलर और स्टालिन कौन से तत्वा से प्रभावित
ुए थे? यह नही कहा जा सकता। शायद हिटलर ने सोचा हो कि इस समझाते म
ंडा कर इगलैंड और फ्रास, पालैण्ड को दी गई प्रत्याभूति का अस्वीकरण करदे, जैसा कि
ुन्होने चेकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध म किया था। या फिर उसका विचार था कि पहिल
श्चमी यूरोप को अपने अधिकार में ले लिया जाय और फिर रूस से निपट लिया जायगा।
टालिन, शायद इस निर्णय पर पहुँच चुका था कि ब्रिटेन और फ्रास से उसे किसी प्रकार
ी सहायता नही मिल सकती। इसके अतिरिक्त यदि जमनी एक लम्बे समय तक पश्चिमा
ाशो स युद्ध में उलझा रहा तो रूस का अपनी सनिक तयारी करने का अवसर मिल
ायेगा और तब जमनी के आक्रमण का, क्योकि इसे वह अवश्यभावी समझता था,
ढ़कर प्रतिराध किया जा सकेगा। युद्ध के फलस्वरूप पश्चिमी देशा के निबल हो जाने
ी भी सभावना थी और इस स्थिति म साम्यवाद का प्रसार सुगमता से किया जा
कता था। कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि जमनी रूस पर आक्रमण की याजना
ना चुका था और रूस को इसकी सभावना थी।

पर तु हिटलर की प्रथम धारणा गलत निकला। इगलैण्ड और फ्रास अपने
ृष्टिकोण पर डटे रहे और उहाने बार-बार घाषणाएँ की कि वे किसी भी स्थिति में पालैड
ी सहायता करने से पीछे नही हटेंगे। १ सितम्बर १६३६ को प्रात ५ बजे से जमन
ायुयाना ने पोलण्ड के विविधि नगरा पर बम वषा शुरू करदी। कुछ ही घटो के बाद
हटलर ने डेंजिग पर अधिकार करने का आदेश प्रसारित किया और उस नगर के
ाजी नेता का वहाँ का प्रशासक नियुक्त किया गया। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास ने
ात्काल ही जर्मनी का चेतावनी दी कि यदि जर्मनी ने पालैड के विरुद्ध अपनी
ार्यवाही को तत्काल ही बन्द नही किया और जमन सनाओ को नही हटाया
ाया तो वे तत्काल ही अपने दायित्व का पूरा करने क लिए पोलैड की सहायता
ो जा पहुँचेंगे।

३ सितम्बर १६३६ के प्रात ६ बजे तक उपरोक्त चेतावनी का उत्तर न बर्लिन स्थित ब्रिटिश राजदूत ने जर्मनी को सूचित किया कि यदि ११ बजे तक नही दिया गया तो दोनो देशो में युद्ध हो जायेगा। इस पर भी जर्मनी ने नही दिया। ११ बजकर १५ मिनट पर चैम्बरलेन ने जर्मनी के साथ युद्ध की करदी। ५ बजे सायकाल को फ्रास ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया। कुछ समय के उपरान्त जापान और इटली भी के पक्ष में आ डटे। १६४१ तक रूस गुप्त समझौते वाले प्रान्तो पर अधिकार रहा परन्तु जब जर्मनी ने उसके विरुद्ध भी युद्ध घोषणा करदी तो वह भी मित्र आ गया। अमेरिका प्रारम्भ में तटस्थ रहा परन्तु जब जापान ने उसके पर्लहारबर पर वर्षा की तो वह युद्ध म (मित्र पक्ष की ओर से) सम्मिलित हो गया। इस महायुद्ध का क्षेत्र व्यापक होता गया।

---

## नवा अध्याय

# प्रसादन की नीति

## ( Policy of Appeasement )

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त भावी विश्वशान्ति की स्थापना के लिए मित्र राष्ट्रों ने युद्धों का बहिष्कार करने के लिये आपसी सहयोग के द्वारा आपसी विवादों को हल करने का निर्णय किया और इसी नीति के आधार पर सामूहिक सुरक्षा प्रणाली ( Collective security system ) के पालन पर अत्यधिक जोर दिया गया। परन्तु केवल दस वर्षों के बाद इस प्रणाली की निबलता के चिह्न दृष्टिगोचर होने लग गये और आगामी दस वर्षों में सामूहिक सुरक्षा प्रणाली का पूर्ण रूप से अन्त हो गया। इसके पतन का चाहे जो भी कारण रहा हो परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण विस्मय की कहानी है—सुरक्षा की दुहाई देने वाले राष्ट्रों की प्रसादन नीति, जिसके परिणाम स्वरूप इटली, जर्मनी, और जापान को शान्ति समझौतों का उल्लंघन, विश्वशान्ति का अतिक्रमण और नैतिक मर्यादा का दमन करने का अवसर मिल गया। वास्तव में एकतन्त्रवादी राष्ट्रों की महत्वाकांक्षाओं का प्रादुर्भाव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है क्योंकि इसके परिणाम स्वरूप प्रसादन नीति का जन्म हुआ और इस नीति की सफलता से सामूहिक सुरक्षा प्रणाली का अन्त और द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ।

"प्रसादन की नीति" जिसकी चरम और अन्तिम अभिव्यक्ति म्यूनिख समझौते में हुई थी, का वास्तविक स्वरूप घटनाओं एवं परिस्थितियों के परिवर्तन के परिणाम स्वरूप इतना बदल गया है कि विद्यार्थी के लिये उन कारणों को जिनके कारण इस नीति का जन्म हुआ, समझना अत्यधिक आवश्यक हो जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि प्रसादन नीति चाहे गलत रही हो या सही, पर यह एक सुनिश्चित और विमर्शित नीति थी न कि ब्रिटिश सरकार की सैनिक तैयारियों के अभाव के कारण छल मात्र थी, जैसा कि कई आलोचकों का कथन है।

ब्रिटिश प्रसादन नीति के जन्म दाता श्री चेम्बरलेन थे। प्रसादन नीति के सम्बन्ध में उनका प्रेरक भाव सर्वथा भिन्न था। उनका उद्देश्य शक्ति के भय से प्रसादन नीति का पालन करना नहीं था। अपितु वे चाहते थे कि युद्ध या बल प्रयोग की धमकी दिये बिना आपसी विवादों का व्यवस्थित रीति से निपटारा हो जाय।

**ब्रिटिश प्रसादन नीति एवं उसका आधार**

अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ऊँची से ऊँची कीमत अदा करने को तैयार थे। क्योंकि उनका विश्वास था कि इस प्रकार की कीमत चाहे कितनी ही ऊँची क्यों न हो महायुद्ध की कीमत की तुलना में बहुत कम है। वस्तुतः वे एक ऐसे व्यक्ति थे जो राजनीतिक अवसरवादी नीति के प्रभाव से

युक्त थे और उनकी अपनी धारणा यह थी कि जो मार्ग उन्होंने अपनाया है—वह है, और इसके द्वारा युद्ध की विभिषिका को टाला जा सकता है। चेम्बरलेन था कि हिटलर और मुसोलिनी की आकांक्षाएं कुछ छोटी बड़ी शिकायतें तक ही है और यदि इन शिकायतों को दूर कर दिया जाय तो एक महायुद्ध का स्थगित जा सकता है और जर्मनी और इटली को भी परम्परागत रीति से सम्मेलनों में भाग तथा आपसी बातचीत के द्वारा विवादों का हल करने के लिये मनाया जा सकता है अतः प्रसादन की नीति अपने उद्देश्यों की दृष्टि से भयंकर नहीं थी परन्तु इसका ढंग से प्रयोग नहीं किया गया और यही कारण है कि आज उसका रूप इतना दिखलाई पड़ता है।

अब हम ब्रिटिश प्रसादन नीति के मुख्य आधारों पर प्रकाश डालने का करें। सत्रहवीं शताब्दी से ही ब्रिटिश विदेश नीति का मुख्य आधार सामुद्रिक शक्ति नियंत्रण, व्यक्तिगत रूप से या किसी अन्य शक्ति की सहायता से यूरोपीय महाद्वीप किसी एक शक्ति या शक्तियों के एकाधिकार प्रयत्न को विफल करना एवं प्रजातंत्र संवैधानिक सिद्धान्तों की सुरक्षा रहा है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त इंगलैंड शक्ति काफी निर्बल पड़ गई और संसार का नेतृत्व अमरिका रूस, आदि हाथों में खिसकने लगा। अमेरिका और जापान की बढ़ती हुई शक्ति से काफी चिंतित हो उठा। अतः उसने अपनी विदेश नीति में आमूल परि करने का प्रयत्न किया। इस परिवर्तित नीति का आधार निम्न सिद्धान्तों पर गया—

(१) इंगलैण्ड एक पूंजीवादी राष्ट्र है, अतः पूंजीवाद के शत्रु साम्यवाद से भ होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि प्रथम महायुद्ध के उपरान्त साम्यवाद की नींव मजबूत गई थी और फ्रेंच क्रान्ति के सिद्धान्तों की भाँति साम्यवादी विचार धारा धीरे धीरे यूरोप में फलने लग गई थी। पूर्वी यूरोप तो उसके प्रभाव चंगुल में उलझने लग गया था। इंगलैण्ड को यह चिन्ता लग गई कि यदि साम्यवाद की प्रगति को अवरुद्ध नहीं किया तो वह पश्चिम में भी अपने पर जमा लेगा। अस्तु इंगलैण्ड की विदेश नीति का आधार साम्यवादी भय से मुक्ति तथा साम्यवादी प्रसार को रोकना बन गया। अपने ध्येय की पूर्ति के लिये इंगलैण्ड इतना आगे बढ़ गया कि वह उस प्रत्येक राष्ट्र को, जो साम्यवादियों से संघर्ष करने को तैयार था या कर रहा था, सहायता करने को था और उसे भी हर उस कार्य करने की छूट देने को तैयार था चाहे साम्यवादी विरो राष्ट्र की कार्यवाहियों के फलस्वरूप शांति संधियों का उल्लंघन तथा प्रादेशिक व्यवस्था यथास्थिति का अतिक्रमण भी क्यों न हो जाय। जापान, जर्मनी और इटली से इंगलैण्ड की यह बीमारी छिपी न रही और उन्होंने इस रोग के निदान को अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये, अपनी सत्ता की वृद्धि के लिये महान द्वारा शान्ति संधियों का अतिक्रमण शुरू कर दिया क्योंकि उन्हें विश्वास था कि

ास्तविक अभिप्राय से अनभिज्ञ इंगलण्ड उनकी कार्यवाहियों का जो कि बाह्य रूप में साम्यवादी विरोधी आवरण डाले हुये थी, विरोध नहीं करेगा।

(२) दूसरा प्रमुख आधार था—शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त (Balance of Power)। इस आधार की पृष्ठ भूमि की चर्चा करते हुये शूमा ने लिखा है— महाद्वीपीय शक्तियों के आक्रमण के विरुद्ध ब्रिटेन की सुरक्षा तथा विश्व-व्यापी व्यापार एवं विनियोजनों के द्वारा ब्रिटेन की समृद्धि, शताब्दियों से किसी भी एक शक्ति को यूरोप में सर्वाधिक बलाढ्य बनने से रोकने पर ही निर्भर रही है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए नेपोलियन के युग में फ्रांस के विरुद्ध रूस की सहायता, प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी के विरुद्ध रूस तथा अमेरीका की तथा द्वितीय विश्व युद्ध में फासिस्ट त्रिगुट्ट के विरुद्ध एक बार फिर दोनों की सहायता की आवश्यकता पड़ी। परन्तु १९३० ई० में सम्भवतः इस ध्येय को भुला दिया गया।[1] इसका कारण प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की पराजय था जिसके परिणाम स्वरूप सन्तुलन की स्थापना हो गई। क्योंकि यूरोप का नेतृत्व फ्रांस के हाथ में आ गया और फ्रांस इंगलण्ड की सहायता पर निर्भर था। परन्तु १९३० के बाद यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ने लगा। सोवियत रूस काफी शक्तिशाली हो चुका था और इधर हिटलर तथा मुसोलिनी के नेतृत्व में क्रमशः जर्मनी और इटली भी काफी शक्तिशाली हो गये। कूट नीति के द्वारा शक्ति सन्तुलन की स्थापना की सम्भावना समाप्त हो चुकी थी। अतः इंगलैण्ड ने त्रिगुट्ट—जर्मनी, इटली जापान को रूस के विरुद्ध, एक दूसरे के ऊपर नियन्त्रक के रूप में रखने की सोची। यदि फासिस्ट त्रिगुट्ट साम्यवादी रूस से संघर्ष करे और रूस पराजित हो जाता है, तो साम्यवादी आतंक से राहत मिल जाती है और फासिस्ट शक्तियाँ भी निर्बल पड़ जाती है। यदि परिणाम उल्टा निकला तो फासिस्ट भय समाप्त हो जाता है और इस स्थिति में इंगलैण्ड इनकी मदद करके रूस को पराजित करने की योजना बना सकता है और जर्मनी इंगलण्ड के प्रभाव में आ जाता है। इसी आधार पर इंगलण्ड ने साम्यवाद के विरोधी एकतन्त्रात्मक शासनों की कार्यवाहियों का सक्रिय विरोध नहीं किया। शूमा ने लिखा है—" 'सीजरों को सन्तुष्ट' करने की यह नीति, जिसका प्रधानमन्त्रियों स्टैन्ली बाल्डविन (१९३५-३७ ई०) तथा नेविल चेम्बरलेन ने बड़े परिश्रम से अनुसरण किया, ब्रिटिश हितों की दृष्टि से केवल इस कल्पना के आधार पर ही कि जर्मनी तथा रूस या तो एक दूसरे को 'सन्तुलित' करते रहेंगे अथवा लड़ते लड़ते दोनों की शक्ति, समाप्त हो जाएगी, तथा फ्रांस एवं इंगलैण्ड तटस्थ और सुरक्षित बने रहेंगे, सार्थक कही जा सकती थी। इस अनुमान के मिथ्या सिद्ध होने की अवस्था में (जैसा कि वह हुआ भी) यह नीति आरम्भ से ही एक आत्म घाती मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। जिसे इंगलैण्ड, कामनवेल्थ तथा साम्राज्य के महान् दिवसों के उपयुक्त किसी प्रकार से भी नहीं ठहराया जा सकता था।[1]"

---

१ शूमेन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।

(३) इगलैण्ड की प्रसादन नीति का एक आधार लदन और पेरिस का में विद्यमान् तीव्र मतभेद था। यद्यपि इस समय भी इगलैण्ड और फ्रास एक दूसरे का थे परन्तु अन्तराष्ट्रीय जगत म उनके स्वार्थ पृथक २ थे और स्वार्थों की पूर्ति क काफी अन्तर था। राष्ट्रसघ, सामूहिक सुरक्षा, नि शस्त्रीकरण, क्षतिपूर्ति आदि विषयो पर दोनो देशो में काफी मतभेद था और इस कारण इन विषयों के दोनो देशो के लिये सयुक्त कदम उठाना सभव नहीं हो सका। फ्रास जमनी की हमेशा के लिये कुचलने की दृष्टि से उसके साथ कठोर से कठोर व्यवहार था जबकि ब्रिटिश लोकमत वर्साय की कठोर शर्तो से ही चितित था और वह साथ सहानुभूति का व्यवहार करने का पक्षपाती था। क्योकि ब्रिटेन इस बात का विस्मृत नही कर पाया था कि युद्ध के पूर्व जर्मनी उसका एक अच्छा ग्राहक था। रान्त विकसित आर्थिक मदी के कारण इगलैण्ड के व्यापार-वाणिज्य का भी लगा था। अत स्वय अपनी व्यापार वृद्धि के लिये वह जमनी का औद्योगिक उ आवश्यक समझता था। इसके लिये यह आवश्यक था कि जमनी को पुन शक्ति बनाया जाये, उसको फिर से शस्त्र धारण करने की छूट दी जाय ता कि वह सा रूस का मुकाबला कर सके और इगलण्ड मे सामान खरीद सके। य०ो कारण ब्रिटेन का रुख उदार बना रहा और उसने जमनी के पूर्वी सीमान्ता की सुरक्षा की प्रत्याभूति दनी पस द नही की। फ्रास इस नीति का विरोधी रहा और यह दुर्भा बात थी कि १९१९ स १९३० तक अ तर्राष्ट्रीय नीति की बागडोर फ्रास के हाथ जिसका परिणाम स्वरूप हिटलर का उत्कर्ष हुआ और इसस भी दुर्भाग्य की बात कि १९३० के बाद बागडोर इगलैण्ड के हाथ में आ गई जिसके परिणाम स्वरूप महायुद्ध का सूत्रपात हुआ। यदि शुरु में बागडोर इगलैण्ड के हाथ म रहती या बाद में फ्रास के हाथ म रहती तो महायुद्ध के विनाशकारी परिणाम स सभव था।

(४) ब्रिटिश प्रसादन नीति का एक आधार उसकी आर्थिक तथा आतरिक कठि थी। प्रथम महायुद्ध ने ब्रिटिश अर्थ व्यवस्था को काफी प्रभावित किया और उसका शोचनीय हो गई थी। परन्तु १९२९ ३० के विश्वव्यापी आर्थिक सकट ने तो कमर ही तोड दी और एक तरह से ब्रिटेन भी दिवालिया हो गया। इसी अवधि में उपनिवेशो मे स्वतन्त्रता आन्दोलन का भीषण तूफान उठ खडा हुआ और इस तूफ बचने के लिये उसे अपनी सम्पूर्ण सचित शक्ति लगानी पडी। इस प्रकार की परिस्थि में इगलैण्ड अपना धैय खो बैठा और उसकी नीति में भी अस्थिरता आ गई परिणाम स्वरूप अन्तराष्ट्रीय घटनाओ के सम्बन्ध में ठोस कदम उठाना क हो गया।

(५) अतिम आधार ब्रिटेन के कर्णधारो की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थि एव फासिस्ट नायको के चरित्र एव उनकी नीति का सही मूल्याकन करने की अस

। चैम्बरलेन एक लम्बे समय तक हिटलर के वचनो के प्रति झूठे श्रद्धा रखता रहा और स यह भ्रान्त विश्वास था कि 'छोटे राष्ट्रों को भेड़ियों के आगे डालने से उनको सन्तुष्ट ा जा सकता है, उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि एक बार लहू का स्वाद लग जाने से ा कभी पूर्ण नहीं होती, जितना तुष्टीकरण किया जायेगा, उतना ही असन्तोष ेगा।" बात है भी ठीक। हिटलर जब कभी किसी सधि का अतिक्रमण करता तो यह ्वासन देता जाता था कि इसके बाद उसकी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है और अब वह ुष्ट है। परन्तु उसकी महत्त्वाकाक्षाएँ एक के बाद एक अपना निखरा हुआ प लेकर चैम्बरलेन को मुग्ध करती रही। यही पर ब्रिटिश नेताओं ने भयकर ूल की।

अब हम विभिन्न दशो के साथ इगलैण्ड की प्रसादन नीति की समीक्षा करेंगे।

१६१६ के बाद से ही इगलैण्ड का रुख जर्मनी की तरफ उदार होता गया और ्टलर के उत्कर्ष के पूर्व ही जर्मनी ने अग्लो फ्रेंच मतभेदो से उत्साहित होकर क्षतिपूर्ति की राशि में कमी करवाने, रूहरक्षेत्र को खाली करवाने तथा गुप्त रूप से शस्त्रीकरण के बारे में विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। हिटलर के उत्थान के बाद भी इगलैण्ड की नीति मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया और

**र्मनी के प्रति**
**सादन नीति**

जर्मनी ने वर्साय सधि की धारा का उल्लघन करते हुये अनिवार्य सैनिक सेवा जारी ी तो इगलैण्ड ने उदासीन रुख अपनाया। इतना ही नहीं बल्कि १८ जून १६३५ को ्लैण्ड ने जर्मनी के साथ नौ सैनिक समझौता भी कर लिया। इसी प्रकार की नीति उस मय भी लागू की जाती रही जबकि जर्मनी ने वर्साय और लोकार्नो सधियो का अतिक्रमण रते हुए राइनलैंड का पुन सैनिकीकरण करना शुरू किया। जर्मनी के इस कदम का भी ्लैंड के द्वारा सक्रिय प्रतिवाद नहीं किया गया। १६३६ में स्पेन के गृह युद्ध में, साम्य दी प्रभाव का अन्त करने की दलील की ओट मे जर्मनी और इटली ने एकाधिकारवादी जनरल फ्रैंको को धन, जन अस्त्र शस्त्र की सहायता देकर स्पेनिश प्रजातन्त्र का गला ट दिया परन्तु इगलैण्ड चुप्पी साधे रहा।

आस्ट्रिया के सम्बन्ध में इगलैण्ड की चुप्पी प्रसादन नीति के इतिहास में एक नया ोड थी। ४ फरवरी १६३८ को ब्रिटिश विरोधी रिब्बनट्राप (Ribbentrop) को ्टलर ने अपना विदेशमंत्री नियुक्त किया। ब्रिटिश विदेश मंत्री ईडन ने चेम्बरलेन को ेत किया परन्तु चैम्बरलेन ने उल्टे ईडन को त्याग पत्र देने को विवश किया। ्रसादन नीति के अनुसरण के लिये चैम्बरलेन ने यह प्रथम कीमत अदा की। १३ जनवरी ६३८ को रूजवेल्ट ने तटस्थ राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के प्रशासन के सम्बन्ध में ्तर्राष्ट्रीय नियमो को बनाने की दृष्टि से, एक सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा था परन्तु ्बरलेन ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। वस्तुत यह एक ऐसा प्रस्ताव था जिसके द्वारा ्रसादन नीति के बिना ही जर्मन आक्रमण को सीमित किया जा सकता था। इतना ही

नही, चैम्बरलेन एक कदम और आगे बढ गया। उसने ऐसे समय में जब कि ... आस्ट्रिया को हडपने की तैयारी कर रहा था, अपने विदेश मन्त्री हैलीफाक्स को शान्ति, सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण आदि समस्याओं पर विचार करने के लिये बर्लिन भेजा। ... समय आस्ट्रिया के राष्ट्रपति ने ब्रिटेन से सहायता की याचना की, परन्तु ... न यह कह कर कि यह जर्मन लोगों का घरेलू मामला है, प्रसादन नीति ... हद करदी।

चेकोस्लावाकिया का अंग भंग ब्रिटिश प्रसादन नीति की चरम सीमा कहा जा ... है। इस सम्बन्ध में इंगलैण्ड ने प्रारम्भ से ही यह निश्चय कर रखा था कि चेक राज्य ... सुरक्षा के लिये वह युद्ध का आश्रय नही लेगा। रूस ने चेक राज्य की सुरक्षा ... सामूहिक कदम उठाने का प्रस्ताव भी रखा था परन्तु इंगलैण्ड ने उस ठुकरा ... इंगलैण्ड की नीति इस दिशा पर चलने लगी—सुडेटन जर्मनो की मांगो में संशोधन ... लिये बर्लिन सरकार पर जोर डालना ताकि चेक सरकार उन्हें स्वीकार कर सके ... चेक सरकार पर सूडेटन जर्मनो की मांगें स्वीकार करने के लिये दबाव डालना ... जर्मनी आक्रमण या युद्ध का रास्ता छोड सके। क्योंकि यदि युद्ध छिडता तो फ्रांस ... सन्धि के कारण फ्रांस को युद्ध में सम्मिलित होना पडता और फ्रांस का मित्र होने ... इंगलैण्ड को भी युद्ध में सम्मिलित होना पडता। अतः इंगलैण्ड ने फ्रांस पर भी ... डाला कि वह अपने साथी चेक राज्य का सूडेटन जर्मनो की मांगें मंजूर करने का ... करे ताकि चेक राज्य युद्ध का सहारा लेने का विचार छोड दे। चैम्बरलेन की नीति ... सुचारु रूप से काम किया परन्तु हिटलर की मांगें बढती गईं। फिर भी, प्रसादन ... अन्धे उपासक चैम्बरलेन ने म्यूनिख समझौता स्वीकार करके चेक प्रजातन्त्र का ... करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

म्यूनिख समझौते के समर्थकों ने अपने पक्ष में निम्न तर्क दिये—(१) सोवियत ... की सहायता के उपरान्त भी चेकोस्लावाकिया का सैनिक शक्ति के द्वारा नहीं बच ... जा सकता था क्योंकि रूमानियां और पोलण्ड ने रूसी सेना को अपनी सीमा में ... की स्वीकृति नहीं दी। अतः रूसी सहायता निरर्थक थी। (२) हिटलर की मांगें "आत्म-निर्णय के सिद्धान्त" पर आधारित थीं अतः न्यायसंगत थीं। (३) इस समय ... जनमत युद्ध के विरुद्ध था। (४) ब्रिटिश उपनिवेश इस विषय को लेकर ... युद्ध में सहयोग देने को तैयार नहीं थे। (५) म्यूनिख व्यवस्था में युद्ध का ... एक अन्य पक्ष का कहना था कि इंगलैण्ड ने युद्ध छेडना इसलिए ठीक नहीं समझा क्यों ... उसकी युद्ध सम्बन्धी तैयारियां अधूरी थीं। पर, इस कथन में तो सत्यता का अधिक ... नहीं है क्योंकि इस समय इंगलैण्ड की स्थिति १९३९ के अन्तिम समय से अच्छी थी ... चेक सेनाएं भी तैयार थीं तथा रूसी सहायता का भी भरोसा था[1]।

---

१ हार्डी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास।

प्रसादक सतुष्ट थे कि युद्ध टल गया। परन्तु हिटलर उन्हें धोखा दे रहा था। म्युनिख व्यवस्था तो चेकोस्लोवाकिया के विनाश की दिशा में प्रथम कदम था। शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि प्रसादन के द्वारा विश्व शांति किसी भी कीमत पर नहीं खरीदी जा सकती। फिर भी चैम्बर लेन का होश नहीं आया और जिस समय हिटलर यहूदियों पर अमानवीय अत्याचार कर रहा था, चैम्बरलेन व्यक्तिगत बातचीत के द्वारा शांति स्थापित करने के पक्ष में था। जब हिटलर ने चेक राज्य को पूर्णतया हड़प लिया तब कहीं जाकर चम्बरलेन को अपनी नीति के दोषों का पता लगा और उसने हिटलर की गति को रोकने का प्रयत्न किया। ३१ मार्च १६३६ को पोलैण्ड को सुरक्षा का आश्वासन दिया गया, परन्तु अब परिस्थितियां बदल चुकी थीं। नात्सी भेड़ियों का लहू का स्वाद मिल चुका था और विश्व की कोई ताकत भावी महायुद्ध को रोकने में समर्थ नहीं थी।

**इटली के प्रति प्रसादन नीति**

इटली के सम्बन्ध में भी ब्रिटिश प्रसादन नीति पूर्ण रूप से असफल रही। इटली, महायुद्ध की समाप्ति के बाद से ही मित्र राष्ट्रों से असंतुष्ट हो गया था क्योंकि उसे लूट के बँटवारे में उचित हिस्सा नहीं मिला था। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली की शक्ति और उसकी महत्वाकांक्षाओं का विकास होने लगा। मुसोलिनी शुरू में नात्सी जर्मनी का विरोधी था। परन्तु मित्र राष्ट्रों के साथ भी उसके सम्बन्ध अधिक अच्छे नहीं थे। क्योंकि मुसोलिनी भूमध्यसागर को अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था। ईथोपिया और अल्बानिया को हड़पना चाहता था। बाल्कन प्रायद्वीप में इटली का प्रभाव स्थापित करना चाहता था। परन्तु इंगलैण्ड और फ्रांस को यह स्वीकार नहीं था। उधर यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियाँ द्रुत गति से बदलने लगीं। हिटलर काफी शक्ति शाली हो गया था और इंगलण्ड तथा फ्रांस को यह भय लगने लगा कि कहीं इटली जर्मनी के साथ गठ बन्धन न कर बैठे। अतः इटली के प्रति ब्रिटिश प्रसादन नीति का प्रमुख आधार रोम बर्लिन धुरी के निर्माण को रोकना था। इसलिए यह जानते हुये भी कि इटली की ईथोपिया विजय से राष्ट्रसंघ की नींव खोखली हो जायेगी, विश्वशांति खतरे में पड़ जायेगी, भूमध्यसागर में इटली की प्रधानता के कारण ब्रिटेन की आर्थिक कूटनीतिक और राजनीतिक स्थिति को भारी धक्का लगेगा, ब्रिटेन ने इटली ईथोपिया संघर्ष के समय प्रसादन की नीति का अनुसरण किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इटली के मामले में फ्रांस ने प्रथम कदम बढ़ाया। ७ जनवरी १६३५ ई० को फ्रेंच विदेश मन्त्री लावाल (Laval) ने अपनी रोम यात्रा के समय गुप्त रूप से मुसोलिनी को ईथोपिया में मनमानी कार्यवाही करने की छूट दे दी थी। हालांकि सार्वजनिक रूप से वह मुसोलिनी की आलोचना करता रहा। परन्तु जैसा कि शूमन ने लिखा है कि लावाल ने जूल रोमें (Jules Romains) को कहा था 'मैंने मुसोलिनी को ईथोपिया दे दिया है।'[1] जून १६३५ को ब्रिटिश विदेश मन्त्री सैमुअल होर ने भी लावाल की नीति का गुप्त

[1] शूमेन—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।

रूप म समथन कर दिया था। २४ जून को ईडन ने राम जाकर मुसालिनी को म समझा दिया कि वह इथोपिया के सम्बन्ध में कार्यवाही करे। इसके बाद इगलैण्ड और फ्रास ने ईथोपिया के अग भग म इटली की याजनाएँ भी बनाई परन्तु मुसोलिनी ने उन्हे ठुकरा दिया।

ब्रिटिश लोकमत को सतुष्ट करने के लिये क्योकि आम चुनाव नजदीक था इगलैण्ड ने राष्ट्रसघ में इटली की नीति का जोर शोर से विरोध किया। तरफ मुसोलिनी को गुप्त रूप से आश्वासन भी देता रहा। गथान हार्डी न कि १० सितम्बर १९३५ को होर ने लावाल को स्पष्ट बता दिया था कि इटली के विरुद्ध राष्टसघ के द्वारा किसी प्रकार की विघ्नकारी अनुशास्तियाँ नहीं दगा और न ही सनिक कायवाही की जायेगी।[१] लावाल न मुसोलिनी को इसकी द दी। इस प्रकार के आश्वासन के उपरान्त ही मुसोलिनी ने १ अक्टूबर को पर आक्रमण किया था। ७ अक्टूबर को सघ ने इटली को आक्रान्ता घोषित और ८ अक्टूबर को इटली के विरुद्ध अनुशास्तियाँ जारी कर दी गई। ब्रिटिश नवम्बर में होने वाले आम चुनावो को जीतने के लिये दिखावटी तौर पर इनकी निन्दा करते रहे और इस कारण बाल्डविन का मन्त्रिमण्डल चुनाव जीत भी गया। ७ दिसम्बर १९३५ को सपादित होर-लावाल पैक्ट का भण्डा फोर हो गया और होर त्याग पत्र देना पडा।

ब्रिटेन की दुरगी नीति का परिणाम बहुत बुरा रहा। मुसोलिनी इटली के विरुद्ध स्तियो को जारी करवाने वालो को नही भूला, हालाकि बाद में इगलण्ड ने अनुशा का रद्द करवाने का प्रयत्न भी किया। परन्तु अब समय बीत चुका था और मुसो को ब्रिटिश नीति के प्रति विश्वास नही रहा और वह जमनी की तरह झुकने लग राम बर्लिन धुरी का निर्माण हो गया। यह अच्छा होता यदि निर्बल कदमो को की बजाय किसी प्रकार का कोई कदम नही उठाया जाता। क्योकि इस स्थिति प्रसादन नीति कुछ अशो में सफल हो सकती थी और राम-बर्लिन धुरी को नष्ट जा सकता था। इस प्रकार की शिथिल और उदासीन प्रसादन नीति के कारण ईथोपिया, अल्बानिया और राष्टसघ का अन्त हो गया और इटली भी जमनी से जा मिला।

जमनी और इटली के सम्बन्ध म ब्रिटेन द्वारा जिस प्रसादन की नीति का पालन किया गया था, उसका सर्व प्रथम प्रयोग जापान के साथ किया गया था। जापान के सम्बन्ध में ब्रिटिश प्रसादन नीति को लागू करने के निम्न कारण थे—(१) ब्रिटेन का विश्वास था कि सुदूर पूर्व में जापान की पराजय का अर्थ साम्यवादी प्रभाव की प्रगति है। अर्थात् जापान को मचूरिया में रोकने का प्रयत्न किया जाता है।

**जापान के प्रति प्रसादन नीति**

आतरिक मगोलिया, मचूरिया और चीन मे साम्यवादी प्रभुत्व को रोकना न

---

२—हार्डी–अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सक्षिप्त इतिहास।

परन्तु जापान के विरुद्ध कार्यवाही करने से स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया। इंगलैण्ड यह नीति बहुत खतरनाक थी क्योंकि इस नीति के द्वारा वह चीन के राष्ट्रीय साम्यवादी प्रसार तथा कुछ सीमा तक अमेरिका के विरोधी तत्वों का प्रसार गया। परन्तु अन्त में ग्रेट ब्रिटेन को अपनी भूल का ज्ञान होकर ही रहा।

इस प्रकार हम देखते है कि इंगलैण्ड ने सर्व प्रथम जापान के सम्बन्ध प्रसादन नीति का प्रयोग किया परन्तु इसमें उसे विफलता मिली। फिर भी, इस विफलता से उसने कुछ भी सबक नहीं सीखा और इसी प्रकार की नीति जर्मनी और इटली के सम्बन्ध में लागू की। हां, हिटलर और मुसोलिनी ने अवश्य ही नीति की विफलता से सबक सीखा और इस अर्जित ज्ञान के आधार पर उन्होंने राज्यों की स्थापना का प्रयत्न भी किया।

फ्रांस की प्रसादन नीति फ्रांस का सुरक्षा समस्या से घनिष्ट रूप से सबंधित थी। वैसे अपने साथियों की सहायता से प्रथम महायुद्ध में फ्रांस जर्मनी को पराजित करने में सफल रहा परन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद भी फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिये भयातुर रहा और इसी उधेड़ बुन में उसने अनेक राष्ट्रों से सन्धियां भी कीं।

**फ्रांस की प्रसादन नीति** फ्रांस के इतिहास का अवलोकन करने पर हमें एक बात का ज्ञान हो जाता है कि गत १६ शताब्दियों से फ्रांस की विदेश नीति की धुरी फ्रांसीसी सुरक्षा रूपी धुरी के सहारे ही घूमती रही है। यही कारण था कि पेरिस शांति सम्मेलन में तत्कालीन प्रधान मन्त्री क्लामेन्शो ने फ्रांस की सुरक्षा पर अत्यधिक जोर दिया था।

अपनी आत्म सुरक्षा की दृष्टि से फ्रांस ने अनेक कदम उठाये। सर्वप्रथम उसने अपनी पूर्वी सीमा को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया। इसके बाद उसने जर्मनी को शक्तिहीन बनाने का अथक प्रयत्न किया और यही कारण था कि फ्रांस वर्साय सन्धि में संशोधन का कट्टर विरोधी था। क्षतिपूर्ति के दावों में कमी करने का भी वह घोर विरोधी था। इसी प्रकार यह उस समय तक जब तक कि उसे सुरक्षा की ठोस प्रत्याभूति न दी जाय निःशस्त्रीकरण को लागू करने का भी विरोधी था। फ्रांस का दूसरा कदम अन्य देशों से सैनिक सहायता प्राप्त करने वाली सन्धियों को सम्पादित करना था। इस दृष्टि से उसने एक तरफ तो इंगलैण्ड के साथ अपनी सुलह नीति जारी रखी और दूसरी तरफ पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और रूमानिया के साथ सन्धियों की शृंखला स्थापित की। तीसरा कदम राष्ट्रसंघ को जीवित रखने के सम्बन्ध में उठाया गया। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो मालूम पड़ेगा कि फ्रांस ने इस शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाने के लिये अथक प्रयत्न किया था और इसको जीवित रखने में उसका सहयोग अत्यधिक महत्व रखता है। फिर भी, फ्रांस के प्रयत्नों का कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। १९३२ तक यूरोप की राजनीति का कायाकल्प हो चुका था। इटली और जर्मनी शक्तिशाली बन चुके थे, राष्ट्रसंघ का पतन हो चुका था, साम्यवादी रूस भी महान शक्ति बन चुका था, जर्मनी ने

खुल्लम खुल्ले रूप से अपनी साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर रहा था और ब्रिटेन आंख मूंद कर शांति संधियों का प्रतिक्रमण सहन कर रहा था। ऐसी स्थिति में फ्रांस को मजबूर होकर ब्रिटेन का अनुसरण करना पड़ा और प्रसादन की नीति का पालन करना पड़ा।

फ्रांस की प्रसादन नीति के प्रमुख आधारों को ढूंढने के लिये हमें अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। सर्वप्रथम आधार फ्रेंच नीति की दुर्बलता, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिर नीति की अभिव्यक्ति था। प्रथम महायुद्ध में फ्रांस को जन धन की भयंकर क्षति सहन करनी पड़ी थी। उसकी जनसंख्या की वृद्धि भी रुक गई थी। उधर जर्मनी के द्वारा क्षतिपूर्ति के दावा की अदायगी से इंकार करने के परिणामस्वरूप फ्रांस की आर्थिक स्थिति काफी शोचनीय हो गई थी। इस प्रकार के वातावरण में प्रजातन्त्र विरोधी तत्वों का प्रभाव बढ़ने लगा। मन्त्रिमंडलों की अस्थिरता के कारण ठोस नीति का पालन करना सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में उसे प्रसादन की नीति का अनुसरण करने को विवश होना पड़ा। दूसरा आधार था युद्ध के विनाश की स्मृति को ताजा रखना। फ्रांस अभी उस विनाश को भूला नहीं था और इस प्रकार विनाश की पुनरावृत्ति को रोकने के लिये उसे प्रसादन मार्ग ग्रहण करना पड़ा। वैसे फ्रांस को केवल अपनी सुरक्षा की चिन्ता था। अपनी चिन्ता से मुक्ति पाने की आशा में वह प्रसादन का पल्ला पकड़े रहा। तीसरा आधार साम्यवादी भय था। इंगलैण्ड की भांति फ्रांस को भी साम्यवाद के बढ़ते कदमों से काफी चिंता हो रही थी और उसने भी साम्यवाद के विरोधी एक शक्तियों को सन्तुष्ट करने में ही अपना कल्याण समझा। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से फ्रांस का यह कदम गलत था। क्योंकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि रूस के साथ मिलकर लड़े जाने वाले प्रत्येक युद्ध में फ्रांस की विजय हुई है जबकि रूस के सहयोग के बिना लड़े गये प्रत्येक युद्ध में फ्रांस पराजित हुआ है। फ्रांस की प्रसादन नीति का चौथा आधार किसी भी कीमत पर इटली की मित्रता प्राप्त करना था। उसका विश्वास था कि जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिये इटली की सहायता आवश्यक है। हालांकि इस नीति के कारण फ्रांस को पोलैण्ड की मित्रता से हाथ धोना पड़ा। इटली द्वारा ईथोपियन अभियान के समय फ्रांस को विष के कड़ुवे घूंट पीने पड़े, स्पेन के गृह युद्ध में इटली को सन्तुष्ट करने की खातिर स्पेनिश प्रजातन्त्र का गला घुट जाने दिया। यहाँ तक कि संधियों की वह शृंखला जिसको स्थापित करने और कुछ समय तक बनाय रखने में फ्रांस को अथक प्रयत्न करना पड़ा था, टूट गई और उसके मित्र देश उसे बददुआएं देने लग गये थे। लघु मैत्री संघ समाप्त हो चुका था, रूस के साथ औपचारिक सम्बन्धों की स्थापना अभी कल्पना की उड़ान थी, जर्मन भय दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था और अमरिका अभी अपने एकान्तवास में मस्त था। म्यूनिख समझौते पर हस्ताक्षर करके फ्रांस ने सोवियत संघ की सहानुभूति को भी खो

दिया और जमनी के लिये पोलैण्ड विजय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ६ दिसम्बर १... की फ्रैंको जर्मन उद्घोषणा ने तो प्रसादन के क्षेत्र में इंगलैण्ड को भी पछाड़ दिया। ... लेखक ने इसकी चर्चा करते हुये लिखा है कि उसने जर्मनी से एक ऐसे ... का नाम चेक स्वीकार किया जिसका कभी कोई अस्तित्व ही न था। इस नीति से अंत में, फ्रांस इटली और सोवियत संघ दोनों को ही खो दिया। अन्त में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि जब फ्रांस की स्वयं द्वारा निर्मित सुरक्षा भित्ति ढह गई तो उसने इंगलैण्ड का दामन थाम लिया और इन अंतिम कृत्य ने उसे स्वतन्त्र रूप से कदम उठाने की ... से वंचित कर दिया।

अब हम अमेरिका की प्रसादन नीति की तरफ आते हैं। अमेरिका की प्रसादन नीति का सही मूल्यांकन करने के लिये प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अमेरिकन विदेश नीति को समझना अनिवार्य हो जाता है। अमेरिका की विदेश नीति का स्वरूप बहुत कुछ उस युग की ब्रिटिश नीति से जब कि वह यूरोपीय महाद्वीप से 'एकान्तवास' ग्रहण कर चुका था मिलता जुलता था। इस प्रकार की नीति में कोई ... तथ्य नहीं होता है।

**अमेरिका की प्रसादन नीति**

यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अमेरिका ने दूसरों की राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में, किसी अन्य राष्ट्र की अपेक्षा अधिक नैतिकता का प्रदर्शन नहीं किया था। यह बात अवश्य सही है कि प्रथम महायुद्ध के बाद से ही उसका राजनीतिक और आर्थिक महत्व दिन प्रति दिन विकसित होता जा रहा था। फिर भी, वास्तविक रूप से, उसकी प्रजातन्त्र की सुरक्षा या स्वाधीनता अथवा उपनिवेशों की मुक्ति के सम्बन्ध में कोई विशेष रुचि नहीं थी। उसकी रुचि तभी सक्रिय हो उठती थी जब उसके स्वयं के आर्थिक या राजनीतिक हितों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो। अन्य राष्ट्रों की भांति अमेरिकन नीति का ध्येय भी सुरक्षा सम्मान तथा ... परन्तु जहां तक उसका स्वयं का प्रश्न था उसे बहुत कम चिन्ता थी।

यहां पर अमेरिकन विदेश नीति के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक चर्चा करना अनुचित नहीं होगा। पेरिस के शान्ति अधिवेशन में तथा संधियों की रचना और राष्ट्र संघ की स्थापना में अमेरिका ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। परन्तु जब वर्साय संधि के अनुसमर्थन का प्रश्न आया तो अमेरिका ने अस्वीकार कर दिया और ... १९२१ में उसने जर्मनी से साथ एक पृथक संधि की राष्ट्र संघ की सदस्यता को भी ठुकरा दिया। १९३४ तक अमेरिका ने साम्यवादी सोवियत संघ को मान्यता तक नहीं दी थी। परन्तु जिन समस्याओं के साथ उसके हित सम्बन्धित थे जैसे ... क्षतिपूर्ति और मित्रराष्ट्रों के युद्धकालीन कर्ज आदि, उनके समाधान में वह समय समय पर न केवल सहयोग ही देता रहा बल्कि मार्ग भी निर्देशित करता रहा। परन्तु उसकी ... का मुख्य लक्ष्य सुदूर पूर्व था और यही कारण था कि १९२१ में वाशिंगटन सम्मेलन में समझौता को सफल बनाने के लिये उसने अथक प्रयत्न भी किया। फिर भी, ...

रिस्थितियों और घटनाओं के विचित्र मोड से वह अप्रभावित नही रह सका और उसे
 प्रसादन का मार्ग पकडना पडा।

अब हमारे सामने यह सवाल उठ खडा होता है कि अमेरिकन प्रसादन नीति के प्रमुख आधार क्या थे। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम आधार साम्यवादी भय था। अमेरिका का भी विश्वास था कि साम्यवादी रूस के विरुद्ध जर्मनी और इटली का प्रयोग किया जा सकता है जैसे एकशास्ताओं की नीति और अमेरिका की नीति में विशेष अन्तर भी नही था। अमेरिकन प्रसादन का दूसरा आधार रोमन कैथालिक चर्च था। अमेरिका के अधिकांश मतदाता रोमन चर्च के नुयायी थे और इटली रोमन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। अत यह स्वाभाविक ही था कि मेरिका रोमन राष्ट्रों के प्रति उदार नीति अपनाये। तीसरा आधार पूंजीपतियो का भाव था। अमेरिका पूँजीवाद का सबसे प्रमुख गढ है। पूँजीवाद और साम्यवाद का मिलन असम्भव था। अत अमेरिका ने साम्यवादी विरोधी देशों–इटली और जर्मनी कार्यों में रुकावट डालने का प्रयत्न नही किया। उल्टा जहाँ तक सम्भव हो सका योग देने का प्रयत्न ही किया। एक बात और भी थी। जर्मनी और इटली में मेरिका के करोडो डालर बकाय थे और एकशास्ताओं को असन्तुष्ट करके वह एक ाई भी वसूल नही कर सकता था। अन्तिम आधार अमेरिका का राज्यविभाग था। मेरिकन नीति का निर्माण इसी विभाग के द्वारा होता था और यह विभाग शुरू से ही । निश्चय पर पहुँच चुका था कि अमेरिकन जीवन का निर्माण समाजवादी सिद्धान्तों पर भी विकसित नहीं हो सकता।। अत समाजवादी विचारों का शुरू से ही कुचल देने हित है।

**मेरिकन नीति के आधार**

अमरिका राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का [illegible] मभता था। अत जब इटली ने इथोपिया पर आक्रमण किया तो [illegible] "तटस्थ नियम" पारित किया और देशभक्तो की जो इटली के [illegible] थ सहायता मिलनी बन्द हो गई। १९३७ में इस नियम [illegible] में परिवर्तित कर दिया गया और [illegible] राष्ट्रो को सहायता मिलनी बन्द हो [illegible] चाह खरीद सकते थे और [illegible] ले जा सकते थे। क्योंकि [illegible] मे निषिध कर दिया [illegible] परम्परागत नीति के प्रतिकूल थी। [illegible] युद्धरत राष्ट्रो का दी जाने वाली [illegible] लाई समझी। ईथोपियन सघर्ष के [illegible] कार्यवाहियों की चर्चा नहीं की। [illegible] यह युद्ध के समय में इस [illegible]

**इटली और जर्मनी के प्रति प्रसादन**

पक्ष को किसी प्रकार के अस्त्र शस्त्रो का निर्यात नही किया गया। अमरिका
लोगो ने रोमन कैथोलिक जनरल फ्रैंको का जबरदस्त समर्थन किया और
सरकार को भी सन्देह था कि सोवियत रूस स्पेनिश सरकार की सहायता कर
अत अमेरिका को प्रसादन की नीति का पालन करने को विवश होना पडा।

१९३७ में अमरिका ने 'शान्ति के अष्ठागस्तम्भ" (Eight Pillars
Peace) की घोषणा की। इससे अधिनायको का यह विश्वास हो गया
अमेरिका उधेड बुन में लगा हुआ है और वह कागजी-योजनाओ के अतिरिक्त
कदम उठाने की स्थिति में नही है। १९३८ की घटनाओ ने अमरिका की नीति में
परिवर्तन अवश्य ला दिया। यही कारण था कि म्यनिख समझौते के ता...
रूजवेल्ट ने इगलण्ड, फ्रास, जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया का सुझाव दिया
समस्या का शान्तिपूर्वक निपटाना ही श्रेयस्कर है और इस सम्बन्ध में परिस्थिति
ध्यान में रखना अधिक लाभप्रद होगा। इसके बाद अमेरिकन नीति कुछ सख्त होती
जब हिटलर ने यहूदियो का दमन शुरू किया तो अमरिका ने अपने बर्लिन स्थित
को वापिस बुला लिया। और जर्मनी के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध भी तोड़
१४ अप्रैल १९३९ को अमेरिका ने हिटलर को अन्तिम चेतावनी देते हुए उसे
३० राष्ट्रो की एक सूची भेजी और जर्मनी को स्पष्ट कहा गया कि इन पर
आक्रमण न किया जाय। हिटलर ने सूची की तरफ कोई ध्यान नही दिया। कि
अमेरिका ने हस्तक्षेप करना उचित नही समझा। द्वितीय महायुद्ध के सूत्रपात
जब धुरी राष्ट्रो को आशातीत सफलता मिलने लगी तब कही जाकर अमरिका ने
का परित्याग किया।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में अमरिका
इगलण्ड और फ्रास की भाति जापान को सन्तुष्ट करने की नीति को अपनाया
बाद मे उसने जापान के प्रति कुछ सख्त नीति को ग्रहण कर लिया। मर्चिंग
दुर्घटना के पूर्व, १९१७ २० में अमरिका ने जापान को
प्रात साइबेरिया की सीमान्त चौकियो पर अधिकार
के लिये उत्साहित किया था। परिस शान्ति सम्मेलन में
द्वारा जापानी महत्त्वाकाक्षाओ का विरोध केवल आर्थिक
से किया गया था न कि राजनीतिक आधार पर।

**जापान के प्रति अमेरिका की नीति**

सुदूर पूर्व में जापान अमरिकन उद्योग-व्यापार को भारी क्षति पहुँचा रहा था।
प्रकार १९२१ में अमेरिका ने इगलैण्ड पर जापान के साथ की गई १९०२ की सन्धि
... दबाव डालकर इसलिए डाला था कि जापान ब्रिटिश की मित्रता से वंचित
हो जाय। परन्तु जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया तो अमेरिका ने
विरुद्ध सक्रिय कदम उठाने से इन्कार कर दिया क्योंकि ... था, अमेरिका का
विश्वास था कि मंचूरिया पर जापानी आधिपत्य के द्वारा साम्यवादी ...

का जा सकता है और दूसरे जापान के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाने के लिए शक्तिशाली सेना की आवश्यकता थी और तीसरे जापान के विरुद्ध कार्यवाही करने के परिणाम रूप चीन और जापान के साथ होने वाले अमेरिकन व्यापार को भारी धक्का लगने समावना थी। इस अन्तिम स्थिति को अमेरिका सहन नहीं करना चाहता था। अत सन्न प्रसादन की नीति का अनुसरण करने में ही अपना हित समझा। अमेरिका की ति का एक कारण यह भी था कि जेनेवा स्थित अमेरिकन राजदूत चार्ल्स डावेस क्तिगत रूप से जापानियों का घनिष्ठ मित्र था और वह हमेशा अपना प्रभाव जापान पक्ष में डालता रहा। अपनी प्रसादन नीति की वैधता को प्रमाणित करने के लिए मेरिका ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि पेरिस पैक्ट और नौ राष्ट्रों की सधि Nine Power Treaty) जनमत पर आधारित है और जनमत की सलाह के ना उनको कार्यान्वित करना सम्भव नहीं है। अमरिका के इस रुख ने जापान के र किसी भी सक्रिय कदम को निरर्थक बना दिया। परन्तु फिर भी अमेरिका द्वारा नये राज्य (मचूरिया का जापानी नामकरण) को मान्यता न देने की नीति ने ससार आश्चर्यचकित अवश्य कर दिया। १९३२ में अमेरिकन राष्ट्रपति का नवीन चुनाव ने वाला था। इस कारण भी कोई दल जापान के विरुद्ध कार्यवाही करना या करन घोषणा नहीं करना चाहता था क्योंकि युद्ध का अर्थ है जनता पर करों की वृद्धि। के बाद भी अमेरिका ने जापान को सतुष्ट करने की नीति को जारी रखा। यहाँ कि ५ अक्टूबर १९३७ में जब अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने शिकागो मे अपन भाषण में जापान की कार्यवाहियों को रोकने की चर्चा की तो अमेरिकन जनता ने की काफी आलोचना की। इतना ही नहीं बल्कि अमेरिकन सविधान में भी सशोधन दिया गया कि किसी राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध की घोषणा जनमत के बहुमत के आधार ही की जानी चाहिए। ३ नवम्बर १९३७ का ब्रुसल्ज सम्मेलन म भी अमेरिका न पान के विरुद्ध किसी प्रकार का सक्रिय कदम उठाने से इन्कार कर दिया। हालाकि समय जापान ने मार्कोपालो दुर्घटना का बहाना लेकर चीन पर पुन नये सिरे से क्रमण कर दिया था। अमेरिकन प्रसादन नीति अपने ध्येय की चरम सीमा पर पहुँच जबकि जापान ने यांग्सी नदी में अमरिकन जहाजों पर बम वर्षा की और चीन बसे अमरिकन नागरिकों की बुरी तरह स अपमानित किया परन्तु अमेरिका ने मान रण कर लिया। जुलाई १९३९ में अमेरिका ने जापान के साथ की गई आर्थिक सधि भग करने के उपरान्त जापान को ७०% तेल, ६५% मोटर का सामान, ७५% हवाई हाज का सामान, ९०% इस्पात और लोहा आदि सामान अमेरिकन बाजार से खरीदने छूट दी गई। अमेरिकन प्रसादन नीति का अन्त तभी हुआ जबकि जापान ने अमेरिका पर्लहारबर पर आक्रमण कर दिया। गुप्ता ने अमरिकी प्रसादन नीति का सिंहाव लोकन करते हुए लिखा है कि 'The United States sought to reconcile Japanese Impearialism with the Open Door Policy

in Eastern Asia and in this she proved to be a miserable failure"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप की दो प्रमुख शक्तियां—इंगलैण्ड और तथा अमेरिका ने एकशास्ताओं—जर्मनी, इटली और जापान को संतुष्ट करने का किया। दूसरे शब्दों में छोटे छोटे निर्बल राज्यों की बलि देकर अपनी सुरक्षा का प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु एकशास्ता उनकी बलि से या पूजा से संतुष्ट नहीं हुए और अपने भक्त पर ही वार कर बैठे। तब कहीं " को अपने भगवान की लीला का आभास हुआ और द्वितीय महायुद्ध सूत्रपात हुआ।

---

( १ ) M G Gupta—International Relations since 1919

— ८ —

दसवा अध्याय

# द्वितीय महा युद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन एवं शान्ति समझौते

**भूमिका**

द्वितीय महायुद्ध के कारणा की चर्चा करते हुये श्री लैंगसम ने लिखा है कि [मि]त्रराष्ट्रो ने प्रथम महायुद्ध के उपरान्त" ऐसी सधि तैयार की जो इतनी कठोर थी कि जर्मनी को उसके प्रतिशोध की भावना से आतप्रेत कर तथा इतनी मृदु थी कि वह बर्लिन को बीस वर्ष में ही पुन महान [illegible] शक्ति बनादे।"[1] परन्तु इस सम्बन्ध म हमे एक बात का [illegible] खना चाहिए कि वर्साय की सधि ही द्वितीय महायुद्ध का एक मात्र कारण [illegible]। [इ]सके अतिरिक्त अनेक कारण थे। अनेक प्रकार की प्रवृत्तिया एव [illegible] [वि]रोधी परिस्थितियो के परिणामस्वरूप ही विश्व शान्ति का विनाश [illegible]। [illegible] [वि]श्लेषण गत अध्याय में किया जा चुका है। यहा पर, सक्षेप में, [illegible] [स]कता है। द्वितीय महायुद्ध के लिये उत्तरदायी प्रमुख तत्व इस [illegible] [illegible] कठोर शर्तें और इन शर्तों का पालन करवाने वाला [illegible], [म]हायुद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय मसला को हल करने के [illegible] [प]रस्पर विरोधी नीति का अवलम्बन, विश्वशान्ति का [illegible], [illegible] शस्त्रीकरण के प्रति बड़ राष्ट्रो का उदासीनता [illegible] [illegible] [illegible], क्षतिपूर्ति समस्या का विकृत रूप और [illegible] प्रभाव, [illegible] [श]क्तियो में सहयोग की कमी, रोम बर्लिन-टोकियो [illegible], [illegible] [illegible] समस्या की आड में जर्मनी की [illegible] [illegible] अराजकता की उत्पत्ति प्रसादन नीति [illegible]। [illegible] [फ]लस्वरूप द्वितीय महायुद्ध का [illegible] १९३९ [illegible] [हो] सका।

महा युद्ध के मध्यकाल [illegible] [illegible] [illegible] गया। इस सम्बन्ध में [illegible] [illegible] [आ]वश्यक है क्योंकि [illegible]

---

1—लैंगसम—[illegible]

किया गया था और युद्धोपरान्त जो शांति समझौते सम्पन्न हुए वे इसी पर आधारित थे।

प्रथम महायुद्ध की भाँति, इस बार भी अमेरिका युद्ध की प्रारम्भिक अवस्था में से पृथक ही रहा। परन्तु इस बार भी वह शुरू से मित्रराष्ट्रों की सैनिक सामग्री से सहायता करता रहा। ६ जून १६४१ को अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमेरिकन नीति की व्याख्या करते हुए कहा कि इस नीति का ध्येय संसार को चार स्वतन्त्रताओं (Four Freedoms) की उपलब्धि कराना है।

**अटलाण्टिक चार्टर**

ये इस प्रकार थी—(१) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (२) धार्मिक की स्वतन्त्रता, (३) अभाव और निर्धनता से स्वतन्त्रता अर्थात् गरीबी और बेकारी का अन्त और (४) भय से स्वतन्त्रता।

१४ अगस्त १६४१ को अटलाण्टिक सागर के तट पर न्यूफाउंडलैण्ड के समीप एक युद्धपोत पर अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल एक साथ मिले और एक सामान्य नीति की घोषणा की। इतिहास में इसे 'अटलाण्टिक चार्टर" (Atlantic Charter) के नाम से पुकारा जाता है। चार्टर की आधार शिला उपरोक्त चार स्वतन्त्रताएं" ही थी।

यह सम्मिलित घोषणा इस प्रकार थी—"संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति संयुक्त साम्राज्य की सम्राट की सरकार का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रधान मन्त्री मि० चर्चिल, एक स्थान पर मिलते हुए, अपने अपने देशों की राष्ट्रीय नीतियों के सामान्य सिद्धान्तों को बताना उचित समझते है, जिन पर उन्होंने संसार के लिए अच्छे भविष्य की आशा आधारित की है। सर्व प्रथम, उनके देश, प्रादेशिक या अन्य प्रकार की, शक्ति वृद्धि नहीं चाहते। दूसरे वे ऐसे कोई भी प्रादेशिक परिवर्तन नही देखना चाहते, जो उनसे सबंधित लोगों की स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट की गई इच्छा के अनुकूल न हो। तीसरे, वे प्रत्येक राष्ट्र के, अपनी सरकार, जिसके अन्तर्गत वे रहें, के रूप को चुनने के अधिकार का सम्मान करते है, तथा वे यह देखना चाहते हैं कि जिन राज्यों के सत्तात्मक अधिकारों एवं स्व शासन को बल पूर्वक छीन लिया गया है वे उन्हें फिर से प्राप्त हो जायें। चौथे, वे, अपने वर्तमान कर्तव्यों का पूरा ध्यान रखते हुए सभी राज्यों के लिये, चाहे वे छोटे हों अथवा बडे, विजेता हों अथवा विजित, इस बात की चेष्टा करेंगे कि उन्हें समान रूप में संसार के व्यापार एवं कच्चे माल की प्राप्ति के साधन प्राप्त हो सकें, जो उनकी आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं, पाँचवें वे, सभी के लिए मजदूरी के उन्नत स्तरों, आर्थिक उन्नति एवं सामाजिक सुरक्षा की प्राप्ति की दृष्टि से, आर्थिक क्षेत्र में, सभी राष्ट्रों के मध्य, पूर्ण सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं। छठे, नाजी अत्याचार को अन्तिम रूप से नष्ट करने के उपरान्त, वे एक ऐसी शान्ति की स्थापना करने की आशा करते है जो सभी राष्ट्रों को, अपनी अपनी सीमाओं के

भीतर, सुरक्षित रहने के साधन दे सकें, तथा जो यह आश्वासन भी दे सकेगी कि सभी मनुष्य सभी देशों में भय तथा युद्ध से स्वतंत्र होकर अपना जीवन व्यतीत कर सकें, सातवें, इस प्रकार की शान्ति, बिना रुकावट के, बाह्य सागरों एवं महासागरों को पार करने का अधिकार प्रदान कर सकेगी, आठवें उनका विश्वास है कि संसार के सभी राष्ट्रों को, वास्तविक एवं आध्यात्मिक कारणों की दृष्टि से, शक्ति के प्रयोग को छोड़ देना चाहिये, क्योंकि यदि राज्य स्थल, जल अथवा हवा के शस्त्रों का प्रयोग करते रहेंगे, जो उनकी सीमाओं के बाहर आक्रमण की धमकी देते हैं अथवा दे सकते हैं, तो भविष्य में शान्ति नहीं रह सकती, अतएव उनका विश्वास है कि सामान्य सुरक्षा की एक विस्तृत एवं स्थायी व्यवस्था की स्थापना के समय तक, ऐसे राज्यों का निरस्त्रीकरण आवश्यक है। इसी प्रकार से, वे अन्य सभी व्यावहारिक कार्यों में सहायता एवं प्रोत्साहन देंगे, जो शान्तिप्रिय लोगों के शस्त्रों के भारी बोझ को हलका कर सकेंगे।[1]"

इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि इस समय तक संयुक्त राज्य अमेरिका प्रत्यक्ष रूप से महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था। ऐसा तो ७ दिसम्बर १९४१ को पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण के उपरान्त ही सम्भव हो सका। ८ दिसम्बर को अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों की तरफ से

**संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा**

महायुद्ध में प्रवेश किया। ११ दिसम्बर को धुरी राष्ट्रों—जर्मनी, इटली और जापान ने अपने "त्रिपक्षीय समझौते" (Tripartite Pact) को, जिसे २७ दिसम्बर १९४० में सम्पन्न किया गया था, पुनः पुष्ट किया और साथ ही अमेरिका और ब्रिटेन से पृथक संधि करने की भावना भी अभिव्यक्त की। परन्तु उपरोक्त राष्ट्रों ने इस प्रकार की संधियोजना को ठुकरा दिया और मित्र राष्ट्रों की तरफ से जिनकी संख्या इस समय तक २१ हो चुकी थी, (२१ राष्ट्र निम्न थे—अमेरिका, इंगलैंड, रूस, चीन, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाडा, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, डामिनिकल प्रजातन्त्र, एल सेलवेडर, यूनान, ग्वाटेमाला, हेयटी, होंडूरास, भारत, लग्जेमबर्ग, हालैंड, न्यूजीलैंड, निकारागुवे, नार्वे, पनामा, पोलैंड, दक्षिण-अफ्रीका और यूगोस्लाविया।) और जिन्हें 'संयुक्तराष्ट्र" (United Nations) का नया नाम दिया गया, अटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तों पर आधारित एक नूतन घोषणा की गई। इस घोषणा को "संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा" कहा जाता है। यह एक जनवरी १९४२ को की गई।

इस घोषणा में कहा गया है कि 'इस पर हस्ताक्षर करने वाली सरकारें, १४ अगस्त सन् १९४१ ई० की अमेरिका के राष्ट्रपति एवं ब्रिटेन के प्रधानमंत्री की सम्मिलित

---

(१) शूमेन—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।

ामवार सामान्य सुरक्षा के महत्वपूर्ण तथ्यों के सम्बन्ध में कुछ निर्णय किया जाना है। नराष्ट्र के आपसी मतभेदों को दूर करने के लिए लन्दन में "परामर्शदाता आयोग" (European Advisory Commission) की स्थापना की जाती है। स्ट्रिया के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि युद्धोपरान्त उसे पुनः जर्मनी से पृथक दिया जाय और उसे एक स्वतन्त्र तथा स्वाधीन राष्ट्र का सम्मान दिया जाय। ली के बारे में यह तय किया गया कि फासिज्म को जड़ मूल से समाप्त कर दिया ाय और लोकतन्त्र की स्थापना की जाय और देश के निवासियों को, उपासना, भाषण, आदि की स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। जर्मनी के भविष्य के बारे में यह व्यवस्था गई कि महायुद्ध के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को कठोर दंड दिया जाय। मास्को मेलन में भविष्य में, संसार की शांति को बनाये रखने के लिए, एक अन्तर्राष्ट्रीय ंस्था की स्थापना करने का निर्णय भी किया गया। इस प्रकार यह सम्मेलन बहुत हत्वपूर्ण रहा।

मास्को सम्मेलन में यूरोप के शत्रु राष्ट्रों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय किये गये। न्तु सुदूर पूर्व की समस्या का समाधान अभी बाकी था। इस क्षेत्र में जापान अभी तक मराष्ट्रों का डटकर मुकाबला कर रहा था। अतः २२ नवम्बर १९४३ को अमेरिका की तरफ से रूजवेल्ट, ब्रिटेन की ओर से चर्चिल और चीन की तरफ से जनरल च्यांग काई शेक का काहिरा में सम्मेलन हुआ और चार दिन के विचार विमर्श के उपरान्त वे एक निश्चय पर चने में सफल हुये। यह निश्चय इस प्रकार था—जापान की शक्ति को कुचलने के लिये त्त राष्ट्र अपनी सम्पूर्ण जल, नभ और स्थल सैन्यशक्ति का प्रयोग करें। चीन को यह श्वासन दिया गया कि जापान ने बलपूर्वक जिन चीनी प्रांतों को हड़प लिया है उन ्तों को पुनः चीन को लौटा दिया जायेगा क्योंकि 'तीन महान मित्रों' की किसी नये देश की महत्वाकांक्षा नहीं है। इस सम्मेलन में कोरिया की समस्या पर भी विचार या गया और युद्धोपरान्त कोरिया को स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने का विचार किया गया। इस म्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि चूंकि रूस और जापान अभी तक एक सरे के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए थे, अतः सोवियत रूस ने इस सम्मेलन में ाग नहीं लिया।

काहिरा सम्मेलन

अगला महत्वपूर्ण सम्मेलन ईरान की राजधानी तेहरान में (२८ नवम्बर से १ सम्बर १९४३) हुआ। इस सम्मेलन में सर्वप्रथम संसार के तीन महान् नेताओं रूजवेल्ट, चिल और स्टालिन का मिलन हुआ। इन नेताओं के अतिरिक्त तीनों देशों के सेनाध्यक्षों का भी सम्मेलन हुआ जिसमें जर्मन सैन्य शक्ति के विनाश की योजना तैयार की गई। इसके अतिरिक्त ईरान की स्वतन्त्र सत्ता एवं पूर्णता का वचन दिया गया। युद्ध में विजय एवं शांति के र दाता की घोषणा की गई। युगोस्लाविया के नेता मार्शल टीटो का और अधिक

ईरान सम्मेलन

सहायता देने का निर्णय किया गया। इस प्रकार इस सम्मेलन का भी ... हो जाता है।

महायुद्ध कालीन अंतिम महत्वपूर्ण सम्मेलन याल्टा (कृष्ण सागर में प्रायद्वीप में) नामक स्थान पर ४ फरवरी १९४५ को हुआ और ११ फरवरी रहा। इस सम्मेलन में अनेक नेताओं ने भाग लिया। रूजवेल्ट, चर्चिल, स्टालिन, नियस, ईडन, मोलोटोव, मार्शल, ब्रुक, एण्टानाव, ... वेडागन विशिस्की आदि प्रमुख थे। इस सम्मेलन में सघ यूरोप के नवीन मानचित्र, सुदूर पूर्व, मध्यपूर्व

**याल्टा सम्मेलन**

सम्बन्ध म महत्वपूर्ण विचार विमर्श किया गया और इन विचारों ने जहाँ एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता की आधारशिला रखी वहीं दूसरी तरफ मित्रराष्ट्रों में आपसी भेदों को उत्पन्न भी किया जिसकी चरम सीमा शीत युद्ध (Cold war) मानी है। शुरू शुरू मे इसके निर्णय गुप्त रखे गये परन्तु १९५५ में अमेरिका ने इन निर्णयों प्रकाशित करवा दिया। ये इस प्रकार थे– १) सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना क म साथी राष्ट्रों का २५ अप्रैल १९४५ को सैन फ्रांसिस्को में सम्मेलन बुलाना। (२) दशों के निवासियों को, जिन्हे जर्मनी और इटली के आधिपत्य से मुक्त किया ग अटलाण्टिक चार्टर में निहित स्वतन्त्रताएं प्रदान करना अर्थात् इन देशों में लोक शासन व्यवस्था की स्थापना करना। (३) जर्मनी में चार अधिकृत क्षेत्र होंगे और के कारखानों मशीनों और सामग्री तथा जर्मन जनता के श्रम स क्षतिपूर्ति वसू की व्यवस्था की गई। क्षतिपूर्ति की कुल राशि लगभग २० अरब डालर रखी इस राशि का आधा भाग रूस को देना तय किया गया। इसके साथ नाजी नाय अभियोग चलाना भी तय किया गया। इस सम्बन्ध म एक बात का ध्यान रखा चाहिए कि उपरोक्त सभी बातों को तीन बड़ राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों की दे कार्यान्वित करने की व्यवस्था की गई थी। (४) पोलैण्ड की सीमा का कुछ परिवर्त साथ स्वीकार कर लिया गया और यह व्यवस्था की गई कि पोलैण्ड की अस्थायी यथाशीघ्र स्वतन्त्र चुनाव करवाये। (५) यूगोस्लाविया में यथाशीघ्र मार्शल टीटो सुबासिच के मध्य सम्पन्न समझौते के आधार पर नूतन सरकार बनाने का निश्चय गया। (६) यूरोप में युद्ध की समाप्ति के आगामी तीन महीनों के भीतर रूस ने के विरुद्ध भी युद्ध घोषणा करने तथा मित्रराष्ट्रों का सहयोग देने का आश्वासन (७) सबसे महत्वपूर्ण निर्णय सुदूर पूर्व के बारे मे किया गया। जापान के विरुद्ध सहायता के उपलक्ष में रूस को बहुत सी सुविधाएं प्रदान की गई। जैसे कि (अ) मगोलिया में पूर्व स्थिति (Status quo) को स्वीकार किया गया। (आ) ... जापान ने रूस के जिन प्रान्तों को छीना था उन्हें पुन रूस को लौटाना तय किया ... जैसे सखालीन द्वीप का दक्षिणी भाग, पोर्ट आर्थर का बन्दरगाह आदि। (इ) ... (Dairen बन्दरगाह का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करना। (ई) चीनी पूर्वी रेलवे तथा ...

चूरियन रेलवे पर चीनी साविंयत कम्पनी का सम्मिलित अधिकार स्वीकार किया गया। (उ) मचूरिया को चीन की सार्वभौम सत्ता के अन्तर्गत मान लिया गया। (ऊ) क्यूराइल द्वीप पुनः रूस को लौटाना।

इस सम्बन्ध में चीन की स्वीकृति नहीं ली गई थी। अतः यह निश्चय किया गया कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट चीन की स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा और जापान की पराजय के बाद ही रूस को दी गई सुविधाओं को कार्यान्वित किया जायेगा। रूस चीन के साथ मैत्री संधि कर लेगा ताकि चीन को रूस की तरफ से किसी प्रकार का भय न रहे। चूँकि सम्पूर्ण वायदे जापानी पराजय के उपरान्त ही सम्भव हो सकते थे, अतः इन्हें गुप्त रखा गया और १९५५ तक संसार इनके बारे में अनभिज्ञ ही रहा।

द्वितीय महायुद्ध का वास्तविक अन्त तो १० अगस्त १९४५ को ही सम्भव हो सका परन्तु यूरोप में युद्ध का अन्त बहुत समय पूर्व हो चुका था और जापानी पराजय के आसार भी दिखने लग गये थे। अब मित्र राष्ट्रों के सामने युद्ध की समस्या का उतना अधिक महत्व नहीं रहा जितना कि विश्व शांति को बनाये रखने का। इसके लिये राष्ट्रसंघ के समान ही एक संस्था की स्थापना करना आवश्यक था।

**सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन**

इसी उद्देश्य की दृष्टि से २५ अप्रैल १९४५ को सन फ्रांसिस्को में मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन का प्रमुख कार्यक्रम संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर बनाना तथा संघ की स्थापना करना था। इस सम्मेलन की विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की गई है।

७ मई १९४५ को जर्मनी ने बिना किसी शर्त के आत्म समर्पण कर दिया और इस प्रकार यूरोप में युद्ध का अन्त हो गया। यूरोप के नवीन मानचित्र को तैयार करने तथा शत्रु राष्ट्रों के साथ की जाने वाली शांति संधियों की रूप रेखा तैयार करने की दृष्टि से पोटसडाम (Potsdam) नामक स्थान पर तीन बड़ों का एक सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन १७ जुलाई १९४५ से २ अगस्त १९४५ तक चलता रहा। इस सम्मेलन का बहुत महत्व है। हिटलर और मुसोलिनी दूसरी दुनियाँ में पहुँच चुके थे। अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट का भी १२ अप्रैल १९४५ को स्वर्गवास हो चुका था और उनके स्थान पर उपराष्ट्रपति ट्रूमन आ चुके थे। इंगलैण्ड के आम-निर्वाचन में चर्चिल का दल पराजित हो चुका था और १५ जुलाई १९४५ को मजदूर दल के नेता एटली प्रधानमन्त्री बन गये। चीन का ध्यान अभी तक जापान में उलझा हुआ था। अतः इस सम्मेलन में सोवियत नेताओं को छोड़ कर, बाकी सब लोग नये थे।

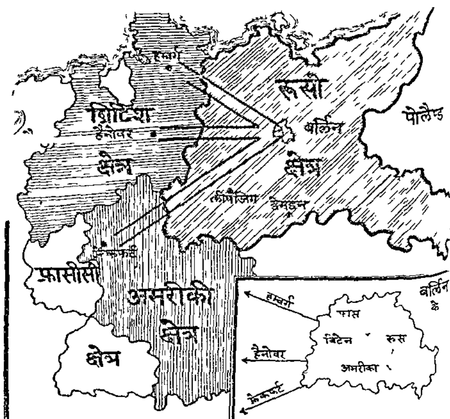
**पोटसडाम (बर्लिन) सम्मेलन**

इस सम्मेलन के सामने बहुत सी कठिनाइयाँ थीं। इसे यूरोप की भावी शांति को स्थायी बनाना था, यूरोप के अधिकांश भूभाग को, जो युद्ध काल में बर्बाद हो चुके थे, फिर से आबाद करना था, सुदूर पूर्व में जापान को पराजित करना था, पराजित जर्मनी

के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय—यह तय करना था। ५९५ अ
अधिक महत्वपूर्ण विषय था—मित्र राष्ट्रों के युद्धकालीन आपसी सहयोग को
क्योंकि युद्ध समाप्ति के बाद उनमें आपसी मतभेद का सूत्रपात हो चुका था।
विश्व के निर्माण के लिये तीन बड़ों का आपसी सहयोग नितान्त आवश्यक था।

पोटसडाम सम्मेलन में निम्नलिखित निर्णय किये गये—(१) नूतन
की रूप रेखा निर्धारित करने के लिए लन्दन में स्थायी सचिवालय रखने व
अमेरिका सोवियत रूस, फ्रांस और चीन एवं ब्रिटेन के विदेश मन्त्रियों की एक
(Foreign Minister's Council) की स्थापना करना। इस परि
काय विविध देशों के साथ की जाने वाली सन्धियों की प्रारम्भिक तैयारी करना था।

(२) दूसरा प्रमुख निर्णय जर्मन के सम्बन्ध में किया गया। जर्मनी का नि
करण और नाजीवाद का अन्त करना—इस प्रश्न पर सभी सहमत थे और यह
किया गया कि जर्मन शिक्षा की व्यवस्था इस ढंग से की जाय कि उसमें नाजी




चित्र—जर्मनी के अधिकार क्षेत्र

सैनिकवाद के सिद्धान्तों का समावेश न हो और लोकतान्त्रिक विचारों का प्रचार हो।
यह भी स्वीकार किया गया कि फिलहाल जर्मनी में किसी सरकार को मान्यता

की जाय तथा जर्मनी को चार क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाय। प्रत्येक क्षेत्र पर क्रमशः इंगलैण्ड, अमेरिका, फ्रांस और रूस का अधिकार रहे। सम्पूर्ण जर्मनी के नियन्त्रण के लिये चारों राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की एक परिषद् स्थापित की जाय। यह परिषद् जर्मनी की व्यवस्था करे और नात्सी सिद्धान्तों संगठनों का अन्त किया जाय तथा जर्मन जनता को पुनः नागरिक अधिकार प्रदान किये जाय। जर्मनी में शस्त्रास्त्र तथा युद्ध सामग्री के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। वायुयानों तथा सामुद्रिक जहाजों के निर्माण का भी निषेध कर दिया गया। जर्मन पनडुब्बियों के अधिकांश भाग को नष्ट कर दिया जाय और तीनों देशों को शोध कार्य के लिये दस दस पनडुब्बियाँ प्रदान की जाय। सामुद्रिक जहाजों को नष्ट कर दिया जाय परन्तु व्यापारिक जहाजों को तीनों राष्ट्रों में बाटने का निर्णय किया गया। जर्मनी पर युद्ध का हर्जाना भी लादा गया परन्तु इस सम्बन्ध में यह तय किया गया कि हर्जाने की वापस किश्तें इतनी ही रखी जाय जितनी कि जर्मनी बाह्य [illegible] सहायता के बिना सुगमतापूर्वक अदा करने में समर्थ हो। इसके साथ ही [illegible] किया गया कि सोवियत रूस अपने हिस्से की क्षतिपूर्ति, जर्मनी के [illegible] (पूर्वी क्षेत्र) से वसूल करेगा और पश्चिमी राष्ट्र अपने अधिकार [illegible] विदेशी पूँजी से वसूल करें। जर्मनी की तात्कालीन अर्थव्यवस्था के [illegible] और मशीनों को रखने का निर्णय किया गया। अनावश्यक [illegible] हटाने की योजना बनाई गई। प्रत्येक क्षेत्र में स्थित कारखानों [illegible] अधिकारी राष्ट्र का अधिकार रहेगा। पश्चिमी क्षेत्र [illegible] व मशीनों का दस प्रतिशत रूस को देना तय किया [illegible] अन्न, कोयला, इमारती लकड़ी आदि सामान पश्चिमी [illegible]। इस प्रकार जर्मनी के आर्थिक साधनों का बँटवारा हुआ।

(५) आस्टिया से क्षतिपूर्ति न ली जाय (६) ईरान से मित्र राष्ट्रों ... को हटा लिया जाय। (७) टजियर क्षेत्र को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रखा जाय। जापान के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय किये गये। उसे बिना किसी शर्त के ... को कहा गया और इसका पालन न होने की स्थिति में जापान का पूर्ण विध्वंस करने ... निर्णय किया गया। जापानी आत्मसमर्पण के उपरान्त जापान के सैनिक तत्वों का ... और इस कार्य के अन्त तक जापानी प्रदेश को मित्र राष्ट्रों की सेना के अधिकार में ... का निश्चय किया गया। जापान की सत्ता मोटे तौर पर हाशू (Hon... होकाइदो (Hokkaido), और क्यूशू शिकोक (Shikoku) टापुओं तक ... कर दिया गया। जापान को निःशस्त्र करने का भी निर्णय किया गया। परन्तु ... इस चेतावनी को ठुकरा दिया और युद्ध जारी रखा। ६ अगस्त को अमेरिका ... और ९ अगस्त को दूसरा अणु बम्ब गिराया। १० अगस्त १९४५ को जापान ने ... समर्पण कर दिया। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध का पूर्ण रूप से अन्त हुआ।

## युद्धोपरान्त शान्ति संधियाँ

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद जिस प्रकार मित्रराष्ट्रों में आपसी मतभेद खड़े हुये थे, ठीक उसी प्रकार इस बार भी पारस्परिक मतभेद उठ खड़े हुये। परन्तु इस बार का मतभेद अधिक उग्र और स्थायी था क्योंकि इस बार ... परस्पर विरोधी गुट पूर्व और पश्चिम में विभाजित हो गये। शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नवीन संसार के ... साम्यवादी और पूँजीवादी आदर्शों के मध्य ...

**पूर्व और पश्चिम में दरार**

नतीजा यह निकला कि पूर्व और पश्चिम में एक चौड़ी दरार पड़ गई जिसके ... शान्ति संधियों का कार्य बहुत मन्द गति से प्रगति कर पाया। इसका एक ... संसार पर प्रभुत्व स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा थी। अमेरिकन लोग एकाएक ... करने लगे कि वे संसार की सबसे बड़ी ताकत है। वास्तव में कुछ समय से ... इस स्थिति का उपभोग कर रहा था परन्तु इस बात का अनुभव बिलकुल नया ... अणु बम्ब के रूप में इसके पास एक ऐसी शक्ति थी जिसके बारे में किसी ... भी जानकारी नहीं थी और न ही किसी के पास इस शक्ति से बचाव के साधन ... दूसरी तरफ इंगलैण्ड और फ्रांस जैसे पश्चिमी देश थे जिनकी शक्ति कमजोर ... था और फिर इस बात का अनुभव हो चुका था कि पिछले दोनों महायुद्धों में ... मिली है—वह अमेरिकन सहायता के कारण ही उपलब्ध हो सकी थी। इसके ... उन्हें यह भी मालूम हो चुका था कि उनकी अर्थ व्यवस्था की बागडोर भी ... हाथ में जा चुकी है। अतः उन्होंने अमेरिका का साथ देना ही उचित समझा। ... इंगलैण्ड और फ्रांस पश्चिमी गुट के सदस्य थे। पूर्वी गुट का नेतृत्व साम्यवादी ... रहा था। द्वितीय महायुद्ध के बाद रूस की शक्ति भी काफी बढ़ चुकी थी। ...

विजय पर सन्तोष था और उसे यह बात याद थी कि उसने अपने स्वयं के प्रयत्नों तथा त्याग के द्वारा ही जर्मनी को पराजित किया था। रूस ने एस्थोनिया, लटेविया, लिथुएनिया, बसारविया, रुथेनिया, पूर्वी पोलैण्ड, तथा पूर्वी प्रशा के कुछ भागों एवं फिनलैण्ड के कुछ भागों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इससे उसकी आबादी में लगभग २४ मिलियन की वृद्धि हो गई। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक देशों में अपना नियन्त्रण स्थापित कर रखा था। परन्तु फिर भी इस युद्ध में रूस को अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक धन-जन की हानि उठानी पड़ी थी। अतः वह अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने का इच्छुक था। फिर उसे अमेरिकन अणुबम्ब का भी भय था। अतः पूर्व और पश्चिम के मध्य दरार की दूरी बढ़ती गई।

इस सम्बन्ध में एक बात और कहनी है। शान्ति सन्धियों के निर्माण में व्यक्तियों के व्यक्तित्व की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिन तीन बड़ों ने महायुद्ध का संचालन किया था, उनमें से एक—रूजवेल्ट का स्वर्गवास हो चुका था, और दूसरे—चर्चिल का दल चुनाव में पराजित हो चुका था। इसी प्रकार फ्रांस की विदेश नीति का संचालन एक समय के प्राध्यापक जार्ज बीदा (Bidault) कर रहे थे। ये सब उतने अनुभवी नहीं थे जितने कि रूस के स्तालिन और मोलातोव। अतः सन्धियों का काम धीरे धीरे आगे बढ़ा।

**विदेश मन्त्रियों की परिषद् के सम्मेलन**

द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम दिनों में मित्रराष्ट्रों ने शान्ति सन्धियों की आरम्भिक तैयारी के सम्बन्ध में विदेश मन्त्रियों की एक परिषद् स्थापित की थी, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। इस परिषद् के अतिरिक्त कुछ अन्य संस्थाएँ भी सन्धियों से सम्बन्धित आंकड़ा तथा अन्य आवश्यक सूचनाएँ एकत्र करने में लगी हुई थीं। १६४५ के अन्त तक तीनों महान् शक्तियों ने यह निश्चय किया कि इस बार पेरिस शान्ति सम्मेलन की तरह के सम्मेलन से बचा जाय और सन्धियों का कार्य बड़े देशों के प्रतिनिधियों पर छोड़ दिया जाय। क्योंकि यह स्पष्ट हो चुका था कि किसी भी प्रकार की व्यवस्था के लिये छोटी शक्तियों की स्वीकृति उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि महान् शक्तियों की सर्वसम्मत स्वीकृति। परन्तु दुर्भाग्य से इन विभिन्न प्रतिनिधियों में समझौता न हो सका और पराजित राष्ट्रों के साथ यथाशीघ्र सन्धियाँ भी न की जा सकीं। दो वर्ष के काफी वाद विवाद के बाद इटली, रूमानिया, बलगेरिया, हंगरी और फिनलैण्ड से सन्धियाँ हो सकीं। इसके पीछे भी राजनीतिक उद्देश्य थे—रूस चाहता था कि पश्चिम देश इटली से यथा शीघ्र हट जाय और पश्चिम देश मध्ययूरोप से रूस को यथाशीघ्र हटाना चाहते थे।[1] अन्त सन्धियाँ हो सकीं। परन्तु जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान के बारे में पूर्व और पश्चिम का मतभेद उग्र होता गया और नतीजा यह हुआ कि आज तक

---

१ Langsam The World Since 1919

एक सम्मिलित संधि का काम खटाई में पड़ा हुआ है। शायद "आइक खुश्चेव" तत्कालीन व्यक्तिगत वार्तालाप कोई रंग लाये।

सितम्बर १६४५ में लंदन में विदेश मंत्रियों की परिषद् की बैठक हुई और गा संधियों के निर्माण का प्रथम अध्याय आरम्भ हुआ। इस बैठक में शीघ्र ही यह मालूम गया कि विचार विमर्श का प्रमुख केन्द्र पूर्वी यूरोप और भूम सागर का भावी नियंत्रण होगा। मालोतोव ने इटली के लिबिया उपनिवेश पर रूसी संरक्षण की माँग रखकर मित्र (पश्चिमी राष्ट्रों) को आश्चर्य चकित कर दिया।

**विदेश मन्त्री परिषद की लंदन में बैठक**

अतिरिक्त रूसी विदेश मन्त्री ने इटली की क्षति पर साम्यवादी यूगोस्लाविया का टिक सागर की ओर प्रसार सम्बन्धी माँग का भी जोरदार समर्थन किया। रूस नीति की व्याख्या करते हुये लगसम ने लिखा है कि "यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया प्रमुख कार्य इटली के साथ संधि करना नहीं है, बल्कि पश्चिमी राष्ट्रों और सोवियत के मध्य समझौता करना है।" यहाँ पर एक बात का ध्यान रखा जाना चाहिए सोवियत रूस ने पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों—रूमानिया, बलगेरिया, फिनलैण्ड और के साथ इसके पूर्व ही स्वतन्त्र रूप से संधियाँ करली थी और पश्चिमी राष्ट्रों ने विरुद्ध अधिक विरोध का प्रदर्शन इसलिये नहीं किया था कि वे पूर्वी यूरोप में प्रभाव को मानने को तैयार थे यदि रूस पश्चिमी यूरोप में हस्तक्षेप न करे। परन्तु इटली का सवाल आया तो रूस उसमें भी अपनी स्थिति को दृढ़ करने की दृष्टि से माँग पर अड़ने लग गया। इससे दोनों पक्षों में तनाव उत्पन्न हो गया और पश्चिमी पूर्वी यूरोप में रूसी प्रभाव को कम करने के उपाय सोचने लगे। इससे रूस क्रोधि गया और लन्दन की बैठक बिना किसी निर्णय पर पहुंचे ही समाप्त कर दी गई।

लंदन की बैठक के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ तेजी से घटने लगीं और परिणामस्वरूप दोनों पक्षों के बीच तनाव की वृद्धि भी होती गई। सुदूर पूर्व में तथा मन्चूरिया में रूस ने अपनी स्थिति दृढ़ करनी शुरू करदी और ईरान रूसी सेना की संख्या बढ़ने लगी। जबकि पूर्व समझौता के अनुसार ईरान से सेना हटाने का निश्चय किया गया था। इतना ही नहीं बल्कि यूनान में भी रूसी हि बढ़ता गया। अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन को रूस की यह नीति पसन्द नहीं आई उसने इस नीति की आड़ में निकट पूर्व और भूमध्यसागर पर रूसी प्रभुत्व की तृष्णा पहचान लिया। इसीलिए उसने रूस की इन चालों को "विशाल संडासी की (Giant Pincer movements) का नाम दिया। परन्तु संधियों के काम निर्माण किसी प्रकार पूरा करना ही था अतः दोनों पक्षों ने समझौते के प्रयत्न जारी र

दिसम्बर १६४५ में, मास्को में अमेरिका, इंग्लैंड और रूस के विदेश मन्त्रि

क हुई। यह बैठक प्रथम बैठक से अधिक सफल रही और इसमे प्रयोजित पाच शाति सधियो से सम्बन्धित मसलो पर विचार विमर्श किया गया। बैठक में यह निश्चित किया गया कि सधियो के अंतिम लेख लिखने का कार्य विदेश मन्त्रियो की परिषद के द्वारा किया जायेगा परन्तु सभी देशो के, जिन्होने धुरी राष्ट्रो के विरुद्ध सघर्ष में सहयोग दिया था और उन [illegible]जित राष्ट्रो के जिनके भाग्य का निर्णय किया जाने वाला है, विचार जानने के लिये [illegible]म लेख को एक सम्मेलन मे, जिसमें उपरोक्त सभी राष्ट्र भाग लेगे, प्रस्तुत किया [illegible]गा। सधियो पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद सम्बन्धित राष्ट्रो से, मित्रराष्ट्रो की [illegible]कार सेनाएं हटा ली जायेगी। आस्ट्रिया मे स्थित रूसी अधिकार सेना के साथ [illegible]क की सुरक्षा की दृष्टि से रूस को उस समय तक के लिये जब तक आस्ट्रिया में [illegible]की अधिकार सेनाएं हैं, रूमानिया और हगरी मे सैनिक दस्तो को रखने की छूट दी गई।

**स्को सम्मेलन**

[illegible] इसके बाद विदेश मन्त्रियो की परिषद की अप्रैल १९४६ में परिस में बैठक हुई। [illegible] बैठक में तथाकथित पाच सधियो के प्रारूप पर विचार किया गया क्योकि परिस [illegible]री दूसरी बैठक बुलाई गई थी और इस दूसरी बैठक में उपरोक्त सभी राष्ट्रो को [illegible]त्रित किया गया था और उनके सामने सधियो के प्रारूप को प्रस्तुत करना था। [illegible]री बैठक में २१ राष्ट्रों के प्रतिनिधियो ने भाग लिया और ११ सप्ताहों के वाद-विवाद [illegible]उपरान्त २० राष्ट्रो ने सधियो के प्रारूप को मान्यता प्रदान कर दी। युगोस्लाविया [illegible] अपनी मान्यता नही दी क्योकि उसकी माँगो की पूर्ण पूर्ति नही की गई थी। [illegible] [illegible]म्बर १९४६ में विदेश मन्त्रियो की परिषद की तीसरी बैठक न्यूयार्क [illegible] [illegible]क मे पाँच शाति सधियो का अन्तिम प्रारूप तैयार किया गया। [illegible] [illegible]४७ के दिन परिस में २१ राष्ट्र ( मित्रराष्ट्र ) तथा पाच पराजित [illegible] [illegible]ति सधियो पर हस्ताक्षर किये गये, शाति सधियो के अनुसमर्थन [illegible] [illegible]नम तिथि मानली गई। इस प्रकार, यूरोप में अस्थायी [illegible] [illegible] सभव हो सकी। फिर भी, किसी भी पराजित [illegible] [illegible]ो माना और 'सशोधन आन्दोलन' का यथाशीघ्र [illegible]

## पाँच शाँति [illegible]

**(१) इटली के साथ सधि**

[illegible] इटली के साथ की गई सधि के [illegible] [illegible]हाथ धोना पड़ा। इटली के [illegible] जाने दें। [illegible]ट बर्नार्ड का दर्रा (Little St. Bernard Pass), [illegible] (Briga-Tenda) [illegible] [illegible] का [illegible] (Venezia Giulia) [illegible] [illegible] (Zara) [illegible] [illegible]ह प्राप्त हुआ। [illegible] (Trieste) [illegible]

परन्तु इसे स्वतत्र प्रदेश घोषित कर दिया गया। और इस प्रदेश का शासन राज्यपाल के सुपुर्द कर दिया गया। इस राज्य पाल की नियुक्ति एव उसके व्यवस्था का दायित्व सयुक्त राष्ट्र सघ की सुरक्षा परिषद को सौंपा गया। डाड (Dodecanese Islands) रोड्स और कास्टेलारिजा (Castellon यूनान को दिये गये। साजेनो का टापू, जिस पर पहिले अल्बानियाँ का अधिकार परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद इटली के अधिकार म चला गया था, पुन प्राप्त हुआ। दक्षिणी टिरोल (Tirol) यद्यपि इटली के अधिकार में रहा परन्तु १९४६ के आस्ट्रो इटालियन समझौते के अनुसार इस प्रदेश में बसने वाले जर्मन भाषियो को समान अधिकार और सीमित स्वायत्त शासन देने के लिए इटली को होना पडा।

उपनिवेशो के सम्बन्ध में इटली को लिबिया, एरिट्रिया (Eritrea, इटालियन सुमालालैण्ड पर अपने सभी अधिकारो का त्याग करना पडा। इन उप का भविष्य सधि के लागू होने की तिथि से एक वर्ष के अन्दर अन्दर चार महा इंगलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका और सोवियत रूस की सब सम्मत सलाह से निर्णय हुआ। यदि ये सरकारें सहमत न हो सके तो इस विषय को सयुक्त राष्ट्र साधारण सभा को सौंपना निश्चित किया गया, और साधारण सभा के चारो राष्ट्र स्वीकार करने को बद्ध होगे। साधारण सभा ने दिसम्बर १९४९ में किया कि १ जनवरी, १९५२ को लिबिया स्वतत्र कर दिया जाय इसी प्रकार सुमा के बारे म यह निर्णय किया गया कि इसे २ दिसम्बर १९६० तक स्वतत्र कर जाय। यहा पर अल्बानिया और इथोपिया का भी उल्लेख कर देना चाहिए। पूर्व इटली ने इन दोनो स्वतत्र देशो पर अधिकार कर लिया था। महायुद्ध मित्र राष्ट्रो ने इन दोनो देशो को पुन स्वतन्त्र कर दिया। मई १९४१ में इथो भूतपूर्व सम्राट हलसेलेसी (Haile Selassie) ने पुन इथोपिया का राज्य स्वीकार कर लिया। १९४६ म साम्यवादी प्रभाव के अन्तर्गत अल्बानिया में प्र की स्थापना की गई। इस प्रकार, इस सधि के परिणाम स्वरूप इटली का औपनि साम्राज्य समाप्त हो गया और उसका यूरोपीय आकार भी सकुचित हो गया।

इटली पर ३६०,०००,००० डालर की क्षतिपूर्ति का भार लाद दिया। इस कुल राशि का भुगतान सात वर्षो में अदा करना था। इस क्षतिपूर्ति को इस बाटा गया—

यूगोस्लाविया को—१२५,००० ००० डालर यूनान को १०५,०००,०००
सोवियत रूस को—१००,००० ००० ,, इथोपिया को २५,०००,०००
अल्बानियाँ को—५ ००० ००० डालर।

इस सधि ने इटली की सैनिक शक्ति का भी अन्त कर दिया। इटालियन इस प्रकार सीमित कर दिया गया—स्थल सेना २५०,००० सनिक, २००

—२५००० नाविक और १० लडाकू जहाज, नभ सेना—२५००० हवाबाज और ० लडाकू वायुयान तथा १५० यातायात विमान। फ्रेंच और युगास्लाव सीमा पर ति दुर्गों का नष्ट कर दिया गया। इनके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर विद्यमान दुर्ग भी नष्ट कर दिया गया।

सन्धि में यह स्पष्ट कर दिया गया कि सधि की उपरोक्त शर्तें उस समय तक लागू गी जब तक कि इटली और हस्ताक्षर कर्त्ता राष्ट्रों के बीच कोई सशोधित समझौता हो जाय, या सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता प्राप्त करने के उपरांत, इटली और सयुक्त सघ की सुरक्षा परिषद में कोई समझौता न हो।

दूसरी सधि रूमानियाँ के साथ की गई थी प्रादेशिक व्यवस्था की दृष्टि से रूमानिया का ारबिया तथा पूर्वी बुकोविना का प्रान्त रूस को दिया गया तथा दक्षिणी डाब्रूजा भूभाग बल्गेरिया को सौंप दिया गया। परन्तु इस देश का ट्राससिल्वानिया का प्रान्त पुन प्राप्त हो गया। यह प्रान्त १९४० में जर्मनी के दबाव के कारण उसे हगरी को सौंपना पडा था। क्षतिपूर्ति की दृष्टि से रूमानियाँ पर ३००,०००,००० डालर का भार लाद दिया गया। यह सम्पूर्ण राशि केवल रूस को वस्तुओं के रूप में चुकानी । भुगतान की अवधि आठ वर्ष रखी गई। निशस्त्रीकरण की दृष्टि से रूमानियाँ पदाति सेना १२०,००० सनिकों तक, नौ सेना ५००० नाविकों तक और नभ सेना ०० व्यक्तियों तक सीमित करदी गई।

**(२) रूमानियाँ के साथ सधि**

तीसरी सधि बल्गेरिया के साथ की गई। इस सधि के अनुसार बल्गेरिया को देशिक दृष्टि से किसी प्रकार की क्षति नहीं उठानी पडी। उल्टे उसे दक्षिणी डाब्रूजा का प्रान्त, जिसे पूर्वकाल में उसे रूमानियाँ को देना पडा था, वापस मिल गया। क्षतिपूर्ति की दृष्टि से उस पर ७०,०००,००० डालर का भार लादा गया। इस राशि का भुगतान आठ वर्षों में युगास्लाविया को २५,०००,००० डालर और यूनान को ५,०००,००० डालर करना था। निशस्त्रीकरण की दृष्टि से उसकी पदाति सेना ,००० सनिकों तक, नौ सेना ३५०० नाविकों तक नभ सेना ५२०० व्यक्तियों तक मित करदी गई। लडाकू वायुयानों की सख्या ७० तक सीमित करदी गई। इसके तिरिक्त यह भी निर्णय किया गया कि बल्गेरिया अपने यूनानी सीमान्त पर किसी कार की स्थायी किलबन्दी नहीं कर सकेगा।

**(३) बल्गेरिया के साथ सधि**

चौथी सधि फिनलण्ड के साथ की गई। इस सधि ने फिनलण्ड के साथ की गई पूर्व धियों—मास्को सधि (१९४०) और युद्ध बन्दी सधि (१९४४) द्वारा प्रदत्त रूसी लाभों ा स्वीकार कर लिया। इन सधियों के द्वारा करेलियन स्थल डमरू मध्य, सल्ला क्षेत्र, पेतसामो प्रान्त और ५० वर्ष के लिये पट्टे पर हेलसिंकी के पश्चिम में १९ मील दूर स्थित पोरक्कला उद्द (Poi akka la Udd) नौ सनिक केन्द्र बनाने के लिए मास्को को प्राप्त हुये थे। क्षतिपूर्ति की दृष्टि से फिनलैण्ड को

**(४ फिनलैण्ड के साथ सधि**

अवधि में वस्तुओं के रूप में ३००,०००,००० डालर रूस को देना था। परन्तु ! वे आम निर्वाचन में साम्यवादी दल को सफल बनाने की दृष्टि से रूस ने क्षतिपूर्ति में ७५,०००,००० डालर की कमी करदी। फिर भी, आम चुनाव में साम्यवा को कई स्थानों से हाथ धोना पड़ा। निःशस्त्रीकरण दृष्टि से फिनलैण्ड की सेना ३४,४०० सैनिकों तक, नौ सेना ४५०० नाविकों तक और नभ सेना ३ व्यक्तियों तथा ६० विमानों तक सीमित करदी गई।

पाँचवी और अन्तिम सधि हगरी के साथ की गई। प्रादेशिक दृष्टि से चेकोस्लोवाकिया के वे सब प्रदेश जो हगरी ने १९३८ में चेक आक्रमण के समय किये थे, वापस लौटाने पड़े। इसके अतिरिक्त ड्यूब के

**(५) हंगरी के साथ सधि** में ब्रातिस्लावा के कुछ प्रदेश भी चेकोस्लोवाकिया को हुये। इसी प्रकार हंगरी को ट्रांसिल्वानिया का प्रांत रू को वापस करना पड़ा। क्षतिपूर्ति की दृष्टि से हंगरी को वर्षों में कुल ३००,०००,००० डालर का भुगतान करना था। इस राशि में २००,०००,००० डालर रूस को, ३०,०००,००० डालर चेकोस्लोवाकिया को ७०,०००,००० डालर यूगोस्लावाकिया को अदा करना था। अदायगी वस्तुओं में करनी थी। निःशस्त्रीकरण की दृष्टि से हंगरी की पदाति सेना ६५००० मानवता नभसेना ५२०० व्यक्तियों तथा ६० विमानों तक सीमित कर दी गई।

शांति सधियों ने यूगोस्लाविया को बाल्कन प्रायद्वीप में सबसे शक्तिशाली रा दिया जिसके परिणामस्वरूप वह इटली का प्रतिस्पर्धी बन गया। आर्थिक सबसे अधिक लाभ सोवियत रूस को हुआ क्योंकि पाँचों राष्ट्रों पर लादी गई का ७०% भाग अर्थात् ९००,००० ००० डालर वसूल करने का अधिकार प्राप्त हुआ जबकि पश्चिमी राष्ट्रों को इन सधियों से न तो आर्थिक दृष्टि से और प्रादेशिक दृष्टि से किसी प्रकार का लाभ हुआ। अपितु राजनीतिक प्रभाव भी पूर्वी यूरोप में रूस का एकाधिकार स्थापित हो गया। अतः हम कह सकते हैं इन शांति सधियों ने रूस की सर्वोच्चता को कम से कम पूर्वी यूरोपीय क्षेत्र में, स्थापित कर लिया और भावी समझौतों में रूस की मांगें बढ़ती गईं जिसके परिणाम मित्रराष्ट्र जर्मनी, जापान और आस्ट्रिया के साथ सामूहिक रूप से शांति सधियाँ करने में असफल रहे।

## जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ सधि का प्रयत्न

छोटे छोटे राज्यों के साथ सधियाँ करने में मित्रराष्ट्रों को अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा परन्तु जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या इतनी उलझी और महत्वपूर्ण थी कि मित्रराष्ट्रों के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई उनके मध्य आपसी तनाव बढ़ता ही गया। हालांकि सितम्बर १९४५ से होने सभी बैठकों में इस समस्या को सुलझाने में काफी समय नष्ट किया गया

मित्रराष्ट्र किसी एक सर्वसम्मत संतोषजनक निर्णय पर पहुँचने में असफल रहे। लन्दन में विदेश मन्त्रियों की परिषद की बैठक में फ्रेंच विदेशमंत्री ने राइनलैंड के सम्बन्ध में फ्रेंच योजना प्रस्तुत की थी परन्तु इंगलैण्ड और अमेरिका के विदेश सचिवों ने शांति संधियों की रचना योग्य पृष्ठभूमि का निर्माण करने के लिए एक उप आयोग की नियुक्ति का सुझाव रखा। उधर सोवियत विदेश सचिव मोलोतोव ने रूसी नीति का स्पष्ट करते हुए प्रस्ताव रखा कि सर्वप्रथम क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में सोवियत दावे और रूहर नियन्त्रण में सोवियत अधिकार को स्पष्ट करना आवश्यक है। इस प्रकार परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों के कारण बैठक किसी निर्णय पर पहुँचने में असफल रही। अप्रैल १६४६ में पेरिस बैठक के समय तक जर्मनी की स्थिति बिगडती गई और चारों महान् शक्तियां निम्न मसलों के मध्य ही उलझी रहीं, आपस में लडती झगडती रहीं। (१) जर्मनी की आर्थिक एकता (२) क्षतिपूर्ति की अदायगी का स्वरूप (३) जर्मनी और पोलैंड की सीमा का निर्णय (४) जर्मनी का असैनिकरण और नात्सी प्रभाव का अन्त। पेरिस बैठक में अमेरिकन विदेश मन्त्री बर्न्स (Byrnes) ने रूसी भय को कम करने की दृष्टि से जर्मन निःशस्त्रीकरण और असैनिकरण के सम्बन्ध में एक २५ वर्षीय संधि का सुझाव रखा परन्तु ६ जुलाई १६४६ को मोलोतोव ने यह कह कर कि यह संधि अपूर्ण है और इसका उद्देश्य जर्मन सैनिक शक्ति का पुनरुत्थान करना है, सुझाव को ठुकरा दिया। इसके अगले ही दिन मोलोतोव ने परिषद में घोषणा की कि जर्मनी के साथ संधि करने के पूर्व एक ऐसी अखिल जर्मन सरकार की स्थापना की जानी चाहिए जो विशुद्ध रूप में लोकतान्त्रिक हो, नात्सी तत्वों को नष्ट करने तथा मित्रराष्ट्रों के प्रति अपने दायित्वों को विशेषकर क्षतिपूर्ति के दायित्वों को पूरा करने में समर्थ हो। रूस के इस रवैये से अमेरिका ने फ्रांसीसी विरोध के उपरान्त जर्मनी को और अधिक कमजोर बनाने वाली अपनी नीति का परित्याग कर दिया और वह जर्मनी की आर्थिक एकता के प्रयत्न में लग गया। उसने घोषणा की कि वह जर्मनी की आर्थिक एकता की दृष्टि से जर्मन अधिकार क्षेत्रों से संबंधित सरकारों के साथ मिल जुलकर काम करने को तैयार है। २० जुलाई को इंगलैण्ड ने रूस को स्पष्ट कर दिया कि यदि रूस जर्मनी की आर्थिक एकता के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेगा तो इंगलैण्ड, अमेरिका के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेगा और इंगलैण्ड तथा अमेरिका के जर्मन अधिकार क्षेत्रों को मिला दिया जायेगा। रूस ने इस प्रस्ताव की कटु आलोचना की परन्तु इंगलैण्ड और अमेरिका पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि उन्होंने जर्मनी के शासन-दायित्व को पुनः जर्मन लोगों को सौंपने का निश्चय कर लिया था ताकि जर्मनी संसार के शांतिप्रिय एवं स्वतन्त्र राष्ट्रों के बीच पुनः अपना स्थान ग्रहण कर सकें। १ जनवरी १६४७ को अमेरिका और इंगलैण्ड के दोनों अधिकार क्षेत्रों को मिला दिया गया और एक द्विक्षेत्र (Bizonia) का निर्माण किया गया। द्विक्षेत्र के प्रशासन हेतु एक संयुक्त बोर्ड, एक संयुक्त आर्थिक नियन्त्रण बोर्ड और एक जर्मन कार्यपालिका कमेटी की स्थापना की गई।

जनवरी १६४७ से मार्च १६४७ के मध्य जर्मन आस्ट्रियन सन्धि की समस्या हल करने लिये विदेश मन्त्रियों की विविध बैठकें हुई परन्तु किसी प्रकार का मिली। १० मार्च को क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में पुनः बैठक हुई। जैसा कि आपको होगा कि याल्टा सम्मेलन में इस समस्या पर विचार किया गया था और कुल २० अरब डालर तय की गई थी। इसमें से १० अरब डालर रूस को देना था। पाटसडाम सम्मेलन में यह तय किया गया कि क्षतिपूर्ति का भुगतान जर्मन विदेशी और अनावश्यक वस्तुओं से किया जायेगा और कुल राशि का अन्तिम निर्णय नियन्त्रण परिषद करेगी। इस बैठक में और आगामी सभी बैठकों में रूस इस तरह डटा रहा कि क्षतिपूर्ति की कुल राशि याल्टा सम्मेलन में तय कर दी गई थी और जर्मनी के वर्तमान उत्पादन से होना चाहिए। पश्चिमी राष्ट्र इसे मानने को तैयार थे। उनका कथन था कि २० अरब की संख्या रूजवेल्ट ने वार्त्तालाप का आधार कर स्वीकार किया था ताकि बातचीत शुरू हो सके। अन्तिम निर्णय तो सम्मेलन में किया गया था। अतः पश्चिमी राष्ट्र २० अरब डालर की मांग को अस्वीकार करते रहे और सोवियत रूस जर्मनी की आर्थिक एकता से संबंधित पश्चिमी प्रस्तावों निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करता रहा।

इस सम्बन्ध में यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो कुछ सीमा तक सोवियत का रुख सही था। क्योंकि पोटसडाम सम्मेलन में क्षतिपूर्ति का निर्णय याल्टा निर्णय आधार पर किया गया था। परन्तु पश्चिमी राष्ट्र केवल पाटसडाम निर्णय को ही स्वीकार किये जाने पर ज़ोर देते रहे। इससे रूस का क्रोधित होना स्वाभाविक ही था। पश्चिमी राष्ट्रों की जर्मन औद्योगिक शक्ति का पुनरुत्थान, क्षतिपूर्ति में सहायक जर्मनी की युद्ध सामर्थ्य शक्ति से संबंधित नीति का रूस द्वारा किया जाने वाला विरोध यथोचित ही था। बेविन और मार्शल ने इस गत्यावरोध (Deadlock) को दूर करने के लिये सोवियत रूस की इस मांग को कि क्षतिपूर्ति का भुगतान वर्तमान उत्पादन में किया जाय इस शर्त पर स्वीकार करने को तैयार थे कि जर्मनी की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त जो माल बचे, उसके द्वारा क्षतिपूर्ति का भुगतान किया जा सकता है। परन्तु रूस ने इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया क्योंकि इसमें जर्मनी की आवश्यकताओं की कोई निश्चित मर्यादा सम्मिलित नहीं की गई थी।

पूर्व और पश्चिम के मध्य तनाव उत्पन्न करने वाले तथ्य संक्षेप में इस प्रकार

(१) पूर्व और पश्चिम की लोक मान्यताओं में आधारभूत अन्तर था क्योंकि के निवासियों ने विशेष कर अमरिकन लोगों ने महायुद्ध में उत्पन्न विनाश का अनुभव नहीं था और न ही उनके जन धन की इतनी क्षति हुई थी जितनी कि रूस की। रूस वालों को नाजियों के हाथों अत्यधिक अत्याचार और आर्थिक विनाश सहन करना पड़ा था। मोलोतोव ने सत्य ही कहा था कि "This question of reparations has one meaning for the United States and another

the Soviet Union The United States is in a different position Perhaps there they do not feel what Soviet Citizens feel after having lived through the excruciating atrocities, destruction and plunder perpetrated by the Nazis in the occupied territories"[1]

(२) सोवियत रूस यह मानने को तैयार नहीं था कि पोटसडाम सम्मेलन के कारण याल्टा निर्णय समाप्त हो गया जबकि पश्चिमी राष्ट्र पाटसडाम समझौते को ही अन्तिम मान रहे थे। (३) रूस पश्चिम की इस दलील को कि जर्मनी अपने समस्त दायित्वों को पूरा करने में असमर्थ है मानने को तैयार नहीं था। रूस का कहना था कि यदि जर्मनी के शांतिकालीन उद्योग धन्धों का विकास किया जाय तो क्षतिपूर्ति के भुगतान में किसी प्रकार की कोई कठिनाई उपस्थित नहीं हो सकती। (४) सोवियत रूस द्विक्षेत्र निर्माण से बहुत क्रोधित हो गया क्योंकि एक तो इसका अभिप्राय पश्चिमी जर्मनी को शेष जर्मनी से पृथक करना था और दूसरा रूहर का क्षेत्र जो खनिज सम्पदा का भण्डार था और इन्हीं क्षेत्रों में सम्मिलित था, से सोवियत रूस को दूर रखना था। रूस चाहता कि 'रूहर क्षेत्र' पर चारों राष्ट्रों का नियन्त्रण रहना चाहिए। (५) जर्मनी में किस ढंग की शासन व्यवस्था लागू की जाय, इस प्रश्न पर भी काफी मतभेद था। (६) इसी प्रकार जर्मनी के कौन से उद्योगों का और किस सीमा तक विकास किया जाय किस प्रकार के भूमि सुधार किये जाय और किस तरीके से नात्सी तत्वों को नष्ट किया जाय आदि प्रश्नों पर भी अत्यधिक मतभेद था। (७) पश्चिमी राष्ट्र सार और राइनलैंड के प्रदेश जर्मनी से पृथक करना चाहते थे परन्तु रूस जर्मनी के इस प्रकार के अंग भंग के विरुद्ध था। (८) जर्मन निःशस्त्रीकरण और असैनिकीकरण पर भी मतैक्य नहीं था। (९) जर्मन सीमान्तों विशेषकर पूर्वी सीमान्त के सम्बन्ध में भी भारी मतभेद था। पोटसडाम सम्मेलन में पूर्वी प्रशिया का रूस और पोलैण्ड के मध्य बाटने का समझौता हुआ था परन्तु पश्चिमी राष्ट्र इसमें संशोधन चाहते थे और रूस पोटसडाम समझौते को अंतिम मानता था।

उपरोक्त मतभेदों के कारण पूर्व और पश्चिम में समझौता न हो सका। ३१ मई १९४८ को फ्रांसीसी अधिकार क्षेत्र भी द्विक्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया और २१ सितम्बर १९४९ को पश्चिमी जर्मनी में पश्चिमी राष्ट्रों ने एक संघीय गणराज्य (Federal Republic of Germany) की स्थापना कर दी और इसे शासन सम्बन्धी अधिकार सौंप दिये गये। इस नवीन गणराज्य की राजधानी बान (Bonn) रखी गई। रूस ने पूर्वी क्षेत्र में, ७ अक्टूबर १९४९ को जर्मन डेमोक्रेटिक

---

(1) M G Gupta—International Relations since 1919 vol II

गणराज्य की स्थापना की और इसकी राजधानी रूस अधिकृत बर्लिन क्षेत्र में रखा गई यह विदित होना चाहिए कि सम्पूर्ण जर्मनी की भाँति बर्लिन नगर को भी चार क्षेत्रों में बाँटा गया था। वैसे बर्लिन पूर्वी क्षेत्र में है। १९५१ में पश्चिमी राष्ट्रों ने जर्मनी के साथ युद्ध की स्थिति की समाप्ति की घोषणा कर दी। २५ जनवरी १९५५ को सोवियत रूस ने भी युद्ध की स्थिति की समाप्ति की घोषणा कर दी। कुछ समय बाद पश्चिमी राष्ट्रों ने पश्चिमी जर्मनी को और रूस ने पूर्वी जर्मनी को स्वाधीनता व सर्वोच्च सत्ता प्रदान की। परन्तु बर्लिन आज भी चार क्षेत्रों में विभाजित है और उसकी समस्या का समाधान नहीं हो सका है।

जर्मनी की भाँति आस्ट्रिया की समस्या भी इतनी उलझी हुई थी कि मित्र राष्ट्र सुगमता के साथ उसके साथ सधि नहीं कर सके हालाँकि आस्ट्रिया को शत्रु राष्ट्र नहीं माना गया था बल्कि इसे नात्सी अधिकार से मुक्त किया हुआ राज्य माना गया था। मास्को की बैठक में जर्मनी की समस्या को लेकर इतना मतभेद बढ़ गया था कि आस्ट्रिया के बारे में किसी प्रकार का विचार ही नहीं हो सका। पेरिस में विदेश मंत्री परिषद् की बैठक में अमेरिका ने आस्ट्रियन सधि का सुझाव रखा था परन्तु रूस ने यह कहकर कि अभी उपयुक्त समय नहीं आया है, इस सुझाव को ठुकरा दिया। पुनः जून १९४६ में विदेश मन्त्रियों की बैठक में पश्चिमी राष्ट्रों ने आस्ट्रिया से विदेशी सेनाओं को हटाने का प्रस्ताव रखा परन्तु इस बार रूस ने यह कह कर कि अभी आस्ट्रिया में नाजी तत्वों का पूर्ण रूप से अन्त नहीं हुआ है, सेनाएँ हटाना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार लगभग १० वर्ष बीत गये और तब कहीं जाकर, काफी वाद विवाद के बाद २७ जुलाई १९५५ को आस्ट्रिया के साथ सधि की जा सकी। इस सधि पर अमरिका, इंग्लैंड, रूस और आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर किये थे। यह ध्यान रहे कि १२ मार्च १९३८ को आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ था अर्थात् लगभग १७ वर्षों की पराधीनता के उपरान्त उसे पुनः स्वतन्त्रता मिली। इस सधि की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसके द्वारा आस्ट्रिया ने यह आश्वासन दिया कि भविष्य में राजनीतिक अथवा आर्थिक क्षेत्र में वह जर्मनी के साथ गठबन्धन नहीं करेगा। अर्थात् आस्ट्रो जर्मन सघ का निषेध किया गया।

## जापान के साथ सधि

जबकि पूर्वी यूरोप में रूसियों को सामान्य रूप से उन्मुक्त नीति की छूट दी तो जापान के सम्बन्ध में अमेरिकन लोगों को इससे भी अधिक छूट मिल गई। परन्तु सर्वथा पृथक पृथक विजित क्षेत्रों के साथ विजेताओं के सम्बन्धों में किसी प्रकार की समानता नहीं थी। पूर्वी यूरोप के देशों में रूसियों ने मुक्तिदाता के रूप में और देशों की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को लौटाने की प्रतिज्ञा के साथ प्रवेश किया था, जबकि जापान में अमेरिकनों ने बिना किसी शर्त के विजेता के रूप में प्रवेश किया था। पूर्वी यूरोप के निवासियों के साथ रूसी लोग इतिहास और पड़ौसी के नाते सम्बन्धित थे और

ानिया व साथ अमरिकना का इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नही था और जापानियों मनोवृत्ति को समझने योग्य कोई साधन भी नही था। रूसियो को यह मालूम था उन्हे पूर्वी यूरोप से क्या चाहिए, वे मशीनरी और सुरक्षा चाहते थे और उनका ल साम्यवादीकरण था। अमरिकन लोग ठीक तरह से यह नही जानते थ कि उनका ान मे क्या चाहिए, परन्तु पहिले जापानी आक्रमण की पुनरावृत्ति से सुरक्षा की वश्यकता महसूस की जाती थी, वही आवश्यकता १९४९ के बाद स्थल शक्तियो के की आक्रमण के विरुद्ध जापान का एक सुरक्षा भित्ति के साधन के रूप म बदल गई। पान के प्रति अमरिकन नीति म बाह्य परिस्थितिया क परिणामस्वरूप महत्वपूर्ण वर्तन होता गया।[1]

। जापानी आत्म समर्पण की तिथि ( १० अगस्त १९४५ ) म जापान पूर्णरूप से रिका के नियत्रण म था। वास्तव म अमेरिकन लोगो ने ही जापान को जीता था। र अमेरिकन सेनापति जनरल मैकार्थर को मित्र शक्तियो के सर्वोच्च सेना नायक Supreme Commander for the Allied Powers SCAP ) पद पर नियुक्त किया गया। प्रारम्भ में जापान की भूमि पर ब्रिटिश, आस्ट्रेलियन र न्यूजीलैड की सैनिक टुकडिया भी थी परन्तु १९४७ के बाद जापान पर केवल रिकन सेना ही रह गई और जापान का सम्पूर्ण शासन प्रबन्ध जनरल मैकार्थर के र मे आ गया। वस जापान के लिये मित्रराष्ट्रो की एक परिषद् बनाई गई थी और ाशिगटन म ११ राष्ट्रो का एक सुदूरपूर्व आयोग ( Far Eastern Commission F E C ) भी नियुक्त किया गया, परन्तु अमेरिका न कभी भी अपने साथिया ो जापान म अधिक हस्तक्षेप करने की छूट नही दी।

 जापान के सबध मे सवप्रथम कठिनाई—जापानी सम्राट् की स्थिति थी। वस युद्ध ालीन सम्मेलनो म जापान म लोकतत्र की स्थापना का निश्चय किया गया था और रूस, ल, आस्ट्रेलिया आदि मित्रराष्ट्र जापानी सम्राट् को एक युद्धापराधी समझते थे और ा पर अभियोग चलाना भी चाहते थे। परन्तु अमेरिका इस नीति के विरुद्ध था। वह ापान में लोकतन्त्र की स्थापना के पक्ष मे तो था परन्तु जापानी सम्राट् को भी बनाये खना चाहता था। क्योकि एक तो जापानियो की उसके प्रति अत्यधिक श्रद्धा थी और दूसरे ापान के राजनीतिक जीवन की एकता के लिये उसका होना अत्यधिक आवश्यक था। मेरिका के सामने केवल यह सवाल था कि जापानी सम्राट को पहिले के ही समान ी अधिकारो की प्रतिमूर्ति माना जाय या लोकमत के द्वारा नियुक्त सम्राट माना जाय। त में उसने जापानी सम्राट को राष्ट्र का प्रतीक ही स्वीकार किया और १९४६ में निर्वाचित जापानी लोकसभा ने एक नूतन सविधान को स्वीकार करते हुये सम्राट की ी स्थिति को भी स्वीकार कर लिया।

---

1. J Hampden Jackson—The Post war Decade

अब हम जापान के सम्बन्ध मे मित्र राष्ट्रो के आपसी मत भेदो की चर्चा करे।
१९४७ में वाशिंगटन सुदूर पूर्व आयोग की बैठक मे अमरिका ने जापान के साथ की
वाली सन्धि के सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव रखे परन्तु सोवियत रूस ने उन्हें ठुकरा
उसका कहना था कि अन्य राष्ट्रो के साथ की जाने वाली सन्धियो के समान जापान
साथ सन्धि करने का दायित्व भी विदेश मन्त्रियो की परिषद को सौंप दिया जाना चाहि
अमेरिका का कथन था कि याल्टा या पोटसडाम सम्मेलन में कही पर इस प्रकार
समझौता नही किया गया था और जिस प्रकार जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या
तक खटाई में पडी हुई है, वैसे ही जापानी समस्या भी कभी नहीं सुलझ सकेगी।
प्रकार पूर्व और पश्चिम में, यहा तक कि पश्चिमी देशो के आपस में भी मतभेद
गया। मतभेद के कुछ कारण इस प्रकार थे—(१) रूस जापानी क्षतिपूर्ति में भी
चाहता था परन्तु मंचूरिया से उसने जो जापानी माल हथियाया था, उस माल के मूल्य
अपने हिस्से में सम्मिलित किये जाने के विरुद्ध था। (२) रूस की माग थी कि जा
भूमि से अमेरिकन सेना यथा शीघ्र हटा ली जाय और अमेरिका जापान के युद्ध अड्डे
खाली कर दे। (3) जापान के साथ की जाने वाली सन्धि के सम्बन्ध में साम्यवादी
से बात चीत की जाय जबकि अमेरिका राष्ट्रवादी चीन को सम्मिलित कर रहा
(४) रूस जापान के रयूकू (Ryuku) और बोनिन टापूओ को अमेरिका के संरक्ष
देने का विरोधी था (५) अमेरिका और इंगलैण्ड मे मतभेद का कारण यह था
इंगलैण्ड चाहता था कि जापान साम्यवादी चीन को मान्यता दे दे जबकि अमेरिका
विरोधी था। इसी प्रकार भारत की नीति थी कि अमेरिका जापान से अपनी
हटाले और जापान के साथ उसके सम्मान योग्य सन्धि की जाय। (६) अन्य मित्र
जापान से भारी क्षतिपूर्ति की आशा लगाये बैठे थे परन्तु अमेरिका क्षतिपूर्ति के विरुद्ध

१९५० मे कोरिया का युद्ध शुरू हुआ और इसके कारण अमेरिकन
महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया। उसने जापान के साथ सन्धि करने का दृढ़ संकल्प
लिया और अमेरिका के विदेश सचिव स्व० डलेस ने सन्धि का प्रारूप तैयार कि
इसकी रूपरेखा इस प्रकार थी—(१) जापान की सर्वोच्च सत्ता और प्रभुता केवल
बडे और कुछ लघुद्वीपो तक सीमित कर दी गई (२) जापान ने कोरिया की स्वा
को स्वीकार कर लिया (३) जापान ने फारमोसा, क्यूराइल तथा सखालीन द्वीपों
अपने अधिकार का त्याग किया और रयूक्यू, बोनिन तथा कुछ अन्य लघुद्वीपो को अमे
संरक्षण में देना स्वीकार कर लिया। (४) विदेशी सेनाओ को जापान से ९
यदि जापान और अमेरिका मे विदेशी सेना को रखने के सम्बन्ध में कोई समझौ
जाय तो विदेशी सेनाए जापान में रह सकेंगी। (५) जापान ने चीन में प्राप्त
सम्पूर्ण विशेषाधिकारो का परित्याग करना स्वीकार कर लिया तथा युद्धापराध
सम्बन्ध में मित्रराष्ट्रो के युद्धपराध न्यायालयो के निर्णय को मानना स्वीकार कर
(६) मित्रराष्ट्रो ने आगामी चारवर्षों के लिये जापान को व्यापारिक सुविधा

वीकार कर लिया। (७) जापान ने युद्ध के पूर्व लिये गये ऋणों की अदायगी का दायित्व वीकार कर लिया।

२० जुलाई १९५१ को अमेरिका ने द्वितीय महायुद्ध के ५१ मित्रराष्ट्रों को इस सन्धि का प्रारूप भेजा और ४ सितम्बर को सेनफ्रांसिस्को में उपरोक्त मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन भी बुलाया। भारत ने इस प्रारूप की कटु आलोचना की। बर्मा ने भी भारत का अनुसरण किया और दोनों देशों ने सम्मेलन में भाग लेने से अस्वीकार कर दिया। आशा यह थी कि सोवियत रूस और उसके साथी देश भी सम्मेलन का इन्कार कर देंगे। परन्तु आशा के प्रतिकूल सोवियत संघ ने सम्मेलन में सम्मिलित होने की घोषणा करके सम्पूर्ण संसार को आश्चर्य चकित कर दिया। सोवियत रूस का विचार सम्मेलन में सम्मिलित होकर सन्धि के प्रारूप को रद्द कराना था। परन्तु डलेस ने रूसी रुख का अनुमान लगा कर घोषणा की कि तथाकथित सम्मेलन सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिये बुलाया गया है और इस सम्मेलन में सन्धि के प्रारूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार के संशोधन या पृथक प्रस्तावों पर विचार नहीं किया जायेगा। डलेस की इस घोषणा के उपरान्त भी रूसी विदेश मन्त्री ग्रोमिको ने सम्मेलन में भाग लिया और रूस की तरफ से १३ नये प्रस्ताव रखे। परन्तु ये प्रस्ताव स्वीकार नहीं किये गये और सोवियत रूस, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। बाकी के ४८ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस प्रकार जापान के साथ सन्धि का कार्य सम्पन्न हुआ। २८ अप्रैल १९५२ से जापान की शांति सन्धि कार्यान्वित की गई।

इधर अमेरिकन सरकार ने ४ सितम्बर १९५१ को जापान के साथ एक पृथक सन्धि भी की जिसके अनुसार जापान ने अपने सैनिक अड्डे अमेरिका को देना और जापानी भूमि पर अमेरिका की सेना का रखना स्वीकार कर लिया। ९ जून १९५२ को भारत ने जापान के साथ पृथक सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार भारत ने युद्ध काल में जब्त की गई जापानी पूंजी को वापस देने का आश्वासन दिया।

इस प्रकार काफी वर्षों के बाद विवाद के उपरान्त शान्ति समझौते सम्पन्न हो सके। सम्पन्न तो क्या हुये, जैसे तैसे महान् शक्तियों ने अपनी अपनी नीति के अनुसार अपने अपने प्रभावशाली क्षेत्रों के राज्यों के साथ सन्धियां की और पारस्परिक तनाव को कम करने के स्थान पर उसे और अधिक विकसित करने का प्रयत्न किया।

———

# ग्यारहवां अध्याय

# संयुक्त राष्ट्रसंघ

**प्रस्तावना**—सन् १६३८ के करीब राष्ट्रसंघ (League of Natio
शिथिल हो गया था। जापान, इटली तथा जर्मनी के व्यवहार से उपस्थित
तथा बड़ी शक्तियों की उदासीन वृत्तियाँ राष्ट्रसंघ को मृतप्रायवत् बनाने में
सिद्ध हुए। इस वातावरण में बड़ी शक्तियाँ पुनः अपनी परम्परागत नीति के
समझौते, संधियाँ और दल बनाने के उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ने लगी और इन
शक्ति सन्तुलन को बनाये रखना चाहा। परन्तु सन् १६३६ में द्वितीय विश्व महायुद्ध
हो गया और युद्ध की भयंकरता एवं मानव की नृशंस वृत्तियों का ताण्डव होने
इस युद्ध काल में ही मानव ने यह अनुभव किया कि शान्ति स्थापन एवं अन्त
सहयोग विश्व के लिए अनिवार्य है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ऐ
संघ की स्थापना को अत्यधिक महत्व दिया गया। कुछ समय तक यह धारणा
रही कि राष्ट्र संघ को ही पुनः प्रतिष्ठापित किया जाय किन्तु शीघ्र ही लोक
विश्व संगठन की स्थापना के पक्ष में समर्थन करने लगा। यह विचार कुछ नये
के साथ आगे बढ़ा। यह मत किया जाने लगा कि संगठन की सफलता इस बात
अवलम्बित रहेगी कि वह विश्व में स्थायी शान्ति स्थापना की दिशा में कितना
बनाये रखता है। इस प्रकार नये विश्व संगठन के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए।

**प्रारम्भिक प्रयत्न**—(१) इस दिशा में सर्व प्रथम प्रयत्न १२ जून सन् १
का किया गया था। जब ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा दक्षिण
एवं अन्य कई सरकारों के प्रतिनिधियों ने सेंट जेम्स महल में लन्दन घोषणा
हस्ताक्षर किये थे। इस घोषणा के अनुसार स्वीकार किया गया कि विश्व में
शान्ति का आधार भिन्न भिन्न देशों के बीच हुए परस्पर शान्ति समझौते
नहीं हो सकती वरन् समस्त स्वतन्त्र राष्ट्रों का स्वप्रेरित सहयोग हो सकता है,
आक्रमण के भय से मुक्त तथा आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा से युक्त हो। इसलिए
उद्देश्य की पूर्ति के लिए युद्ध और शान्ति के समय सबका मिल जुलकर प्रयत्न कर
एक मात्र ध्येय निर्धारित किया गया।

(२) दूसरा महत्वपूर्ण प्रयत्न इस दिशा में अटलान्टिक चार्टर के नाम
विख्यात है। अगस्त सन् १६४१ में इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल एवं
राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रूजवेल्ट अटलान्टिक समुद्र में प्रिंस आफ वेल्स

जहाज पर मिले और १४ अगस्त सन् १६४१ को उन्होंने एक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसे अटलांटिक चार्टर कहा गया। इस चार्टर में चार मुख्य बिंदुओं पर बल दिया गया। प्रथम विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में बल प्रयोग निन्दनीय माना गया। दूसरे प्रादेशिक अतिक्रमण अनुचित ठहराया गया। तीसरे आक्रमण से बचने के उपायों पर विचार किया गया और चौथे विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपने राज्य व सरकार का स्वरूप निर्धारित करने के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य मानी गई। प्रो० के० टी० शाह के मतानुसार यह चार्टर न शान्ति समझौता माना जा सकता और न ही सम्बन्धित राज्यों द्वारा पारित अधिनियम किन्तु फिर भी शान्ति स्थापना तथा प्रभावशाली विश्व संगठन का अस्तित्व कायम करने की दिशा में एक सफल प्रयत्न माना गया है।[1] इसी चार्टर द्वारा यह आशा व्यक्त की गई थी कि नाजी जर्मनी के अस्त होने के बाद ऐसी शान्ति स्थापित हो सकेगी जब विश्व के समस्त राष्ट्र अपनी अपनी सीमाओं में सुरक्षित रह सकें। और मानव के लिए शक्ति प्रयोग का अमानुषिक साधन समाप्त किया जा सके। लौकिक और पारलौकिक तथा स्वयं और दूसरों के लिए यह एक सतचिन्तक सुझाव ही स्वीकार किया जा सकता है।

( ३ ) तीसरा प्रयत्न इस दिशा में सम्मिलित राष्ट्रों की घोषणा थी। प्रथम जनवरी सन् १६४२ को वाशिंगटन में २६ विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। इसमें निहित के सिद्धान्त भी अटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तों के समर्थक रहे। हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक राष्ट्र ने यह निश्चय किया कि वह अपने समस्त साधनों का प्रयोग शत्रु राष्ट्रों के विरुद्ध करेगा तथा दूसरे हस्ताक्षरित राष्ट्रों से साथ पूर्ण सहयोग करेगा। परस्पर अलग संधियां व समझौते नहीं करेगा। तथा शत्रु राष्ट्रों का पूर्ण बहिष्कार करेगा।

( ४ ) प्रथम नवम्बर सन् १९४३ को मास्को में ब्रिटेन, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, चीन तथा रूस के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ और विचार विमर्श के पश्चात एक घोषणा की गई जिसके अनुसार यह आवश्यकता अनुभव की गई कि सम्भवतः शीघ्रातिशीघ्र एक सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना अनिवार्य है। इस संगठन का मूलभूत आधार समस्त शान्ति प्रिय देशों की समान सार्वभौमिकता का सिद्धान्त हो और समस्त छोटे बड़े राष्ट्रों के लिये इस संगठन की सदस्यता खुली हो ताकि विश्वशान्ति व सुरक्षा स्थापित हो सके। इसे मास्को घोषणा कहा जाता है।

( ५ ) प्रथम दिसम्बर १९४३ को तेहरान सम्मेलन में तीन प्रधान राजनीतिज्ञ राष्ट्रपति रूजवेल्ट, प्रधान मन्त्री स्टालिन एवं प्रधानमन्त्री चर्चिल, ने पुनः यह घोषित किया कि हमें विश्वास है कि हमारा समझौता विश्व में चिर शान्ति स्थापित करने में सफल होगा। इसे तेहरान घोषणा कहते हैं।

---

(1) The Foundations of Peace—Prof K T Shah

# ग्यारहवा अध्याय

# संयुक्त राष्ट्रसंघ

प्रस्तावना—सन् १९३८ के करीब राष्ट्रसंघ (League of Nations) शिथिल हो गया था। जापान, इटली तथा जर्मनी के व्यवहार से उपस्थित बाधाएं तथा बड़ी शक्तियों की उदासीन वृत्तियां राष्ट्रसंघ को मृतप्रायवत् बनाने में मुख्य कारण सिद्ध हुए। इस वातावरण में बड़ी शक्तियां पुनः अपनी परम्परागत नीति के अनुसार समझौते, संधियाँ और दल बनाने के उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ने लगीं और इन साधनों से शक्ति संतुलन को बनाये रखना चाहा। परन्तु सन् १९३९ में द्वितीय विश्व महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और युद्ध की भयंकरता एवं मानव की नृशंस वृत्तियों का ताण्डव होने लगा। इस युद्ध काल में ही मानव ने यह अनुभव किया कि शान्ति स्थापन एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विश्व के लिए अनिवार्य है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ऐसे राष्ट्र संघ की स्थापना को अत्यधिक महत्व दिया गया। कुछ समय तक यह धारणा व्याप्त रही कि राष्ट्र संघ को ही पुनः प्रतिष्ठापित किया जाय किन्तु शीघ्र ही लोक मत नये विश्व संगठन की स्थापना के पक्ष में समर्थन करने लगा। यह विचार कुछ नये सुझावों के साथ आगे बढ़ा। यह व्यक्त किया जाने लगा कि संगठन की सफलता इस बात पर अवलम्बित रहेगी कि वह विश्व में स्थायी शान्ति स्थापना की दिशा में कितना विश्वास बनाये रखता है। इस प्रकार नये विश्व संगठन के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए।

प्रारम्भिक प्रयत्न—(१) इस दिशा में सर्व प्रथम प्रयत्न १२ जून सन् १९४१ को किया गया था। जब ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलण्ड तथा दक्षिण अफ्रीका एवं अन्य कई सरकारों के प्रतिनिधियों ने सेंट जेम्स महल में लन्दन घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। इस घोषणा के अनुसार स्वीकार किया गया कि विश्व में स्थायी शान्ति का आधार भिन्न भिन्न देशों के बीच हुए परस्पर शान्ति समझौते व संधियाँ नहीं हो सकती वरन् समस्त स्वतन्त्र राष्ट्रों का स्वप्रेरित सहयोग हो सकता है, जो आक्रमण के भय से मुक्त तथा आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा से युक्त हो। इसलिए इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए युद्ध और शान्ति के समय सबका मिल जुलकर प्रयत्न करना ही एक मात्र ध्येय निर्धारित किया गया।

(२) दूसरा महत्वपूर्ण प्रयत्न इस दिशा में अटलान्टिक चार्टर के नाम से विख्यात है। अगस्त सन् १९४१ में इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री श्री चर्चिल एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रूजवेल्ट अटलान्टिक समुद्र में प्रिंस आफ वेल्स नामक

जहाज पर मिल और १४ अगस्त सन् १६४१ को उन्होंने एक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसे अटलांटिक चार्टर कहा गया। इस चार्टर में चार मुख्य बिन्दुओं पर बल दिया गया। प्रथम विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में बल प्रयोग निन्दनीय माना गया। दूसरे प्रादेशिक अतिक्रमण अनुचित ठहराया गया। तीसरे आक्रमण से बचने के उपायों पर विचार किया गया और चौथे विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपने राज्य व सरकार का स्वरूप निर्धारित करने के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य मानी गई। प्रो० के० टी० शाह के मतानुसार यह चार्टर न शान्ति समझौता माना जा सकता और न ही सम्बन्धित राज्यों द्वारा पारित अधिनियम किन्तु फिर भी शान्ति स्थापना तथा प्रभावशाली विश्व संगठन का अस्तित्व कायम करने की दिशा में एक सफल प्रयत्न माना गया है।[1] इसी चार्टर द्वारा यह आशा व्यक्त की गई थी कि नाजी जर्मनी के अस्त होने के बाद ऐसी शान्ति स्थापित हो सकेगी जब विश्व के समस्त राष्ट्र अपनी अपनी सीमाओं में सुरक्षित रह सकें। और सदैव के लिए शक्ति प्रयोग का अमानुषिक साधन समाप्त किया जा सके। लौकिक और पारलौकिक तथा स्वयं और दूसरों के लिए यह एक हितचिन्तक सुझाव ही स्वीकार किया जा सकता है।

( ३ ) तीसरा प्रयत्न इस दिशा में सम्मिलित राष्ट्र की घोषणा थी। प्रथम जनवरी सन् १६४२ को वाशिंगटन में २६ विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। इसमें निहित के सिद्धान्त भी अटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तों के समर्थक रहे। हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक राष्ट्र ने यह निश्चय किया कि वह अपने समस्त साधनों का प्रयोग शत्रु राष्ट्रों के विरुद्ध करेगा तथा दूसरे हस्ताक्षरित राष्ट्रों के साथ पूर्ण सहयोग करेगा। परस्पर अलग सन्धियाँ व समझौते नहीं करेगा। तथा शत्रु राष्ट्रों का पूर्ण बहिष्कार करेगा।

( ४ ) प्रथम नवम्बर सन् १६४३ को मास्को में ब्रिटेन, संयुक्त राष्ट्र अमरिका, चीन तथा रूस के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ और विचार विमर्श के पश्चात् एक घोषणा की गई जिसके अनुसार यह आवश्यकता अनुभव की गई कि सम्भवतः शीघ्रातिशीघ्र एक सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना अनिवार्य है। इस संगठन का मूलभूत आधार समस्त शान्ति प्रिय देशों की समान सार्वभौमिकता का सिद्धान्त हो और ऐसे समस्त छोटे बड़े राष्ट्रों के लिये इस संगठन की सदस्यता खुली हो ताकि विश्वशान्ति व सुरक्षा स्थापित हो सके। इसे मास्को घोषणा कहा जाता है।

( ५ ) प्रथम दिसम्बर १६४३ को तेहरान सम्मेलन में तीन प्रधान राजनीतिज्ञ राष्ट्रपति रूजवेल्ट, प्रधान मन्त्री स्टालिन एवं प्रधानमन्त्री चर्चिल, ने पुनः यह घोषित किया कि हमें विश्वास है कि हमारा समझौता विश्व में चिर शान्ति स्थापित करने में सफल होगा। इसे तेहरान घोषणा कहते हैं।

---

(1) The Foundations of Peace—Prof K T Shah

उपरोक्त पृष्ठभूमि के आधार पर यह निश्चय सा था कि विश्व युद्ध की ज्वाला शान्त होने के पश्चात् पुनः एक संगठन स्थापित होगा और वह लीग ऑफ नेशन्स की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और सफल होगा। अब इसके लिए प्रारम्भ रूप में स्पष्ट प्रयत्न आरम्भ हुए। प्रथम प्रयत्न सितम्बर सन् १६४४ को वाशिंगटन में हुआ। ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, रूस व चीन राज्यों के प्रतिनिधि डम्बाटन ऑक्स नामक भवन में एकत्रित हुए और यह विचार किया गया कि मास्को तथा तेहरान की घोषणाओं को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय। ७ अक्टूबर सन् १६४४ को यह सम्मेलन पूर्ण हुआ। तत्पश्चात् सम्मेलन में स्वीकृत विश्व संगठन की रूप रेखा प्रकाशित की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की दिशा में यह प्रथम स्वीकृति चरण था। इन प्रस्तावों के अनुसार विश्वशान्ति के लिए इस संगठन का मुख्य अंग सुरक्षा परिषद माना गया था तथा इसमें "पंच विशाल" ( Big Five ) ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, चीन व फ्रांस का स्थायी प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया था। परन्तु विचार विमर्श, मतदान व निर्णयों के लिए क्या प्रक्रिया होगी यह स्पष्ट नहीं था। क्रिमियन सम्मेलन ( इसे याल्टा सम्मेलन भी कहते हैं ) में यह कमी पूरी की गई। राष्ट्रपति रूजवेल्ट, प्रधान मंत्री चर्चिल तथा प्रधान मंत्री स्टालिन इस सम्मेलन में उपस्थित हुए और विचार किया गया। ११ फरवरी सन् १६४५ को यह घोषित किया गया कि मतदान, निर्णय आदि की प्रक्रिया संबंधित बिन्दु भी निर्धारित कर लिया गया है। और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए २५ अप्रैल सन १६४५ को सेन फ्रांसिस्को ( अमेरिका ) में विशद सम्मेलन आमंत्रित करने का निर्णय भी लिया गया। तदनुसार संभावित शान्ति प्रिय समस्त देशों को निमंत्रित किया गया।

**सेन फ्रॉसिस्को सम्मेलन**—२५ अप्रेल से २६ जून सन् १६४५ तक यह सम्मेलन हुआ। इसमें ऐसे ५१ राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए जिनमें विश्व के ⅘ जनसंख्या निवास करती है वे सब राष्ट्र इसमें सम्मिलित थे जिन्होंने जर्मनी या जापान के विरुद्ध युद्ध घोषित किया था अथवा प्रथम जनवरी सन् १६४२ का संयुक्त राष्ट्रीय घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे। मुख्य रूप से डम्बाटन ऑक्स व याल्टा सम्मेलन के प्रस्ताव तथा विभिन्न राष्ट्रों द्वारा प्रेषित संशोधन व सुझावों पर विचार किया गया और संयुक्त राष्ट्र संविधान Charter तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अधिनियम तैयार किया गया।

२६ जून सन् १६४५ को सर्वसम्मति से संयुक्त राष्ट्र संघ संविधान स्वीकृत किया गया और समस्त प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिए। तत्पश्चात् जब पाँच मुख्य प्रस्तावक सदस्य, चीन, फ्रान्स, ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका व रूस तथा अन्य सदस्य राष्ट्रों के बहुमत द्वारा स्वीकृति पत्र उपस्थित कर दिए गये, तब २४ अक्टूबर सन् १६४५ से यह संविधान प्रभावशाली हुआ। उसी समय से २४ अक्टूबर "संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस" के रूप में मनाया जाता है। यह नाम, United Nations या संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्रपति

रुजवल्ट के द्वारा प्रस्तावित किया गया था, जो सर्व सम्मति से स्वीकार किया गया।

**प्रस्तावना (Preamble)**—अब की बार इस सगठन के विधान का रूप कुछ कुछ एसा है जैसा किसी स्वतन्त्र गणराज्य का होता है। तदनुसार प्रस्तावना भी सम्मिलित की गई है। सयुक्त राज्य अमेरिका भारतवर्ष तथा रूस आदि प्रमुख देशो के सविधानो में प्रस्तावना में यह उद्घोषित किया गया है कि यह विधान वहा की जनता द्वारा स्वय स्वीकृत, नियमित और लागू किया जाता है। उसी भावना का इस विश्व सगठन के सविधान में अपनाना शुभ लक्षण ही माना जाता है। प्रस्तावना तो काफी विस्तृत है परन्तु उसमें मुख्य रूप से निम्न सिद्धान्त स्वीकार किए गए हे —

(१) यह निर्णय किया गया कि विश्व की भावी पीढियो का युद्ध की पीडा से सुरक्षित किया जाय।

(२) मानव के मौलिक अधिकार, प्रतिष्ठा, योग्यता स्त्री व पुरुष तथा छोटे-बडे समस्त राष्ट्रो के समानाधिकार मे पूर्ण विश्वास किया गया।

(३) ऐसी स्थिति लाई जाय जिसमें सधियो तथा अन्य एव अन्तर्राष्ट्रीय साधनो द्वारा स्वीकृत व्यवस्था का पालन सुविधा पूर्वक किया जा सके।

(४) अच्छे पडोसियों की भाति सहिष्णुता अपनाते हुए सामाजिक उन्नति तथा उच्च स्तरीय जीवन की प्रगति सम्भव बनाई जा सके।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने के लिए समस्त शक्तियो का एसा सगठित करना कि बल प्रयोग केवल सामान्य हित में ही किया जाय।

(६) समस्त विश्व के मानव की आर्थिक व सामाजिक प्रगति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साधनो का प्रयोग किया जा सके।

सर्व सम्मति से यह स्वीकार किया जाता है कि उपरोक्त आधारभूत सिद्धान्तो की पूर्ति और पालन के लिए हम सब सगठित रूप मे प्रयत्न शील रहगे।

तदनुसार विभिन्न राज्यों की सरकारो द्वारा स्वीकृति भेजदी गई इसके पश्चात इस सगठन से सबधित दूसरे अनिवार्य उद्देश्य आदि स्वीकार किए गए जो निम्न लिखित है —

**उद्देश्य**—धारा प्रथम के अनुसार सयुक्त राष्ट्रसघ को मुख्य उद्देश्य निर्धारित किए गए है, (१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना।

(२) विश्व के विभिन्न राष्ट्रो के बीच परस्पर मित्रता पूर्ण तथा सहकारिता का व्यवहार विकसित करना।

(३) मानव के मूल अधिकारो के प्रति सम्मान की वृद्धि करना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक आर्थिक सास्कृतिक तथा मानवीय समस्याओ को सुलझाना।

(५) उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रो के व्यवहारो व कार्यों मे साम्य लाते हुए (इन विषयो का) केन्द्र बन जाना।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों का संक्षेप में चार शब्दों द्वारा किया जा सकता है (१) सुरक्षा (२) न्याय (३) कल्याण तथा (४) मानव अधिकार। परन्तु इनके साथ ही यह भी सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि जब तक कोई सदस्य राष्ट्र चाटर के अन्तर्गत आचरण करता है उसके आन्तरीय मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जावेगा।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, यह भी आवश्यकता थी कि किस प्रकार तथा किन सिद्धान्तों को अपनाया जाय। इस लिए निम्न कुछ सिद्धान्त स्पष्ट रूप से व्यक्त किए गए है, जो चाटर की दूसरी धारा में वर्णित है —

(१) यह संगठन सब सदस्यों की सार्वभौमिक समानता के सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु यहाँ कुछ मर्यादाएं स्वीकार करना भी जरूरी है। उदाहरणार्थ सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य संगठन के अन्य सदस्यों की अपेक्षा अधिक अधिकारों का प्रयोग करते है। और सभी महत्त्वपूर्ण निर्णयों में उनकी सम्मति अनिवार्य मानी गई है। नए सदस्यों का प्रवेश, चाटर का संशोधन, विवादों का निर्णय तथा निर्णयों का कार्यान्वित करना आदि कुछ ऐसे ही विषय है। कोई भी महत्त्वपूर्ण निर्णय स्थायी सदस्यों की स्वीकृति बिना असम्भव होता है। वास्तव में इस प्रक्रिया के पीछे यह भावना थी कि विश्व के महत्त्वपूर्ण निर्णयों में बड़ी शक्तियां एकमत हो और शेष सदस्यों में से भी कम से कम दो सदस्यों का सहयोग हो ताकि कोई अन्याय न हो। परन्तु जिस रूप में यह प्रथा विकसित हुई है वह बहुत ही निराशापूर्ण है। श्री हन्स जे० मारगेंथाऊ के मतानुसार सुरक्षा परिषद का यह संगठन इस दृष्टि से किया गया था कि विश्व की बड़ी शक्तियों के साथ दो साधारण शक्तियों की अनिवार्यता इसे एक विश्व की वैधानिक या मर्यादित सरकार का रूप दे देगा। परन्तु बड़ी शक्तियों में परस्पर ही घोर सन्देह उत्पन्न हो जाने के कारण यह उद्देश्य कभी भी पूरा नहीं हुआ।[1] परन्तु इस अपवाद के अतिरिक्त सम्पूर्ण सदस्यों की सम्प्रभुता मय समानता अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है।

(२) सभी सदस्य, सदस्यता से प्राप्त सब लाभ और प्राप्त अधिकारों को निश्चित करने के हेतु, चाटर द्वारा अपेक्षित समस्त कर्त्तव्यों का पालन ईमानदारी तथा तत्परता से करेंगे।

(३) समस्त सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शान्तिमय साधनों से इस प्रकार करेंगे कि जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सुरक्षा व न्याय को कोई क्षति न पहुँचे।

(४) समस्त सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों के क्षेत्र में दूसरे राज्यों की स्वतन्त्रता या प्रादेशिक एकता के विरुद्ध युद्ध की धमकी या युद्ध का प्रयोग नहीं करेंगे।

(५) समस्त सदस्य संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रत्येक सम्भावित सहायता देंगे और विशेषकर किसी कार्यवाही के अवसर पर जो चाटर के अधीन की जा रही है। साथ ही उन राष्ट्रों को मदद देने से बचेंगे जिनके विरुद्ध यह कार्यवाही की जा रही है।

---

(1) Law of Politics in the world community—P 147

(६) सगठन यह भी प्रयत्न करेगा कि जो राष्ट्र इस सगठन के सदस्य नही है वे भी अन्तर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा की स्थापना के लिए ऐसा व्यवहार करें जो चाटर के अन्तर्गत अपेक्षित है।

(७) चाटर द्वारा स्वीकृत किसी भी नियम के अनुसार सगठन को सदस्य राष्ट्रो के आतरीय मामले में हस्तक्षेप का अधिकार नही होगा, परन्तु यह सिद्धान्त ७ वें अध्याय के अतगत युद्ध अनिवाय साधनो के उपयोग में बाधक भी नही होगा।

उपरोक्त सिद्धान्त आदश रूप में बहुत उपयुक्त हैं किन्तु व्यवहार मे बडी कठिनाई उपस्थित करते हैं। यदि प्रत्यक्ष उदाहरण लिए जायें तो इन सिद्धान्तो की व्यवहारिकता में कैसी रुकावटें आती हैं, यह स्पष्ट हो जायगा। सवप्रथम भारत दक्षिण अफ्रीका विवाद पर दृष्टि डालें तो यह प्रतीत होता है कि भारतवासियो का वाद उचित है और दक्षिण अफ्रीका सरकार को ऐसी भेद नीति और नियम नही बनाने चाहिए जिनसे अतर्राष्ट्रीय समस्याएँ पैदा होती हैं। परन्तु जब यह विवाद सयुक्तराष्ट्र सघ की जनरल असेम्बली के सामने प्रस्तुत हुआ तो दक्षिण अफ्रीका सरकार ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि यह हमारा आतरीय मामला है और धारा २ के ७ वें पहरे के अनुसार असेम्बली इस विषय में हस्तक्षेप नही कर सकती। यद्यपि ये नियमादि भारत और दक्षिण अफ्रीका की परस्पर सन्धियो के विपरीत थे और अतर्राष्ट्रीय सिद्धान्तो के विरुद्ध थे, तथापि मानव के मूल अधिकारो का उल्लघन करते हुए अतर्राष्ट्रीय शान्ति को भग करने की सभावना पैदा करने में आगे बढ़ते गए। सयुक्तराष्ट्र सघ ने इस विषय मे कई प्रस्ताव भी पास किए किन्तु द० अफ्रीका सरकार ने उन्हे कार्यान्वित ही नही किया और कहा कि ये अवधानिक हैं और हमारी स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। इसी प्रकार सन् १९५० में उपस्थित कोरिया का प्रश्न था। सयुक्तराष्ट्र सघ ने इसे अतर्राष्ट्रीय महत्त्व का विषय माना और सोवियट सघ ने इसे गृह युद्ध कह कर टाल दिया। यही स्थिति इगलैड और ईरान के बीच तेल विवाद के बाबत हुई। ईरान के विरुद्ध रूस का विरोध होते हुए भी विचार किया गया और आतरीय विषय का विवचन हुआ। अक्टूबर सन् १९५६ का हगरी उपद्रव भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। वहा की आम जनता सत्तापरिवतन के हेतु जूझ रही थी किंतु वहाँ के विदेशमत्री ने सयुक्तराष्ट्र सघ को सूचित किया कि यह उनका सिर्फ आतराय प्रश्न है और राष्ट्रसघ का कोई भी प्रयत्न उनकी आतरीय सप्रभुता में सीधा हस्तक्षेप होगा और चाटर की धारा २ के भी विरुद्ध होगा। इसीलिए सयुक्तराष्ट्र जाच समिति को हगरी मे भी प्रविष्ट नही होने दिया।

यद्यपि सयुक्त राष्ट्र सघ चार्टर ऐसे विषयो में हस्तक्षेप का अधिकार देता है जो विश्व शांति के लिए घातक हो या हो जाँय परन्तु फिर भी यह कठिन प्रतीत होता है कि सम्बन्धित राष्ट्र की स्वीकृति बिना कोई प्रयत्न सफल नही हो सकता। उपरोक्त लगभग सभी उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि विभिन्न राज्यो के अपने स्वार्थ अतर्राष्ट्रीय हित और शांति को हमेशा गौण बना देने में अधिक सफल होते हैं। इस प्रकार

उपरोक्त सिद्धान्त आदर्श रूप में होते हुए भी कार्यरूप में पूर्ण सफल व प्रभावशाली नहीं हो पा रहे हैं।

**प्रधान कार्यालय**—संयुक्तराष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय (Head Quarters) न्यूयार्क में है जो सन् १६५२ में बनकर पूरा हुआ है। अक्टूबर सन् १६५२ में वहाँ सर्वप्रथम जनरल असेम्बली की बैठक हुई। संयुक्तराष्ट्र संघ का कार्यालय भवन उस १७ एकड़ भूमि पर निर्मित है जो श्री जौन डी राकफेलर द्वारा प्रदान की गई है। इसमें ३६ मंजिल हैं और लगभग ३,८०० अधिकारी इसमें कार्य करते हैं। इसकी लागत १½ करोड़ डालर मानी जाती है।

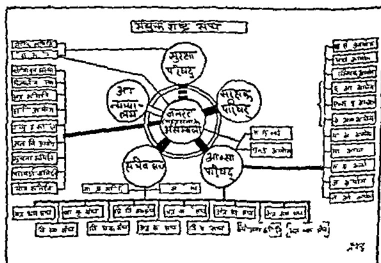
**भाषाएँ**—अंग्रेजी, फ्रेंच, चीनी, रूसी तथा स्पेनिश भाषाएँ संयुक्तराष्ट्र संघ की स्वीकृत भाषाएँ हैं परन्तु अधिकांश कार्य अंग्रेजी व फ्रेंच भाषा द्वारा ही होता है।

**पताका**—हल्की नीली पृष्ठ भूमि पर संयुक्तराष्ट्र संघ का चिह्न, जिसमें ओलिव की झुकी हुई शाखाएँ किन्तु ऊपर से खुली हुई और उनके मध्य में विश्व का मानचित्र है, स्वीकार किया गया है।

**अर्थ व्यवस्था**—संयुक्तराष्ट्र संघ का आय व्यय लगभग ५ करोड़ डालर प्रतिवर्ष माना जाता है और प्रतिवर्ष इसमें वृद्धि की सम्भावना रहती है। यह समस्त धन राशि विभिन्न राष्ट्रों द्वारा प्रदान की जाती है। जिसका अनुमानित अनुपात इस प्रकार है —

| | | | |
|---|---|---|---|
| संयुक्त राज्य अमेरिका | ३६ ६०% | ग्रेट ब्रिटेन | १० ५६% |
| सोवियट रूस | ६ ८५% | राष्ट्रीय चीन व फ्रांस | ५ ७५% (प्रत्येक) |
| भारतवर्ष | ३ ५३% | कनाडा | ३ ३५% |

**मुख्य अङ्ग**—संयुक्तराष्ट्र-संघ में मुख्य रूप से ६ अंग संगठित किए गए हैं जो क्रमशः (i) महासभा, (ii) सुरक्षा परिषद, (iii) आर्थिक व सामाजिक परिषद, (iv) संरक्षता परिषद (v) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा (vi) सचिवालय हैं। इनका संगठन, अधिकार क्षेत्र तथा कार्यों आदि का विस्तार के साथ अध्ययन करना अनिवार्य है।




(१) **महासभा ( General Assembly )**—संयुक्त राष्ट्र-संघ के समस्त

सदस्य राष्ट्र इस सभा के सदस्य होते है। और प्रत्येक सदस्य राष्ट्र पाँच प्रतिनिधियों को भेजता है। परन्तु मत एक राष्ट्र को एक ही देने का अधिकार है। महासभा का वार्षिक अधिवेशन प्रतिवर्ष २ सितम्बर के बाद होता है। साधारणत वर्ष मे एक ही अधिवेशन होता है। परन्तु आवश्यकता होने पर विशेष अधिवेशन भी आमन्त्रित किया जा सकता है। विशेष अधिवेशन बुलाने के लिए सयुक्तराष्ट्र सघ के सदस्य राष्ट्रो के बहुमत अथवा सुरक्षा परिषद द्वारा, आवेदन किया जाना चाहिए, तब महामंत्री १५ दिन की पूर्व सूचना (Notice) देकर आमन्त्रित कर सकता है। महासभा अपने अधिवेशन के आरम्भ मे ही एक अध्यक्ष ( President ) एव ७ उपाध्यक्ष ( Vice-Presidents ) निर्वाचित करती है जो अधिवेशन की समाप्ति तक रहते हैं। इस अधिवेशन मे कोई सदस्य राष्ट्र चार्टर की सीमाओं के अतर्गत् किसी भी विषय को विचारार्थ प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु निजी अथवा आंतरीय विषयो से सबधित नही होना चाहिए।

**महासभा की शक्तियाँ एव कार्य** —सयुक्तराष्ट-सघ के सविधान की धारा १० से १७ तक, महासभा के कार्यों का ही विवरण है। तदनुसार महासभा अपने अधिवेशनो मे किसी भी ऐसे विषय पर विचार विमर्श कर सकती है जो इसके क्षेत्र मे आता है और उन प्रश्नो को आवश्यकतानुसार सयुक्त राष्ट सघ के सदस्यो के पास अथवा सुरक्षापरिषद या दोनो के समक्ष भी उपस्थित कर सकती है। विश्व शाति और सुरक्षा की स्थापना से सम्बधित प्रश्न के विचार करने के लिए यह सभा पूर्ण रूप से अधिकारिणी है। ऐसा प्रश्न सदस्य राष्ट्र की ओर से, सुरक्षा परिषद द्वारा अथवा असदस्य राष्ट द्वारा भी प्रस्तुत किया जासकता है। यद्यपि यह महासभा विश्व की सार्वभौम सविधान सभा नही है किन्तु फिर भी इसके द्वारा विचार किया हुआ विषय विश्व के जनमत को नैतिक रूप से प्रभावित करने के लिए पर्याप्त है। यही महासभा स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए यदि विश्वशाति सङ्कट में होने की सभावना हो तो सुरक्षापरिषद का ध्यान भी आकर्षित कर सकती है। विशेष सुझाव दे सकती है और अन्य वैधानिक साधनों द्वारा पुन सन्तुलन के लिए प्रयत्न कर सकती है। धारा १३ के अनुसार महासभा को निम्न विशेष कार्य करने चाहिए —

(१) शाति और सुरक्षा की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तो पर विचार करना तथा अपने सुझाव देना।
(२) निशस्त्रीकरण तथा इससे सम्बधित समस्याओ पर शाति और सुरक्षा की दृष्टि से विचार करना तथा उचित एव प्रभावोत्पादक सुझाव देना।
(३) विश्व के राजनतिक क्षेत्र में अतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देना।
(४) निरन्तर विकासशील अतर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता देना तथा सग्रह (Codification) को प्रोत्साहित करना।
(५) विश्व के आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा स्वास्थ्य के क्षेत्रो में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना।

सकती है। ऐसी बठक सुरक्षा परिपद् की प्रार्थना पर बुलाई जा सकती है। इसी दृष्टि से महासभा ने सामूहिक साधन समिति (Collective Measures Committee) की स्थापना की है जो आवश्यकता आने पर किसी भी आक्रमण का सामना कर सकने की व्यवस्था कर सके। और इसी के साथ 'शांति निरीक्षक आयोग" (Peace Observation Commission) भी स्थापित किया गया।

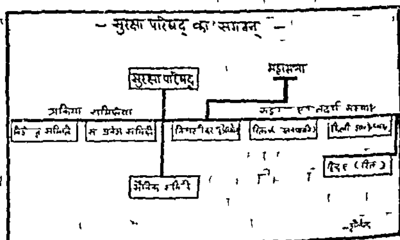
उपरोक्त साधनों के अन्तगत ही, नवम्बर सन् 1956 मे इजरायल, फ्रास और इङ्गलैंड द्वारा मिश्र पर आक्रमण करने के विषय पर महासभा के सकट कालीन अधिवेशन मे विचार किया गया था। यह आवश्यकता इसलिए हुई थी कि सुरक्षा परिपद् मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रस्ताव रक्खा था कि मिश्र मे समस्त देशों को शक्ति प्रयोग अथवा शक्ति प्रयोग का भय प्रदशन नही करना चाहिए और इङ्गलैंड और फ्रांस ने अपने निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग कर इसे अस्वीकार कर दिया था इस प्रकार विश्वशांति की स्थापना को और अधिक सुरक्षित बनाया गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इन साधनों द्वारा सयुक्त राष्ट्र सघ के इन दोनो अगो, महासभा एव सुरक्षा परिपद् का सम्बन्ध ही परिवर्तित हो गया। जहाँ सुरक्षा परिपद् किंचित भी असमथ दृष्टिगत हो वहाँ महासभा आगे आकर काय पूरा कर सकती है। बड़ी शक्तियो के विचार भेद के कारण निषेधाधिकार के अधिकतम प्रयोग की कठिनाइयाँ इस सुविधा से जीती जा सकती हैं।

**महासभा की स्थिति पर विचार**—प्रारम्भ से ही महासभा लीग की महासभा की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण सस्था के रूप मे स्थापित की गई थी। और इसकी प्रतिष्ठा भी अपेक्षाकृत बढ़ी हुई है। इसके कई कारण हैं। सुरक्षा परिपद् की तुलना में यह महासभा अधिक महत्व की है क्योंकि इसमे सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि हैं। दूसरे, सुरक्षा परिपद् मे स्थायी सदस्यो मे परस्पर विचार भेद अधिक हो गया है। अन्त मे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी, जैसे नि शस्त्रीकरण, विवाद निर्णय, सामूहिक सुरक्षा आदि, महासभा ही अधिक महत्त्वपूर्ण काय कर रही है।

कुछ विद्वानो का मत है कि महासभा को समस्त सदस्य राष्ट्रो के लिए ऐसे नियम बनाने की शक्ति होनी चाहिए जिनका पालन अनिवाय है और "एक राज्य एक मत" का सिद्धात भी बदलना चाहिए ताकि यह सगठन अधिक प्रतिनिध्यात्मक बन सके। आज भी महासभा को 'विश्व का नगर सम्मेलन' (Town meeting of the world) कहा जाता है। फिर भी इस सस्था मे कुछ ऐसे अभाव हैं जो इसके महत्व को पूर्ण नहीं होने देते। उदाहरणार्थ–यह सभा केवल आशसायें (Recommendations) भेजती हैं जो सदस्य राष्ट्रो की सुविधानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। और इसी प्रकार सारे प्रतिनिधि एकत्रित होते हैं भाषण, श्रवण, प्रतिवेदन, अध्ययन विचार, प्रस्ताव, मनन, विवाद, मतदान आदि सभी कुछ करते हैं परन्तु वे सवमान्य नियम और विधियाँ नहीं बनाते और न बना सकते हैं। जो

किसी एक भी राष्ट्र को स्वीकार नहीं है ऐसे नियम बनाने मे यह सभा असमर्थ है। इस प्रकार महासभा प्रभावशाली है, पहले से उन्नत और शक्तिशाली है और पर्याप्त सीमा तक सफल है परन्तु फिर भी पूर्ण सफलता के लिए इसमें कुछ अभाव हैं। महासभा का प्रथम अधिवेशन 10 जनवरी सन् 1946 में लंदन में आरम्भ हुआ था। 21 सितम्बर, 1955 को महासभा का नवाँ अधिवेशन न्यूयार्क मे नव निर्मित कार्यालय में आरम्भ हुआ। और अब महासभा विश्व में बहुत बड़ा लोक मच (Forum) बनकर महत्त्वपूर्ण निर्णय करने योग्य संस्था सिद्ध हो रही है।

**(२) सुरक्षा परिषद्**—सुरक्षा परिषद् में ग्यारह सदस्य होते हैं। चीन (राष्ट्रवादी), फ्रांस, रूस, ग्रेट ब्रिटेन एव सयुक्त राज्य अमेरिका पाँचो स्थायी सदस्य हैं।




और शेष दस सदस्य केवल दो वर्ष के लिए चुने जाते हैं। यह चुनाव महासभा द्वारा विभिन्न सदस्य राष्ट्रो मे से उनके सयुक्त राष्ट्र को दिए सहयोग, शांति व्यवस्था में सहायता तथा भौगोलिक वितरण के आधार पर किया जाता है। कोई सदस्य राष्ट्र तत्काल पुनर्निर्वाचन के योग्य नही माना जाता है। इस परिषद् में सदस्य संख्या निर्धारित हो जाने के कारण छोटे राज्यो द्वारा गुटबन्दी की सम्भावना नहीं रही। इस परिषद् में सदस्य राष्ट्र का केवल एक ही प्रतिनिधि उपस्थित हो सकता है। विधान में यह भी दिया गया है कि संयुक्त राष्ट्र सघ का ऐसा सदस्य जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य नहीं है, परिषद् की बैठक में बिना मताधिकार प्राप्त किए सम्मिलित हो सकता है, यदि उस राष्ट्र के हितों पर प्रभाव डालने वाले प्रश्नों पर विचार किया जाय। इसी प्रकार ऐसा राष्ट्र जो न सुरक्षा परिषद् का सदस्य है और न संयुक्त राष्ट्र सघ का, वह भी उससे सम्बन्धित विवादग्रस्त प्रश्नों पर विचार करते समय, विचार विमर्श मे बिना मताधिकार भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जायगा। इस परिषद् की अध्यक्षता इसी परिषद् के

सदस्यो को अङ्गरेजी की अक्षरमाला के क्रम से प्राप्त होती है। प्रत्येक अध्यक्ष का कार्य काल एक पूर्ण मास होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली अंग सुरक्षा परिषद ही है। इसलिए इस परिषद की शक्तियाँ एवं कार्य भी अनेक है। कुछ अधिकार तो परिषद के स्वयं ही पूर्ण हैं और शेष महासभा के सहयोग से पूर्ण कार्य एवं शक्तियाँ बन जाते हैं। विश्वशांति और सुरक्षा की स्थापना एवं व्यवस्था, इस परिषद का मुख्य कार्य है। और साधारण रूप मे यह संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्य कारिणी है। जो इस संघ के समस्त महत्त्व कार्य करती है। धारा २५ के अनुसार समस्त सदस्य राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद के निर्णयों को स्वीकार करने तथा कार्यान्वित करने का आश्वासन दे दिया है। सुरक्षा परिषद वास्तव मे इस संगठन की वास्तविक मुख्य संस्था है।

संयुक्त राष्ट संघ के चार्टर में अन्तर्राष्टीय शांति व्यवस्था कायम रखने के लिए परिषद के हस्तक्षेप की चार निम्न विभिन्न अवस्थायें हैं —

शांति समझौता— चार्टर के अनुच्छेद छ के अनुसार सुरक्षा परिषद विवादों की जाच पड़ताल करती है और अनुच्छेद छ के अनुसार शांति भंग करने वाली बातो के लिए कार्यवाही करती है। अनुच्छेद छ के अनुसार ही विवाद-

पहली अवस्था

ग्रस्त दलो को आवश्यकता समझें तो आमन्त्रित कर सकती है, और विश्व शांति व सुरक्षा को खतरा होने की अवस्था मे, वार्त्ता, जाच, सोच विचार, विचार विमर्श, मध्यस्थ निर्णय, न्यायिक निर्णय, प्रादेशिक संस्थाओं की स्थापना या अपने इच्छानुसार अन्य शांतिपूर्ण ढंग से तय कर लेने चाहिए। इन साधनो के असफल होने पर अन्य अवस्थाएँ काम में ली जाती है। ऐसा राष्ट भी जो सदस्य राष्ट्र संघ न हो, अपना विवाद उपस्थित कर सकता है यदि वह चार्टर के शांति समझौते की अनिवार्य स्थितियों को स्वीकार कर ले। यह प्रथम अवस्था है।

दूसरी अवस्था—जब शांति सचमुच भंग हो जाय अथवा एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण करे तो परिषद झगडने वाले राज्यो को अपनी स्थायी शर्तें स्वीकार करने के लिए आह्वान कर सकती है किन्तु उस अवस्था में उन राज्यो के अधिकार तथा दावे अक्षुण्ण रहेंगे। उदाहरणार्थ-वह मांग कर सकती है कि सम्बन्धित देश अपनी सेनाएँ कथित स्थिति पर बुला लें या युद्ध विराम पर हस्ताक्षर करें। यदि एक या दोनो दल इस मांग को अस्वीकार कर दें तो यह भविष्य की कार्यवाही के लिए नोट कर लिया जायगा। (धारा ३६-४०)

तीसरी अवस्था—परिषद सदस्य राष्ट्र से आर्थिक प्रतिबन्ध करने—जिसमें रेल, डाक, समुद्र वायु, तार, रेडियो, तथा यातायात के अन्य साधनो की पूरी या आधी रुकावट या कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद सम्मिलित हो, के लिए कह सकती है। (धारा ४१)।

**चौथी अवस्था**—अन्त मे उपरोक्त तीनो उपायो के अप्रभावशाली होने पर परिषद सैनिक कार्यवाही सैन्य प्रदर्शन, अवरोध, तथा वायु जल या स्थल सेना का प्रयोग परिस्थिति अनुसार कर सकती है। धारा ४३ के अनुसार प्रत्येक संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य प्रतिज्ञा बद्ध है कि इस परिषद के आह्वान पर सशस्त्र सैन्य सहायता तथा सुविधाएँ, जैसे मार्ग अधिकार आदि, प्रदान करेंगे। ऐसे अवसर के लिए राष्ट्रीय वायु सेनाएँ सदा प्रस्तुत रखनी चाहिए। जिससे कि संयुक्त राष्ट्र संघ शीघ्रातिशीघ्र सैनिक कार्यवाही कर सके (धारा ४५)।

इस प्रकार सातवें अनुच्छेद के अनुसार सुरक्षा परिषद यह निर्णय करती है कि किस स्थान पर शांति को खतरा है, कहां शांति भंग हो चुकी है, कहां आक्रमण हो रहा है और उसी के अनुसार उपाय करने का यत्न या सिफारिश करती है जिससे पुनः शांति स्थापित हो जाय और सुरक्षा बनी रहे। सर्वप्रथम इस शक्ति का प्रयोग कोरिया में किया गया था। इससे पूर्व फिलीस्तीन, इन्डोनेशिया तथा काश्मीर के मामलों में केवल विराम संधि (Cease fire) तक सुरक्षा परिषद की शक्ति कार्यान्वित हुई थी। अब भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दोनो विग्रही दल शांति पूर्ण ढंग से समझौता नहीं कर सकें तो ये शक्ति प्रयोग सुरक्षा परिषद किस सीमा तक कर सकेगी। सुरक्षा परिषद ही यह कार्य कर सकती है और उसी परिषद में बड़ी शक्तियों को पूर्ण निषेधाधिकार है। जिसके कार्यान्वित होने पर कोई निर्णय वैध नहीं होता। फिर भी प्राचीन लीग की अपेक्षा संयुक्तराष्ट्र संघ अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली है, यह मतभेद का विषय है। डा० मुरे का कथन है कि नवीन संघ में सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधान इसके दांत है जिसके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र बड़ी कार्यवाहियाँ की जा सकती हैं। यह हर्ष का विषय है।[1]

सुरक्षा परिषद के अन्य कार्य भी महत्वपूर्ण है ऐसे न्यास क्षेत्र, जो सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने गए हैं, उनका नियन्त्रण व निरीक्षण भी सुरक्षा परिषद करती है और सदस्यों को प्रवेश, निलम्बन तथा निष्कासन भी, महा सभा, सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर ही करती है।

**मतदान प्रणाली ( सुरक्षा परिषद में )**—इस परिषद के प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार है। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयो पर सुरक्षा परिषद सात सदस्यों के स्वीकारात्मक मत से निर्णय करती है। तथा अन्य सब विषयों का निर्णय भी सात सदस्यों के स्वीकारात्मक मत से करती है परन्तु इन सात मतों में पाँचो स्थायी सदस्यों का सम्मिलित होना अनिवार्य है। इन पाँचो स्थायी सदस्यों मे से एक की भी सहमति नहीं होना तो निर्णय नही लिया जा सकता। चाहे अन्य या सभी सदस्य एक मत हों परन्तु निर्णय वैध नही कहा जा सकता। स्थायी सदस्यों का यह अधिकार ही 'वीटो' (Veto) या निषेधाधिकार कहलाता है।

---

(१) Dr Murray—From the League to U N, Page 15?

**निषेधाधिकार**—सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यो का निषेधाधिकार आजकल चर्चा का विषय है । यह अधिकार पाँच बडी शक्तियो को इसलिये दिया गया था कि विश्व शांति और सुरक्षा का उत्तरदायित्व प्रमुख रूप से इन्ही पर रहेगा । अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह प्रस्ताव रक्खा था और उसका दृष्टिकोण भी यही था कि जब तक ये शक्तियां सहयोग से कार्य करेंगी तब तक ही सुरक्षा और शान्ति सम्भव है । विरोध की अवस्था मे विश्व शान्ति स्थापित नही रह सकती । भविष्य मे छोटी शक्तियों के सहयोग से बहुमत बनाकर ये बडी शक्तियाँ परस्पर एक दूसरे को दबा न सकें, इसलिए इन्हें निषेधाधिकार दिया था । क्योकि बडी शक्ति की इच्छा के विरुद्ध उन पर कोई निर्णय थोपना युद्ध को सीधा निमन्त्रण देना होता है और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा सुरक्षित नही रह सकती । इसलिए ऐसे सघर्ष और विवादो को दूर रखना तथा सम्मेलनों के मच तक ही विरोध रोक रखना इस अधिकार का उद्देश्य था । *कुछ विद्वानो के मतानुसार निषेधाधिकार को स्वीकार करना बुरा था* और उसका प्रयोग उससे भी बुरा बन गया । और आज सयुक्त राष्ट्र सघ के समथको के लिए यही प्रक्रिया एक भयकर समस्या बन गया है । इससे सम्बन्धित धारा 27 आजकल सबसे अधिक विवादास्पद बनी हुई है । और जनता का ध्यान भी इस ओर अधिक है । *"सुरक्षा परिषद् मे निषेधाधिकार के प्रयोग या दुरुपयोग के कारण सयुक्त* राष्ट्र सघ के प्रति विश्वास मे सबसे अधिक क्षति हुई है ।* वास्तव में विश्व शांति की सुरक्षा के लिए यह प्रावधान रक्खा गया था परन्तु यही प्रावधान सबसे अधिक परिषद् को निष्क्रिय बना रहा है ।

निषेधाधिकार का प्रयोग सवप्रथम रूस की ओर से आरम्भ हुआ जब रूस के हित और सयुक्त राष्ट्र के विधान मे अन्तर आने लगा और सन् 1951 तक अकेले रूस ने लगभग 40 बार इसका प्रयोग किया । अब भी रूस निषेधाधिकार का प्रयोग इस प्रकार करता है कि सुरक्षा परिषद् मे कोई महत्त्वपूर्ण निणय नही लिया जा सकता । जिस अधिकार द्वारा सुरक्षा परिषद् प्रभावशाली सस्या बनाई गई थी उसी के द्वारा यह सस्था निष्क्रिय बन गई । कैसी विडम्बना है । कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न इसी स्थिति के कारण उपस्थित ही नही हो पाते । भारत का गोआ का प्रश्न इसी कारण सुरक्षा परिषद् में नहीं उपस्थित किया गया । इसी निषेधाधिकार के अनुचित प्रयो[illegible] के कारण महासभा मे "शान्ति के हेतु सगठन" प्रस्ताव पास किया तथा अन्त काल[illegible]

---

* Nothing has done more to lessen public Confidence in th[illegible] United Nations than frequent use & abuse of the veto in [illegible] *Security Council N D Palmer & H C. Perkins — Int[illegible]* national Relations, P 1090.

धिकार का प्रयोग करेगा । सुरक्षा परिषद् को विश्व संगठन का प्राण कहा जा सकता है। इसलिए इसमे उत्पन्न रोग का निदान और उपचार ही वाछनीय है। न कि शल्य चिकित्सा द्वारा किसी अंग को निष्क्रिय बनाने का प्रस्ताव । अत निषेधाधिकार का संशोधन परमावश्यक है ।

### दो निषेधाधिकार ( Double Veto ) —

निषेधाधिकार का प्रयोग संयुक्त राष्ट्र के विधान में साधारण तौर पर दिया नही गया । परन्तु इसका प्रयोग इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसके दो स्वतन्त्र पक्ष बन गये । एक प्रक्रिया सम्बन्धी साधारण विषयो के सम्बन्ध और दूसरा महत्वपूर्ण विषयो के सम्बन्ध मे । इस प्रकार निषेधाधिकार भी दो प्रकार का कहा जाने लगा । कुछ लोगो ने तो इस भावना को स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया है कि प्रारम्भिक प्रश्न के समय ही बडी शक्तियां अपने निषेधाधिकार के प्रयोग द्वारा यह निर्णय होने में कि अमुक प्रश्न प्रक्रिया सम्बन्धी है या महत्त्वपूर्ण, कठिनाई पैदा कर सकते हैं और यह भी निषेधाधिकार का प्रयोग ही है । और वास्तव में यही प्रक्रिया निषेधाधिकार के दो रूप बना देती है । ऐसे प्रयोग सोवियत रूस द्वारा बहुमत की अवहेलना करते हुए कई बार किये गये । इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग उस समय किया गया जब चेकोस्लोवेकिया के ऊपर साम्यवादी आक्रमण किया गया था और चेकोस्लोवेकिया के प्रतिनिधि डा० जेन पापानेक की प्रार्थना पर *सोवियत रूस ने डबल वीटो का प्रयोग करते हुए सब कमेटी की स्थापना की* भावना नष्ट कर दी । (24 मई सन् 1949) इस दो निषेधाधिकार के प्रयोग से सुरक्षा परिषद् की कार्य प्रणाली मे दोष भी दुगने हो गए और कठिनाइयां भी बढ़ गई। परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने कोई स्पष्ट मार्ग नही है जिसका अनुसरण किया जा सके और निषेधाधिकार के दुरुपयोग बढ़ ही रहे हैं ।

### आत्म-सुरक्षा (Self Defence) —

संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान की धारा 51 के अनुसार यदि किसी राष्ट्र पर आक्रमण होता है तो वह उस समय तक व्यक्तिगत या सामूहिक रूप मे आत्म सुरक्षा का अधिकारी है जब तक सुरक्षा परिषद् पुन शान्ति स्थापना के लिए निश्चित कदम नहीं उठाती । ऐसी कार्यवाही की सूचना तत्काल सुरक्षा परिषद् के पास भेजी जायगी और इस कार्यवाही से सुरक्षा परिषद् के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा । आत्म सुरक्षा के अधिकार का प्रयोग केवल सशस्त्र आक्रमण के अवसर के लिए ही स्वीकार किया गया है अन्य किसी भी प्रकार की स्थिति में उचित नहीं माना गया । उदाहरणार्थ यदि किसी पड़ोसी राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र की सीमा पर सैनिक जमाव किया जाता है तो कितनी भी भयंकर स्थिति हो, इसे सुरक्षा के अधिकार का प्रयोग वांछनीय नहीं कहा जा सकता । केवल इस स्थिति की सूचना सुरक्षा परिषद् को दी जा सकती है । इस प्रकार

संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों का शक्ति प्रयोग का अधिकार उपरोक्त एक स्थिति के अतिरिक्त किसी भी अवस्था में स्वीकार नहीं किया गया है। राष्ट्र संघ की अपेक्षा इस नवीन संगठन द्वारा स्वीकृत यह प्रावधान निश्चित रूप से एक ऐसा सुधार है जिसमें विश्व शान्ति की सुरक्षा अधिक सुगम और नियन्त्रित बन गई है।

**महासभा तथा सुरक्षा परिषद के सम्बन्ध**—उपरोक्त वर्णन द्वारा दोनों प्रमुख अंगों का सम्बन्ध ऐसा प्रतीत होता है जैसा एक राज्य में कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका का होता है। सुरक्षा परिषद् बहुत कुछ प्रशासन संस्था के रूप में है और महासभा उसकी व्यवस्थापिका के रूप में। संयुक्त राष्ट्र संघ का सम्पूर्ण कार्य क्षेत्र और समस्त विषय जो विधान में वर्णित है महासभा के सामने ही प्रस्तुत होते हैं। जब कि सुरक्षा परिषद् का मुख्य सम्बन्ध केवल उन्हीं प्रश्नों से है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थिति में बाधक या घातक सिद्ध हो सकते हैं। सुरक्षा परिषद की समस्त कार्यवाही की सूचना प्रतिवर्ष अपने प्रतिवेदन द्वारा महासभा के सामने प्रस्तुत होती है और महासभा में उस पर विचार और विवाद भी होता है परन्तु उस पर किसी प्रकार का आक्षेप अथवा उसमें कोई संशोधन नहीं किया जा सकता जिससे महासभा की उच्चता और सुरक्षा परिषद की हीनता सिद्ध हो। अधिकतम प्रश्नों के निर्णय में साधारणतया महासभा और सुरक्षा परिषद मिल जुलकर ही कार्य करती हैं जैसे नए राष्ट्रों का प्रवेश, सदस्य राष्ट्रों का निष्कासन, महामन्त्री की नियुक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधीशों की नियुक्ति आदि।

इसके अतिरिक्त महासभा का अधिवेशन साधारणतया वर्ष में केवल एक बार होता है जब कि सुरक्षा परिषद लगभग एक स्थायी सी संस्था है जो निरन्तर कार्य में लगी रहती है। इन संस्थाओं के आकार में अन्तर होने के कारण महासभा संसद का रूप धारण कर लेती है और सुरक्षा परिषद एक कूटनीतिज्ञों की समिति का। महासभा विश्व का प्रतिनिधि संस्था होने के कारण "जन मत" का अधिक ध्यान रखती है। परन्तु सुरक्षा परिषद में इस पर ध्यान नहीं दिया जाता। यहाँ प्रत्येक समस्या का राजनैतिक पक्ष अधिक प्रभावपूर्ण समझा जाता है। फिर भी सन् १९५० के 'शान्ति के लिए संगठन' प्रस्ताव द्वारा यह सम्बन्ध बहुत संशोधित हो गया है। अब महासभा द्वारा अधिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रयोग सम्भव हो गया है, परन्तु विश्व शान्ति का खतरा कम नहीं हो पाया। अतः यह कहा जा सकता है कि सुरक्षा परिषद की सफलता के मार्ग में कई बाधाएँ होते हुए और महासभा का कार्य क्षेत्र विस्तृत होते हुए भी, दोनों संस्थाओं में सुरक्षा परिषद अधिक शक्ति शाली, महत्त्वपूर्ण और प्रशासनीय संस्था ही बनी हुई है और बनी रहेगी।

**सुरक्षा परिषद की सफलताएँ**—संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्त महत्त्वपूर्ण कार्य सुरक्षा परिषद् द्वारा किए जाते हैं और तत्सम्बन्धी निर्णय या तो स्वयं ही करती है अथवा महासभा की सहमति से करती है। परन्तु उन्हें कार्यान्वित करने का

परन्तु यूनान द्वारा इस बात का विरोध किया गया तब सुरक्षा परिषद ने इस विषय पर ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत पुन यूनान ने यह आपत्ति सुरक्षापरिषद के सामने रखी कि साम्यवादी राष्ट्रों को हमारे यहाँ के गोरीलाओं की सहायता नहीं करनी चाहिए। इस पर एक जांच आयोग की नियुक्ति की गई जिसने स्थिति का अध्ययन कर कुछ सिफारिशें की जो सुरक्षा परिषद ने भी स्वीकार करली। २७ मई सन् १९४७ की इस आयोग रिपोर्ट में यह बताया गया है कि गोरीलाओं को साम्यवादी सहायता पडोसी राष्ट्रों से प्राप्त होती थी। इस रिपोर्ट में यह भी सुझाव दिए गए कि यूनान के सम्बन्ध इन तीनों पडोसी राष्ट्रों से अच्छे रहने चाहिए। सीमा नियमन आदि के लिए इन राष्ट्रों को नए समझौते करने चाहिए। सीमा सबधी विवादों के निर्णय के लिए कम से कम दो वर्ष तक एक आयोग स्थापित रहना चाहिए, आदि आदि। इसी के साथ यूनान की आर्थिक सहायता का भार सयुक्त राज्य अमेरिका ने लिया और इस प्रकार यूनान की स्थिति को नियन्त्रण में किया।

इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों तथा अनेक स्थानों पर सुरक्षा परिषद सफल रही है। बर्लिन आर्थिक प्रतिबन्ध (Blockade) फिलिस्तीन, सीरिया, लेबनान इंगलैण्ड—ईरान—तेलविवाद, कोर्फू—जल मार्ग विवाद, कोरिया, अलजीरिया का प्रश्न, काश्मीर की समस्या स्वेज नहर प्रश्न, हगरी ट्रिस्ट, दक्षिणी अफ्रीका मिश्र, बर्मा, मोरक्को तथा ट्यूनिशिया का प्रश्न आदि अनेक समस्याओं का सुन्दर और समयानुकूल हल एव समयोचित शान्तिमय उपाय, सुरक्षा परिषद की सफलता के सुस्पष्ट प्रमाण हैं।

**काश्मीर समस्या**—सन् १९४७ के स्वतन्त्रता अधिनियम के पारित होने के पश्चात् भारतवर्ष की समस्त देशी रियासतों की स्थिति एक सी थी और उन पर से ब्रिटिश सत्ता का अधिकार मिट चुका था। वे अपना भविष्य निर्धारित करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र थीं। उन्हें यह अधिकार था कि वे भारत अथवा पाकिस्तान के साथ स्वेच्छा से मिल सकती थीं। काश्मीर के शासक को भी अपने राज्य की संवैधानिक स्थिति निर्धारित करने की स्वतन्त्रता थी।

कुछ समय तक काश्मीर सरकार पाकिस्तान के साथ भी अपने यथावत् सम्बन्ध रखना चाहती थी। किन्तु भारतवर्ष के साथ स्वाभाविक रूप से सम्बन्ध अच्छे रहने के कारण पाकिस्तान के द्वारा व्यवहार में अन्तर आने लगा जिसके कारण काश्मीर सरकार पाकिस्तान की ओर से अधिक आशावादी नहीं रही। इस अवसर पर पाकिस्तान ने काश्मीर पर पूर्ण आर्थिक प्रतिबन्ध (Full Blockade) लगा दिये और सितम्बर सन् १९४७ को उत्तर पश्चिमी सीमोत्तर प्रदेश से लेकर काश्मीर की सीमा तक लूट खसोट, हत्या आदि, उपद्रव भी आरम्भ हो गये। इस पर काश्मीर सरकार ने पाकिस्तान की सरकार को अपनी आपत्तियाँ उपस्थित की परन्तु पाकिस्तान सरकार ने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया। आक्रामक वर्ग बड़ी सख्या में सगठित था। इसलिए काश्मीर के कुछ प्रदेश पर आधिपत्य भी कर लिया और श्रीनगर पर अधिकार करने का भय

भी निकट दिखाई दिया । यह आक्रमण स्पष्ट रूप से पाकिस्तान की सहायता से सचालित हुआ था । इसलिए काश्मीर की स्थिति बड़ी कठिन और सकटमय बन गई । बिना किसी बाहरी सहायता के काश्मीर की रक्षा असम्भव सी थी । अत काश्मीर के शासक ने भारत सरकार से सैनिक सहायता के लिए प्रार्थना की । परन्तु यह काश्मीर का आन्तरिक प्रश्न होने के कारण भारतवर्ष का उस समय तक हस्तक्षेप करने का अधिकार नही था जब तक काश्मीर राज्य भारतीय सघ में सम्मिलित नही हो जाता । २८ अक्टूबर सन् १९४७ को काश्मीर महाराजा को यह ज्ञान करा दिया गया कि भारतीय सघ में सम्मिलित हुआ बिना सैनिक सहायता सम्भव नही है । इस कठिनाई को दूर करने के लिए २६ अक्टूम्बर सन् १९४७ को महाराजा ने काश्मीर राज्य का भारतीय सघ में सम्मिलित होने का प्रवेश पत्र उपस्थित कर दिया । भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम् के अनुसार राज्यो के राजाओ का किसी भी सघ में सम्मिलित होने का पूर्ण अधिकार था इसलिए भारतवर्ष ने काश्मीर महाराजा द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रवेश पत्र (Instrument of Accession) निर्णयात्मक रूप में स्वीकार किया जो वैध तथा नियमानुसार था । २७ अक्टूम्बर सन् १९४७ को काश्मीर भारतवर्ष का अभिन्न अग स्वीकार करते हुए सम्मिलित कर लिया गया । परन्तु सवैधानिक नही बल्कि राजनैतिक कारणो से स्वय यह प्रस्ताव रखा कि काश्मीर का प्रवेश पूर्ण शान्ति स्थापित होने पर जनमत द्वारा भी पुष्ट कर लिया जाय । परन्तु यह निर्णय काश्मीर के भारतीय सघ में मिल जाने के बाद हुआ । तत्पश्चात् ३० दिसम्बर १९४७ को भारतवर्ष ने संयुक्त राष्ट्र सघ विधान की धारा ३५ के अनुसार यह विवाद सुरक्षा परिषद में भेजा । और यह अपील की कि सुरक्षा परिषद पाकिस्तान को यह आदेश दे कि वे सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार की सहायता जम्मू और काश्मीर राज्य पर हो रहे आक्रमण में देना बन्द कर दें । और आक्रामकों को अपने राज्य में से किसी भी प्रकार के प्रवेश आदि की सुविधाएं न दे । परन्तु पाकिस्तान ने इन झूठ आरोप बताते हुए भारतवर्ष के विरुद्ध आपत्तियाँ उपस्थित कर दी ।

अप्रेल सन् १९४८ में सुरक्षा परिषद ने शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए एक आयोग की स्थापना की जिसने १३ अगस्त सन् १९४८ को विराम सधि तथा शान्ति समझौता का प्रस्ताव रखा जिसे दोनो राज्यो की सरकारो ने स्वीकार किया और १ जनवरी १९४९ की अर्धरात्रि से कार्यान्वित हुआ । इस समझौते के फल स्वरूप आयोग ने अपनी कार्यवाही में उत्साह लिया और नई नई योजनाएं उपस्थित की । तदनुसार यह प्रस्ताव भी रखा गया कि जम्मू और काश्मीर राज्य का भारत या पाकिस्तान में प्रवेश वहा की जनता के मुक्त तथा निष्पक्ष जनमत निर्णय द्वारा निर्धारित किया जाय और अमेरिका की जल सेना के अधिकारी एडमिरल निमिट्ज को संयुक्त राष्ट्र सघ के महामन्त्री द्वारा जनमत निर्णय प्रशासक (Plebiscite Administrator) निर्वाचित किया गया । और भारत, पाकिस्तान तथा काश्मीर ने भी इस

नियुक्ति में अपनी सहमति दी थी। किन्तु धीरे २ पाकिस्तान ने तथाकथित आजाद काश्मीर सेना को अपनी ही सेना का अंग बताया और संयुक्त राष्ट्र संघ आयोग से इस विवाद का निर्णय होने तक किसी भी प्रकार की कार्यवाही बन्द करने अथवा सेनायें हटाने के लिए स्वीकृति नही दी। यह व्यवहार पाकिस्तान की ओर से १३ अगस्त सन् १९४८ के उस प्रस्ताव के विरुद्ध है जो भारत और पाकिस्तान दोनो राज्यों ने स्वीकार कर लिया था।

संयुक्त राष्ट्र के भारत पाकिस्तान आयोग ने सारा प्रश्न पुन दिसम्बर सन् १९४९ को संयुक्त राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित कर दिया और एक मध्यस्थ की नियुक्ति के लिए सिफारिश की। किन्तु स्थिति में कोई सुधार न होने के कारण, सुरक्षा परिषद ने आस्ट्रेलिया उच्च न्यायालय के न्यायाधीश एवं विधिशास्त्रज्ञ श्री सर ओवन डिक्सन को मध्यस्थ के पद पर नियुक्त किया। परन्तु वे भी सफल नही हो सके। श्री डिक्सन ने यह स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है कि काश्मीर प्रदेश में होकर पाकिस्तान की राज्य सेनाएँ निरन्तर आवागमन करती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि विधान के सर्वथा विरुद्ध है और इस प्रकार पाकिस्तान काश्मीर में आक्रामक है। ३० अप्रैल सन् १९५१ को सुरक्षा परिषद ने उत्तर केरोलीना विश्वविद्यालय के सभापति डा० फ्रैंक ग्राहम को काश्मीर में संयुक्त राष्ट्र प्रतिनिधि के पद पर नियुक्त किया। हर प्रकार प्रयत्न करने पर भी डा० ग्राहम सफल नही हो सके। दोनो राज्यों में प्रत्येक की स्थिति काश्मीर के सम्बन्ध में क्या है, इस विषय पर भेद बराबर बना रहा। वास्तव में पाकिस्तान का यह दुस्साहस है कि वह काश्मीर में भारत की भाँति अपनी स्थिति सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करता है। अब काश्मीर भारतीय संघ में उसी प्रकार प्रविष्ट हो चुका जैसे अन्य भारतीय देशी राज्य तब पाकिस्तान का इस दिशा में प्रत्येक व्यवहार अवैध है और आक्रामक का कार्य है।

६ नवम्बर सन् १९५२ को इंगलैंड और अमेरिका की ओर से सुरक्षा परिषद में पुन एक प्रस्ताव रक्खा गया कि दोनो राज्य अपनी अपनी सेनाओं की अधिकतम संख्या निर्धारित कर लें परन्तु यह प्रस्ताव काश्मीर अर्थात् भारत की सार्वभौमिकता के विरुद्ध था, अत इसका स्वागत नही हुआ।

वास्तव में काश्मीर की वैधानिक स्थिति बहुत स्पष्ट है। इस विषय में विचार भेद नही हो सकता कि भारतीय संविधान के अनुसार काश्मीर भारत का अभिन्न अंग बन चुका है। इसके अतिरिक्त काश्मीर विधान सभा ने निर्णयात्मक रूप से अपने राज्य को भारतीय संघ का अंग बनाना निर्धारित कर दिया। बख्शी गुलाममुहम्मद के शब्दों से यह स्थिति और भी स्पष्ट हो गई है कि ६ वर्ष पूर्व भारत ने स्वेच्छा से पाकिस्तान के सामने जनमत निर्णय का प्रस्ताव रक्खा था किन्तु पाकिस्तान ने उसका उपयोग नही किया। ऐसी स्थिति में काश्मीर के नागरिक कहाँ तक सन्देह की स्थिति में रहकर अपनी उन्नति को रोके रहते। अत उन्होने भारत के साथ अपना सम्बन्ध निर्णयात्मक रूप से स्थापित कर सदा के लिए इस समस्या का अन्त कर दिया।

फरवरी सन् १९५७ में सुरक्षा परिषद ने पुन काश्मीर समस्या पर विचार आरम्भ किया और औपचारिक रूप में चार शक्तियो की ओर से एक प्रस्ताव उपस्थित किया जिसके द्वारा उस माह के सुरक्षा परिषद् अध्यक्ष, स्वीडन के श्री जारिंग, से यह प्राथना की कि वे दोना विवाद ग्रस्त राज्यो की सरकारो से सम्पर्क स्थापित करें और सयुक्त राष्ट्र सेना को काश्मीर में भेज कर सनिक करण का अन्त करें। भारतीय प्रतिनिधि श्री० वी० के० मेनन ने सयुक्त राष्ट्र सघ की इस शक्ति के लिए आपत्ति की और यह स्पष्ट किया कि भारत वष किसी भी परिस्थिति में विदेशी सनाओ को अपनी भूमि में प्रविष्ट नही होने देगा। इस अवसर पर कोलम्बिया के प्रतिनिधि ने काश्मीर की सावभौमिकता तथा पाकिस्तानी सेना की काश्मीर में अनियमित उपस्थिति, जिसे सयुक्त राष्ट्र पहले स्वीकार कर चुका था की ओर ध्यान दिलाया और अपने सशोधन प्रस्तुत किये। सोवियट सघ के प्रतिनिधि ने काश्मीर म जनमत का प्रश्न ही अप्रासगिक बताया और कहा कि यह विषय तो पूर्ण रूप से निपटाया जा चुका। अब काश्मीर भारत का अभिन्न अग है।

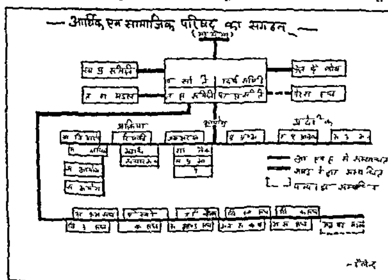
इस विवाद के बाद उन्ही चार शक्तियो ने ( ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया क्यूबा और अमेरिका ) दूसरा प्रस्ताव रखा जिसमे सयुक्त राष्ट्र सेना का काश्मीर भेजनेका उल्लेख नही था। सुरक्षा परिषद ने २१ फरवरी सन् १९५७ को यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। और श्री जारिंग (तत्कालीन सुरक्षा परिषद् अध्यक्ष ) का काश्मीर जाने और भारत तथा पाकिस्तान के बीच किसी भी ऐसे सम्भव समझौते का प्रयत्न करने के लिए प्राथना की जो उनके परस्पर सघष का दूर कर सके। और १५ अप्रेल सन् १९५७ प्रतिवदन प्रस्तुत करने की अंतिम तिथि भी निश्चित कर दी।

**जारिंग प्रतिवेदन**—उपरोक्त प्रस्तावानुसार श्री जारिंग ने भारत और पाकिस्तान की ओर प्रस्थान किया। और विचार विमश आरम्भ किया। परन्तु ३० अप्रैल के उनके प्रतिवेदन मे काश्मीर समस्या पर व कोई स्पष्ट सुझाव नही द सके। उन्होने यह विचार व्यक्त किये कि दोनो राज्य अपने अपने वादो को बलपूवक प्रस्तुत करते हैं। इसी बीच काश्मीर प्रश्न की राजनैतिक, आर्थिक और सैनिक स्थिति में भी अन्तर आता जा रहा है। उन्होने यह भी व्यक्त किया कि काश्मीर समस्या के सम्बन्ध म व स्वय कोई सुझाव नही द सके परन्तु यह निश्चित है कि दोनो राज्यो में वतमान गतिरोध होने के अतिरिक्त भी किसी न किसी प्रकार का हल प्राप्त करने के लिए दोनो दल उत्सुक हैं। उपरोक्त रिपोर्ट स यह स्पष्ट होता है कि जनमत निर्णय की बात का उन्होंने अब अनेक समस्याओं को जन्म देने वाला विषय बनाया। विशेष तौर पर इसलिए कि पाकिस्तान के नये सैनिक समझौता तथा काश्मीर के नागरिको का जनमत निर्णय के विरुद्ध होने क कारण यह स्थिति वास्तव में बन गई है।

इस सम्बन्ध म भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहर लाल न यह व्यक्त किया है कि चाहे युद्ध भी हो जाय वे भारत की एक इन्च भूमि पर भी विदेशी सनाओ का प्रवेश

नहीं होने देंगे। तथा सुरक्षा परिषद का ऐसा कोई भी प्रस्ताव, जो काश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण को विस्मृत करता है भारत को स्वीकार्य नहीं हो सकता। किसी भी परिस्थिति में भारतवर्ष, पाकिस्तान के आक्रमण को सहायता या सुरक्षा देने वाली अन्तर्राष्ट्रीय धाँधली को नहीं सहेगा, इस प्रकार काश्मीर समस्या भारतवर्ष ने अपनी न्यायप्रियता और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार पूर्ण नैतिकता के साथ सुलझा ली है। अब केवल ऐसी विदेशी शक्तियाँ इस प्रश्न को बराबर बनाये रखना चाहती हैं जिनके निहित हित पाकिस्तान के संघर्ष रत रहने से ही पूर्ण होते हैं। वस्तुतः काश्मीर भारत का अभिन्न अंग है और अब समस्या जैसी कोई बात नहीं है। राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा अन्य दृष्टियों से काश्मीर और भारत प्राचीन काल में एक थे, और एक हैं तथा भविष्य में भी एक रहेंगे।

(३) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद —संयुक्त राष्ट्र संघ के विधान की धारा ६१ से ७२ तक के अनुसार विभिन्न राष्ट्रों में शान्ति तथा मित्रतापूर्ण व्यवहार




और परस्पर कल्याण के लिए आर्थिक तथा सामाजिक परिषद का निर्माण किया गया है। यह सच है कि शान्ति और सुरक्षा केवल संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रस्तावित सुझावों और उनके पालन पर ही निर्भर नहीं है बल्कि उसमें अधिक आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य विषयों के उचित सन्तुलन पर भी आधारित है। इसी उद्देश्य से महासभा के अधिकारों के अन्तर्गत इस परिषद की स्थापना की गई। इस परिषद में महासभा द्वारा निर्वाचित संयुक्त राष्ट्र के अठारह सदस्य होते हैं। जिनमें ६ सदस्य प्रतिवर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। निवृत्त (Retire) होने वाले सदस्य तुरन्त पुनर्निर्वाचन के लिए योग्य माने गए हैं। मसूर के दीवान श्री रामास्वामी मुदालियर सन् १९४६ में इसके प्रथम अध्यक्ष चुने गए थे।

उद्देश्य एवं कार्य—

उपरोक्त संस्था के उद्देश्य मुख्य रूप से निम्नलिखित माने गये हैं—(१) संसार को अधिक समृद्धि शाली, स्थायी और न्याय परायण बनाना (२) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक तथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों का अध्ययन करना तथा उनके लिए प्रतिवेदन प्रस्तुत करना और महासभा संयुक्त राष्ट्र सदस्यों तथा विशिष्टसमितियों को नवीन सुझाव देना (३) समस्त मानव मात्र के लिए मौलिक मानव अधिकारों एवं मूल स्वतन्त्रताओं का अध्ययन करना और इन पर अपना प्रतिवेदन तथा सुझाव प्रस्तुत करना। (४) महासभा के सम्मुख इन्हीं विषयों के सम्बन्ध में नियम बनाने के लिए मसविदे तैयार कर, उपस्थित करना। तथा (५) अपने क्षेत्र के विषयों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाना और विचार विमर्श के बाद निर्णयों को सर्वत्र भेजना।

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सन्तत कर्तव्य रत रहती है। विशिष्ट समितियों (Specialized Agencies) के कार्यों में सामञ्जस्य करते हुए विभिन्न राष्ट्रों का परस्पर सहयोग प्राप्त करना इस संस्था का मुख्य कार्य है। इन्हीं विभिन्न समितियों से प्रतिवेदन समय पर प्राप्त करना तथा उन पर कुछ विवेचना के साथ महासभा के समक्ष उपस्थित करना इस परिषद का दूसरा मुख्य कार्य है। इसके अतिरिक्त यही परिषद आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में आवश्यकतानुसार आयोगों की नियुक्ति करती है। मानव अधिकारों का सम्मान बढ़ाने के लिए समय समय पर संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों के पास सिफारिशें भेजती है। विशेष क्षेत्रों की प्रमुख समस्याओं का हल करने के लिए **प्रादेशिक आर्थिक आयोग**—भी नियुक्त करती है जिससे समस्याओं का हल सरलता से हो सके।

इस परिषद में मतदान की साधारण पद्धति है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक मत प्राप्त होता है। बहुमत से निर्णय लिये जाते हैं। इस परिषद के तत्वाधान में नौ कार्यकारी आयोग स्थापित किये गये हैं। जो इस प्रकार हैं —

मानव अधिकार आयोग, महिला प्रतिष्ठा आयोग, सामाजिक समस्या आयोग, आर्थिक तथा वृत्ति (Employment) आयोग, यातायात और संचार आयोग सांख्यिकी आयोग, नशीली औषधि आयोग आदि। इसी परिषद के अन्तर्गत विशिष्ट संस्थाएं (Specialized Agencies) भी कार्य करती हैं। जो मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं —

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I L O) (२) खाद्य तथा कृषि संघ (F A O) (३) संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संघ (यूनेस्को) (४) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (I B R D) (५) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) (६) विश्व डाक संघ (U P U) (७) अन्तर्राष्ट्रीय तार संचार संघ (I T U)

(८) विश्व स्वास्थ्य सघ ( W H O ) (९) अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी सघ ( I R O ) (१०) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सघ ( I C A O ) तथा इनके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सवाहन सघ ( I T U ) विश्व अन्तरिक्षीय सघ ( W M O ), अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सघ ( I T O ) आदि कई सस्थाएं हैं। इनमें से कुछ सस्थाएं तो सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना के पहले स ही कार्य कर रही है जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ आदि। परन्तु इन सब सस्थाओं की प्रगति का विशेषकार्य सयुक्त राष्ट्र सघ ने ही किया। नये विधान के अनुसार यह सयुक्त राष्ट्र सघ विशेष समस्याओं तथा विषयो के लिऐ नई नई सस्थाओं की स्थापना का प्रारम्भिक कार्य इसी आर्थिक और सामाजिक परिषद के द्वारा करता है। अन्तर्राष्ट्रीयक्षेत्र में यह छोटे-२ आयाग और सघ, विशेषज्ञ के समान हैं और अपनी सम्मति परिषद को देते हैं। विशेष सस्थाओं के प्रतिनिधि आर्थिक और सामाजिक परिषद की बैठकों में भाग ले सकते हैं परन्तु इन्हें मताधिकार प्राप्त नहीं है। परिषद गैर सरकारी सस्थाओं से परामर्श प्राप्त करने की व्यवस्था भी कर सकती है। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र के चार्टर (आज्ञापत्र) निर्माताओं ने, जिन्हें आर्थिक तथा सामाजिक कुप्रबन्ध में युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना अनुभव होती थी, मनुष्य मात्र को इस आवश्यकता से मुक्त करने का विचार किया और वास्तव मे इन समस्याओं का हल विश्व में युद्ध की सम्भावनाओं को दूर ले जाता है।

सयुक्त राष्ट्र सघ ने इन विभिन्न सस्थाओं के द्वारा विश्व में भूख बीमारी, निर्धनता और अज्ञानता को दूर करने का प्रयत्न किया है। अविकसित तथा पिछड़े हुए राष्ट्रों की सहायता के लिए तकनीकी सहायता योजना आरम्भ की। इस योजना का उद्देश्य कृषि, उद्योग, शिक्षा तथा स्वास्थ्य मे विकास करना है। व्यापारिक गतिरोधों में विश्व व्यापी व्यापारिक व्यवस्था लाने का प्रयत्न किया गया है। उपरोक्त सस्थाओं में से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ तथा यूनेस्को आदि कुछ सगठनों का विस्तृत अध्ययन आवश्यक समझा जाता है। इसलिए ऐसी कुछ सस्थाओं का वर्णन हम नीचे करते हैं।

## (अ) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ ( I L O ) —

विशिष्ठ सस्थाओं में से यह सबसे प्राचीन सस्था है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थापित सस्थाओं में से यही एक अवशिष्ट सस्था है। इस सघ के विधान में जो १९१९ में बना था, यह घोषित किया गया है कि सामाजिक न्याय के आधार पर ही विश्व में शाश्वत शान्ति स्थापित की जा सकती है सयुक्त राष्ट्र सघ में इस सस्था का भी दलीय रूप एक विशेष स्थान रखता है। इस सघ में श्रम के प्रतिनिधि और प्रबन्ध प्रतिनिधि (Management) एवं सरकार के प्रतिनिधि मिलकर नीति निर्धारित करते तथा निर्णय करते हैं। इस सघ के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं, जो सन् १९४४ के फिलाडेल्फिया सम्मेलन में घोषित किये गये हैं।

(१) श्रम कोई वस्तु नही है। (२) किसी भी स्थान का निधनता अन्य सब स्थानों की समृद्धि के लिये खतरा है। (३) निरन्तर प्रगति के लिए अभिव्यक्ति और समुदाय की स्वतन्त्रता आवश्यक है तथा। (४) आवश्यकता के विरुद्ध युद्ध प्रत्येक राष्ट्र में प्रबल रूप से चलना चाहिए। इनके अतिरिक्त निम्न उद्देश्यों की पूर्ति भी इस श्रम संघ ने अपना उद्देश्य निर्धारित किया है —

(१) पूर्णवृत्ति मलग्न तथा पर्याप्त वेतन (२) सामाजिक सुरक्षा का विस्तार (३) पर्याप्त भोजन, वस्त्र और निवास (४) सामूहिक रूप में विनिमय का अधिकार (५) अवसर की समानता तथा स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के सामान्य उपाय।

यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ अपने सदस्य राज्यों का कई प्रकार से मदद पहुँचाता है। शिष्ट मण्डल भेजना, श्रमिकों के शिक्षण की व्यवस्था करना सामाजिक विषयों पर शोध की व्यवस्था, आर्थिक प्रतिवेदन तैयार करना, साख्यिकी तथा पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित करना इसके मुख्य कार्य हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के तकनी की काय में भी सहायता पहुँचाता है तथा विभिन्न राष्ट्रों को जीवन स्तर बढ़ाने में सहायता करता है। यह श्रमिकों को शिक्षा द्वारा मालिकों को परामर्श द्वारा और सरकारों को नीति के सम्बन्ध में सुझाव द्वारा उत्पादन की वृद्धि और सम्बन्धों को सुधारने में सहायता करता है। श्रमिकों की जनसंख्या को उचित स्थानों पर भेजने तथा उनकी व्यवस्था का भी निरीक्षण करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ तीन मुख्य अंगों द्वारा अपना सारा काय सम्पादित करता है।

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference), (२) प्रशासक संस्था 'Governing Body) (३) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office) (इस कार्यालय का अध्यक्ष प्रधान निर्देशक (Director General) होता है।

(ब) यूनेस्को —[United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation ( UNESCO ) ] यह संस्था भी संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रमुख संस्था है। विश्व संगठन को सफल बनाने में तथा लोक प्रियता एवं ख्याति प्राप्त करने में यह संस्था अद्वितीय है। इस संगठन का उद्देश्य है कि 'संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान द्वारा स्वीकृत विश्व के नागरिकों के लिए, बिना जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म का भेद किए हुए, शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति के माध्यम से, न्याय विधिमय शासन (Rule of law) तथा मानव अधिकार एवं मूल स्वतन्त्रताओं के सम्मान की अभिवृद्धि के लिए, विभिन्न राष्ट्रों का सहयोग और समर्थन लेकर शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में योग देना।"

---

(1) Oppenheim—International Law Vol I, P 752 and also in Morgenthon—Politics among Nations Page 486

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ की भाति इस सस्था का सगठन भी व्यापक तथा प्रभाव शाली है। इसमें भी तीन अग हैं —(१ महा सम्मेलन (General Conference) (२) कार्यपालिका मण्डल ( Executive Board ) तथा (३) सचिवालय (Secretariat)।

क—महासम्मेलन—इस सस्था के ६८ सदस्यो में से प्रत्येक राष्ट्र का एक प्रतिनिधि इस सम्मेलन म सम्मिलित होता है। महासम्मेलन में एक वर्ष में दो अधिवेशन होते ह जिसमें यह अपनी रीति नीति तथा कार्य क्रम निर्धारित करता है तथा अपनी कार्यपालिका का निर्वाचन करता है।

ख—कार्यपालिका मण्डल—इसमें २० सदस्य होते हैं। यह मण्डल वर्ष में कम से कम दो बार बैठक करता है तथा महासम्मेलन द्वारा निर्धारित कार्य क्रम का पालन करता है।

ग—सचिवालय—यह एक विशाल कार्यालय है जिसके अध्यक्ष, प्रधान निर्देशक (Director General) होते है। उनके निरीक्षण में विश्व भर के विभिन राष्ट्रो के लोग कार्यालय मे काम करते है। प्रधान कार्यालय पेरिस म स्थित है। इसमें मुख्य निम्न ६ विभाग हैं। (i) शिक्षा, (ii) प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences), (iii) सामाजिक विज्ञान Social Sciences , (iv) सास्कृतिक कार्य (Cultural Activities), (v) जन सचार (Mass Communication , तथा (vi) तकनीकी सहायता (Technical Assistance)

इस सस्था का मुख्य कार्य क्रम आठ विभिन्न शीर्षको म विभाजित किया जा सकता है —(१) शिक्षा (२) प्राकृतिक विज्ञान (३) सामाजिक विज्ञान (४) सास्कृतिक कार्य (५) व्यक्तियो का आदान प्रदान (६) जन सचार (७) पुनर्वास और (८) तकनीकी सहायता।

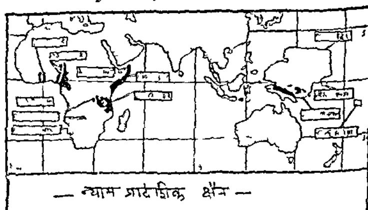
उपरोक्त विभिन्न शीर्षको में से शिक्षा के क्षेत्र मे यूनेस्को "मौलिक शिक्षा" अथवा "सामुदायिक विकास" के नाम से कार्य चलाता है और इसके अन्तर्गत जनता को अपना स्वास्थ्य, भोजन, उपज तथा जीवन स्तर सुधारने का ज्ञान प्रदान करता है। अध्ययन के लिए निरक्षर नागरिको को वर्णमाला के ज्ञान के साथ २ स्वास्थ्य, कृषि तथा गृह सम्बन्धी अर्थ व्यवस्था के लिए भी प्रारम्भिक ज्ञान देने की व्यवस्था करता है। विज्ञान के क्षेत्र में यूनेस्को और भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य करता है। विश्व में विज्ञान के विशेषज्ञो द्वारा जो भी नये प्रयोग अथवा योजनाएँ चलाई जाती है उनका ज्ञान सर्वत्र उपयोगी एव उपलब्ध बनाना इसका मुख्य काम है। इसके अतिरिक्त रेगिस्तानो व शोध कार्यालय के प्रसार एव विकास का काय भी यह सस्था प्रगति से कर रहा है। जहाँ इस प्रकार के काम हो रहे है, वहाँ प्रोत्साहन देना तथा नई २ ऐसी समस्याओं के अध्ययन की व्यवस्था करना इसी सस्था का काम है। सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में भी शोधकार्य को प्रोत्साहन देना तथा विभिन्न जातियो तथा राष्ट्रो में मिथ्यावाद अथवा

असत्य धारणाओ को दूर करना भी इसी सस्था का कार्य है । उदाहरणार्थ औद्योगीकरण का नागरिको के जीवन पर क्या प्रभाव होता है यह यूनेस्का के अध्ययन का विषय है । सास्कृतिक क्षेत्र में तो विभिन्न कलाएं जसे नृत्य, नाटक, सगीत चित्रकला, वास्तुकला, साहित्य, दर्शन आदि सब इसके सम्बध के विषय हैं ।

उपरोक्त कायक्रम वास्तव में विभिन्न राष्टो के अराजनतिक जीवन क्षत्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण है और राजनैतिक क्षेत्र के विवाद और सघर्षों के अतिरिक्त भी इस क्षेत्र में परस्पर सहयोग सुलभ है और वाछनीय भी । इसलिए यह सस्था अपन कार्य क्रम म बहुत सफल हा रही है ।

## (४) सरक्षक परिषद (Trusteeship Council) —

प्रथम विश्व युद्ध के बाद विश्व के पिछड हुए राष्ट्रो क सरक्षण क हतु आदिष्ट प्रणाली ( Mandate System ) की स्थापना की गई थी, परन्तु राष्ट्र सघ की



— श्याम प्रादेशिक क्षेत्र —

भाति आदिष्ट प्रणाली भी अधिक सफल नही हुई । उस अनुभव क आधार पर द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् पिछडे हुए राष्टा के कल्याण के लिए सरक्षण पद्धति अपनाई गई है । तदनुसार सयुक्त राष्ट्र सघ के विधान में अविकसित तथा आधीन व्यक्तियो क कल्याण तथा विकास और स्वायत शासन की ओर उनकी उत्तरोत्तर उन्नति के लिए अग्रसर हाते रहने की व्यवस्था करना, विश्व के उन्नत राष्ट्रों ने अपना कत्तव्य स्वीकार किया है। यह प्रणाली उन प्रदेशो पर लागू होती है जा पहले राष्ट्र सघ (लीग) के शासनादेश क आधीन कर लिए गये थे, जो द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् शत्रु स लिए गये हैं तथा वह प्रदेश जो स्वय सरक्षक परिषद के अन्तर्गत आ गए हैं । वह देश जो सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य है इस ट्रस्टीशिप कौसिल से शासित नहीं हो सकता । इस प्रणाली को प्रचलित करने के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं —

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा को अग्रसर करना ।

(ख) न्यास क्षेत्र ( Trust Territory) के निवासियो का स्वराज्य की ओर अग्रसर करना

(ग) मानव अधिकारो के लिए सम्मान की वृद्धि करना और विश्व में पारस्परिक सहयोग को मान्यता देना तथा

(घ) न्यायिक समानता को प्रतिष्ठित करना।

संगठन — संरक्षक परिषद म वे लोग सम्मिलित हैं जो संरक्षण प्राप्त प्रदेशो के शासक है, सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य तथा जो महासभा द्वारा अपने सदस्यो में से तीन वर्ष की अवधि के लिए इस परिषद की सदस्यता के लिए चुने जाते है।

महासभा केवल उतने ही सदस्य निर्वाचित करेगी जितने संरक्षण प्राप्त प्रदेशो के शासको की संख्या मे से सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यो को कम कर देने से शेष रहते है। इस संस्था के मुख्य कार्य महासभा के अन्तगत ही सम्पादित होते हैं। प्रशासको द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनो पर विचार उपस्थित प्रार्थना पत्रो की स्वीकृति तथा प्रशासको से सम्पर्क स्थापित करते हुए उनकी परीक्षा करना विभिन्न संरक्षित क्षेत्रो का समय २ पर निरीक्षण करना, संरक्षण सम्बन्धित समझौतो के अनुसार कार्यवाही करना आदि इस संस्था के कार्य है। प्रत्येक संरक्षित क्षेत्र के निवासियो ने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा क्षेत्रो में कितनी प्रगति की है, इस सम्बन्ध में प्रश्नावली तैयार कर पूरी जानकारी करना भी महत्वपूर्ण कार्य है। ऐसी प्रश्नावलिया, महासभा के सम्मुख की जाने वाली रिपोर्टों का मुख्य आधार बनती हैं। इस परिषद में मतदान साधारण ढग से होता है तथा निर्णय बहुमत से लिए जाते है। इस समय ब्रिटेन का संरक्षण टैंगानिका कैमरून्स तथा टोगोलैन्ड के आधे भाग पर है। फ्रास का संरक्षण कैमरून्स तथा टोगोलैंड के शेष आधे भाग पर है। बेलिजियम का रूआण्डा यूरून्डी पर है। आस्ट्रेलिया का न्यूगनी तथा नोरू पर, और न्यूजीलैंड, पश्चिमी समोआ पर, संरक्षण करते है। इस परिषद के अन्तगत कुछ "कपट क्षेत्रो" (Strategic Areas) के लिए भी संरक्षक समझौतो द्वारा विशेष प्रविधान स्वीकार किए जा सकते है। ऐसे क्षेत्रो के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से सारे कार्य सुरक्षा परिषद द्वारा किए जाते है। परन्तु सुरक्षा को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाते हुए कोई भी कार्य संरक्षण परिषद द्वारा भी करवाया जा सकता है। ५ मार्च सन् १९५७ को घाना की स्वतन्त्रता और तत्पश्चात उसका संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त होना अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण पद्धति की बहुत बडी सफलता है। ऐसे ग्यारह प्रदेशो में से यह पहला प्रदेश था जिसने विधान के अनुसार स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य की पूर्ति की। शेष संरक्षित प्रदेश भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के समीप है। इटालियन सोमालीलैंड सन् १९६० तक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार पहले जो आदिष्ट प्रणाली असफल हो चुकी, उसके अनुभव के आधार पर और विश्व के राज्यो की सदभावना के फलस्वरूप वर्तमान न्यास पद्धति सफल हो रही है।

## (५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

यह न्यायपालिका संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए अपने विधान की भांति अभिन्न तथा महत्वपूर्ण अंग है। इससे पूर्व वाली न्यायपालिका से वर्तमान न्यायालय एक विशेषता रखता है और वह यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ का विधान इस न्यायालय को भी अपना अंग मानता है। इसलिए समस्त सदस्य स्वतः (Ipso facto) इसके न्यायाधीन हो जाते हैं। वैसे पिछले और वर्तमान न्यायालय की विधि (STATUTE) में कोई विशेष भेद नहीं है।

यद्यपि पिछला न्यायालय द्वितीय विश्व युद्ध के कारण प्रभावशाली कार्य नहीं कर सका। किन्तु फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास तथा विवादों का शांतिमय हल ही नवीन न्यायालय की स्थापना के आधार हैं। प्राचीन न्यायालय द्वारा किए हुए निर्णय वर्तमान के सहायक अन्तर्राष्ट्रीय नियम हैं, और इस बात के प्रमाण हैं कि कितने कठिन प्रश्नों को उन निर्णयों द्वारा सरल बनाया गया है। वह प्राचीन न्यायालय अप्रैल सन् १९४६ में नियमानुसार भंग किया गया। उससे पूर्व ही वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना का प्रतिधान किया जा चुका था। वर्तमान न्यायालय सर्वप्रथम ३ अप्रैल सन् १९४६ को हेग में प्रारम्भ हुआ। चार्टर की धारा ९२ के अनुसार यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख न्यायिक अंग है।

**संगठन —**

पिछले न्यायालयों की भांति इस न्यायालय में भी १५ न्यायाधीश होते हैं। जिनमें एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष यही लोग अपने बीच से चुनते हैं। न्यायाधीश के पद के लिए उच्च नैतिक चरित्र राष्ट्रीय कानून की विशेषज्ञता एवम् अन्तर्राष्ट्रीय विधि में पारदर्शी होना आवश्यक है। कोई दो न्यायाधीश एक ही राज्य के नहीं होने चाहिए। न्यायाधीशों का साधारण कार्य काल नौ वर्ष है। और वे पुनः निर्वाचित हो सकते हैं। सबसे पहले चुनाव में ५ न्यायाधीश तीन वर्ष के लिए ५ न्यायाधीश छः वर्ष के लिए तथा शेष पांच न्यायाधीश नौ वर्ष के लिए चुने गये थे। न्यायाधीशों की निर्वाचन प्रणाली कठिन है। राष्ट्रीय विधि विशेषज्ञों द्वारा चार प्रसिद्ध नियम शास्त्रियों के नाम मनोनीत किये जाते हैं और उनमें से दो से अधिक नाम अपने राष्ट्र से सम्बन्धित नहीं होने चाहिए। चुनाव की तिथि के कम से कम तीन माह पूर्व महामंत्री राष्ट्रीय कानून विशेषज्ञों के पास एक लिखित प्रार्थना भेजता है, तथा विभिन्न राष्ट्रीय दलों के पास भी इस प्रकार के नाम मनोनीत करने की सूचनाएँ भेजता है। वे ऐसे लोगों के नाम भेजते हैं जो इस पद के उपयुक्त हों तथा न्यायालय के सदस्य बन सकें। कोई भी दल चार से अधिक नाम नहीं भेजता। प्रत्येक राष्ट्र के लिए अपने यहाँ से नाम मनोनीत करने से पूर्व सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श करना अनिवार्य है। महामंत्री इस प्रकार आये हुए सारे मनोनीत नामों की सूची वर्णमाला के अनुसार बनाता है। और उसके पश्चात् महासभा और सुरक्षा परिषद् एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर न्यायालय के सदस्यों का

निर्वाचन करती हैं। ऐसे प्रत्याशी जो महासभा तथा सुरक्षा परिषद् में शुद्ध बहुमत प्राप्त करते हैं, निर्वाचित माने जाते हैं। यदि तीन बैठकों के बाद भी एक या दो स्थान रिक्त रह जाते हैं, तो महासभा और सुरक्षा परिषद्, प्रत्येक के द्वारा तीन तीन प्रतिनिधि नियुक्त किये जाते हैं और यह छः सदस्यों का संयुक्त सम्मेलन रिक्त स्थानों की पूर्ति करता है। वास्तव में न्यायाधीश बिना राष्ट्रीयता का ध्यान दिये हुए चरित्र योग्यता तथा व्यक्तित्व के आधार पर चुने जाते हैं। ये न्यायाधीश निर्वाचन के पश्चात् कोई राजनैतिक प्रशासनिक कार्य नहीं कर सकते और न किसी अन्य निजी व्यवसाय में ही संलग्न नहीं हो सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान की धारा ३१ के अनुसार विवाद से सम्बन्धित प्रत्येक दल को अपना राष्ट्रीय न्यायाधीश भी न्यायालय में भेजने का अधिकार है अगर एक दल का प्रतिनिधि पहले से ही न्यायालय में है तो दूसरे दल का भी अपना राष्ट्रीय न्यायाधीश मनोनीत करने का अधिकार है। यदि दोनों के न्यायाधीश नहीं हैं तो दोनों दल एक एक न्यायाधीश भेज सकते हैं।

साधारणतः न्यायालय की स्थापना हेग में की गई है। और यही इसके कार्य का मुख्य स्थान है। परन्तु न्यायालय अन्य स्थानों पर भी अपना कार्य संपादित कर सकता है यदि वह ऐसा करना आवश्यक और वांछनीय समझे। न्यायालय, अवकाश के अतिरिक्त, सदैव कार्य संलग्न रहेगा।

न्याय क्षेत्र (Jurisdiction) —इस न्यायालय का कार्य क्षेत्र उन सब राज्यों पर व्याप्त है जो न्यायालय की संविधि (Statute) को स्वीकार कर चुके हैं अथवा जिन राज्यों ने बाद में राष्ट्र संघ के विधान के अन्तर्गत इस संविधि की स्वीकृति के लिए अपनी सहमति प्रकट करते हुए घोषणा न्यायालय के रजिस्टार के पास प्रस्तुत कर दी और आश्वासन दिया है कि पूर्ण सत्यता के साथ न्यायालय के निर्णयों का पालन करेंगे तथा धारा ९४ के अन्तर्गत कर्तव्य पालन किया जायगा। यह न्याय क्षेत्र मुख्य रूप से तीन प्रकार का है —

(१) वैकल्पिक न्याय क्षेत्र (२) अनिवार्य न्याय क्षेत्र (३) परामर्शात्मक न्याय क्षेत्र

वैकल्पिक न्याय क्षेत्र—के अन्तर्गत वे सब वाद सम्मिलित होते हैं जिन्हें दोनों दल सहमत होकर न्यायालय के सम्मुख उपस्थित करते हैं। यह भी सम्भव है कि वाद एक दल द्वारा प्रस्तुत किया जाय और दूसरा दल बाद में सम्मति द्वारा उसकी पुष्टि कर दे।

अनिवार्य न्याय क्षेत्र-के अन्तर्गत संविधि को स्वीकार करने वाला कोई भी राष्ट्र यह घोषित कर सकता है कि प्रस्तुत विवाद वह अनिवार्य न्याय क्षेत्र के आधीन मानता है। दूसरा राष्ट्र इससे सहमत नहीं हो तो भी निम्न विषयों में अनिवार्य न्याय क्षेत्र स्वीकार किया जा सकता है। (i) संधि की व्याख्या, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय विधि से सम्बन्धित प्रश्न, (iii) कोई ऐसा प्रश्न जो सत्यसिद्ध होने पर अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य पालन में बाधक

हो सकता है, और (१५) अन्तर्राष्टीय कर्त्तव्य पालन न करने के कारण क्षतिपूर्ति की मात्रा तथा प्रकार से सम्बन्धित।

परन्तु उपरोक्त न्याय क्षेत्र उसी अवस्था मे कार्यान्वित होते है जब सम्बन्धित राष्ट न्यायालय के न्यायक्षेत्र को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है। किसी भी राष्ट की इच्छा क विरुद्ध कोई भी अभियोग न्यायालय में चलाया नही जा सकता। श्री ओपनहेम क मतानुसार वकल्पिक न्याय क्षेत्र का प्रावधान बहुत व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है। एसा काई भी वाद नही है जो वैकल्पिक धाराओ के क्षेत्र में नही आता। फिर भी उनकी स्वीकृति के लिए नैतिक कर्त्तव्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही है जिसकी सहायता स अन्तर्राष्ट्रीय विधियो का पालन कराया जा सके।

परामर्शात्मक न्याय क्षेत्र

धारा ६६ के अनुसार यह न्यायालय महासभा तथा सुरक्षा परिषद् को न्याय सम्बन्धी परामर्श भी देता है। विधि सम्बन्धी प्रश्नो पर अन्य सस्थाएँ भी परामर्श के लिए प्रार्थना कर सकती है। यह परामर्श स्वीकार करना अनिवार्य तो नही है परन्तु यदि सम्बन्धित राष्ट यदि पहले से ही समझौते आदि द्वारा यदि परामर्श स्वीकार करना घोषित कर दें तो वे पालन करने के लिए बाध्य हो जाते है। श्री ओपनहेम के विचार से परामर्शात्मिक न्याय क्षेत्र आशा से अधिक व्यापक और लाभदायक सिद्ध हुआ है।

न्यायालय के समक्ष न्यायाधीश तथा अन्य राष्ट प्रतिनिधि कूटनीतिक विशेषाधिकारों का उपभोग करते है। न्यायाधीशो का वेतन, भत्ता आदि सब प्रकार के करो स मुक्त होता है। न्याय सम्पादन के लिए अन्तराष्टीय विधि के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराए (Conventions), अन्तराष्टीय रीतिया (Customs), विधि सम्बन्धी सामान्य नियम तथा न्यायालय द्वारा दिए गए पूर्व निर्णय भी व्यवहार में लाए जाते है। अन्य न्यायालयो की भांति अन्तर्राष्टीय न्यायालय भी अन्तकालीन आज्ञाएँ (Interim Measures) प्रसारित कर सकते है। अभी तक कई महत्त्वपूर्ण अभियोग इस न्यायालय के समक्ष आ चुके है। उदाहरणार्थ एंग्लोईरानी तेल विवाद, कार्फू जलमार्ग विवाद आदि कई महत्त्वपूर्ण अभियोग है जो न्यायालय के समक्ष उपस्थित हो चुके है।

इस प्रकार यह न्यायालय वर्त्तमान महत्त्वपूर्ण समस्याओ का हल करने में पर्याप्त रूप से सफल हुआ है। अन्तर्राष्टीय विधि का संग्रह, उसके प्रति सम्मान तथा विश्वास की वृद्धि के सम्बन्ध में न्यायालय का कार्य प्रशसनीय है।

(६) सचिवालय—राष्ट संघ की भांति संयुक्त राष्ट संघ का कार्य सम्पादित करने के हेतु सचिवालय का संगठन किया गया है। इस संगठन के सुगम और व्यवस्थित कार्य करने पर ही संयुक्त राष्ट संघ की सफलता निर्भर करती है सचिवालय का मुख्य अधिकारी महामन्त्री ( Secretary General ) होता है जिसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद की अनुशंसा पर महासभा द्वारा ५ वर्ष के लिए की जाती है। महामन्त्री इस संगठन का मुख्य प्रशासन अधिकारी होता है। अपने पद के कारण ही महामन्त्री

महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद तथा संरक्षण परिषद के अधिवेशनों में उपस्थित होता तथा भाग लेता है। संघ की सम्पूर्ण वर्ष की कार्यवाही के सम्बन्ध में महासभा के अधिवेशन में प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। अन्य कोई विषय, जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति व्यवस्था में बाधक हो सकता है, उस ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित करना भी, महामन्त्री का मुख्य कर्त्तव्य है। संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य सम्पादित करने के लिए सचिवालय में लगभग ३००० लिपिक (कर्मचारी) तथा क्लर्क होते हैं जिनकी नियुक्तियाँ महासभा द्वारा स्वीकृति नियमानुसार महामन्त्री द्वारा की जाती है। इन नियुक्तियों में लगभग समान भौगोलिक आधार रखने की चेष्टा की जाती है। इनके चुनाव में मुख्य रूप से उच्च स्तर, कुशलता, योग्यता तथा चरित्र को प्राधान्य दिया जाता है।

महामन्त्री की सहायता के लिए एक उपमहामन्त्री भी होता है। इन्हें पूर्ण कूटनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रथम महामन्त्री श्री ट्रिग्वीली थे और वर्तमान महामन्त्री स्वीडन के प्रधानमन्त्री श्री डा० ड हमरशोल्ड हैं। सचिवालय के कर्मचारी, किसी सरकार अथवा संस्था से परामर्श नहीं ले सकते तथा उन्हें ऐसे प्रत्येक कार्य से भी बचना होता है जो उनकी संस्था के उत्तरदायित्व पूर्ण पदों पर किसी भी प्रकार का प्रभाव डाल सकते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि सचिवालय के कर्मचारी अपना राष्ट्रीय स्वभाव छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय विचार और व्यवहार करें, यह अपेक्षा की जाती है। वास्तव में एक विश्व संस्था के कर्मचारियों के लिए यह अनिवार्य भी है।

वर्तमान युग में जैसे सत्य, शांति तथा अच्छाई का विरोध नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार मानव के मूल अधिकार भी सर्वसम्मति से

मूल मानव अधिकार स्वीकार किये जाते हैं। किन्तु फिर भी उनके सम्बन्ध में कुछ समस्याएँ हैं। जिनका प्रवेश संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वाधान में नियुक्त मानव अधिकार आयोग के विचार विमर्श के समय हो चुका है। वर्षों के निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप अब जाकर ऐसे लेख (Documents) प्रस्तुत हो सके हैं जिनमें मानव के मूल अधिकारों का स्वरूप निश्चित हो गया है।

इन अधिकारों का ऐतिहासिक विकास हमें वर्तमान स्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो सकता है। यह तो स्वीकार करना होगा कि

विकास

अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ तो पहले भी और आज भी मुख्य तौर पर ऐसी विधियाँ हैं जिनका पालन राज्यों द्वारा होता है। किन्तु भूमि अथवा और सम्पत्ति की तरह मानव भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अध्ययन का विषय रहा है। वैसे राज्य अपने उन नागरिकों की सुरक्षा का ध्यान रखते आये हैं जो विदेशों में रहते या व्यापार करते हों। परन्तु यह उनका ऐसा कार्य नहीं था जिन्हें करने के लिये वे बाध्य हों। इसलिए मानव अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानकर अधिकार और कर्तव्यों का अध्ययन करना तथा इसको मान्यता देना, बहुत धीरे-धीरे विकसित हुआ। सर्व प्रथम विदेशों में स्थित राजदूत, व्यापारी तथा अन्य

के अधिकारों को सुरक्षित बनाना अन्तर्राष्ट्रीय विधि म परम्परा के अनुसार आरम्भ हुआ । १९ वीं शताब्दी के अन्त तक यह सब राज्यों द्वारा स्वीकार किया जाने लगा कि जीवन सम्पत्ति और स्वतन्त्रता के न्यूनतम अधिकार सभी विदेशियों के लिए स्वीकार करने चाहिए । और उस शताब्दी में दो दलीय तथा अनेक दलीय सन्धियों द्वारा दास व्यापार आदि अवध घोषित किये गये । सन् १८७८ की बर्लिन कांग्रेस बलकान राज्यों का यह कर्तव्य निश्चित किया गया कि वे अपने उन नागरिकों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा करें जो ईसाई नहीं हैं । परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि उस समय तक इतनी विकसित नहीं हुई थी । इसीलिए नाजियों ने लाखों जर्मन यहूदियों की हत्या करने में किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन नहीं समझा ।

राष्ट्र संघ (लीग) ने मानव अधिकारों से केवल इतना ही सम्बन्ध रखा जितना अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् होने वाली सन्धियों में बताया गया था । यद्यपि इन सन्धियों का आधार आत्म निर्णय के सिद्धान्तों पर था किन्तु आर्थिक तथा अन्य दूसरे हित इनके पालन में बाधक होते थे । इसलिए हर राष्ट्रीयता के लोग दूसरे राष्ट्रों में जाकर अल्पसंख्यकों में सम्मिलित होने के लिए बाध्य हो जाते थे । इसीलिए पोलैंड, इटली तथा बलकान और पूर्वी यूरोपियन राज्यों में ऐसे लोगों की संख्या बहुत थी । राष्ट्र संघ की परिषद इन अल्पसंख्यकों के हित के लिए उत्तरदायी थी और विवादग्रस्त विषयों को, न्यायालय के समक्ष भी ले जा सकती थी । अल्पसंख्यक लोग स्वयं भी परिषद के समक्ष अपना प्रार्थना पत्र प्रस्तुत कर सकते थे । परन्तु उस पर कार्यवाही तभी हो सकती थी जब परिषद सदस्य अपने उत्तरदायित्व पर इस विषय को प्रस्तुत करना चाहें । सन् १९३० तक तो इस प्रकार मानव अधिकार सुरक्षित रहे परन्तु फिर पतनावस्था के कारण द्वितीय युद्ध तक, यह अधिकार ठुकराए जाने लगे ।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय सामान्य मानव अधिकारों का उल्लंघन और व्यतिरेक विशेषतौर पर जर्मनी द्वारा बहुत अधिक हुआ । यह मानव की आत्मा के विरुद्ध षडयन्त्र सा था । इसलिए अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों तथा वर्गों ने यह याचना की कि ऐसा कार्य किया जाय, जिससे इस प्रकार के अमानुषिक व्यवहार का पुनरागमन न हो । इसलिए वे सब संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर उन्मुख हुए । संघ के विधान में यह प्रसंग है कि आर्थिक और सामाजिक सहयोग के लिए मानव के अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रताओं का सम्मान करना एक मुख्य सिद्धान्त है । परन्तु लोकमत इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ । अनेक संस्थाओं ने सेनफ्रांसिसको में यह प्रार्थनाएँ भी की कि मानव अधिकारों पर विशेष ध्यान दिया जाय और संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे राष्ट्रों में प्रमुख था । संयुक्त राष्ट्र संघ इस ओर ध्यान देना चाहता था, परन्तु कुछ राष्ट्रों के प्रतिनिधि, राज्यों की सार्वभौमिकता के प्रति जागरूक थे । तो भी बहुत विवाद होने के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानव अधिकारों के कई पक्षों से अपना सम्बन्ध स्वीकार किया । सामाजिक और आर्थिक परिषद ने व्यापार संघ अधिकार दास प्रथा तथा अनिवार्य श्रम ( Forced Labour या बेगार ) आदि

का अध्ययन किया है। अस्वतन्त्र राज्यो के अधिकारो का अध्ययन सरक्षण परिषद ने किया है।

मानव अधिकार आयोग —

चार्टर के अनुसार मानव अधिकार आयोग की स्थापना आवश्यक मानी गई थी। इस सस्था का काय भी बहुत महत्वपूर्ण रहा है। सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना के बाद ही यह आयोग सगठित हुआ और काय आरम्भ कर दिया। इसमें अठारह राज्यो के प्रतिनिधि होत हैं जो तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं और पुन निर्वाचन के लिए योग्य माने जाते हे। यह सस्था इस विषय के सब पक्षा पर विचार करने की अधिकारिणी है। परन्तु फिर भी मानव अधिकारा को यह प्राथमिकता देती है। श्रीमता रुजवेल्ट की अध्यक्षता में इस आयोग ने मानव अधिकारा का आदश पत्र तैयार किया और १० दिसम्बर १९४८ को महासभा ने मानव अधिकारो का विश्व घोषणा पत्र स्वीकार किया। इस घोषणा पत्र में मनुष्य के मूल भूत अधिकारो को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दी गई है। मानव के सम्मान और मूल्य को महत्व दिया गया है। घोषणा पत्र में उल्लिखित विभिन्न धाराओ द्वारा निम्न मौलिक अधिकार स्वीकार किए गये हैं —

(१) सम्मान और अधिकारा की दृष्टि से तथा स्वतन्त्र रहने के लिए सभी मानव समान हैं।

(२) घोषणा पत्र म सम्मिलित अधिकारा और स्वतन्त्रता के लिए सारे मानव अधिकारी है।

(३) जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार प्रत्येक मानव को प्राप्त है।

(४) कोई भी मानव दास नही रखा जा सकता एव दासता और दास व्यापार प्रतिबन्धित होगा।

(५) किसी भी मानव के साथ अत्याचार एव अमानवीय व्यवहार नही किया जा सकता।

(६) नियम के समक्ष प्रत्येक मानव प्रत्येक स्थान पर मानव के अधिकार की प्राप्ति का अधिकारी है।

(७) नियम के समक्ष सब व्यक्ति समान है और नियम का सरक्षण समान रूप से प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

(८) स्वीकृत मौलिक अधिकारो का उल्लघन करना अथवा अनुचित लाभ उठाना नियम विरुद्ध हैं।

(९) कोई भी व्यक्ति बिना उचित कारण बन्दीगृह अथवा बन्धन मे नही रखा जा सकता।

(१०) प्रत्येक मानव को अपने प्रति लगाए गये आरोपा की सुनवाई निष्पक्ष न्यायालय द्वारा करवाने का अधिकार होगा।

(११) निजी कार्य अथवा जीवन में बाहरी हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। और इसी प्रकार आवागमन और निवास का समान अधिकार, राष्ट्रीयता का अधिकार, विवाह एवं परिवार का अधिकार, सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार आदि अनेक अधिकार हैं जो स्वीकार किए गये है। (धारा १ से २० तक) यह कहा जा सकता है कि इस घोषणा पत्र में किसी भी मानवीय अधिकार को छोडा नही गया है।

सामूहिक सुरक्षा ( Collective Security )—सामूहिक सुरक्षा का प्रश्न राष्ट्र संघ के समय से ही प्रमुख रहा है। और संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में भी छठे अनुच्छेद के अनुसार विभिन्न विवादों के जांच पड़ताल एवं शांतिमय समझौते का वर्णन किया गया है। सातवें अनुच्छेद द्वारा सामूहिक सुरक्षा का प्रश्न भी सुलझाया गया है। जिसमें शांति का खतरा, शांति भंग, आक्रामक व्यवहार का निश्चय करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति को पुनः स्थापित करने के लिए क्या क्या उपाय करने चाहिए, का उल्लेख है। किसी भी पारिस्थिति पर अधिकार पाने के लिए सुरक्षा परिषद अपने उपायों को काम में लेने से पूर्व सम्बन्धित दलों को बुला कर आवश्यक कार्य करने के लिए कह सकती है और यह काम किसी भी राष्ट्र के हित, अधिकार अथवा प्रतिष्ठा के प्रति पक्षपात पूर्ण नहीं होगा। इन उपायों में आर्थिक सम्बन्धों में हस्तक्षेप, यातायात या आवागमन के साधनों पर रोक अथवा कूटनीति सम्बन्धों का विच्छेद भी सम्मिलित हो सकता है। इन उपायों के असफल होने पर और भी कठोर उपाय काम में लिए जा सकते हैं, जिनमें आर्थिक प्रतिबन्ध, जल, स्थल और वायु सेना द्वारा कार्यवाही भी सम्मिलित हो सकती है। ऐसे अवसर पर सभी सदस्य राष्ट्रों द्वारा सहायता देना अङ्गीकृत किया जा चुका है।

सैनिक आयोग (Military Staff Commission) की स्थापना का भी प्रावधान है। जिसकी सहायता व परामर्श से सैनिक आवश्यकता के समय सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शांति को स्थापित करने का प्रयास करेगा। शस्त्रों का नियमन, निःशस्त्रीकरण तथा सेना का संग्रह एवं नियन्त्रण आदि विषय इसी आयोग की सहायता से निर्णीत होंगे। (धारा ४७) संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य ऐसे अवसर पर अपना पूर्ण सहयोग देने के लिए सहमत होंगे।

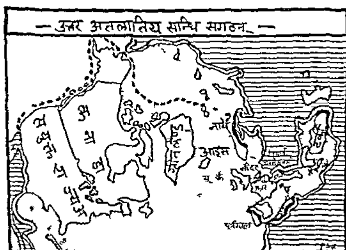
राष्ट्र संघ इस प्रकार के प्रयत्नों में लगभग असफल रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान में फिर इन आशाओं के पूर्ण करने के प्रयत्न किए गए हैं। किन्तु अभी वह अवस्था नहीं है जब हम यह कह सके कि यह नई संस्था भी पूर्ण रूप से सफल या असफल हो गई। यह तो निश्चित है कि सभी राष्ट्रों की समानता का सिद्धांत विश्व में बन्धुत्व की भावना उत्पन्न करने में सफल हुआ है। सन् १९५० में कोरिया तथा सन् १९५६ में मिस्र आदि स्थानों पर सुरक्षा परिषद ने प्रभावपूर्ण कार्य किए हैं। फिर भी विभिन्न राष्ट्रों ने अपनी सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से अनेक प्रकार की संधियाँ और समझौते किए हैं तथा संगठनों की भी स्थापना की है उनमें से निम्न मुख्य हैं—

सयुक्त राष्ट्र सघ का विधान इस प्रकार के प्रादेशिक समझौते की व्यवस्था के विपरीत नही है। यदि ऐसी सस्थाओं से अन्तर्राष्ट्रीय शाति सुरक्षित रहती है तो ये स्थापित

**(अ) प्रादेशिक समझौते —** किये जा सकते ह। परन्तु यह सब सयुक्त राष्ट्रसघ के सिद्धान्तो के अनुकूल होने चाहिए। वतमान घटना चक्र म, जिसमे अमेरिका और सोवियट रूस का सघप मुख्य है, इस प्रकार के प्रादेशिक समझौतो का बाहुल्य है।

## (क) उत्तर अतलातिय सधि सगठन (NATO)

४ अप्रेल १९४८ का अमेरिका की राजधानी म बारह राष्ट्रो ने मिलकर बीस वष की अवधि के लिए यह सगठन स्थापित किया है। इस सगठन का उद्देश्य अपने नागरिकों




की स्वतन्त्रता, सामान्य उत्तराधिकार तथा सभ्यता की रक्षा करना, प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो पर आधारित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा नियमो का शासन स्थापित करना आदि है। यह १२ राष्ट्र बलजियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रास, आइसलड, इटली, लगजेम्बग, नीदरलण्डस, नार्वे, पुतगाल, यू० के० और सयुक्त राष्ट्र अमेरिका है। सन् १९५२ में यूनान और टर्की भी इसमें सम्मिलित हो गये। ५ मई १९५५ को नाटो ने पश्चिमी जमनी का प्रवेश भी स्वीकार कर लिया तथा ७ मई को उसे औपचारिक रूप से सम्मिलित कर लिया।

यह सगठन दूसरे यारोपीय राज्यो को भी अपने साथ रखना चाहता है। किन्तु यह एक ऐसे सगठन के रूप में बन गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय शाति को स्थापित करने के बजाय विश्व की दल बन्दी को और उग्र बना देता है। ११ दिसम्बर सन् १९५६ को १५ राष्ट्रीय सम्मेलन में इस सगठन ने अपनी सैना भी सगठित करने का प्रस्ताव रखा है। इससे साम्यवादी दल और अमरीकी का दल का सघप ही बढा है।

इसी प्रकार सन् १९४७ का रियोपक्ट, डनकक सधि, सन् १९४९ की ब्रूसेल्स सधि, अमरिका, जापान, सुरक्षा समझौता, दक्षिणी पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा सधि

(मनीला समझौता), बल्कान पेक्ट, फ्रांस और लीबिया की मित्रता सन्धि, मिश्र-गारिया सुरक्षा समझौता, वार्सा सन्धि (पूर्वी यूरोपीय सन्धि सगठन), अजज (ANZUS) पेक्ट (The Australia—New Zealand—United States of America Security Treaty), बगदाद पक्ट, अरब लीग, सयुक्त राज्य अमेरिका, फिलीप्पाइन्स पारस्परिक सुरक्षा सन्धि, आदि मुख्य हैं।

आर्थिक एव राजनैतिक सहयोग के क्षेत्र में ट्रूमेन योजना, कालम्बो योजना, मार्शल योजना आदि मुख्य है।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सामुहिक सुरक्षा का स्थापित करने के लिए अनेकानेक प्रयत्न तो किये गये है, परन्तु विभिन्न राष्ट्रों द्वारा उनके अर्थ भी विभिन्न लगाये जाते हैं। इसलिए सयुक्त राष्ट्रसघ का वास्तविक उद्देश्य जिसका अर्थ पारस्परिक सहयोग से सुरक्षा स्थापित करना है, की पूर्ति नही होती। जितने राष्ट्र मिलकर यह काम कर रहे हैं, उनमें परस्पर मैत्री एव सदभावना तो विकसित होती है, परन्तु साथ ही दलीय गुटबन्दी की भावना उन्हे अभिप्त फल प्राप्त करने से वचित रख देती है। यही कारण है कि विश्व में सद्भावना के स्थान पर दल भावना, उत्तरोत्तर तीव्र होती जा रही है और विश्व का वातावरण अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की स्थापना के अनुकूल नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य अनिश्चित और अन्धकारमय हो सकता है। भविष्य की उज्ज्वलता इतनी समीप नही दिखाई देता जितनी अपेक्षित है।

आज विश्व की शान्ति एव सुरक्षा के लिए इस शक्ति का नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रथम महासभा ने अणु शक्ति आयोग की स्थापना की है। इस आयोग में सुरक्षा परिषद के सदस्य एव

**अणुशक्ति नियत्रण**

कनाडा को रखा गया। इसने राष्ट्रीय शस्त्रीकरण से अणुशक्ति के प्रयोग को रोकने का निश्चय किया है। अमरीका ने भी इस सस्था की स्थापना पर बल दिया था। सोवियट रूस ने यह प्रस्ताव रक्खा था कि सबसे पहले जिनके पास अणु बम हैं उन्हें नष्ट कर दिया जाय और बाद में अणु नियन्त्रण की कार्यवाही की जाय। इस प्रकार कुछ गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई। ११ जनवरी सन् १९५१ से छटवी महा सभा ने आयोग तो भग कर दिया और सेना के विघटन के लिए १२ राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना की। कुछ समय बाद परस्पर यह निर्धारित किया गया कि प्रत्येक बड़ी शक्ति का सेनाओं की क्या सख्या हो। परन्तु रूस ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। इसके बाद फिर राष्ट्रीय आधार पर अणु बम प्रयोग आरम्भ हो गए। रूस, ब्रिटेन, अमेरिका सब अणुशक्ति के विकास में लग गए। मार्च, सन् १९५३ में सयुक्त राष्ट्र सघ की महा सभा ने पुन १४ राष्ट्रीय प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें निःशस्त्रीकरण पर प्रयत्न जारी रखने की माँग कीगई थी। भारत इसमें तटस्थ रहा। अब भारतवर्ष इस प्रयत्न में है कि अणु शक्ति का विकास तो हो

परन्तु इसके शांतिमय उपयोग किए जायें। विनाशक प्रयोग समाप्त कर दिए जायें और मानव को सुख और शांति देने के लिए परमाणु शक्ति का भरसक उपयोग किया जाय। यही आदर्श सही है। परन्तु बड़ी शक्तियाँ अपने प्रयोगों में बराबर संलग्न है और विश्व का कोई सामान्य संगठन इसके नियंत्रण में सफल होगा, यह एक दुराशा सी प्रतीत होती है।

आदेश पत्र के अनुसार संशोधन द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव हो सकता है। महासभा स्वयं अथवा इसी उद्देश्य से आमंत्रित विशिष्ट सभा केवल उपस्थित सदस्यों के नहीं बल्कि समस्त सदस्यों के दो तिहाई मत से आदेश पत्र के किसी उपबन्ध में संशोधन कर सकती है। यह विशिष्ट सभा, सुरक्षा परिषद के कोई सात सदस्य अथवा महासभा के दो तिहाई सदस्यों द्वारा आमंत्रित की जा सकती है। परन्तु संशोधन कार्यान्वित उस समय होगा जब सदस्य राज्यों का दो तिहाई और सुरक्षा परिषद के पाँचों स्थायी सदस्य अपनी स्वीकृति दे दें।

संशोधन

आज कल के रूस अमेरिका गतिरोध के कारण संशोधन के विषय अधिक चर्चा का विषय बना हुआ है। प्रारम्भ में जिस संस्था की स्थापना विश्व कल्याण के लिए सभी ५० राष्ट्रों ने एक मत होकर की तथा पाँचों स्थायी सदस्यों ने हृदय से जिसका स्वागत किया, वही संस्था आज विश्व के विरोध का रंगमंच (Forum of World Conflict) बन गई है। इसके लिए कुछ नए उद्भूत कारण उत्तरदायी माने जा सकते हैं। (१) बड़ी शक्तियों का महत्त्व क्रमशः इसलिए कम हो रहा है कि कुछ नई शक्तियाँ विकसित हो रही हैं जैसे भारत, हिन्देशिया आदि और जो किसी भी बड़ी शक्ति से सम्बन्धित तो हैं परन्तु आधारित नहीं हैं। उनकी स्वतन्त्र नीतियाँ है। ये दोनों गुटों से अलग तीसरी सन्तुलन शक्ति का सृजन कर रहे हैं (२) अमेरिका में भी संयुक्त राज्य अमेरिका तथा शेष अमेरिका के सम्बन्ध पूर्ववत् नहीं रहे। (३) ब्रिटेन तथा ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के राज्यों के सम्बन्ध भी नए ढंग से निरूपित हो रहे हैं। इसलिए विश्व विरोध कम करने के लिए यह सुझाव दिए जाते हैं कि सुरक्षा परिषद को कुछ बढ़ाया जाय और भारत जैसे राष्ट्रों को उसमें स्थान दिया जाय। निषेधाधिकार का प्रयोग न्यूनतम किया जाय और वह भी बड़ी सावधानी और सचाई के साथ। यह भी प्रस्ताव दिए गए हैं कि महासभा के अधिकार और बढ़ा दिए जायें ताकि सिफारिश करने के बजाय यही सभा निर्णय भी कर सके।

इन सब बातों के लिए संशोधन आवश्यक है और विभिन्न शक्तियों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में भिन्न है। कुछ शक्तियों की धारणा है कि संशोधन (Revision of the Charter) आवश्यक ही नहीं है। विधान तो पहले से ही लचीला है। सोवियट रूस इसी पक्ष का है। उनका विचार है कि सहयोग और सर्व सम्मति आदेश पत्र के आधार भूत सिद्धान्त हैं और उनसे विचलित होना ही संगठन के लिए खतरा है। भारत

का दृष्टिकोण इस विषय में बहुत ही स्पष्ट और प्रशंसनीय है। भारत के मतानुसार केवल आदेश पत्र के परिवर्तन संगठन को सफल नहीं बना सकते। मनोवैज्ञानिक एवं हृदय के परिवर्तन अनिवार्य है। सैन फ्रांसिस्को में भाषण देते हुए श्री कृष्णमेनन ने कहा था कि संशोधन के विषय में, भारत सरकार की ओर से मुझे यह कहने का आदेश मिला है कि हमारा साधारण दृष्टिकोण यह है कि यदि आदेश पत्र में संशोधन करना है तो सभी राष्ट्रों की सम्मति की आवश्यकता होगी और यदि सब राष्ट्र सहमत ही हो जायें तो फिर संशोधन की आवश्यकता ही क्या है।" फिर भी विश्व के अन्य राष्ट्र तथा कुछ बड़ी शक्तियाँ और विशेष तौर पर विद्वान यह चाहते हैं कि यह संयुक्त राष्ट्र संघ सफल हो और विश्वशांति स्थापित रहे। अब भविष्य में कोई संघर्ष न हो। इस दिशा में कई प्रस्ताव उपस्थित किए जाते हैं कि क्या क्या आवश्यक परिवर्तन इस संस्था में होने चाहिए या किए जा सकते हैं जो इस संस्था को सफल बनाने में सहायक हो सकते हैं। वे निम्न हैं —

सुझाव—(१) निषेधाधिकार का प्रयोग अत्यन्त सीमित बनाया जाय

(२) गृह अधिकार क्षेत्र (Domestic Jurisdiction) का अर्थ सुस्पष्ट किया जाय ताकि द० अ० संघ आदि मनमानी न कर सकें।

(३) म रक्षणपरिषद का क्षेत्र और व्यापक बनाया जाय।

(४) निःशस्त्रीकरण को सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय तथा विश्व सेना का संगठन स्थापित करने की ओर अग्रसर हुआ जाय।

(५) प्रादेशिक संगठनों का स्थापना कठिन बनादी जाय ताकि तनाव कम हो जाय।

(६) अणुबम तथा उद्‌जन बम के प्रयोग समाप्त कर दिए जाय और इनके शांतिमय उपयोग बढ़ा दिये जायें।

(७) मानव अधिकारों के पालन पर ध्यान दिया जाय।

(८) विश्व नागरिकता को प्रोत्साहन दिया जाय और एक सीमित सी सरकार भी स्थापित की जाय।[१]

## संयुक्त राष्ट्रसंघ और राष्ट्रसंघ (League of Nations)—एक तुलना

राष्ट्र संघ की तुलना में वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ एक उन्नत और ऐसी विकसित संस्था है जो सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त द्वारा विश्व शांति स्थापित रखना चाहती है। इस का संगठन और कार्य राष्ट्रसंघ की अपेक्षा पूर्ण रूपेण व्यापक और प्रभावशाली हैं। निम्नलिखित मुख्य बातों का अन्तर दोनों की तुलना को और अधिक स्पष्ट कर देता है —

१ प्राचीन राष्ट्रसंघ का विधान उन अशुभ सन्धियों से संबंधित था जिनसे युद्ध का अन्त किया गया था इसलिए समस्त देशों की सद्भावना उस संगठन के साथ स्वाभा

(१) E Asirvatham—Political Theory Page 676

विक रूप से नही रहो । परन्तु वर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वाली वैसी सन्धियो से पूर्णरूप से स्वतन्त्र, एक शान्ति प्रेरक एवं संस्थापक पत्र या संविधि है । इसलिए इसका प्रभाव वास्तविक है ।

२ उस संगठन में सदस्य राष्ट्रो के स्थायी प्रतिनिधि प्रधान कार्यालय में नही रहते थे, जब कि वर्तमान संगठन में यह व्यवस्था की गई है । इसके विधान में सदस्य राष्ट्रो पर यह उत्तरदायित्व रखा गया है कि शान्ति सबंधी व्यवहार के लिए वे सदैव स्थायी प्रतिनिधि रखेंगे । सचमुच इस व्यवस्था से परस्पर मिथ्या भाव दूर हो जाते है ।

३ राष्ट्रसंघ की परिषद् एक साधारण कार्यकारिणी थी जो यदा कदा मिलकर औपचारिक रूप से विश्व की समस्याओ पर विचार कर लेती थी । आधुनिक सुरक्षापरिषद विश्वशान्ति की स्थापना के लिए विशेष तौर पर उत्तरदायी मानी गई है और इसीलिए निरंतर सत्र चल सकते हैं ।

४ राष्ट्रसंघ में इनेगिने ५ अंग थे जो कार्य करते थे । वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ बहुत व्यापक है । मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर अपनी संस्थाओ का निर्माण कर एक जाल सा बिछा दिया है, जिससे हर क्षेत्र में समस्त देश सहयोग अपना सके और यह सिद्ध करता है कि यह विश्व मानव संस्था है ।

५ आदिष्ट प्रणाली की अपेक्षा (Mandate System) संरक्षण पद्धति निश्चित रूप से एक विकसित और आवश्यक तथा सफल प्रणाली है जो अभी स्थापित है । उस समय जब अधीन देशो का शोषण किया गया, नवीन प्रणाली के अन्तर्गत शासन प्रणाली को स्वतन्त्र किया गया । यह वास्तव में प्रगति का प्रमाण है ।

६ राष्ट्रसंघ मे अमेरिका, प्रस्तावक सदस्य राष्ट्र, के न आने से एक नैतिक अभाव रह गया था । जर्मनी सन् १९२६ तथा रूस सन १९३४ मे उसके सदस्य बने थे । परन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ मे सारे प्रस्तावक राष्ट्र सदस्य बने है और फिर भी सदस्यता के लिए स्वागत है । राष्ट्रसंघ की सदस्यता क्रमश कम होती गई थी और इस संगठन का सदस्यता निरन्तर बढ रहा है । इस समय कुल सदस्य संख्या ८२ है ।

७ उस संगठन से सबंध विच्छेद या सदस्यता त्याग सुगम था परंतु नवीन संघ मे ऐसा प्रावधान ही नहीं है अत लगभग असम्भव सा है ।

८ राष्ट्रसंघ के समस्त निर्णय सर्वसम्मति से होते थे । प्रक्रियात्मक तथा महत्त्वपूर्ण विषयो में कोई भेद नही था । संयुक्त राष्ट्र संघ मे इस प्रकार के विषयो को अलग अलग रखकर निर्णय का ढंग भी उन्ही के अनुसार रखा गया है । सर्व सम्मति का सिद्धान्त केवल सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सदस्यों के लिए ही कार्यान्वित होता है ।

९ राष्ट्रसंघ किसी भी प्रकार की संकटमय स्थिति मे उस समय तक कोई विचार नहीं कर सकती थी जब तक कोई सदस्य राष्ट्र उस विषय को उपस्थित न करे । वर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ मे महामंत्री का यह प्रथम कर्तव्य है कि किसी भी स्थिति को, जो शान्ति के लिए घातक हो तुरंत सुरक्षा परिषद के समक्ष उपस्थित करे । किसी औपचारिकता की प्रतीक्षा का प्रश्न अब नही है ।

१० राष्ट्रसघ के पास शक्ति और सेना का अभाव था। उसकी आज्ञाओ का पालन कराने की क्षमता या प्रावधान नही था। अधिक से अधिक दोषी राष्ट्रो के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगा सकता था। परन्तु स युक्त राष्ट्रसघ आवश्यकता होने पर सनिक कार्यवाही भी कर सकता है जैसा कि २५ जून सन् १६५० को कोरिया मे किया।

११ वर्त्तमान सयुक्त राष्ट्र सघ का कार्यालय वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय बन कर विश्व की सेवा कर रहा है और प्रधान कार्यालय के भवन निर्माण तथा विस्तृत कार्य क्षेत्र स लोक प्रिय बनगया है।

इस प्रकार दोनो की तुलना में, राष्ट्र सघ एक मध्यकालीन एव अविकसित सस्था प्रतीत होती है जब कि सयुक्त राष्ट्रसघ नवीन युग का एक जीवित और महत्त्वपूर्ण सगठन जिसका परिचय प्रत्येक विश्व नागरिक के लिए गौरव और सम्मान का विषय है।

**सयुक्तराष्ट्र सघ का मूल्यांकन**—इस सगठन का मूल्याकन करने स पूर्व हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम निष्पक्ष रूप में इसकी कार्यवाहियो का पर्यवेक्षण करें। न तो हम स्नेह हीन दृष्टि स देखें और न अतिशयोक्ति द्वारा तिल क पहाड बनाए, यह व्यवहार अनिवार्य है।

सर्व प्रथम हम यह देखते हैं कि सयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद विश्व में तीन प्रधान विकास हुए हैं। (१) पाँच बडी शक्तियो म विरोध (२) परमाणु शक्ति का विकास तथा (३) औपनिवेशिक प्रणाली का क्रमश विसर्जन। इस प्रगति को ध्यान मे रखकर यदि हम सयुक्त राष्ट्रसघ की प्रगति को समझें तो ऐसा लगता है कि यह एक सफल सस्था है। उपरोक्त नवीन परिस्थितियो के उत्पन्न हो जाने पर भी यह सगठन पर्याप्त रूप मे सफल हुआ है। सन् १६४६ में ईरान विवाद म मध्यप्रस्थ बनकर रूस की सेनाएँ वापस बुलवाई। हिन्द एशिया में सहायता पहुँचाकर उसे स्वतन्त्रता में सहायता की और सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बनाया। इजरायल और अरब राज्यो के आपसी विरोध को रोक कर विराम सन्धि पर हस्ताक्षर करवाए। इसी सगठन ने काश्मीर म युद्ध—विराम समझौता कराया। यूनान की सीमा पर आयोग भेजकर शान्ति स्थापित रखखी। २० जून सन् १६५० को, जब उत्तर कोरिया दक्षिण कोरिया पर आक्रमण करने लगा, अन्तर्राष्ट्रीय सेना की व्यवस्था के लिए कार्यवाही कर, शान्ति रखखी। और सन् १६५४ में इगलैंड व फ्रांस ने जब मिस्र पर आक्रमण किया तो सयुक्त राष्ट्र सेना ने ही विदेशी सेनाओ से वह प्रदेश रिक्त करवाया और अब भी वहाँ सघर्ष को रोकने के लिए कुछ राष्ट्रसघ सेना नियुक्त है। सीरिया और लेबनान वर्लिन (ब्लोकेड) अर्थ प्रतिबन्ध तथा हिन्द चान भी सयुक्त राष्ट्रसघ की सफलता, के प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवाद की समाप्ति की दिशा म भी सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रयत्न प्रशसनीय हैं। अबीसीनिया की स्वतन्त्रता तथा इरीट्रिया का अबीसीनिया के साथ योग, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात, की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। सोमालीलैण्ड इस सघ के लिए इटली के सरक्षण में है जो शीघ्र स्वतंत्र होन वाला है। लीबीया जो अभी तक साम्राज्य का भाग था, इस सगठन के अन्तर्गत स्वतन्त्र

बना दिया गया। मोरक्को एवं ट्यूनिशिया, जिसे फ्रांस नहीं छोड़ना चाहता था, और संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष कई बार विवाद का विषय रहा, अन्त में स्वतन्त्र हो गए। अलजीरिया का प्रश्न वहां के फ्रांसीसी निवासियों के कारण कुछ कठिन बन रहा है, परन्तु अवश्य ही सुलझ जायगा। इस प्रकार यह संगठन एक सफल संस्था है।

परन्तु अभावों की दृष्टि से देखा जाय तो कई ऐसे स्थल हैं जहां यह संस्था असफल रही है। ईरान का तेल विवाद, दक्षिण अफ्रीका संघ तथा काश्मीर प्रधान रूप से लिए जा सकते हैं। तेल विवाद में यह संस्था इङ्गलैंड और अमेरिका के हितों को ही सुरक्षित बना सकी, वहां की जनता के हित नहीं बचा सकी दक्षिण अफ्रीका संघ ने भारत और पाकिस्तान के साथ किसी प्रकार समझौता करने से इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि यह उनका घरेलू प्रश्न है और संयुक्त राष्ट्र संघ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। और काश्मीर में तो इनकी असफलता और भी अधिक रही। भारत ने यह प्रार्थना की थी कि पाकिस्तान ने भारतीय भूमि पर आक्रमण किया है और वहां पाकिस्तानी सेना की उपस्थिति विश्वशान्ति के लिए खतरा है। इस विषय को विस्मृत कर संयुक्त राष्ट्र संघ की पश्चिमी शक्तियां, अपने पूर्वी सहायक राष्ट्रों की सहायता से, जनमत निर्णय पर बल देने लगी, जो कि काश्मीर की जनता का अधिकार था, पाकिस्तान अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ का नहीं। भारत की मांग पर उचित ध्यान ही नहीं दिया गया। इसी प्रकार हंगरी और चेकोस्लोवाकिया पर, साम्यवादी-आक्रमण के समय भी यह संघठन कुछ नहीं कर सका हंगरी पर आक्रमण के समय जब विश्व लोकमत जांच के लिए उत्सुक हुआ तो यह प्रस्ताव किया गया था कि महामन्त्री श्री हेमरशोल्ड उसी स्थान पर जाकर जांच करें परन्तु रूस द्वारा प्रेरित हंगरी ने आवश्यक अनुमति नहीं दी। बाद में महासभा ने प्रिंस वान वथैको की नियुक्ति ( Thailand निवासी ) एक सदस्यीय आयोग में की और वहां जाकर जांच करने के पश्चात् प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का आदेश दिया। उन्होंने यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है कि उनका आयोग सहकारिता के अभाव के कारण "पूर्ण असफल" रहा है।

**निष्कर्ष**—दोनों पक्षों का अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि अब संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थिति कैसी है। बड़ी शक्तियां किसी भी विवाद को सत्यता के आधार पर न देखकर, राजनैतिक दृष्टि से देखती हैं, अपनी राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार के लिए यत्न करती हैं। इसलिए ये बड़ी शक्तियां स्वयं ही आदेश पत्र का उल्लंघन करती है और विश्व शांति को क्षति पहुँचाती है। दलबन्दी विशेष होगई है और नाटो, सीटो सेटो द्वारा शीत-युद्ध की ओर प्रोत्साहित कर रही हैं। एक ओर राष्ट्रीय चीन की सदस्यता बनी हुई है और दूसरी ओर लाल चीन को सदस्यता में प्रवेश नहीं मिल रहा है साथ ही भारत जैसा एशिया का

प्रमुख तथा प्रजातन्त्रात्मक देश सुरक्षा परिषद् में लिया नहीं जा रहा। फिर भी इन सब बुराइयों से दबते हुए यह संगठन बराबर आगे चल रहा है। प्रत्येक स्थान पर संघर्षों को स्थानीय बना देना, एक बड़ी भारी बात है। दूसरे यह संगठन अब एक बहुत बड़ी नैतिक सत्ता को प्राप्त कर चुका है जिसके साथ विश्व-ठोस लोकमत साथ है। अतएव कोई भी राष्ट्र सरलता से इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। यही तक कि बड़ी शक्तियाँ भी प्रादेशिक संधियों और समझौते में सम्मिलित हैं अपने में संधियाँ सम्बन्धी सब कार्य संघ के विधान के अन्तर्गत मानती हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की सबसे बड़ी देन राष्ट्रों के बीच गोरे-काले, गरीब अमीर, विकसित अविकसित तथा पूर्व-पश्चिम का भेद भाव कम कर समानता की भावना बढाने में है। सोवियत संघ के नेता ख्रुश्चेव ने एक समय में जो संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था आज वह देश इसके महत्व की ओर प्रयत्नशील है। संयुक्त राष्ट्र संघ समस्त विपरीत परिस्थितियों और 'बडी शक्तियों के स्वार्थी व्यवहार के होते हुये भी इसकी आवश्यकता के सम्बन्ध मे लोकमत के निर्माण में सफल होरहा है। विश्व का बहुमत वास्तव में शान्ति चाहता है और इस सगठन का आदर्श भी शान्ति स्थापना है। संसार का नैतिक लोकमत तथा भारत जैसे प्रजातन्त्र तथा तटस्थ राज्यों का पूर्ण सहयोग इसकी सफलता के सहयोगी हैं। आज विश्व के सभी जनतांत्रिक स्वतन्त्र राष्ट्रों में 24 अक्तूबर को 'संयुक्त राष्ट्र दिवस' मनाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र न तो अन्तर्राष्ट्रीय सरकार है और न शक्ति पर आधारित संस्था। यह मानवता के सिद्धांत पर निर्मित संस्था है और मानवता मे जितना विश्वास बढेगा, इस संस्था का महत्त्व भी उतना ही बल प्राप्त करेगा।

## बारहवां अध्याय

# अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (१९४५-५६)

सन् १९४५ ५६ ई० की अवधि म सम्पूर्ण ससार को दो प्रमुख समस्यो का सामना करना पडा और अभी करना पड रहा है। प्रथम समस्या है—सोवियत सघ और सयुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिद्वद्विता अथवा प्रतियोगिता, एक ऐसा प्रतियोगिता जा नाममात्र की साझेदारी से शुरु हुई थी परन्तु जा शीघ्र ही शस्त्रीकरण की दौड और एक शीत युद्ध (Cold war) मे परिवर्तित हो गई और जिनसे सम्पूर्ण यूरोप तथा एशिया क अधिकाश भाग को सशस्त्र गुटो म विभाजित कर दिया। ससार की प्रत्येक औद्योगिक शक्ति किसी न किसी गुट के प्रति स्वामिभक्त हो गई और प्रत्येक गुट समय समय पर सघष की धमकी देने भी लग गया जिसका तात्पर्य तीसरे विश्व व्यापी युद्ध का सूत्रपात ही हो सकता है। दूसरी समस्या, श्वेत मनुष्यो द्वारा राजनीतिक या आर्थिक दृष्टि से नियत्रित देशो म, स्वतत्रता के लिये राष्ट्रीय आदोलनो का सूत्रपात थी और है। लेटिन अमेरिका, मध्यपूर्व, अफ्रीका तथा दक्षिणी एशिया के अधिकाश भागा के लाग महान् शक्तिया के आपसी सघष में अधिक रूचि न लेकर अपनी स्वय का स्वतत्रता को प्राप्त करने में अधिक रुचि रखने थे और आज भी रखत हैं। उपरोक्त दानो समस्याएँ एक दूसरे से पृथक ही रही और बहुत कम अवसरा पर एक दूसरे म हिल मिल सकी और ऐसा भी तभी हुआ जबकि राष्ट्रीय आदोलनो के नायको को यह भान हा गया कि उनके प्रयत्न साम्राज्यवादी शक्तियो के हस्तक्षेप के कारण धूलि धूसरित हा रहे हैं। इस प्रकार का अवसर चीन म आया और कुछ सीमा तक इण्डो चाइना (Indo China) में भी आया, जबकि राष्ट्रीय आन्दोलनो के नायको ने साम्यवादी रूस म सहायता की याचना की। अत मोटे तौर पर, इस युग में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इन्ही दो समस्याओ के ईद गिद घूमती रही और इसी के आधार पर द्वितीय महायुद्ध के बाद अनक सनिक सधियों और सगठन का जन्म हुआ।

**संसार की दो प्रमुख समस्याएँ**

अत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सुगमता से समझने के लिये, हमें इस विषय का अध्ययन निम्नलिखित हिस्सा में, पृथक पृथक रूप से करना चाहिए—

(१) सोवियत सघ और अमेरिका की विदेश नीति।
(२) प्रादेशिक सैनिक सधियाँ और सगठन।
(३) शीतयुद्ध
(४) अन्तर्राष्ट्रीय नोक-भाक।

प्रमुख तथा प्रजातन्त्रात्मक देश सुरक्षा परिषद् में लिया नहीं जा रहा। फिर भी इन सब बुराइयों से दबाते हुए यह सगठन बराबर आगे चल रहा है। प्रत्येक स्थान पर सघर्षों को स्थानीय बना देना, एक बड़ी भारी बात है। दूसरे, यह सगठन अब एक बहुत बड़ी नैतिक सत्ता को प्राप्त कर चुका है जिसके साथ विश्व-ठोस लोकमत साथ है। अतएव कोई भी राष्ट्र सरलता से इसको अप्रसन्न नहीं कर सकता। यहाँ तक कि बड़ी शक्तियां जो प्रादेशिक सन्धियों और समझौते मे सम्मिलित हैं अपने में सन्धिया सम्बन्धी सब कार्य सघ के विधान के अन्तगत मानती हैं। सयुक्त राष्ट्र सघ की सबसे बड़ी देन राष्ट्रों के बीच गोरे-काले, गरीब अमीर, विकसित अविकसित तथा पूर्व-पश्चिम का भेद-भाव कम कर समानता की भावना बढाने में है। सोवियत सघ के नेता ख्रुश्चेव ने एक समय में जो सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था आज वह देश इसके महत्त्व की ओर प्रयत्नशील है। सयुक्त राष्ट्र सघ समस्त विपरीत परिस्थितियो और बड़ी शक्तियो के स्वार्थी व्यवहार के होते हुये भी इसकी आवश्यकता के सम्बन्ध मे लोकमत के निर्माण में सफल होरहा है। विश्व का बहुमत वास्तव मे शान्ति चाहता है और इस सगठन का आदर्श भी शान्ति स्थापना है। ससार का नैतिक लोकमत तथा भारत जैसे प्रजातन्त्र तथा तटस्थ राज्यों का पूर्ण सहयोग इसकी सफलता के सहयोगी हैं। आज विश्व के सभी जनतांत्रिक स्वतन्त्र राष्ट्रो में 24 अक्तूबर को 'सयुक्त राष्ट्र दिवस' मनाया जाता है। सयुक्त राष्ट्र न तो अन्तर्राष्ट्रीय सरकार है और न शक्ति पर आधारित सस्था। यह मानवता के सिद्धांत पर निर्मित सस्था है और मानवता में जितना विश्वास बढेगा, इस सस्था का महत्त्व भी उतना ही बल प्राप्त करेगा।

---

## बारहवा अध्याय

# अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (१९४५-५९)

सन् १९४५ ५९ ई० की अवधि मे सम्पूर्ण ससार को दो प्रमुख समस्या का सामना करना पडा और अभी करना पड रहा है। प्रथम समस्या है–सोवियत सघ और सयुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिद्वन्द्विता अथवा प्रतियोगिता, एक ऐसा प्रतियोगिता जो नाममात्र की साझेदारी से शुरू हुई थी परन्तु जो शीघ्र ही शस्त्रीकरण की दौड और एक शीत युद्ध (Cold-war) मे परिवर्तित हो गई और जिनसे सम्पूर्ण यूरोप तथा एशिया के अधिकाश भाग को सशस्त्र गुटो मे विभाजित कर दिया। ससार की प्रत्येक औद्योगिक शक्ति किसी न किसी गुट के प्रति स्वामिभक्त हो गई और प्रत्येक गुट समय समय पर सघर्ष की धमकी देने भी लग गया जिसका तात्पर्य तीसरे विश्व व्यापी युद्ध का सूत्रपात ही हो सकता है। दूसरी समस्या, श्वेत मनुष्यो द्वारा राजनीतिक या आर्थिक दृष्टि से नियत्रित देशो में, स्वतन्त्रता के लिये राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात था और है। लेटिन अमेरिका, मध्यपूर्व, अफ्रीका तथा दक्षिणी एशिया के अधिकाश भागा के लोग महान् शक्तिया के आपसी सघर्ष में अधिक रूचि न लेकर अपनी स्वय का स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में अधिक रुचि रखते थे और आज भी रखते हैं। उपरोक्त दोनो समस्याएँ एक दूसरे से पृथक ही रही और बहुत कम अवसरो पर एक दूसरे म हिल मिल सकी और ऐसा भी तभी हुआ जबकि राष्ट्रीय आन्दोलनो के नायको को यह भान हो गया कि उनके प्रयत्न साम्राज्यवादी शक्तियों के हस्तक्षेप के कारण धूलि धूसरित हो रहे हैं। इस प्रकार का अवसर चीन म आया और कुछ सीमा तक इण्डो चाइना (Indo China) में भी आया, जबकि राष्ट्रीय आन्दोलनो के नायको ने साम्यवादी रूस से सहायता की याचना की। अत मोटे तौर पर, इस युग में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इन्ही दो समस्याओ के ईर्द गिर्द घूमती रही और इसी के आधार पर द्वितीय महायुद्ध के बाद अनेक सैनिक सधियो और सगठन का जन्म हुआ।

ससार की दो प्रमुख समस्याएँ

अत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सुगमता से समझने के लिये, हमें इस विषय का अध्ययन निम्नलिखित हिस्सो में, पृथक पृथक रूप से करना चाहिए—

(१) सोवियत सघ और अमेरिका की विदेश नीति।
(२) प्रादेशिक सैनिक सधियाँ और सगठन।
(३) शीतयुद्ध
(४) अन्तर्राष्ट्रीय नाक-भाक।

## (१) सोवियत सघ और अमेरिका की विदेश नीति

प्रथम महायुद्ध की भाति द्वितीय महायुद्ध में भी रूस और अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध कन्धे से कन्धा मिला कर सघर्ष किया था और अन्ततोगत्वा वे सफल हुये। जर्मनी अपने साथियो सहित पराजित हुआ। परन्तु रूस को अपनी विजय की भारी कीमत चुकानी पडी। महायुद्ध के विनाशकारी परिणाम स्वरूप ३८,०००,००० रूसी नागरिक बेघर हो गये।

**रूस की नीति**
**विजय की कीमत**

७,०००,००० सैनिक, नाविक, हवाबाज तथा अन्य कर्मचारी एव नागरिक या तो युद्ध में मारे गये, घावो से मर गये, भूख, बेगार से मर गये या फिर शत्रुओ द्वारा मार डाले गये। शूमेन ने लिखा है कि "मृतक की सख्या रूस म पश्चिमी सयुक्त राष्ट्रो की सम्मिलित सख्या से दस गुनी था। सम्पत्ति की हानि का अनुमान ६७६,०००,०००,००० रूबल (रूसी सिक्का) लगाया जाता है। बरबादो में १,७०० ध्वस्त नगरो तथा ७०,००० उजाडे गए ग्रामो के ६,०००,००० भवन, जिनमें ८४,००० स्कूल, ४३,००० पुस्तकालय, ३१,००० कारखाने, १३,००० पुल तथा ४० ००० मील रेल की लाइनें थी। इसके साथ ही साथ ७ ००० ००० घोडे, १७,००० ००० मवेशी, २०,०००,००० सूअर, २७,०००,००० भेडे तथा बकरियाँ आदि नष्ट हो गए। सयुक्त राज्य अमेरिका इसकी तुलना की हानि उस समय महसूस करता दिखाई देता जब ६,०००,००० अमरीकी मारे गए होते। तथा २७,०००,००० बेघर बार हो जाते तथा मिसिसिपी के पूर्व के अधिकाश क्षेत्र को बरबाद कर दिया गया होता तथा अधिकार में ले लिया गया होता।"[1]

रूस पर इस भयकर विनाश का गहरा प्रभाव पडा और जब उसने प्रथम महायुद्ध से लेकर द्वितीय महायुद्ध की अवधि तक की घटनाओ का सूक्ष्म अध्ययन किया तो उसका ग्राघ और भी अधिक बढ गया। प्रथम महायुद्ध म उसने मित्रराष्ट्रो के पक्ष में युद्ध की घोषणा की थी और उसे जर्मनी के द्वारा बार बार पराजित होना पडा था। इसी बीच बोल्शेविक क्रान्ति (१९१७) हुई और उसने जर्मनी के साथ सधि करके अपनी आन्तरिक स्थिति को सुदृढ बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु मित्रराष्ट्रो ने साम्यवादी सरकार का तख्ता उलटने के लिये हर सम्भव तरीके का प्रयोग किया। युद्ध समाप्ति के बाद पेरिस के शान्ति सम्मेलन में रूस का निमन्त्रण भी रद्द किया गया और उसके साथ शत्रुता जैसा व्यवहार किया गया। उसके चारो तरफ प्रतिक्रियावादी राज्यो की स्थापना की गई और फिर इन राज्यो के साथ पश्चिम के देश सधियो म उलझ गये। साम्यवाद को कुचलने की दृष्टि से हिटलर मुसोलिनी और हिरोहितो को, साम्यवादियो को, रूस विरोध में उत्साहित पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा नजरदाज किया गया। द्वितीय महायुद्ध छिडा और हिटलर ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ रूस पर आक्रमण किया। इस समय में

1—शूमन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

रूस ने पश्चिमी राष्ट्रों से युद्ध का दूसरा मोर्चा खोलने की याचना की ताकि जर्मन शक्ति का बटवारा हो जाय और रूस जर्मनी का सामना कर सके। परन्तु मित्रराष्ट्रों ने रूसी प्रस्ताव को ठुकरा दिया और जर्मनी द्वारा रूस के विनाश का तमाशा देखते रहे, साम्यवादी शक्ति का विनाश देखते रहे। रूस को अकेले ही, अपार जन धन की हानि को सहन करते हुये, अबलाओं के करुण आर्त्तनाद को फौलादी हृदय के साथ धैर्य पूर्वक सहन करते हुये, अपने ही देश में निर्मित अस्त्र शस्त्रों की सहायता से जर्मन आक्रान्ताओं को अपनी भूमि से खदेड़ना पड़ा। महायुद्ध के अन्तिम दिनों में अमेरिका ने अणु बम्ब का निर्माण किया। उसने इंगलैंड को इस सम्बन्ध में जानकारी दी परन्तु रूस को अपरिचित रखा।

इस प्रकार की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि में रूस पश्चिम को विश्वासघाती नहीं समझता तो क्या करता, अपनी भावी सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं करता तो क्या करता।

**रूस का ध्येय**

अपनी सैनिक शक्ति और अणु बम्ब से भी अधिक शक्तिशाली अस्त्र शस्त्रों की रचना की तरफ ध्यान नहीं देता तो फिर क्या करता। रूस के सामने केवल एक ही रास्ता था। वह यह कि वह अपने चारों तरफ अपने समर्थक राज्यों का एक शक्तिशाली घेरा बनाये और अपनी शक्ति का विकास करे ताकि भविष्य में उसे पुनः इस प्रकार के विनाश का सहन न करना पड़े। अपने चारों तरफ ऐसे राज्यों की स्थापना करे जिनके द्वारा उसकी सीमाएं सुरक्षित रहें और जो पश्चिमी राष्ट्रों के हितों का शिकार न बनें, उन्हें अपने सैनिक अड्डे न दें। अणु बम्ब से भी अधिक शक्तिशाली अस्त्र शस्त्रों का निर्माण करे ताकि पश्चिमी राष्ट्रों को उसके विरुद्ध कदम उठाने का साहस न हो सके। जर्मनी को हर सम्भव उपाय से उस समय तक विभक्त और निर्बल रखा जाय, जब तक कि वहाँ पर साम्यवादी या साम्यवाद समर्थक शासन नहीं स्थापित हो जाता। इसी प्रकार जापान की सैनिक शक्ति के पुनरुत्थान का विरोध किया जाय। इसके बाद जहाँ तक सम्भव हो सके एशिया तथा अफ्रीका के विभिन्न राष्ट्रों को साम्यवादियों का मित्र बनाने का प्रयत्न किया जाय। यही था रूस का ध्येय और इसी ध्येय पर आधारित थी रूस की भावी विदेश नीति।

रूस को अपने ध्येय की तरफ अग्रसर होने के पूर्व अपनी आंतरिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित करना पड़ा। उसने विभिन्न प्रकार के उपायों द्वारा आज्ञाकारिता व अनुशासन, उत्साह के एकत्रीकरण तथा उत्पादन की व्यवस्था करने, उसे पूर्व अवस्था में लाने तथा उसका विस्तार करने की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की।

**आंतरिक व्यवस्था का ठोस प्रबन्ध**

शूमन लिखता है कि 'शत्रु से सहानुभूति रखने वाले अल्प संख्यकों को क्रूरता से खदेड़ कर एशिया में भेज दिया गया।'। १ फरवरी १९४४ ई० के एक वैधानिक संशोधन के द्वारा यूनियन के प्रजातन्त्रों को अधिक विस्तृत 'स्वतन्त्रता' दे दी गई, जिसके अनुसार उन्हें अपनी सेनायें रखने तथा अन्य राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के भी अधिकार

मिल गए।" उच्च नेतृत्व स्थायी रहा। "नास्तिकों की लीग" का भंग कर दिया गया तथा कट्टर चर्च की प्रतिष्ठा की पुनर्स्थापना की गई, यद्यपि साम्यवादी नास्तिक ही बने रहे। आर्थिक पुनरुत्थान का कार्य द्रुत गति में शुरू किया गया और इसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली।

इस प्रकार आंतरिक व्यवस्था को सही मार्ग पर लाने के बाद उसने अपनी विदेश नीति की तरफ सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित कर दिया। पश्चिम के लेखकों और विचारकों ने रूस की विदेश नीति की कटु आलोचना की है। शूमेन लिखता है—'क्रेमलिन के कुलीन तन्त्र ने बाहर अपने पश्चिमी मित्रों के साथ सहयोग करने का ढोंग किया, जिसके पर्दे में उसने सोवियत की शक्ति को अधिकाधिक बढ़ाने की चेष्टा की, इस प्रकार, उसने विश्व प्रभुत्व के लिए दी गई साम्यवादी चुनौती के विरुद्ध पश्चिम को अपनी रक्षा के लिए 'शीत युद्ध' की ओर बढ़ने को विवश कर दिया।" शायद इससे बढ़कर सफेद झूठ कुछ और नहीं हो सकता। पश्चिम ने नहीं, बल्कि रूस ने अपनी आत्म रक्षा के लिए इस प्रकार का कदम उठाया था। इसी लेखक ने आगे लिखा है—"विश्व शांति के प्रति रूस की निरंतर निष्ठा से उत्पन्न हुए पश्चिम के लोगों के भयों को शांत करने के लिए मास्को ने, २२ मई सन् १६४३ ई० को, साम्यवादी इंटरनेशनल को भंग कर दिया। परन्तु ५ अक्टूबर सन् १६४७ को अमेरिका विरोधी 'साम्यवादी सूचना ब्यूरो' अथवा कोमिनफार्म के रूप में, इस राक्षस को फिर से जीवित कर दिया।" शूमेन का आरोप कहाँ तक सही है, इसका उत्तर तो सोवियत विदेश नीति के अध्ययन के उपरान्त देना ही अधिक उपयुक्त रहेगा।

सन् १६४५ से लेकर वर्तमान समय तक की सोवियत विदेश नीति को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्तालिन द्वारा निर्देशित नीति (अगस्त १६४५ – मार्च १६५३) और (२) मार्च १६५३ के बाद की नीति, जो एक प्रकार से ख्रुश्चेव की नीति कही जा सकती है।

**स्तालिन युग की विदेशनीति**

सोवियत संघ की प्रारम्भिक विदेश नीति का मुख्य निर्देशक मार्शल स्तालिन था और उसका प्रमुख सलाहकार था, मोलातोव। इसी युग में सोवियत विदेश नीति का स्वरूप कुछ अधिक उग्र रहा और इस उग्रता के कारण 'शीत युद्ध' भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। इस काल का विदेश नीति में प्रादेशिक विस्तार, सीमान्त राज्यों में साम्यवादी शासन की स्थापना तथा दूर देशों में साम्यवादियों को अस्त्र-शस्त्र से सहायता देना तथा विरोधी सत्तारूढ़ दलों की सरकार का तख्ता उलटने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करना था।

युद्धोपरांत स्तालिनवादी विदेशनीति की सर्वप्रथम विजय पूर्वी यूरोप में साम्यवादी

प्रभुत्व की स्थापना था। अल्बानिया, बल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, रूमानिया और यूगोस्लाविया में साम्यवादी शासन व्यवस्था स्थापित की गई। इसके लिए सोवियत संघ को अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ा। क्योंकि (१) लाल सेनाओं ने इन देशों को (यूगोस्लाविया को छोड़कर) जर्मन नियंत्रण से मुक्त किया था। (२) लाल सेनायें इन देशों में विद्यमान थीं और (३) मित्र राष्ट्रों ने भी युद्धकालीन सम्मेलनों में पूर्वी यूरोप को सोवियत संघ का प्रभाव क्षेत्र (Sphere of Influenco) स्वीकार कर लिया था, परन्तु फिर भी रूस ने इन देशों में जल्दबाजी नहीं की। शुरू में, इन देशों में विविध राजनीतिक दलों की मिली जुली 'राष्ट्रीय सरकारें' ही स्थापित की गई थीं। परन्तु जब उपरान्त सरकारें सुचारू रूप से शासन नहीं चला सकीं तब साम्यवादी शासन की स्थापना की गई। परन्तु पश्चिम के समर्थकों का कथन है कि रूस ने इन देशों में साम्यवादी हथकंडों-गैर साम्यवादी नेताओं को प्राणदण्ड अथवा आजन्म कारावास या देश निष्कासन, गैर साम्यवादी दलों का दमन, मतदाताओं को धमकाना आदि का प्रयोग किया और इस कारण वह सफल रहा।

**पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुत्व**

कथन को पूर्ण रूप से सही नही माना जा सकता परन्तु फिर भी यह मानना पडेगा कि यूगोस्लाविया के पृथक हो जाने से यूनान में साम्यवादी प्रभुत्व की स्थापना सम्भव न हो सकी हालांकि अल्बानिया साम्यवादी घेरे में ही बना रहा। बाल्टिक राज्यों में स्वीडन ही एक ऐसा देश था और है जो हमारे देश की भांति 'तटस्थ" बना रहा।

स्तालिन युग की विदेश नीति की दूसरी प्रमुख विशेपता–विश्व में साम्यवाद का प्रसार था। इसके अन्तर्गत साम्यवाद के मौलिक सिद्धान्तों–पूंजीवाद का उन्मूलन तथा श्रमिकों का शासन एवं सामाजिक समानता आदि का सम्पूर्ण संसार में

**विश्व मे साम्यवाद का प्रसार करना**

प्रसार करना था। यह एक आश्चर्य की बात है कि जब स्तालिन के प्रतिद्वन्द्वी साम्यवादी नेता ट्राटस्की, जिसको दल से बहिष्कृत करने के उपरान्त ही स्तालिन लेनिन का उत्तराधिकारी बन सका था ने विश्वक्रान्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था तब स्तालिन ने उसका घोर विरोध किया था, परन्तु अब वह स्वयं इस नीति का पक्षधर बन चुका था। मोलोतोव ने कहा था "हम ऐसे युग मे रह रहे है जिसमें सब सडक साम्यवाद की ओर ले जाने वाली है।" बात कुछ ठीक भी थी। क्योंकि युद्धोपरान्त संसार आर्थिक दृष्टि से दिवालिया हो चुका था। पश्चिमी यूरोप में सरकारें बनती बिगडती जा रही थी और अफ्रीका तथा एशिया के लोग श्वेतमनुष्य के भार से मुक्त होने को तडप रहे थे। उधर श्वेत लोगों के देश इंगलण्ड और फ्रांस अपनी ही घरेलू समस्याओं में उलझे हुए थे। अतः इस प्रकार की अराजकता एवं अव्यवस्था तथा आर्थिक पतन मे परिपूर्ण परिस्थितियों में स्तालीन ने अपना विचार बदल दिया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही थी।

संसार में साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रसार करने के लिए हर सम्भव उपाय तथा उपलब्ध साधन की सहायता ली गई। यूनान में गृह युद्ध का नाटक खेला गया और यूनानी साम्यवादियों को पडौसी साम्यवादी देशों अल्बानिया, बल्गेरिया, यूगोस्लाविया आदि से धन, जन और अस्त्र शस्त्रों से सहायता पहुंचाई गई। यहां पर एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि पश्चिम के पूंजीवाद ने भी हर सम्भव उपाय से साम्यवादी *प्रसार को रोकने का प्रयत्न किया था। यूगोस्लाविया और रूस के आपसी विवाद के* फलस्वरूप यूनान में साम्यवाद का प्रसार नही हो सका। टर्की और ईरान पर भी कई प्रकार से दबाव डाला गया परन्तु यहां पर भी साम्यवाद को शिकस्त खानी पडी। इसी दृष्टि से जर्मनी को विभाजित ही रहने दिया गया और पूर्वी जर्मनी में एक पृथक स्वतंत्र परन्तु साम्यवादी कठपुतली सरकार की स्थापना की गई। चीन में साम्यवादियों को आशातीत सफलता मिली। भारत आदि देशों में साम्यवादियों ने शुरू शुरू में तोड फोड और हिंसक उपायों का सहारा लेकर अपनी भावी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर लिया। इन प्रयत्नों के अतिरिक्त एक नूतन प्रयोग और किया गया। १९४७ में, वारसा में थर्ड इंटरनेशनल के सिलसिले में साम्यवादी दलों तथा फ्रांस और इटली

के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधि एकत्र हुये और एक साम्यवादी सूचना संस्थान या कोमिन्फार्म ( Communist Information Bureau-Comminform) की स्थापना का निश्चय किया गया। इसका प्रमुख केन्द्र बेलग्रेड में स्थापित किया गया। इसका मुख्य ध्येय "आपसी सलाह के आधार पर साम्यवादी दलों के कार्य में समन्वय स्थापित करना था।'

इस युग की सोवियत विदेश नीति की तीसरी विशेषता पश्चिम का विरोध करना थी। इस प्रवृत्ति के कारण ही शीत युद्ध अधिक डरावना होता गया। क्योंकि विरोध की प्रवृत्ति पश्चिम के पेट में भी थी। युद्धोपरान्त की अधिकांश समस्याओं शान्ति सन्धियाँ, क्षतिपूर्ति, सीमान्तों की समस्या निःशस्त्रीकरण, लोकतन्त्र के स्वरूप के सम्बन्ध में युद्ध बन्दियों की समस्या मध्यपूर्व के नियन्त्रण की समस्या आदि, पर पूर्व और पश्चिम के मध्य मतभेद बढ़ते गये और परिणाम स्वरूप सोवियत संघ पश्चिम का उग्र विरोधी होता गया। वह पश्चिम के कतिपय कार्यों—ट्रूमैन सिद्धांत, मार्शल-योजना, जर्मनी और जापान के पुनरुत्थान के प्रयत्न, शूमैन तथा प्लेवन योजनाएँ, आदि को सन्देह की दृष्टि से देखता था और उसे यह सन्देह था कि इन सब कार्यों की ओट में पश्चिमी राष्ट्र रूस के साम्यवादी शासन को समाप्त करने का षडयन्त्र रच रहे है। इस प्रकार के सन्देह शील और अविश्वासी वातावरण में तनाव की वृद्धि कुछ सीमा तक तो महज स्वाभाविक ही थी।

**पश्चिम का उग्र विरोध**

चतुर्थ विशेषता लौह आवरण ( Iron Curtain ) की स्थापना थी। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि सोवियत संघ का पश्चिम के प्रति विश्वास नष्ट हो गया था। अतः अपने लोगों को पश्चिम के पापी विचारों से, पश्चिम के शिकार बनने से देश विद्रोही बनने से रोकना तथा बचाना नितान्त आवश्यक हो गया था। अतः स्टालिन ने रूस के चारों तरफ एक ऐसा सुदृढ़ लौह आवरण स्थापित करने का निश्चय कर लिया ताकि रूसी जनता पश्चिम के लोगों के सम्पर्क में ही न आये और न ही पश्चिम को सोवियत जनता के बारे में किसी प्रकार की जानकारी मिल सके। ऐसा इसीलिए किया गया था कि स्तालिन को सन्देह था कि पश्चिमी विचारों का रूस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। इस सम्बन्ध में अनेक नियम बनाये गये। एक मजेदार नियम उन स्त्रियों के लिए बनाया गया जिन्होंने युद्ध काल में विदेशी सैनिकों के साथ विवाह कर लिया था। इसके अनुसार उन्हें रूस छोड़ने की स्वीकृति नहीं दी गई और पूछे जाने पर यह जवाब दिया गया कि सोवियत नारियों का कर्त्तव्य सोवियत सरकार के लिए सतान पैदा करना है न कि विदेशी देशों के लिये। इससे भी अधिक सख्त एक और कानून बनाया गया जिसके द्वारा सोवियत वासियों का विदेशियों के साथ विवाह करने से मना कर दिया गया। लौह आवरण इतना अधिक गहरा था कि विदेशों में स्थित सोवियत

**लौह आवरण**

राजदूत भी यदि वहाँ के लोगों से अधिक सम्पर्क स्थापित कर लेते तो उन्हें वापस बुला लिया जाता था और दूसरे लोगों को नियुक्त किया जाता। इसी प्रकार सोवियत संघ में स्थित विदेशी राजदूतों तथा राजदूतावास के कर्मचारियों को स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने, जनता से सम्पर्क बढ़ाने आदि की सुविधाएँ प्रदान नहीं की गई। विदेशी पत्र संवाददाताओं पर तो बड़ी निगरानी रखी जाती थी और उन्हें किसी रूप में रूसी मामलों में ज्ञान की स्वीकृति नहीं दी जाती थी। इस प्रकार लौह आवरण की सहायता से रूस का शेष संसार से सम्पर्क समाप्त हो गया।

अंतिम विशेषता शांति का प्रदर्शन तथा आन्दोलन था। सोवियत संघ ने समय समय पर संसार में शान्ति कायम रखने की दृष्टि से, अणु अस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने, नि:शस्त्रीकरण पर जोर देने आदि की दुहाई दी। १५ मार्च १९५० के दिन स्टाकहोम में "विश्व शान्ति समिति" के अधिवेशन पर इसी मांग को

**शान्ति का प्रदर्शन तथा आन्दोलन**

दोहराया गया और संसार की शान्तिप्रिय जनता के हस्ताक्षर करवाने का आन्दोलन चला। ऐसा अनुमान है कि लगभग ५० करोड़ लोगों ने शान्ति घोषणा पत्र पर अपने हस्ताक्षर किए। इस प्रकार के शान्ति सम्मेलन समय समय पर पेरिस, प्राग, लंदन, मास्को, सोवियत आदि स्थानों पर बुलाये गये और इनके द्वारा सभी देशों के लोगों से, जो शान्ति में रुचि रखते हों, सहयोग देने की अपील की गई। पश्चिम के विचारकों का मत है कि यह शान्ति आन्दोलन सोवियत संघ का एक ढोंग मात्र था और इस प्रकार के नारों से वह संसार के भोले भाले लोगों को साम्यवाद की ओर आकर्षित करना चाहता था। चाहे जो कुछ भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस नीति का अच्छा प्रभाव पड़ा और एशिया तथा अफ्रीका में साम्यवाद की लड़खड़ाती स्थिति को काफी बल मिला।

स्तालिन की विदेश नीति से सम्बन्धित दो समस्याओं को हमने छोड़ दिया है। क्योंकि इनकी विस्तृत व्याख्या यथास्थान पर की जायगी। परन्तु निरंतरता की दृष्टि से यहाँ पर उल्लेख करना आवश्यक है। प्रथम समस्या चीन की

**चीन और कोरिया**

है। चीन जैसे विशाल देश के अधिनायक जनरल च्यांगकाई शेक की सरकार को, जिसके पीछे अमरिका का आशीर्वाद तथा सहयोग था, साम्यवादियों द्वारा चीन की भूमि से खदेड़ दिया गया और चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना की गई। १० फरवरी १९५० को रूस ने चीन के साथ संधि की जिसका अत्यधिक महत्व है। दूसरी समस्या कोरिया की है। उत्तरी कोरिया (साम्यवादी) का दक्षिणी कोरिया (पश्चिम समर्थक) पर आक्रमण युद्धोपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक महत्वपूर्ण घटना है। कोरिया की भूमि को शीत युद्ध का रंगमंच बना कर तथा कोरियन लोगों को गृह युद्ध की बलिवेदी पर भेंट चढ़ाकर साम्यवादी शक्तियों और पूँजीवादी शक्तियों के बीच अपनी अपनी शक्ति का माप दण्ड करने के लिए अमानवीय संघर्ष सम्पन्न किया गया उससे सम्पूर्ण संसार परिचित है।

५ माच १९५३ को ससार के एक महान मानवी नेता स्तालिन का स्वर्गवास हो गया और इसके साथ ही सोवियत सघ की युद्धोपरान्त विदेश नीति का प्रथम काल भी समाप्त हो गया। स्तालिनवादी नीति के परिणाम स्वरूप पूर्वी यूरोप में साम्यवाद का प्रभुत्व स्थापित हो गया और इस क्षेत्र में साम्यवादी शासन व्यवस्था को पनपने का मौका भी मिला। परन्तु इस एक लाभ के अतिरिक्त अन्य कोई लाभ उसे प्राप्त न हो सका। स्तालिन की उग्र तथा सन्देहशील नीति के कारण न केवल पश्चिमी देश ही साम्यवाद के शत्रु बन गये परन्तु तटस्थ देशो में भी साम्यवादी लोक प्रियता को गहरा धक्का लगा। क्योंकि तटस्थ देशो के प्रति स्तालिन का रवया ठीक नही था। उसके लौह आवरण से तो ससार का सोवियत सघ के प्रति अत्यधिक अविश्वास उत्पन्न हो गया। कोरिया और हिन्द चीन के गृह युद्ध में सोवियत हस्तक्षेप से पश्चिम और पूर्व की खाई और अधिक विस्तृत हो गई। शीत युद्ध अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। सक्षेप मे, इस प्रकार की नीति से सोवियत सघ को विशेष लाभ नही हो सका।

**स्तालिनवादी नीति की समीक्षा**

५ माच १९५३ ई० से सोवियत विदेश नोति का दूसरा दौर शुरू होता है। इसे नवीन नीति या सशोधित नीति भी कहते है। इसके कर्णधार मालेकाव बुल्गानिन तथा ख्रुश्चेव थे। वैसे ख्रुश्चेव की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। १५ माच १९५३ को मालेकाव ने घोषणा की कि "सोवियत विदेशनीति का ध्येय व्यापार की वृद्धि तथा शाति का सुदृढ बनाना है। कोई विवाद ऐसा नही है, जिसका निर्णय शातिपूर्वक न किया जा सके। यह सिद्धान्त अमेरिका सहित विश्व के सभी राष्ट्रो के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" इस नई नीति का उद्देश्य वास्तव मे सहयोग की भावना थी और इसी दृष्टि से पश्चिम के प्रति उग्र दृष्टि कोण को थोडा उदार बना दिया गया। कोरिया युद्ध का अन्त हुआ, आस्ट्रिया के साथ सधि की गई, फिनलैंड से रूसी सेनाएं हटा ली गई, रूसी सेना में भारी कमी की गई, हिन्दचीन की समस्या का हल किया गया, जापान तथा पश्चिमी जर्मनी के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये, यूगोस्लाविया को फिर से मित्र बनाने के प्रयत्न किये गये तथा निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे पुन वार्तालाप की गई। रूस का लौह आवरण समाप्त कर दिया गया। विदेशी पत्रकारो, नेताओ तथा शिष्ट मडलो को रूस मे निमत्रित किया जाने लगा और स्वय रूसी लोग भी विदेशो की यात्रा करने लगे। कोमिनफार्म को भी समाप्त (१८ अप्रेल १९५६) कर दिया गया। इस प्रकार एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। परन्तु फिर भी कुछ घटनाएं ऐसी घटित हुई जिनसे पूर्व और पश्चिम का तनाव पुन बन गया। जैसे स्वेज समस्या, हगरी का हत्याकाड आदि। सक्षेप में, इस युग की विदेश नीति की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार थी।

**सोवियत विदेश नीति का दूसरा दौर**

स्तालिन द्वारा आरोपित लौह आवरण दूर कर दिया गया और विदेशियों को रूस

मे आने की स्वीकृति द दी गई। परिणामस्वरूप विविध देशा क नेताओ, शिष्ट मण्डलो, पत्रकारो, यात्रियो आदि ने रूस की यात्रा की। वहाँ क लोगों स बातचीत की और की रूस की प्रगति का अवलोकन किया। इसी प्रकार रूसिया ने विदेशो में जाकर वहाँ की प्रगति का अध्ययन किया। एक प्रकार मे पूव और पश्चिम क मध्य गमनागमन शुरू हो गया और आपसी सन्देहो का काफी सीमा तक अन्त भी हो गया।

**लौह आवरण का अन्त**

जून १९५५ में भारत के प्रधानमन्त्री ने रूस की यात्रा की, प्रत्युत्तर में नवम्बर १९५५ म रूसी नेताओ बुल्गानिन ख्रुश्चेव ने भारत यात्रा की। अप्रल १९५६ में इन दोनो नेताओ ने ब्रिटेन की यात्रा की। सोवियत उप प्रधान मिकियोन ने अमेरिका की यात्रा की। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैकमिलन तथा विरोधीपार्टी के नेता गेटस्केल भी रूस हो आये अभी हाल ही में अमेरिका के उपराष्ट्रपति निक्सन भी रूस यात्रा करके वापस लौटे है १५ सितम्बर १९५९ को सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की और निकट भविष्य में अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहोवर (आइक) भी रूस जाने वाले है। इस प्रकार यात्राओ के द्वारा, व्यक्तिगत सम्पर्क तथा वार्ताओ के द्वारा सोवियत सघ पुन पश्चिम के साथ ही नही अपितु ससार के सभी देशो के साथ अपने सम्बन्धो को मजबूत बनाने के प्रयत्न में लगा हुआ है। इसका एक परिणाम भी निकला। वह यह कि बहुत सी समस्याए हल हो गई। जैसे कि कोरिया, हिन्द चीन आदि।

दूसरी प्रमुख विशेषता साम्यवादी तथा गैर-साम्यवादी देशा को आर्थिक सहायता करना है। स्तालिन ने साम्यवादी देशा की तरफ अवश्य ध्यान दिया था परन्तु गैर साम्यवादी देशो को आर्थिक सहायता देना नई नीति का काम है। अफगानिस्तान, भारत, बर्मा, मिश्र आदि देशा को सोवियत संघ आर्थिक सहायता द रहा है। कुछ लोगा का कहना है कि यह नीति अमेरिकन सहायता का जवाब है। अमेरिका अपने अर्थबल के आधार पर अफ्रीका और एशिया में अपना प्रभाव बढ़ा रहा है। इस प्रभाव को रोकने के लिए तथा साम्यवादी रूस के प्रति सहानुभूति संचित करने एव साम्यवाद को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से सोवियत रूस ने इस नीति का अनुसरण किया। इसके अतिरिक्त सोवियत यांत्रिक तथा विशेषज्ञ विविध देशो को नाना प्रकार की सहायता पहुँचा रहे है। भारत का भिलाई इस्पात कारखाना रूसी सहायता से ही बन रहा है। इसी प्रकार बर्मा और इंडोनेशिया को भी सहायता प्रदान की गई है। मिश्र के आसवन बांध को तैयार करवाने में भी रूस हर प्रकार की सहायता दे रहा है। रूस की इस नीति की चर्चा करते हुए प्रसिद्ध विचारक वाल्टर लिप्पमैन ने कहा है कि रूस ने पहले अणु शस्त्रों के क्षेत्र मे अमेरिका के एकाधिकार का भग किया और अब वह पिछड़े देशों को आर्थिक सहायता देकर पश्चिम के आर्थिक एकाधिकार का मान मर्दन कर रहा है। रूस का इस नीति में पीछे क्या ध्येय हो सकता है, यह तो वह ही जानता है। परन्तु इस

**आर्थिक सहायता की नई रीति**

लोग केवल इतना कह सकते है कि सोवियत संघ सच्चे हृदय से अविकसित देशो की सेवा करने का प्रयत्न अवश्य कर रहा है क्योकि उसकी सहायता कार्यक्रम के साथ किसी प्रकार की राजनीतिक सौदबाजी की बू नही है। यदि ऐसा होता, जैसा कि लोगो का विश्वास है, तो हमारा भारत जो कि एक तटस्थ राष्ट्र है, कदापि रूसी सहायता स्वीकार नही करता। क्योकि हम अपने सिद्धान्तो की हत्या कदापि सहन नही कर सकते।

रूसोयत विदेश नीति की एक विशेषता दूसरे देशो के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्धो की स्थापना रही है। यदि सीधे शब्दों में इसका अर्थ है 'जीओ और जीने दो।" इस प्रकार की नीति को आज के युग में 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व" (Peaceful Coexistence) की नीति कहते है। स्तालिन की नीति इससे भिन्न थी। वह सोवियत संघ के मित्र राष्ट्रो के अतिरिक्त सभी देशो को रूस का शत्रु समझता था। परन्तु अब रूस सभी देशो के साथ चाहे वे तटस्थ हो या अमेरिका के साथी हो के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना में विश्वास करता है। यहाँ तक कि वह अमरिका के साथ भी शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व करने को तयार है। अभी हाल ही ख्रुश्चेव ने अपनी अमेरीकी यात्रा के दौरान मे कहा था कि पूंजीवादी अमेरिका और साम्यवादी रूस एक साथ रह सकते है और आपसी झगडो को शान्ति पूर्वक साधना से सुलझाया जा सकता है। फिर भी रूस अपनी पूर्व नीति की झलक कभी कभी दिखला ही देता है। जर्मन एकीकरण की समस्या अभी ऐसी ही है जैसे कि पहले थी। हाँ, रूस पश्चिमी जर्मनी को पश्चिम से पृथक करने के प्रयत्नो मे कभी पीछे नही हटता। इसी प्रकार फ्रांस को जर्मन आक्रमण के भय की याद दिला कर उसे पश्चिमी जर्मनी के विरुद्ध उकसाने से भी बाज नही आता। सम्भव है, रूस समय समय पर ऐसी चाल चलने से नहीं चूकता जिसके परिणामस्वरूप नाटो (NATO) शक्तियो में या साटो (SEATO) शक्तियों में मतभेद उत्पन्न होने की आशा हो।

**शांतिपूर्ण सह्अस्तित्व की नीति**

सोवियत रूस की विदेश नीति की एक विशेषता परतन्त्र देशो की स्वतन्त्रता का समर्थन रहा है। वह उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद का शत्रु अथवा घोर विरोधी है। इसका तात्पर्य है—रूस पश्चिम के राजनीतिक तथा आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रबल शत्रु है। उसकी मान्यता है कि आज के युग मे किसी देश को उसके लोकमत के विरुद्ध दासता की बेडियो मे जकडना न्यायसगत नही कहा जा सकता। पश्चिम का साम्राज्यवाद अफ्रीका तथा एशिया में आज भी विद्यमान है और रूस परतन्त्र देशो की स्वतन्त्रता का पक्षधर बनता जा रहा है। रूस की इस नीति के पीछे केवल मानववादी भावना ही नही है। बल्कि उसके अपने हित भी निहित है। यदि पश्चिम के आधीन देश स्वतन्त्र हो जाते है तो पश्चिम की शक्ति क्षीण होती जायगी। पश्चिम को इन देशो की मानवी ताकत, खनिज सम्पदा, कच्चा माल तथा व्यापार की मंडियो से हाथ धोना

**राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर्थक**

पड़ेगा। इसका परिणाम रूस के पक्ष में रहेगा। दूसरा हित यह है कि इन देशों की स्वतन्त्रता का समर्थन करने के कारण इन देशों में रूस की लोकप्रियता बढ़ती जायेगी और धीरे धीरे आर्थिक सहायता आदि के द्वारा उन्हें रूस की तरफ झुकाने में सफलता मिल सकेगी।

**रूसी विदेश नीति की समीक्षा**

रूस की नवीन नीति ने पश्चिम को अजीब परेशानी में डाल दिया है। वह यह सोचने को विवश हो गया है कि क्या साम्यवादियों की विश्व क्रांति की विचारधारा शिथिल हो गई है या इसी सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिये एक नई योजना का निर्माण किया गया है और यह नवीन नीति उसकी पृष्ठभूमि तो नहीं है? क्या स्तालिन की नीति को हमेशा के लिये त्याग दिया गया है या केवल कुछ समय के लिये ऐसा किया गया है ताकि पश्चिम उसके विश्वास रूपी कपट जाल का शिकार बन जाय। ये कुछ ऐसे पहलू हैं जिन्होंने पश्चिम को आश्चर्य में डाल दिया है। परन्तु राजनीति के विद्यार्थी के लिये इस प्रकार की नीति में अविश्वास करने की कोई बात नहीं है। फिलहाल इस नीति के कारण शीत-युद्ध की उग्रता कम हो गई है। इसी नीति के कारण कोरिया तथा हिन्दचीन के स्थानीय संघर्ष विश्व व्यापी युद्ध में परिवर्तित होते होते बच गये हैं। इसी के कारण संसार के सामने रूसी प्रगति का चित्र उपस्थित करना संभव हो सका है। इस नीति के द्वारा भारत आदि पिछड़े देशों का अधिक लाभ ही हुआ है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी का विश्वास है कि जिस प्रकार अनेक देशों को जीतने के बाद इस्लाम का जोश शिथिल हो गया और उस बाद में अन्य धर्मों के साथ सुलह करनी पड़ी उसी प्रकार साम्यवाद का जोश भी अब ठंडा पड़ गया है और यही कारण है कि वह अब अन्य देशों के साथ शांति पूर्ण सहअस्तित्व की बात करने लगा है। खैर टायनबी के इस कथन को हम स्वीकार नहीं कर सकते। रूस वास्तविक लगन के साथ संसार में शांति की स्थापना का ध्येय लेकर आगे बढ़ रहा है।

रूस अफ्रीका और एशिया के देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थक रहा है। रंग भेद के विरुद्ध भी उसने बार बार अपना विरोध प्रगट किया है। रूस पश्चिम के साथ मित्रता का हाथ बढ़ाने को हर समय तैयार रहा है। वह चाहता है कि बर्लिन की समस्या को शांति के साथ आपसी बातचीत द्वारा हल किया जाय। निःशस्त्रीकरण को कार्यान्वित किया जाय तथा अणु शक्ति का उपयोग शांतिकालीन उद्योग धंधों के विकास में किया जाय। इसी उद्देश्य को लेकर सोवियत संघ के वर्तमान प्रधान ख्रुश्चेव ने सितम्बर १९५९ में अमरिका की यात्रा की। शायद "आइक ख्रुश्चेव" सम्मेलन विश्व शांति को स्थायी बनाने में योगदान दे सके।

अब हम अमरिका की विदेश नीति का अध्ययन करते हैं। ट्रूमन ने लिखा है—

"अमरिका की वैदेशिक नीति की कुञ्जी, चाहे उसके विषय मे किसी भी प्रकार के तक सगत शब्दो को काम में लाया जाए, उतनी ही साधारण हैं जितनी कि प्रारम्भिक शताब्दियो में ब्रिटिश वैदेशिक नीति की कुञ्जी थी, "किसी भी एक शक्ति अथवा शक्तियो के गुट्ट का यूरोप तथा एशिया पर निर्विवाद नियन्त्रण प्राप्त न करने देना, क्योंकि उस अवस्था मे, अमरिका का मूलभूत हित अर्थात् एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में राजनीतिक जीवन के अस्तित्व के प्रति खतरा उत्पन्न हो जायगा, इस प्रकार की सभी चेष्टाओ को कूटनीति एव शस्त्रो से तथा यदि आवश्यकता हो तो एक पूर्ण युद्ध के सभी शस्त्रो से रोकना।"

अमेरिका की विदेश नीति

अमेरिका की विदेश नीति के बारे मे एक दिलचस्प बात यह है कि इस दूसरे लोगो को हमेशा यह समझना पडता है कि उसकी विदेश नीति शक्ति से सम्बन्धित नही है अपितु नीति शास्त्र के प्रश्नो से सम्बन्धित है। सैद्धांतिक दृष्टि से अमरिकन विदेश नीति का आधार गलत है। परन्तु उसने इसी आधार पर प्रचार किया। प्रथम महायुद्ध मे प्रवेश करते समय उसने कहा था—"अमेरिका कैसर के काल गुनाहो तथा 'सैनिकवाद' एवम् 'निरकुशता' तथा 'प्रशनवाद' को नष्ट करने के लिए धर्म युद्ध करना, विश्व को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित करना 'तथा युद्ध को समाप्त करने के लिए युद्ध को जीतना चाहता है।" ठीक इसी प्रकार इसने महायुद्ध मे प्रवेश करने पर उसने एकाधिसत्ताओ के पापो का समाप्त करने तथा प्रत्येक देश मे "चारस्वतन्त्रताएँ" दिलवाने के लिये युद्ध का जीतना आवश्यक बतलाया। १९४० मे साम्यवादी रूस तथा चीन के विरुद्ध भी नीतिशास्त्र की आड में विषवमन किया गया।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद अमरिका ने एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सन्यास ले लिया था। परन्तु दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त वह ऐसा करने की हिम्मत न कर सका क्योंकि उसे साम्यवादी प्रभुत्व के बढ जाने की आशका थी। अत वह मैदान मे डटा रहा और साम्यवादी विरोधी पश्चिमी राष्ट्रो का नेतृत्व करता रहा। अपने साथियो की अर्थ तथा अस्त्र शस्त्र से सहायता करता रहा। श्लीचर[1] ने लिखा है कि अमेरिकन विदेश नीति को १९४५ के बाद चार अवस्थाओ में से होकर गुजरना पड़ा है। ये इस प्रकार है—(१) सहयोग एवम् अनुकूल अवस्था (१९४५ से १९४६) (२) कठोरता तथा धैर्य अवस्था (अगस्त १९४६–मार्च १९४७) (३) आर्थिक सहयोग द्वारा साम्यवादी प्रसार की सीमन अवस्था (मार्च १९४७ अप्रैल १९४९) और (४) शक्ति का पुनरुत्थान एव सैनिक सगठनो तथा समझौता की अवस्था (अप्रैल १९४९)। इन चार अवस्थाओं के बाद एक और परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा है। वह है—आपसी वार्तालाप द्वारा शान्ति की सुरक्षा। इस परिवर्तन का सूत्रपात अगस्त १९५९ में हुआ और इसके परिणाम स्वरूप अमेरिका के उपराष्ट्रपति निक्सन ने सोवियत सघ की यात्रा

(१) Schleicher—Introduction to International Relations

को, सोवियत उप प्रधान मिकियोन ने अमेरिका की यात्रा की और सितम्बर १९५९ में सोवियत प्रधान ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की तथा 'आइक' के साथ व्यक्तिगत वार्ता भी की और शायद निकट भविष्य में ही 'आइक' सोवियत संघ की यात्रा को जाने वाले हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पर्क और वार्तालाप के द्वारा विवादों को सुलझाने की नई प्रवृत्ति का सूत्रपात हो चुका है और फिलहाल विश्वास तो यही किया जाता है कि इसका परिणाम लाभदायक निकलेगा।

**सहयोग की भावना**

द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका तथा रूस ने आपसी सहयोग से काम किया था और अमेरिकन लोगों का विश्वास था कि युद्ध कालीन सहयोग युद्धोपरान्त उत्पन्न अव्यवस्था और आर्थिक विनाश को दूर करने में भी बना रहेगा। इस विश्वास का एक कारण यह था कि युद्ध के उपरान्त भावी संसार के मानचित्र पर युद्ध कालीन सम्मेलनों में समझौता हो चुका था। अपने इसी विश्वास के आधार पर अमेरिका ने सहयोग की नीति का अनुसरण किया। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना, युद्ध के परिणाम स्वरूप बर्बाद प्रदेशों को फिर से आबाद करने का कार्य, अणु शक्ति का नियंत्रण करने का तरफ प्रयत्न, यूरोप से अमेरिकन सेनाओं की वापसी आदि कार्य अमेरिका की सहयोग एवं आनुकूल्य नीति के द्योतक हैं। इतना नहीं बल्कि उसने चीन में च्यांग और साम्यवादियों के बीच समझौता कराने का भी अथक प्रयत्न किया। इसी प्रकार पराजित राष्ट्रों के साथ यथा शीघ्र समझौते करने का प्रस्ताव रखा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में अमेरिका ने अपने साथी देशों के साथ सहयोग की भावना से काम किया और किसी भी क्षेत्र में सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करने अथवा धमकी के द्वारा अपना हित साधने का प्रयत्न नहीं किया। अमरिका की नीति राष्ट्रपति ट्रूमेन के २८ अक्टूबर १९४५ के द्वारा घोषणा से स्पष्ट हो जाती है जिसका सार यह था कि अमेरिका किसी देश पर आक्रमण करने का इच्छुक नहीं है, उसे किसी प्रकार के प्रादेशिक विस्तार की महत्वाकांक्षा नहीं है, किसी भी प्रकार के प्रादेशिक परिवर्तन उस प्रदेश के जनमत के विरुद्ध नहीं किये जायेंगे, प्रत्येक स्वाधीन देश को अपनी इच्छानुसार शासन व्यवस्था चलाने की स्वतन्त्रता होगी तथा पिछड़े और अविकसित देशों की आर्थिक उन्नति में अमरिका सदा सौम्य सहयोग देगा।

**कठोरता एवं धैर्य की नीति**

परन्तु सहयोग की यह नीति अधिक समय तक नहीं चल सकी क्योंकि शांति सन्धियों तथा अन्य समस्याओं को लेकर अमरिका और सोवियत संघ में तीव्र मतभेद पैदा हो गया। याल्टा सम्मेलन में स्तालिन ने पूर्वी यूरोपीय देशों में स्वतन्त्र सरकारों की स्थापना का वचन दिया था। परन्तु अब पूर्वी यूरोप में सोवियत की कठपुतली साम्यवादी सरकारें स्थापित की जा चुकी थीं और इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण पूर्वी यूरोप सोवियत संघ में रम चुका था। इससे अमेरिका चिन्तित हो उठा और

उसने सहयोग की नीति को छोड़कर कठोरता तथा धैर्य की नीति का अनुसरण किया। इसी नीति के आधार पर जर्मनी के सम्बन्ध में, कोरिया के एकीकरण यूनान के गृह युद्ध तथा टर्की में रूसी हितों की माग के प्रति अमेरिका का रुख कठोर हो गया और वह धैर्य के साथ रास्ते में आने वाली कठिनाइयों की प्रतीक्षा करता रहा। इस नीति का अनुसरण करने का एक कारण यह भी था कि अमेरिका का विश्वास था कि रूस उसकी उदारता का अनुचित लाभ उठा रहा है और वह तभी ठीक ढंग से बात करेगा जबकि उसके प्रति कठोर और दृढ़ कदम उठाये जायं। विदेश परिषद् की बैठकों में रूसी रवैये से यह बात पुष्ट हो गई कि रूस के साथ सहयोग की नीति कदापि सफल नहीं हो सकती।

इस तनातनी के उपरान्त ही अमेरिका का ध्यान साम्यवाद के प्रसार को रोकने की तरफ गया और उसने आर्थिक दृष्टि से त्रस्त एवं संकट ग्रस्त देशों की आर्थिक सहायता करने का संकल्प किया। क्योंकि इतिहास इस बात की चेतावनी दे रहा था कि साम्यवाद के विकास का कारण आर्थिक संकट ही है। यूनान, ईरान और टर्की में यही संकट मँडरा रहा था। यूनान में राजतन्त्रवादियों और साम्यवादियों में गृह-युद्ध छिड़ा हुआ था। और राज पक्षपातियों का मित्र ब्रिटेन आर्थिक कारणों से अपनी सेनाओं को और अधिक समय तक यूनान में रखने में असमर्थ था। उधर साम्यवादियों को युगोस्लाविया, बल्गेरिया आदि साम्यवादी देशों से सहायता मिल रही थी। अतः अमेरिका के लिए यूनान की आर्थिक सहायता करना अनिवार्य हो गया क्योंकि यूनान के हाथ से निकल जाने पर टर्की का बचाना सम्भव नहीं था। स्वयं टर्की के ऊपर रूस द्वारा आक्रमण की आशंका बनी हुई थी। ईरान भी अपने तेल क्षेत्रों के कारण रूस का निशाना बना हुआ था और उसकी भूमि पर रूसी तथा पश्चिमी सेनाएँ पड़ी हुई थीं। रूस इन तीनों देशों के लोगों को उकसा रहा था। ऐसी परिस्थितियों में ट्रूमैन ने इन देशों की आर्थिक सहायता करने का पक्का निश्चय कर लिया, उसकी इस नीति को 'ट्रूमैन सिद्धान्त" कहते हैं।

**आर्थिक नीति द्वारा साम्यवाद का सीमन**

"ट्रूमैन सिद्धान्त" का अमेरिका की विदेश नीति में एक महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इस सिद्धान्त के साथ ही साथ अमेरिका की परम्परागत नीति में एक महान परिवर्तन आ जाता है। जैसा कि ट्रूमैन ने कहा था "यह अमेरिका की विदेश नीति में नया मोड़ था। इसने यह घोषणा की कि जहां कहीं शान्ति भंग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमणात्मक कार्य होगा, वहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा संकट में होगी और वह इसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा।" यह सिद्धान्त अप्रत्यक्ष रूप में रूस को चुनौती थी और साथ ही चेतावनी भी कि सहयोग के दिन अब बीत चुके हैं। इसके कारण संसार दो परस्पर विरोधी गुटों में भी विभाजित हो जाता है। एक स्वतन्त्रता का रक्षक तथा दूसरा भक्षक सर्वाधिकारवाद। कुछ लेखकों का कथन है कि

यह सिद्धान्त मुनरो सिद्धान्त का विश्वव्यापी रूप था। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अब ब्रिटेन में अधिक उत्तरदायित्व उठाने की शक्ति नहीं रही है और मध्यपूर्व का नियन्त्रण उसने अमरिका को सौंप दिया है।

ट्रूमैन सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है कि इस सिद्धान्त का उद्देश्य आर्थिक सहायता की आड़ में इन देशों के कच्चे माल, सैनिक अड्डों तथा मार्गों पर अधिकार करना था। आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना था। क्योंकि जिस "प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता" के नाम पर यूनान टर्की आदि को सहायता दी गई थी, उस समय इन दोनों देशों में दोनों ही बातों का अभाव था। सहायता का उद्देश्य ही दूसरा था। वह था साम्यवाद के प्रसार को रोकना तथा अपना प्रभाव स्थापित करना। इस सिद्धान्त की दूसरे ढंग पर भी आलोचना की गई है। वह इस प्रकार कि अमेरिका ने इन देशों को सीधे सहायता देकर संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मान को कम कर दिया। इस प्रकार की सहायता यदि संयुक्त राष्ट्र के द्वारा या कम से कम उसकी जानकारी में दी जाती तो अधिक अच्छा होता। परन्तु अमरिका तो ईरान के तेल की रक्षा के लिये आतुर था क्योंकि यदि इस तेल पर रूस का एकाधिकार हो जाता तो पश्चिमी देशों को एक जबरदस्त धक्का सहन करना पड़ता। संक्षेप में, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ट्रूमैन सिद्धान्त अमेरिका का साम्यवाद के प्रति घृणा की अभिव्यक्ति था।

आर्थिक सहायता का कार्यक्रम यहीं पर नहीं रुक गया बल्कि और भी आगे बढ़ा। अब यूरोप की बारी थी। क्योंकि पूर्वी यूरोप का अधिकांश भाग साम्यवादी हो चुका था और बाकी का भाग तथा यूरोप के अन्य भाग आर्थिक संकट में उलझे हुये थे। उद्योग धंधे नष्ट हो चुके थे। बेकारी बढ़ती जा रही थी और बढ़ती जा रही थी साम्यवादी विचार धारा। इससे अमेरिका चिंतित हो उठा और अमेरिका के विदेश सचिव मार्शल ने "मार्शल योजना" के अन्तर्गत यूरोप के पुनर्निर्माण का भार वहन करना स्वीकार कर लिया। केवल आर्थिक सहायता के द्वारा, सो भी कर्ज के रूप में, दान के रूप में नहीं। परन्तु वह अपनी नीति को लुभावने शब्दों के साथ रखने में नहीं चूका। ५ जून १९४७ के दिन मार्शल ने एक भाषण में कहा 'हमारी नीति किसी देश या सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है, यह भूख, दरिद्रता, निराशा और अव्यवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य विश्व में एक ऐसी अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान है जिसमें स्वतन्त्र संस्थाओं का विकसित करनेवाला राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियां उत्पन्न हो सकें।' इस योजना के अन्तर्गत आगामी चार वर्षों में यूरोप के लगभग १६ देशों को १९ अरब डालर की सहायता देने का निर्णय किया गया। सोवियत संघ और उसके साथी राज्यों ने अमेरिका की आर्थिक सहायता को ठुकरा दिया। अमरिका द्वारा यह सहायता इस शर्त पर दी गई थी कि सहायता पाने वाले देश अपने अपने देश में साम्यवादी तत्त्वों को जड़ मूल से उखाड़ने का प्रयत्न करेंगे।

२० जनवरी १९४९ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने चार सूत्री योजना की घोषणा की। वह इस प्रकार थी—(१) संयुक्तराष्ट्र संघ का अविचलित समर्थन, (२) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के प्रोग्रामों को जारी रखना, (३) आक्रमण के खतरों के विरुद्ध स्वतन्त्रता प्रिय राज्यों की शक्ति बढाना, तथा (४) वैज्ञानिक विकासों एव व्यावसायिक लाभों को अल्प विकसित राज्यों के सुधार एव उन्नति के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से, एक साहसपूर्ण नवीन प्रोग्राम आरम्भ करना। प्रेसीडेंट ट्रूमैन ने इसकी प्रशंसा करते हुए कहा था—"चतु बिन्दु का विचार उचित रूप में कार्यान्वित किए जाने पर, स्वतन्त्र संसार की सफलतापूर्वक रक्षा के लिए आवश्यक है।'[1]

इस सम्बन्ध में हमारे सामने एक सवाल उठ खडा होता है, वह यह कि आखिर अमरिका को रूस के प्रति इतना अविश्वास क्यों होता जा रहा था ? इसका उत्तर भी इस युग की घटनाओं से मिल जाता है। चेकोस्लोवाकिया में रूस ने बलपूर्वक साम्यवादी शासन की स्थापना कर दी थी (फरवरी १९४८)। दूसरी घटना बर्लिन की घेराबन्दी (Blockade) है और तीसरी घटना अमेरिकन सहायता के उपरान्त चीन में च्याग की पराजय है। इससे अमेरिका अत्यधिक आतुर हो उठा था—साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिये।

अब तक अमेरिका को अपनी शक्ति की सर्वोच्चता का विश्वास था। विश्वास का कारण था विनाशकारी अणुशक्ति के रहस्य का एकाधिकार। परन्तु उसके इस एकाधिकार को भी सोवियत संघ ने शीघ्र ही समाप्त कर दिया। सितम्बर १९४९ तक अमेरिका को पूर्ण रूप से यह मालूम हो गया कि सोवियत संघ ने अणुशक्ति के रहस्य को प्राप्त कर लिया है और अब वह इसमे भी भयकर अस्त्र शस्त्रों के निर्माण की तैयारी मे लगा हुआ है। इस जानकारी ने अमेरिका को और भी अधिक भयभीत कर दिया और उसकी वैदेशिक नीति में एक नया मोड आया, एक नये अध्याय का समावेश किया गया।

**सैनिक समझौतों की शृंखला**

अब उसने पश्चिमी गोलार्द्ध के बाहर स्थित शक्तियों के साथ सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी समझौता की रचना करने तथा सम्मिलित होने का निर्णय कर लिया। वास्तव मे यह निर्णय महत्वपूर्ण था। क्योंकि इसके पूर्व अमेरिका ने शायद ही कभी सामूहिक सुरक्षा के गठबन्धनों में उलझने की चेष्टा की हो। इस नवीन नीति की प्रथम संतति नाटो की संधि थी। इसके बाद अपने यूरोपियन साथी देशों की सैनिक शक्ति बढाने तथा उनको आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित करने की दृष्टि से नवम्बर १९४९ में "पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता का कार्यक्रम" (Mutual Defence Assistance Programme MDAP) स्वीकार किया गया। सैनिक सहायता की दृष्टि से अमरिका ने प्रथम बार कोरिया संघर्ष में भाग लिया और जून १९५० में संयुक्त राष्ट्रसंघ पर कोरिया मे

---

१ ट्रूमैन—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।

सैनिक सहायता पहुँचाने पर जोर दिया और सयुक्त राष्ट्रसघ ने भी अपने इतिहास में प्रथम बार अपने सदस्यों को दक्षिणी कोरिया (पश्चिम समर्थक) की उत्तरी कोरिया (साम्यवादी) से रक्षा करने के लिये सैनिक सहायता करने का आदेश दिया। अक्टूबर १९५१ में अमरिका ने "पारस्परिक सहायता सुरक्षा कानून" (Mutual Security Appropriations Act) पास किया जिसके अन्तगत अमेरिका से सैनिक सधियों द्वारा सबन्धित देशों को ७ अरब ४३ करोड़ डालर देने की व्यवस्था की गई। इस विशाल राशि का अधिकाश भाग सैनिक सामग्री सहायता के रूप में दिया गया।

८ सितम्बर १९५१ को अमेरिका ने जापान के साथ अनिश्चित काल के लिये प्रतिरक्षा सधि सम्पन्न की। इस सधि के अन्तगत अमरिका ने जापान को सैनिक सहायता देने का वचन दिया यदि (१) जापान पर बाह्य आक्रमण किया गया, (२) विदेशी शक्ति द्वारा उकसाये जाने पर या हस्तक्षेप करने पर जापान में आतरिक उपद्रव उठ खड़ा हो। इस सहायता के बदले में जापान ने अपने सैनिक अड्डे अमरिकन प्रयोग के लिये देने तथा जापान में अमेरिकन सेनाएं रखने और सुदरपूर्व में शाति और सुरक्षा बनाये रखने का वचन दिया। इस सन्धि से पूर्व १ सितम्बर १९५१ को अमेरिका आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के साथ भी सुरक्षा सधि कर चुका था। इस सन्धि का ध्येय प्रशान्त महासागर में शाति तथा सुरक्षा बनाये रखना था। २६ मई १९५२ को अमेरिका पश्चिमी जर्मनी के साथ, शान्ति एव मित्रता की सन्धियो पर हस्ताक्षर करता है।

नवम्बर १९५२ मे जनरल आइजन होवर अमरिका के नये राष्ट्रपति निर्वाचित हुए परन्तु आइक' के आगमन से भूतकाल से अधिक तीव्र पृथक्त्व नहीं हुआ। 'आइक' पहले से विकसित वदेशिक नीति के स्थूल स्वरूप की रक्षा के लिए वचनबद्ध था। हाँ, मार्च १९५३ में स्तालिन की मृत्यु से रूस की स्थान नीति के परिणाम स्वरूप एक नये युग का सूत्रपात अवश्य हो जाता है। फिर भी, अमेरिका का विदेश सचिव स्व डलेस, पश्चिमी यूरोप को एक करने तथा उसे दृढ़ता से पुन सुसज्जित करने, ब्रिटिश एव महाद्वीपीय अर्थव्यवस्था की साख बढाने, रूस के विरुद्ध आक्रामक नीति अपनाने, लाल चीन को पराजित करके च्याग को चीन का शासन सौंपने का हिमायती था। शूमेन ने लिखा है—' परिणाम 'शीत युद्ध' जिसके साथ किसी विश्व-युद्ध अथवा पूर्ण (गर्म) युद्ध की सभावना नहीं, क्योंकि कोई भी शत्रु-पक्ष दूसरे को पराजित करने की गभीर आशा नहीं कर सकता था। इस प्रकार से, सयुक्त राज्य अमेरिका की वदेशिक नीति तथा विश्व राजनीति का स्थायी प्रयोजन बन गया।"[1] आइजनहावर के समय में दो महत्वपूर्ण सैनिक समझौते किये गये, एक सीटो (SEATO) और दूसरा बगदाद पक्ट। परन्तु इस युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है—'आइजनहावर सिद्धान्त' की घोषणा।

आइजनहावर सिद्धान्त (Eisenhower Doctrine) एक दूसरे और प्रमुख

---

(१) शूमेन—अन्तराष्ट्रीय राजनीति

अभियान की उपज था। १९५६ के पूव मध्य पूर्व में विशेष कर स्वेज क्षेत्र, फिलस्तीन तथा इराक में, ब्रिटेन का प्रभुत्व था। मध्य पूव अपने तेल के कारण ससार की राजनीति में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यहाँ के तल की कम्पनियो पर ब्रिटेन और अमेरिका का नियन्त्रण है। अन्य देशो का प्रभाव नगण्य है। स्वेज दुर्घटना के बाद इगलैण्ड को मध्यपूव से बे आबरू होकर निकलना पडा और मिस्र तथा ईरान आदि देशो में साम्य वाद की लोकप्रियता बढने लगी। वाशिंगटन को यह स देह हुआ कि कही सोवियत सघ का प्रभाव अधिक न बढ जाये और इस प्रकार तेल क क्षेत्र उसक हाथ स निकल जाय। इसलिए "आइजनहावर सिद्धान्त" की घोषणा की गई और अमेरिकन कांग्रेस ने मध्यपूव के देशो की सहायता के लिए २० अरब डालर की राशि स्वीकार कर दी। इसके साथ ही कांग्रेस न अमेरिकन राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के मामलो में आर्थिक तथा सैनिक सहायता देने का अधिकार भी दे दिया। आइजनहावर सिद्धात के अनुसार मध्यपूर्व के किसी भी देश को, जो अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा अखण्डता को बनाये रखने का इच्छुक है, बाह्य आक्रमण की अवस्था में या आक्रमण की आशका होने की स्थिति में, चाहे वह साम्यवादी रूस की तरफ से हो या उसके समर्थक देशो की तरफ स हो, अमेरिकन राष्ट्र पति को सनिक सहायता देने का तथा सेना भेजने का अधिकार होगा बशर्ते कि आक्रान्त देश इस प्रकार की सहायता के लिये अपील कर।

**आइजनहावर सिद्धात**

आइजनहावर सिद्धात की भिन्न भिन्न क्षेत्रो में कटु आलोचना की गई। १८ जनवरी को रूसी समाचार पत्र 'तास' ने उसकी घोर भर्त्सना की। भारत के प्रधानमन्त्री प नेहरू न इस सिद्धात को उपनिवेशवाद का दूसरा रूप बतलाया। सीरिया तथा मिश्र न इस साम्राज्यवादी षडयन्त्र तथा अरब राष्ट्रीयता को कुचलने का साजिश बतलाया। कुछ का विचार था कि इसक द्वारा इजराइल को अरब राज्यो के विरुद्ध अधिक शक्ति शाली करना था। पश्चिम क समर्थको ने अवश्य ही इसका स्वागत किया था। उनकी दृष्टि में यह सिद्धात "विश्व व्यापी साम्यवाद' को नियन्त्रण करने का एक महत्वपूर्ण साधन था। चाहे जो भी हो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि आर्थिक सहायता की आड में अमेरिका मध्यपूर्व में अपनी कठपुतली सरकारें स्थापित करने तथा साम्यवाद क प्रसार को रोकने म अत्यधिक उत्सुक था।

आइजनहावर सिद्धात के आधार पर १८ जुलाई १९५८ को मध्यपूर्व के लेबनान देश म अमेरिकन सना तथा नौ सना भेजी गई। लेबनान की समस्या पर आगे क अध्यायो में विचार किया जायेगा। १४ जुलाई १९५८ को इराक में सनिक क्रान्ति हो गई और ऐसा अनुमान लगाया गया कि इसका प्रभाव जोर्डन में भी पड सकता है। अमेरिका क आदेश पर १७ जुलाई को ब्रिटिश सेना जोर्डन पहुँच गई और अमेरिका न २० जुलाई को जोर्डन को ७५ लाख डालर की नई सहायता दने की घोषणा की। इस प्रकार आइजनहावर सिद्धात' मध्यपूव में साम्यवादी प्रसार को रोकने में तत्पर है।

अभी पिछले कुछ महीनों से अमेरिका की विदेश नीति में एक और नया मोड़ आ गया है। इसका एक कारण अतरिक्ष ज्ञान में रूस की महत्वपूर्ण प्रगति है। ४ अक्टूबर १६५७ को रूस ने अपना प्रथम कृत्रिम उपग्रह अतरिक्ष म छोडा। ३ नवम्बर ५७ को दूसरा और बाद मे तीसरा उपग्रह छोडा गया। ख्रुश्चेव का अमेरिका यात्रा के एक दिन पूर्व रूस का उपग्रह चन्द्रमा तक पहुँच गया और यात्रा की वापसी के बाद अर्थात् ३ अक्टूबर १६५६ को रूस ने एक और उपग्रह छोडा है जो चन्द्रमा का चक्कर लगा रहा है। विज्ञान के इस क्षेत्र म रूस अमेरिका से बहुत आगे निकल गया। इससे अमेरिका भयभीत हो उठा है और अब वह आपसी झगडा का आपसी वार्त्तालाप के द्वारा सुलझाने की नीति पर अग्रसर होने की सोच रहा है। अमेरिकन उपराष्ट्रपति निक्सन का रूस यात्रा और सोवियत उपप्रधान मत्री मिकियोन की अमेरिका यात्रा ने इस नीति को सबल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सोवियत प्रधानमत्री ख्रुश्चेव की अभी हाल की अमेरिका यात्रा को इस दिशा मे प्रथम कदम माना जाता है और आइक का निकट भविष्य में रूस यात्रा इस दिशा का दूसरा ठोस चरण होगी। आशा है कि इसस विश्व शाति की सुरक्षा बनी रहगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अमेरिका को विदेश नीति को अनेक अवस्थाओ म से गुजरना पडा। सवप्रथम तो उसे अपनी परम्परागत पृथक्ता की नीति का परित्याग करना पडा और ससार की समस्याओ को सुलझाने में साझीदार बनना पडा। शुरू मे उसने सहयोग तथा आनुकूल्य नीति का पालन किया परन्तु इस नीति स उसके साझीदार सतुष्ट नही हुये। अत उस कुछ उग्र नीति का परन्तु साथ ही भय का सहारा लेना पडा जिसके परिणामस्वरूप सोवियत सघ के साथ उसके मतभेद अधिक उग्र होते गये और शीत युद्ध का सूत्रपात हुआ। साम्यवाद के बढते हुए प्रभाव को रोकने के लिये उसने आर्थिक सहायता का कार्यक्रम बनाया और जब इससे भी उसे सतोष नही हुआ तो सैनिक सहायता का मार्ग स्वीकार किया। फिर भी शीत युद्ध में विशेष कमी नही आई। अत मे एक नवीन मार्ग की तरफ अग्रसर होने का विचार किया जा रहा है। वह है आपसी वार्त्तालाप द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगडा तथा समस्याओ को सुलझाना।

**अमेरिकन विदेश नीति का सिंहावलोकन**

## (२) प्रादेशिक सैनिक सधियाँ और सगठन

"यह हमारा दृढ विश्वास है कि सैनिक सधियों की ये पद्धतियाँ शांति के मार्ग मे बाधा बनकर आती हैं, भय और शका को बढाती हैं, सुरक्षा के नजदीक नहीं ले जाती जिस उद्देश्य के लिये इनकी रचना हुई है और वास्तव में शस्त्रीकरण की दौड़ को सहायतादेती है।"

—प० जवाहरलाल नेहरू।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त, यूरोप के परम्परागत "शक्ति सतुलन सिद्धान्त" (Balance of Power) का परित्याग कर दिया गया और उसके स्थान पर 'सामूहिक" (Collective) सुरक्षा के आधार पर, राष्ट्र सघ की स्थापना की गई। राष्ट्रसघ के २१ वें अनुच्छेद के अतगत शाति और सुरक्षा को बनाये रखने के अभिप्राय से प्रादेशिक सधिया और सगठनो को बनाने की एक सीमा तक छूट दी गई थी। राष्ट्रसघ की स्थापना के तुरत बाद ही ससार के राष्ट्रो ने आपसी समझौते करने और उन पर अधिक विश्वास करना शुरू कर दिया और ज्यो ज्यो द्वितीय महायुद्ध का भय नजदीक दिखलाई देने लगा त्यो त्यो उन्होने राष्ट्रसघ की सामूहिक सुरक्षा की तरफ ध्यान देना कम कर दिया और पूर्ण रूप से अपने सीमित दायित्वो वाले सनिक समझौतो पर निभर रहना शुरु कर दिया। इसका परिणाम सर्वविदित है। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद भावी पीढियो का युद्ध के विनाश से बचाने की दृष्टि से सयुक्तराष्ट्र सघ की स्थापना की गई। परन्तु इस बार भी सयुक्तराष्ट्र के निर्माताओ ने प्रादेशिक, बहुपक्षीय तथा सामूहिक सुरक्षा समझौता के प्रति उदार मत अपनाते हुए, उन्हे मान्यता प्रदान की, बशर्ते कि उनका उद्देश्य आत्म सुरक्षा की भावना हो और सयुक्तराष्ट्र सघ की धाराओ के विरुद्ध न हो। ऐसा इसलिय किया गया कि उन्हे यह विश्वास था कि सामूहिक सुरक्षा के दायित्व के स्थान पर प्रादेशिक या सीमित दायित्व को निभाना अधिक सरल था और इससे विश्वशान्ति की सुरक्षा अधिक स्थायी रह सकती था। यही कारण है कि युद्धापरान्त अन्तराष्ट्रीय राजनीति इस प्रकार के समझौता से अधिक प्रभावित होती जा रही है।

**पृष्ठभूमि**

सनिक समझौतो की उत्पत्ति का एक महत्पूर्ण कारण साम्यवाद का प्रसार है। दूसरा प्रमुख कारण पूजीवादी राष्ट्रो तथा साम्यवादी राष्ट्रो के मध्य विद्यमान तीव्र मतभेद है। साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिये सवप्रथम "मार्शल योजना" के रूप में अमरिका द्वारा दी जानेवाली आर्थिक सहायता का स्थान आता है। परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि केवल आर्थिक सहायता के माध्यम से साम्यवाद का प्रसार रोकना सभव नही है। क्योकि निर्बल राष्ट्रो को सोवियत सघ की प्रबल सनिक शक्ति का भय था और वे अपनी सुरक्षा के लिय अत्यधिक भयभीत थे। अत सनिक समझौतो का माग ग्रहण किया गया।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद, प्रादेशिक सगठनो की दिशा म सवप्रथम कदम अमरिकन राज्या ने उठाया था। अमरिकन महाद्वीप के विविध राज्या की एकता के सूत्र में पिरोने का विचार १८९० ई में वाशिगटन में होने वाले प्रथम "अन्तर अमरीकन सम्मलन" (International Conference of American States) म उठाया गया था परन्तु इस दिशा में अधिक प्रगति न हो सकी। दो-दो विश्व व्यापी महायुद्धों ने इस विचार को पुन जीवित किया। १९४५ मे अमरीकन

**अमरीकन राज्यों का सगठन**

राज्यों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन मेक्सिको नगर में हुआ। इस प्रकार के संगठन का प्रारम्भिक ध्येय तत्परता से साथ औद्योगिक जानकारी को एकत्र करना तथा सम्यों का सूचित करना था। परन्तु १९४७ में ब्राजील की राजधानी रीओडि जानेरो ( Rio de Janerio ) के समीप पट्रोपालिस स्थान पर एक और सम्मेलन हुआ तथा इस सम्मेलन में पारस्परिक सहायता की अन्तर अमरीकन सन्धि (Inter American Defence Treaty of Reciprocal Assistance ) का प्रारूप तैयार किया गया। इस प्रारूप पर, २ सितम्बर १९४७ को रीओ डि जानेरो में हस्ताक्षर किये गये और सबंधित राज्यों द्वारा अनुसमर्थित होने के उपरान्त ३ दिसम्बर १९४८ को इसे लागू किया गया। रीओ में हस्ताक्षर किये जाने के कारण इसे रीओ की सन्धि ( Rio Treaty ) भी कहा जाता है। १९४८ में कोलम्बिया के बोगोटा स्थान पर अमरीकन राज्यों का नया अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में वर्तमान कालीन "अमरीकन राज्यों का संगठन" ( Organization of American States—OAS) के विस्तृत स्वरूप को अंतिम रूप दिया गया और १३ दिसम्बर १९५१ से यह लागू किया गया।

इस संगठन के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार है—(१) महाद्वीप की शांति और सुरक्षा को मजबूत करना, (२) आपसी कठिनाइयों के कारणों को रोकना तथा सदस्य राज्यों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों की शांत व्यवस्था करना, (३) आक्रमण की अवस्था में सभी सदस्य राज्यों द्वारा एक सामूहिक कदम उठाना, (४) आपस में उत्पन्न होने वाली राजनीतिक, आर्थिक तथा न्याय सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करना, और (५) आपसी सहयोग के द्वारा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान की तरफ अग्रसर होना।

इस संगठन में निम्नलिखित देश सम्मिलित है—अर्जेन्टाइना, बोलीविया, ब्राजील, चीली, कोलम्बिया, कोस्टारिका, क्यूबा, डोमिनिकन रिपब्लिक, इक्वाडोर, अल साल्वाडोर, ग्वेटेमाला, हेटी, हाण्डूरस, मेक्सिको, निकारागुआ, पनामा, परागुवे, पेरू, संयुक्तराज्य अमेरिका, यूरुगुवे और वेनेजुला। इसका प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में है।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त किये गये प्रादेशिक सुरक्षा समझौतों, या सैनिक समझौतों में, ४ मार्च १९४७ को ब्रिटेन तथा फ्रांस के मध्य सम्पन्न द्विपक्षीय समझौता सर्वप्रथम समझौता था। इस समय भी फ्रांस को, जर्मन आक्रमण की पुनरावृत्ति से अपनी सुरक्षा का भय था। जनवरी १९४७ में फ्रांस के प्रधानमंत्री एम. लिओब्लूम ने अपनी लन्दन यात्रा के समय तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली से जर्मनी के उत्थान से उत्पन्न होने वाली समस्या पर बात चीत की और इसके परिणामस्वरूप ४ मार्च १९४७ को डन्कर्क स्थान पर दोनों देशों ने एक पारस्परिक सहायता की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि की अवधि ५० वर्ष रखी गई। इस सन्धि के द्वारा दोनों देशों ने—(१) जर्मनी द्वारा आक्र

**डन्कर्क की सन्धि**

मण होने की, (२) जर्मनी द्वारा आक्रमण को उत्साह देने की नीति ग्रहण करने तथा (३) संयुक्तराष्ट्र-संघ के आदेशानुसार जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की अवस्था में एक दूसरे को सब प्रकार की सैनिक सहायता देने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त दोनों देशों ने एक दूसरे की समृद्धि और आर्थिक सुरक्षा के हित में सक्रिय सहयोग देने का निश्चय किया।

फरवरी १६४८ में सोवियत संघ के हस्तक्षेप से चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादी सरकार की स्थापना हो गई। इससे पश्चिम के देश भयभीत हो उठे और उन्होंने पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा के लिए एक संगठन बनाने का निश्चय किया। १७ मार्च १६४८ को बेल्जियम के ब्रूसेल्ज नगर में इंगलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड तथा लक्जमबर्ग के प्रतिनिधियों ने पश्चिमी यूरोप की सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को मजबूत बनाने की दृष्टि से एक संधि पर हस्ताक्षर किये। इतिहास में यह संधि 'ब्रूसेल्स संधि संगठन" ( The Brussels Treaty Organization ) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्गत संधि में सम्बन्धित सदस्यों ने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और सामूहिक सुरक्षा की नीति का पालन करने का वचन दिया। सम्बन्धित सदस्य देश पर आक्रमण होने की स्थिति में अन्य सदस्यों ने संयुक्तराष्ट्र संघ के ५१ वें अनुच्छेद के अन्तर्गत, आक्रान्त देश को सब प्रकार की सैनिक सहायता देने का वचन दिया।

**ब्रूसेल्ज संधि संगठन**

१६५४ में संधि से सम्बन्धित सदस्यों का पेरिस में एक सम्मेलन हुआ और इस सम्मेलन ने इटली तथा पश्चिमी जर्मनी को इस संगठन में सम्मिलित करने का निश्चय कर लिया। संगठन का नया नामकरण भी हो गया और अब इसे "पश्चिमी यूरोपियन संघ' कहा जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त किये गये समझौतों में सब से अधिक महत्वपूर्ण समझौता—नाटो (NATO) अर्थात् "उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन' (The North Atlantic Treaty Organization ) है। इसकी स्थापना की कहानी बहुत लम्बी है। अतः यहाँ पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है सोवियत संघ की बढ़ती हुई शक्ति और साम्यवाद के प्रसार से पश्चिम भयभीत हो गया था क्योंकि संयुक्तराष्ट्र-संघ के माध्यम से इसे रोकना सम्भव नहीं था। इसलिये ब्रूसेल्ज संधि संगठन का निर्माण किया गया परन्तु इस संगठन को सुचारू रूप से चलाने के लिये आवश्यक कोष की कमी ने संगठन को अमेरिका से सहायता माँगने का विवश कर दिया। ११ जून १६४८ को अमेरिकन सीनेट में वैण्डनबर्ग ने इस प्रकार के संगठनों को आर्थिक सहायता देने के साथ-साथ अमेरिका को भी उसमें सम्मिलित होने का प्रस्ताव रखा। सीनेट ने इस प्रस्ताव को पास कर दिया। इस प्रकार इस संगठन की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। ४ अप्रैल १६४६ को वाशिंगटन में बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस

**उत्तर अटलांटिक संधि संगठन**

आइसलैंड, इटली, लक्जमबर्ग, हालैण्ड, पुर्तगाल, ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिका ने एक संधि पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके परिणामस्वरूप उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन का जन्म हुआ। २४ अगस्त १९४९ को, सम्बन्धित सदस्यों द्वारा इस संगठन का अनुसमर्थन कर देने पर, इस संगठन की विधिवत् स्थापना की गई। नाटो की लिस्बन कान्फ्रेंस के समय (फरवरी १९५२) तक यूनान तथा टर्की को इस संगठन में सम्मिलित कर लिया जाता है। ९ मई १९५५ को पश्चिमी जर्मनी को भी इसमें सम्मिलित कर लिया जाता है। इस प्रकार नाटो की सदस्य संख्या १५ हो गई। इस संगठन का मूलमंत्र सोवियत आक्रमण के विरुद्ध, पारस्परिक रक्षा की प्रतिज्ञा है। वस दिखावे के तौर पर संगठन विश्वशांति एवं सुरक्षा रूपी मोटे आवरण से ढकने का प्रयत्न अवश्य किया गया है।

उत्तर अटलांटिक संधि संगठन का चार्टर अधिक विस्तृत नहीं है। इसमें केवल चौदह धारायें हैं। चार्टर की प्रस्तावना तथा कुछ प्रमुख धाराएँ इस प्रकार हैं —

प्रस्तावना इस संधि से सम्बन्धित दल संयुक्तराष्ट्र संघ के चार्टर के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों में अपने विश्वास तथा सब लोगों एवं सभी सरकारों के साथ शांति पूर्वक रहने की इच्छा को दुहराते हैं।

वे लोग प्रजातन्त्र, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा कानून के सिद्धान्तों पर आधारित अपने लोगों की स्वतन्त्रता सामान्य दाय भाग एवं सभ्यता की सुरक्षा के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं।

वे उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में स्थायित्व एवं कल्याण की वृद्धि करना चाहते हैं।

उन्होंने सामूहिक रक्षा, तथा शांति एवं सुरक्षा को अक्षुण्ण रखने के लिए अपने चेष्टाओं को संगठित करने का दृढ़ इरादा कर लिया है।

अतएव, वे इस उत्तरी अटलांटिक संधि के विषय में सहमत होते हैं

अनुच्छेद १—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में निर्धारित नीति के अनुसार (इस संधि से सम्बन्धित) दल, किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े को, जिसमें वे फंस जायेंगे, शांतिपूर्ण उपायों से इस प्रकार तै करने का वचन देते हैं, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा तथा न्याय को किसी भी प्रकार से खतरा नहीं पहुंचे तथा अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी ऐसे तरीके से जो संयुक्तराष्ट्र-संघ के उद्देश्यों के विरुद्ध हो, शक्ति की धमकी अथवा उसके प्रयोग से दूर रहने का भी वचन देते हैं।

अनुच्छेद ३—इस संधि के उद्देश्यों को और भी अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से प्राप्त करने के लिए, दल, अलग अलग तथा मिलकर, निरन्तर एवं प्रभावपूर्ण आत्म निर्भरता तथा पारस्परिक सहायता से सशस्त्र आक्रमण का विरोध करने के लिए, व्यक्तिगत एवं सामूहिक योग्यता का विकास करेंगे।

अनुच्छेद ४—जब कभी, उनमें से किसी एक की भी राय में, किसी भी दल की प्रादेशिक एकता, राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा सुरक्षा के लिए खतरा

उत्पन्न हो गया हो, तो दल आपस में विचार विनिमय करेंगे।

अनुच्छेद ५—दल इस बात में एकमत है कि यूराप अथवा उत्तरी अमेरिका म उनमें से किसी एक अथवा अधिक के विरुद्ध आक्रमण सभी के विरुद्ध आक्रमण माना जाएगा, तथा इसीलिए वे यह राजीनामा करते हे कि यदि इस प्रकार का सशस्त्र आक्रमण होता है, तो उनमें से प्रत्येक, संयुक्तराष्ट्र सघ के चाटर के ५१ वें अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के अनुसार काय करता हुआ, शीघ्र ही, व्यक्तिगत रूप में तथा अन्य दलो के साथ, इस प्रकार म आक्रा त दल अथवा दलो की सहायता करने के लिए, ऐसी कारवाइ करेगा जैसा वह आवश्यक समझेगा जिसमें उत्तरी अटलाटिक क्षेत्र में सुरक्षा की पुनर्स्थापना के लिए सशस्त्र शक्ति का प्रयाग भी सम्मिलित ह।

इस प्रकार के किसी भी सशस्त्र आक्रमण तथा उसके परिणामस्वरूप जो कारवाई की जाएगी, उसकी सूचना फौरन ही 'सुरक्षा परिषद्' को दी जायगी।[1]

बाकी के अनुच्छेदो का अधिक महत्व नही है। अनुच्छेद १० मे अन्य राज्यो का सम्मिलित किये जाने की व्यवस्था है और अनुच्छेद १३ म इस सगठन की अवधि जाकि २० वष है, का उल्लेख किया गया है।

इस सधि-सगठन का सचालन एक परिषद् द्वारा हाता है। इस परिषद् म सबधित देशों के विदेश अथवा सुरक्षा मत्री हाते हे। यह परिषद् अपनी सहायक सस्थाओ का निर्माण करता है और सदस्य देशो से सधि की धाराओ को कार्यान्वित करवाती है। इसका प्रधान कार्यालय पेरिस मे है। वैसे साल में इस परिषद् की दो-तीन बैठकें होती हे परन्तु विशेष परिस्थितियो मे कभी और किसी स्थान पर परिषद् अपनी बठक कर सकती है। सगठन के कार्य का सुचारू रूप स चलाने के लिए एक महासचिव होता ह और उसका एक स्थायी कार्यालय भी है। सगठन की एक सैनिक समिति भी है। इस समिति के सदस्य सम्बधित देशा के सेनाध्यक्ष हैं। समिति का मुख्य कार्य परिषद् को सुझाव दना तथा सैनिक योजनाएं बनाना है। १६५० में परिषद् ने पश्चिमी यूरोप की रक्षा के लिये एक विशाल सेना का निर्माण किया। सेना के निमाण के सम्बन्ध में सबधित देशो ने अपनी अपनी सेनाओ का अधिकाश भाग इस विशाल सेना को अर्पित कर दिया है। अत यह एक सयुक्त सेना है। इस सेना को यूराप की मित्रशक्तियो के मुख्य कार्यालय (Supreme Headquarters Allied Powers, Europe SHAPE) के आधीन रखा गया है। इस विशाल सेना के प्रधान सेनापति १६५१ म आइजनहावर थे। इस सेना के अतिरिक्त सगठन के पास दो और कमान हैं—एक अन्लाटिक सागर कमान और दूसरी चैनल कमान। १६५३ में इस सेना की अमरीकन

---

[1] पूमन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

टुकडी को अणुअस्त्रो से सुसज्जित किया गया।

अक्टूबर १९५६ में स्वेज सकट के समय इस सधि सगठन के सदस्य देशो में तीव्र मतभेद उठ खड़ा हुआ क्योंकि बहुत से देशा की दृष्टि से इगलण्ड और फ्रास द्वारा मिस्र पर किया गया आक्रमण सगठन के सिद्धान्तो के प्रतिकूल था। परतु अमेरिका के दबाव से इस मतभेद का अन्त हो गया। १९५७ में हगरी के हत्याकाड से भी नाटो काफी प्रभावित हुआ क्योंकि इस सम्बन्ध में नाटो की चुप्पी ने उसकी निर्बलता को स्पष्ट कर दिया। तभी से नाटो की सेना को आधुनिक अस्त्र शस्त्रो से अधिक सुसज्जित किये जाने का प्रयत्न जारी है।

नाटो की स्थापना का पश्चिमी देशो में भारी स्वागत किया गया परतु साम्यवादी तथा कुछ तटस्थ देशो ने इसकी कटु आलोचना भी की है। नाटो के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न राजनीतिज्ञो के विचार निम्न लिखित है —

'अटलाटिक सन्धि स्वतन्त्रता और शाति को बनाये रखने की एक प्रत्याभूति (guarantee) रही है और बनी हुई है।"

—गी मालेट। फ्रास के प्रधानमत्री (४ अप्रैल १९५६)

'सामूहिक सुरक्षा के लिये, नाटो एक सगठन के रूप में अत्यधिक महत्व की वस्तु है विश्व समस्याओ के एक सामान्य राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण को सगठित करने के एक साधन के रूप में यह महत्वपूर्ण है।"

– लिस्टर पियर्सन कनाडा के विदेश सचिव (२४ अप्रैल १९५६)

"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे निष्कपट सहयोग के विश्वास और प्रयास की स्थापना के मार्ग में नाटो एक तोड फोड करने वाला रोडा प्रमाणित हुआ है।"

—तास (सोवियत पत्र) (१३ मई १९५६)

"निसन्देह हम में से कोई प्रसन्न नहीं है कि हगरी की घटनाओ के सम्मुख नाटो शक्तिहीन, प्रभावहीन और निर्वीर्य है।"

—गेटस्केल (ब्रिटिश मजदूर दल का नेता)

'सधि के दायित्व इतने अस्पष्ट है कि आक्रमण की स्थिति में प्रत्येक सदस्य को अपनी इच्छानुसार कदम उठाने की स्वतन्त्रता प्राप्त है।"

—चार्ल्स इलीचर (लन्दन)

सन् १९४९ में अमेरिका प्रशान्त महासागर क्षेत्र की सुरक्षा के लिये नाटो के समान किसी सगठन की स्थापना के पक्ष में नहीं था, क्योंकि उस समय उसकी दृष्टि में यूरोप तथा उत्तर अटलाटिक सधि का अधिक महत्व था और उसने अपना सम्पूर्ण ध्यान इस तरफ केन्द्रित कर रखा था। १८ मई १९४९ में तत्कालीन अमेरिकन विदेश सचिव एचेसन (Acheson) ने इस सम्बन्ध में कहा था कि जब तक एशिया के आतरिक झगडो का निपटारा नहीं हो पाता तब तक प्रशान्त समझौता अपना अस्तित्व

**अंजुअस की सधि (ANZUS)**

ग्रहण नहीं कर सकता। फिर भी, आस्ट्रेलिया ने इस प्रकार के समझौते पर अत्यधिक जोर दिया। १९५० में एशिया की घटनाओं ने नया मोड़ लिया और अमेरिका ने भी अपना विचार बदल लिया और अब उसे भी प्रशान्त क्षेत्र की सुरक्षा की आवश्यकता का भान हो गया। १८ अप्रैल १९५१ को राष्ट्रपति ट्रूमन ने आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के साथ एक त्रिदलीय रक्षा समझौता का सुझाव दिया। जून १९५१ में इस संधि के प्रारूप पर समझौता हो गया। जुलाई १९५१ को इसे प्रकाशित किया गया तथा १ सितम्बर १९५१ को सेन फ्रान्सिस्को में इस पर हस्ताक्षर कर दिये गये। अमेरिका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलण्ड की इस सन्धि को ANZUS कहते हैं। (A का तात्पर्य आस्ट्रेलिया से NZ का न्यूजीलैण्ड से और US का अमरिका से है।) यह समझौता अनिश्चित काल के लिये है। इसके अनुच्छेद २ में कहा गया है—"इस सन्धि के उद्देश्यों को अधिक प्रभावपूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिए, संधिकर्त्ता दल, निरन्तर आत्म निर्भरता एवं पारस्परिक सहायता के द्वारा, अलग अलग एवं मिलकर, सशस्त्र आक्रमण का विरोध करने के लिए, अपनी व्यक्तिगत एवं सामूहिक योग्यता का विकास करेंगे।" अनुच्छेद ३ में कहा गया है कि "जब कभी किसी दल की राय में, प्रशान्त में, उसके किसी भी दल का प्रादेशिक एकता, राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न हो जाएगा, तो वे आपस में मिलकर सलाह करेंगे।"

मध्यपूर्व (पश्चिमी एशिया) और दक्षिणी एशिया के राष्ट्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिये पश्चिमी राष्ट्रों ने अत्यधिक प्रयत्न किये, क्योंकि मध्यपूर्व तेल का अक्षय भंडार था और सोवियत संघ की सीमा के समीप भी पड़ता था।

**बगदाद पैक्ट** अतः सामरिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। पश्चिमी राष्ट्रों के प्रयत्नों के फलस्वरूप बगदाद पैक्ट का निर्माण हुआ। बगदाद पैक्ट की कहानी बहुत ही दिलचस्प है। ईराक और इंगलैण्ड १९३० की संधि से मित्रता के सूत्र में आबद्ध थे। इस समय ईराक का प्रधानमंत्री नूरी अस्सय्यद था। उसने इंगलैंड को सुझाव दिया कि १९३० की संधि के स्थान पर कोई नूतन संधि की जाय तो अधिक अच्छा रहेगा। इधर १९५४ में टर्की और पाकिस्तान में एक समझौता हुआ, अमरिका और ईराक के बीच और अमरिका तथा पाकिस्तान के बीच, इसी साल आपसी सुरक्षा तथा सहायता समझौता पर हस्ताक्षर किये गये। १९५५ में टर्की और ईराक के बीच बगदाद पैक्ट सम्पन्न हुआ। अमेरिका के दबाव से इंगलैण्ड, पाकिस्तान और ईरान भी अक्टूबर १९५५ तक इसमें सम्मिलित हो गये। इस प्रकार द्विपक्षीय समझौता बहुपक्षीय समझौते में बदल गया। इंगलैण्ड ने जोर्डन को भी इसमें सम्मिलित करने का अथक प्रयत्न किया परन्तु जोर्डन ने अस्वीकार कर दिया। अमेरिका प्रत्यक्ष रूप से इसका सदस्य नहीं है परन्तु वह बगदाद पैक्ट के दलों के निमंत्रण पर प्रत्येक बैठक में भाग लेता रहा है और बगदाद पैक्ट से सम्बन्धित पक्षों की आर्थिक तथा सैनिक सामग्री की दृष्टि से सहायता करता रहा है। रूस ने, ईरान द्वारा बगदाद पैक्ट में सम्मिलित होने

पर, उसकी कटु आलोचना की तथा तीन वार चेतावनी दे चुका है। यह एक आश्चर्य की बात है कि ईराक को छोड़कर अरब राज्यों ने इस समझौते में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। बगदाद पेक्ट में दूसरे देशों के लिये, यदि वे चाहें तो प्रवेश द्वार उन्मुक्त रखा गया है।

बगदाद पक्ट में सम्मिलित देशों की परिषद् की प्रथम बैठक २१-२२ नवम्बर १९५५ को बगदाद में हुई। अध्यक्षपद से भाषण देते हुये नूरी अस्सय्यद ने कहा कि इस संधि या संगठन का उद्देश्य संयुक्तराष्ट्र संघ के ५१ वें अनुच्छेद के अंतर्गत मध्यपूर्व के क्षेत्र में शांति और सुरक्षा को बनाये रखना है। सम्मेलन ने यथाशीघ्र संगठन की एक स्थायी परिषद तथा सैनिक समिति का गठन करने का निश्चय किया। इस बार रूस ने फिर ईरान को कड़ा विरोध पत्र भेजा और उसे बगदाद पेक्ट से पृथक होने का सुझाव दिया। परन्तु ईरान ने इसे ठुकरा दिया। संगठन की दूसरी बैठक १६ १९ अप्रल १९५६ को तेहरान में हुई। इस बैठक में अमेरिकन सेना के उच्चाधिकारियों तथा कूटनीतिज्ञों ने भी भाग लिया। अमेरिका ने घोषणा की कि वह बगदाद पक्ट से सम्बन्धित देशों की साम्यवादी आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये यथा संभव सैनिक तथा आर्थिक सहायता देगा, बगदाद में बनने वाले स्थायी सचिवालय का भार वहन करेगा।

रूस ने तीसरी बार ईरान को चेतावनी दी। क्योंकि अब यह स्पष्ट हो गया था कि बगदाद पक्ट का वास्तविक उद्देश्य मध्यपूर्व की शांति तथा सुरक्षा की स्थापना नहीं है वल्कि इस उद्देश्य की ओट में अमेरिका मध्यपूर्व के सैनिक तथा सामरिक महत्व के अड्डों को हथियाना चाहता है ताकि भावी युद्ध की दशा में सावियत संघ के विरूद्ध उनका उपयोग किया जा सके। रूस ने बगदाद पक्ट की आलोचना करते हुए ईरान को भेजे गये अपने विरोध पत्रों में लिखा था-कि बगदाद पेक्ट का मतलब निकट और मध्यपूर्व में एक सैनिक समूह का निर्माण है जो उन विशिष्ट आक्रमणकारी वर्गों, जो अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शांति को दृढ करने में रुचि नहीं रखते का एक आक्रमणकारी यंत्र है। इस प्रकार की पक्ति की रचना का तात्पर्य इस क्षेत्र के देशों को गुलाम बनाना तथा उपनिवेशवाद के अवशेषों को कायम रखना है। सऊदी अरबिया के सम्राट् इब्न सऊद ने कहा था "बगदाद पक्ट अरब संसार की एकता को खतरा है।" इसी प्रकार मिश्र के प्रधान कर्नल नासिर का विश्वास है कि बगदाद पक्ट ने स्वतन्त्र ईराक को इंगलण्ड का गुलाम बना दिया है और इसका ध्येय अरबों की एकता तथा राष्ट्रीयता का कुचलना है। परन्तु पश्चिम के समर्थकों ने बगदाद संगठन का उत्साहपूर्वक स्वागत किया है।

१४ जुलाई १९५८ को ईराक-बगदाद पक्ट का प्रबल समर्थक क्रांति का रंगमंच बन गया। ईराकी सेना ने जनरल अब्दुल करीम कासिम के नेतृत्व में पश्चिम समर्थक सरकार का तख्ता पलट दिया और पश्चिम के प्रबल पक्षधर ईराकी प्रधानमंत्री नूरी अस्सय्यद का इराकी सम्राट् सहित मौत के घाट उतार दिया। बगदाद को साम्राज्यवादियों के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया गया। इससे बगदाद संगठन मृत प्राय हो गया है।

फिर भी, अभी जीवित है हालांकि नाम का सार्थक करने वाला नगर इसमें अब सम्मिलित नही है और इसका प्रमुख केन्द्र अब अकारा है। अब इसका नाम 'केन्द्रीय संधि संगठन" (Central Treaty Organization—CENTO) रखा गया है और अमरिका से इसमें सम्मिलित होने की प्रार्थना की गई है।

अन्जुस संधि की चर्चा करते हुये, हम इस बात की चर्चा भी कर चुके है कि शुरू में अमरिका एशिया की सुरक्षा के बारे में अधिक चिंतित नही था और आस्ट्रेलिया की अपील पर ही उसने उपयुक्त संधि की थी। परन्तु एशिया में साम्यवाद का प्रसार इतनी द्रुत गति से होने लगा कि अमरिका भयभीत हो गया। हिंद चीन में साम्यवादियो की सफलता ने फिलिपाइन्स, आस्ट्रेलिया थाईलैण्ड तथा न्यूजीलैंड को अत्यधिक भयभीत कर दिया। साम्यवादी प्रसार को रोकने तथा दक्षिण पूर्वी एशिया की सुरक्षा की दृष्टि से ६ सितम्बर १९५४ को फिलिपाइन्स द्वीप समूह के बागयो नामक स्थान पर अमरिका आस्ट्रेलिया, फ्रांस, ब्रिटेन, न्यूजीलैण्ड थाइलण्ड फिलिपाइन्स, तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्य देशो भारत पाकिस्तान बर्मा, लंका आदि देशो के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन बुलाया गया। भारत, बर्मा तथा लंका ने सम्मेलन में भाग लेने से अस्वीकार कर दिया। पाकिस्तान ने सम्मेलन में भाग लिया। सम्मेलन में इस संधि के प्रारूप को स्वीकार कर लिया गया। ८ सितम्बर १९५४ को मनीला में उपरोक्त आठ राज्यों ने इस संधि संगठन पर हस्ताक्षर कर दिये। इसका पूरा नाम "दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन' (South East Asian Treaty Organization—SEATO Or SEADO) है। इसे मनीला संधि भी कहते है।

**दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन**

सीटो का ध्येय भी नाटो की तरह है। अंतर केवल क्षेत्र का है। इसका क्षेत्र दक्षिण पूर्वी एशिया है। संधि के अनुसार सशस्त्र आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये सदस्य दल व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से सैनिक सामर्थ्य का विकास ही नही करेंगे अपितु किसी एक पर होने वाले आक्रमण को सभी पर आक्रमण मानते हुये सामूहिक कदम उठायेंगे। सीटो संधि के साथ अमेरिका का एक पृथक व्याख्यापत्र भी है जिसमे 'आक्रमण' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'आक्रमण का अभिप्राय साम्यवादी आक्रमण है। अर्थात् अमेरिका ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि साम्यवादी आक्रमण हुआ तो वह सहायता करने आयेगा। अन्य प्रकार के आक्रमणो से उसका कोई सरोकार नही रहेगा। एक आश्चर्य की बात यह है कि दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन में इस क्षेत्र के केवल तीन देश सम्मिलित है। बाकी पांच देशो का इस क्षेत्र से कोई लेन देन नही है अर्थात् वे इस क्षेत्र के नही है।

पं० जवाहर लाल नेहरू ने इस संधि संगठन की आलोचना करते हुये कहा था "यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की भावना के विरुद्ध है, इससे विश्व मे शांति के स्थान पर तनाव

और असुरक्षा बढ़ेगी। यह एक प्रकार का मुनरो सिद्धान्त है। जिसे दक्षिण पूर्वी एशिया पर बल पूर्वक थोप दिया गया है।' बात सही है। इस सैनिक संगठन का निर्माण इसलिए नहीं किया गया था कि दक्षिण पूर्वी एशिया पर वस्तुतः किसी का आतंक था, बल्कि इसके बनाने का उद्देश्य यह था कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ एशियाई देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहती थी तथा किसी प्रकार अपना काम निकालना चाहती थी। इसलिए भारत, इंडोनेशिया, बर्मा और श्री लंका ने इसमें सम्मिलित होने से स्पष्ट इन्कार कर दिया क्योंकि यह गुट उनकी राष्ट्रीय प्रगति और विकास के मार्ग में बाधाएँ पैदा करने वाला था। एशिया की स्वतन्त्रता प्रेमी जनता ने सीटो संगठन में शामिल होने से इन्कार किया है और कर रही है। आज एशियाई जनता की यही माँग है कि साम्राज्यवाद और शीत युद्ध के इस हथियार 'सीटो' को इतिहास के कूड़े में फेंक दिया जाए।

२७ मई १९५२ को काफी वाद विवाद के उपरान्त यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय (The European Defence Community—E D C) की संधि पर हस्ताक्षर किये गये। इस समुदाय की स्थापना का सर्व प्रथम

**यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय**

विचार चर्चिल के मस्तिष्क में उठा था और १९५० में उन्होंने विमर्श सभा (Consultative Assembly) के सामने अपने विचार रखे। इस समय फ्रांस भी जर्मनी को पुनः शक्तिशाली बनाने की अमेरिकन नीति से असन्तुष्ट था। क्योंकि सशस्त्र जर्मनी से उसे अपनी सुरक्षा का भय था। अतः फ्रांस ने प्रतिरक्षा समुदाय का स्वागत किया। क्योंकि इसके अनुसार जर्मन सेनाएँ समुदाय के नियन्त्रण में आती थी। इसी दृष्टि से उसने समुदाय की स्थापना का पक्ष लिया और संधि के प्रारूप पर हस्ताक्षर भी कर दिये। परन्तु फ्रेंच जनमत इस संधि के विरुद्ध था और जब संधि के अनुसमर्थन का समय आया तो जबरदस्त विरोध प्रकट किया गया। नतीजा यह निकला कि फ्रेंच लोकसभा ने संधि का अनुसमर्थन करने से इन्कार कर दिया और इसके साथ ही समुदाय को स्थापित करने की आशाएँ भी समाप्त हो गई। यह प्रथम अवसर था जब कि तत्कालीन युग में हस्ताक्षर किया हुआ समझौता अनुसमर्थन पाने में असफल रहा।

जब १९५४ में पश्चिमी जर्मनी को 'नाटो' में सम्मिलित कर लिया गया तो पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों ने इसे अपनी सुरक्षा के लिये एक प्रत्यक्ष भय माना। यद्यपि रूस ने शुरू में नाटो के निर्माण का विरोध किया था परन्तु

**वारसा संधि**

पश्चिमी देशों ने उसके विरोध को ठुकरा दिया। नाटो के उपरान्त सीटो की स्थापना की गई और इस प्रकार सोवियत संघ और उसके साथियों को चारों तरफ से एक घेरे में डालने का प्रयत्न किया गया। ऐसी परिस्थिति में साम्यवादी देशों को भी अपना एक शक्तिशाली संगठन बनाने की तरफ कदम उठाना पड़ा। १४ मई १९५५ को वारसा नगर में सोवियत संघ और आठ अन्य साम्य

वादी देशा अल्बानियाँ, बल्गेरिया, हगरी, रूमानियाँ, पूर्वी जमनी, पालण्ड और चेकोस्लो वाकिया, ने अपने आपको एक सगठन में सगठित कर लिया । यही सगठन वारसा सधि या पूर्वी यूरापियन सधि सगठन के नाम से विख्यात है । वारसा की यह सधि २० वप के लिये का गई ।

वारसा सधि की प्रस्तावना मे यह स्पष्ट कर दिया गया ह कि इस सधि का ध्येय यूरोप में सामूहिक सुरक्षा पद्धति को स्थापित करने की दिशा में तथा यूरोप की शान्ति और सुरक्षा को दृढ करने के लिये यह कदम उठाया गया है और इस कदम का उठाने का कारण पश्चिमी यूरोप के सघ तथा पश्चिमी जमनी को पुन सैनिक शक्ति के रूप में खडा करने की नीति, बतलाया गया है । सधि में सम्बधित देशा के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सास्कृतिक क्षेत्र में घनिष्ठ सहयोग का उल्लेख किया गया है। प्रथम अनुच्छेद मे आपसी अन्तर्राष्ट्रीय विवादा का निपटारा शाति पूर्ण उपायो से करने की घोषणा की गई है। साथ ही शक्ति का प्रयोग न करने का वचन दिया गया। इस सधि के अन्तगत सम्बधित देशो की एक 'राजनीतिक परामर्श दात्री समिति" (Political Consultative Committee) की स्थापना का निणय किया गया। इस समिति का अपनी सहायक सस्थाओ का निर्माण करने का अधिकार दिया गया। समिति की बैठक वप मे दो बार करना तय किया गया। समिति की सहायता के लिये एक महासचिव तथा एक स्थायी कार्यालय की स्थापना की व्यवस्था की गई। प्रधान कार्यालय मास्को म रखने का निणय किया गया। १९५६ में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का अध्ययन करने तथा इस सम्बध में सुझाव देने के लिये एक स्थायी आयोग का स्थापना की गई। नाटो की भाति इस सगठन ने भी सम्बधित देशों की सेनाओं को अपने अधिकार में लेकर एक सर्वोच कमान का निर्माण किया। इस सयुक्त सर्वोच्च कमान का प्रधान सेनापति महासचिव और रूसी जनरल स्टाफ की सहायता से सर्वोच्च कमान की सैनिक टुकडियाँ सम्बधित देशो में, उनकी सुरक्षा की दृष्टि से, नियुक्त करेगा। इस सर्वोच कमान की चार सहायक कमानें क्रमश उत्तरी, मध्य तथा दक्षिणी यूरोप में तथा सुदूर पूर्व में स्थित हैं।

इस प्रकार १५ देशो के नाटो सगठन को आठ देशों के वारसा सगठन ने जवाब देने का प्रयत्न किया ह। अर्थात् ५० करोड की आबादी वाले नाटो की चुनौती का २६ करोड आबादी वाले वारसा सगठन ने सामना करने का निश्चय किया ह। इस सम्बध में एक बात दिलचस्प है—साम्यवादी चीन इसमें सम्मिलित नही हुआ ह परन्तु उसने वारसा सगठन का उत्साह के स्वागत किया है। यूगोस्लाविया इससे दूर रहा ह।

वारसा सगठन भी अपने सिद्धान्तो की कसौटी पर खरा उतरने में असफल रहा है। हगरी के हत्याकाण्ड ने यह प्रमाणित कर दिया है कि शान्तिपूर्ण उपायो को केवल सैद्धान्तिक रूप में ही स्वीकार किया गया है, व्यावहारिक रूप में उन पर अमल करने

का प्रयत्न नही किया गया है । फिर भी, अभी बहुत समय पडा है और हो सकता कि वारसा सगठन अपने नाम को अपने आदर्शों के अनुकूल प्रमाणित करने में सफ हो जाय ।

उपरोक्त प्रमुख सगठनो के अतिरिक्त एक लघु सगठन और है । वह है बाल्क पक्ट । ६ अगस्त १९५४ को यूनान, टर्की और यूगोस्लाविया के बीच बनाया गया था।

**त्रिविध समझौते**

द्विपक्षीय समझौता की सख्या तो बहुत अधिक है । इ प्रमुख निम्न हैं—१४ फरवरी १९५० के दिन सम्पादित सो रूस और साम्यवादी चीन पारस्परिक सुरक्षा और सह सधि । अमेरिका और फारमोसा (राष्ट्रवादी चीन) की पारस्परिक सुरक्षा और सह सधि । इसी प्रकार अमेरिका और पाकिस्तान की सधि, अमेरिका और फिलिप की सधि । साम्यवादी देश भी द्विपक्षीय सधियो के जाल में उलझे हुये हैं । एकमात्र हो इस प्रकार की सैनिक सधियो के माया जाल से अछूता बचा हुआ है । बर्मा, श्या मिश्र, नेपाल आदि देश भी भारत का अनुसरण कर रहे हैं ।

उपरोक्त सनिक सधियो और सगठनो का तटस्थ देशो विशेष कर भारत घोर विरोध किया है । हालाकि सधियो से सम्बन्धि देशो ने नाना प्रकार की दलीलें

**सैनिक संधियो का विरोध**

है और अपने कदम को सही प्रमाणित करने का भी प्र किया है । परन्तु फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही प कि इन सधियो से विश्व शान्ति और सुरक्षा दृढ नही हो हैं अपितु ससार दो प्रमुख परस्पर विरोधी खेमो में विभाजित गया है और प्रत्येक प र को अपनी आत्म रक्षा की चिन्ता लगी हुई है । इनसे नि श करण की समस्या जो कि विश्व शान्ति और विश्वास की बुनियाद हैं, का समा नही हो सका है अपितु विनाशकारी शस्त्रो की दौड शुरू हो गई है । शीत युद्ध समाप्त करना तो दूर रहा उल्टे उसे गम युद्ध में परिवर्तित करने वाले कदम उठाये हे । स्वेज का सकट, हगरी का हत्या काण्ड, गोटेमाला का गडबड घटोला, हिन्दी की हिंसाधारा बर्लिन का विधवा रूप, और कोरिया म की गई क्रूरता क्या सिद्ध करते शांति या अशांति ! विश्वास या अविश्वास का विकास !! विश्व समृद्धि या विश्व विना

आखिर क्या होगा ? प्रत्येक सैनिक समझौत या सधि सगठन में तीन मह तथ्य सम्मिलित हैं–(१) संयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के अन्तर्गत विश्व शांति महाशे शांति या क्षेत्रिक शांति तथा सुरक्षा को बनाये रखने की घोषणा, (२) आपसी वि का शांतिपूर्ण उपायो से निपटारा तथा आपसी सास्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक विकास में सहयोग की घोषणा, और (३) सशस्त्र आक्रमण या आक्रमण नीति का प्रबल प्रतिरोध करना । इनसे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि पूँजीवादी द का साम्यवाद से भय बना हुआ है और सोवियत सघ तथा उसके साथियों को पूँज साम्राज्यवाद के षडयन्त्रो का भय बना हुआ है। यही कारण है दोनो पक्षों ने

अपने प्रभाव क्षेत्रो के साथ सैनिक सधियाँ करके एक दूसरे को यह चेतावनी देने का प्रयत्न किया है कि यदि तुमने हमारे प्रभाव क्षेत्र या उस क्षेत्र के किसी देश पर प्रभुत्व जमाने का या हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया तो डटकर मुकाबला किया जायेगा। हालाकि दोनो पक्ष यह जानते है कि तीसरे महायुद्ध का अर्थ ससार की सभ्यता का विनाश है फिर भी, इस प्रकार की सधियो के अन्तर्गत, राष्ट्र सघ की धाराओ के प्रतिकूल द्रुतगति से अस्त्र शस्त्रो का निर्माण जारी है। इससे एक बात स्पष्ट है कि इस बार का महायुद्ध अल्पकाल मे ही समाप्त हो जायेगा परन्तु सभ्यता का विनाश करने के उपरान्त।

अब हम सैनिक सधियो के बारे में कुछ प्रमुख व्यक्तियो के विचारो का उल्लेख करेंगे। प० नेहरू का दृष्टिकोण विषय के प्रारम्भ में ही दिया जा चुका है। मार्शल टीटो ने कहा है कि "यदि लोग अपने आप कुछ सैनिक समझौते या कुछ सगठनो का नही बनाना चाहते तो इनसे किसी प्रकार का लाभ नही हो सकता। यदि कोई इस या उस जनता की सहानुभूति प्राप्त करना चाहता है तो उसे इनकी मदद करनी चाहिए शस्त्रो के द्वारा शाति दृढ नही होती परन्तु विश्व तनाव का विकास होता है।" सीरिया के राष्ट्रपति ने १८ जनवरी १९५७ को एक भाषण में कहा था कि 'विदेशी साम्राज्य वादी सधियाँ विश्व की शाति और सुरक्षा की एक सेवा नही है क्योकि इस प्रकार की सधियाँ इन वस्तुओ के मूल आदर्शों के प्रतिकूल जाती है। स्थायी सुरक्षा का स्थापना करने की अपेक्षा ये सधियाँ इस मूल स्थायी सुरक्षा का ही विनाश कर रही है।' परन्तु पश्चिम के लोगो की विचार धारा दूसरी है। पर्शिया के सम्राट ने कहा है—'प्रादेशिक सगठनों के प्रति निष्ठा जो कि स० रा० सघ चार्टर के अन्तर्गत स्वीकार की गई है, युद्ध के भय को कम करती है।" जनरल आइजनहावर का कथन है कि 'सैनिक सधियाँ प्रत्येक देश की स्वतन्त्रता की सुरक्षा शक्ति को और अधिक मजबूत बनाने का काम करेंगी।'

## (३) शीत युद्ध (Cold War)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद ससार की दो प्रमुख शक्तियाँ सोवियत सघ और अमेरिका, मे आपसी मतभेद उत्पन्न हो गये और बाद में उग्र मतभेद की नौबत आ पहुँची। दोनों पक्षो ने एक दूसरे पर आरोप लगाने तथा युद्ध कालीन सम्मेलनो में तय किये निर्णयो के प्रतिकूल कदम उठाने की शिकायत करने लगे। "शीत युद्ध" पूर्व और पश्चिम के मतभेदो की उपज है, उनके आपसी मन मुटाव की अभिव्यक्ति है।

आखिर शीत युद्ध का अभिप्राय और स्वरूप क्या है ? क्या यह केवल शक्ति के लिये, विश्व प्रभुत्व के लिये, एक सघर्ष है ? या जीवन की दो बेमेल तरीको का प्रजातन्त्र तथा साम्यवाद की अभिव्यक्ति है ? टायनबी द्वारा वर्णित दो ध्रुव वाली (bi Polar) विश्व राजनीति की व्याख्यानुसार आज के

**शीत युद्ध क्या है ?**

ससार में दो, और केवल दो शक्तियाँ हैं। बाकी के सभी राज्य कम या अधिक अशो में उन दोनो पर आश्रित हैं। अधिकाश राज्य अमेरिका पर और कुछ राज्य रूस पर आश्रित हैं। अर्थात् आज की अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति इन्हीं दोनों शक्तियों द्वारा समायोजित है। इन दोनों की प्रभावकारी विद्या और कपट नीति के परिणाम स्वरूप राज्यों की स्वतन्त्र नीति का लगभग अन्त हो गया है और राज्यों को विविध प्रकार के संधि संगठनों में सम्मिलित करने तथा रखने का प्रयत्न किया जा रहा है। क्योंकि सोवियत संघ और अमेरिका के उद्देश्य विश्व व्यापी है और उनकी विश्व व्यापी कपट नीति तटस्थता के क्षेत्र को संकुचित करती जा रही है। आधुनिक युद्ध का औद्योगिकीय चरित्र, इस पर लगे परम्परागत प्रतिबन्धों की समाप्ति तथा पश्चात्तापशून्य (Romorselessness) प्रवृत्ति, सभी राज्यों को कोई न कोई पक्ष ग्रहण करने के लिये विवश कर रही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शीत युद्ध का स्वरूप विश्वव्यापी है और इसका अभिप्राय विश्व प्रभुत्व की प्राप्ति है। इसका उद्भव द्वितीय महायुद्ध के बाद के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मतभेदों के कारण नहीं हुआ है अपितु साम्यवादी सिद्धान्तों की सफलता के साथ हुआ है। पूंजीवाद और साम्यवाद के कारण हुआ है। यही कारण था कि १९१८-१९ में पूंजीवादी देशों ने रूस में स्थापित साम्यवादी सरकार का तख्ता पलटने के लिये एडी चोटी का पसीना बहाया था। परन्तु उनका परिश्रम असफल रहा। सोवियत रूस इस पूंजीवादी षडयन्त्र को कभी नहीं भुला सका। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व हिटलर, हिराहितो और मुसोलिनी को साम्यवाद के विरुद्ध टकराने की दृष्टि से पश्चिम द्वारा अपनाई गई प्रसादन नीति को भी सोवियत संघ नहीं भुला सका और नहीं भुला सका स्तालिन ग्राड में जर्मनी द्वारा किया गया हत्याकाण्ड। इसके अतिरिक्त अणुशक्ति के रहस्य से उसे वंचित रखा गया। क्या ये सब बातें सहन करने वाली थी? परन्तु उस समय की परिस्थितियां ऐसी ही थी। सोवियत संघ को विष का कडुआ घूंट पीना पड़ा।

समय बीता परिस्थितियां बदली और रूस की शक्ति का उत्थान हुआ। इंगलैण्ड फ्रांस, इटली, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि यूरोपियन देशों की शक्ति क्षीण हो गई। यूरोपियन राज्यों के औपनिवेशिक क्षेत्र में भी राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हुई। ऐसे समय में, जबकि यूरोपियन राज्य अपने ही अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये, लड़खड़ाते हुये औपनिवेशिक साम्राज्य को बचाने के लिये, जो जान से जुटे हुए थे, रूस ने अपना पुराना हिसाब चुकाने का निश्चय किया और शायद निश्चय किया पश्चिम के पूंजीवाद को कब्र में दफनाने का और सम्पूर्ण संसार में साम्यवाद का प्रसार करने का। दूसरी तरफ अमेरिका था जिसने साम्यवाद के बढ़ते हुये वेग को रोकने का, हर सम्भव उपाय से साम्यवादी शक्ति को कुचलने का या सीमित करने का बीड़ा उठाया। परन्तु दोनों को ही पता था कि यदि विश्वव्यापी युद्ध हुआ तो उसका अर्थ होगा संसार की सभ्यता का विनाश जिसके लिये कोई पक्ष तैयार नहीं था। अतः कपट विद्या के सहारे या छोटी मोटी नोक झोंक का खतरा उठाते हुये दोनों ही पक्षों ने अपने अपने प्रभाव को बढ़ाना शुरू किया। "शीत-युद्ध" इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।

शीत युद्ध में हर प्रकार के अस्त्रो—राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और सनिक, का प्रयोग किया जा रहा है। हर सभव तरीके का इस्तेमाल किया जा रहा है। कभी-कभी तो ऐसे तरीको पर हसी आती है। उदाहरण के लिये प्रजातन्त्र की रक्षा के नाम पर फारमोसा के च्याग को, स्पेन के तानाशाह जनरल फ्राको का अमेरिका द्वारा आर्थिक तथा सनिक सहायता दी जा रही है। दक्षिणी अमेरिकन लेटिन राज्यो में मुश्किल से कोई ऐसा राज्य होगा जो कि प्रजातन्त्र का दावा कर सके परन्तु फिर भी प्रत्येक राज्य को अमेरिका से आर्थिक सहायता मिल रही है। प्रजातन्त्र की रक्षा के लिये प्रजातान्त्रिक विरोधी उपायो का प्रयोग किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त चित्रपट टेलीविजन, रेडियो समाचार पत्र दलीय साहित्य, विज्ञापन, सनिक शक्ति का प्रदर्शन आदि विविध साधनो के द्वारा शीत युद्ध का सचालन किया जा रहा है। तथ्यो का आविष्कार किया जाता है, सच्चाई को दबा दिया जाता है और घटनाओ को तोड मरोड कर लोकमत के सामने रखा जाता है ताकि दूसरे पक्ष के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति न रहे। सोवियत सघ आधुनिक युग मे विद्यमान् सभी बुराइयो के लिये अमेरिका को उत्तरदायी ठहराता है तो अमेरिका सभी प्रकार के राजनीतिक तथा आर्थिक सकटो को सोवियत कपट नीति की देन मानता है। सच्ची बात तो यह है कि पथ भ्रष्ट राष्ट्रीयता, उग्र राष्ट्रीयता अधिनायकवाद तथा अन्य ऐसे तत्व जो स्वतन्त्र सस्थाओ के लिये प्राणघातक हैं कई शताब्दियो से ससार में विद्यमान है और इन्हे सोवियत सघ ने पैदा नही किया है बल्कि कुछ अशो में पश्चिम ने इनका पोषण किया है। है, इस प्रकार के तत्वो की उपस्थिति के कारण साम्यवाद को विकसित होने का अवसर अवश्य प्राप्त हो गया है।

ट्रूमैन ने लिखा है कि 'सन् १९४५ ई० के उपरान्त महान् शक्तियो का 'विश्व पर आधिपत्य के लिए युद्ध' इनके भागीदारो तथा निरीक्षको की दृष्टि में क्रमलिन की विश्व को जीतने की चेष्टा तथा अमरिका द्वारा इस महत्वाकाक्षा को रोकने तथा प्रतिबधित करने', सोवियत विस्तार की बाढ को 'पीछे हटाने' तथा, यदि सभव हो सके तो, लाल षडयन्त्र के मास्कोवाइट गढ का ताडन तथा उसके दासो को स्वतन्त्र करने की प्रतिकूल चेष्टा के रूप में दिखाई देता था।[1]

शीत युद्ध के सूत्रपात का उत्तरदायित्व किस पर था, यह एक विवादग्रस्त विषय है, अत इसके बारे में कुछ न कहना ही अच्छा होगा। हा शीतयुद्ध की प्रगति के कारणो का उल्लेख किया जा सकता है, प्रथम कारण द्वितीय महायुद्ध के पूर्व, सोवियत सघ और पश्चिमी राष्ट्रो के असगत कार्य थे। रूस १९१७ में साम्यवाद के विरुद्ध पश्चिमी षड्यन्त्र को नहीं भूल सकता था। जबकि पश्चिमी राष्ट्र साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त पूजीवाद का उन्मूलन तथा विश्व क्रांति के निश्चय को नहीं भूल सकते थे। रूस, एकतन्त्रवादियो को सन्तुष्ट करने की पश्चिमी नीति का घोर विरोधी था तो पश्चिम १९४६ में रूस और जर्मनी

शीत युद्ध की प्रगति और उसके कारण

[1] ट्रूमैन—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।

के अनाक्रमक समझौते के घोर विरोधी थे । दूसरा कारण महायुद्ध के समय में दोनों की नीतियों में आधारभूत अन्तर था । १९४२ में जर्मनी ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ रूस पर आक्रमण कर दिया था । ऐसे समय में रूस ने पश्चिमी देशों से पश्चिम की तरफ से दूसरा मोर्चा खोलने की प्रार्थना की और दबाव भी डाला, ताकि जर्मनी की शक्ति बंट जाये । परन्तु पश्चिम योजनाएं बनाने में समय व्यतीत करता रहा और बाल्कन प्रायद्वीप से उत्तर की ओर मोर्चा खोलने का निश्चय किया । रूस ने इस देरी का यह मतलब लगाया कि पश्चिमी राष्ट्र जान-बूझ कर रूसी शक्ति को क्षीण करने की दृष्टि से देरी लगा रहे थे । वास्तव में बात ठीक थी । पश्चिम ने उत्तर की तरफ से बढ़ने का निश्चय भी इस दृष्टि से किया था कि रूसी सेनाएं पूर्वी यूरोप में अधिक सीमा तक नहीं बढ़ सकें । शीत युद्ध की प्रगति का तीसरा कारण था महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी से छीने गये प्रान्तों की शासन व्यवस्था का स्वरूप कैसा हो और इन पर किसका नियन्त्रण रहे । याल्टा सम्मेलन में पूर्वी यूरोप में 'प्रजातन्त्र' की स्थापना करने का निश्चय किया गया था । पश्चिम के "प्रजातन्त्र" की परिभाषा के अनुसार पूर्वी यूरोप के राज्य साम्यवादी प्रभाव में नहीं आते थे । परन्तु मास्को ने यह मानते हुए कि वास्तविक प्रजातन्त्र साम्यवाद ही था, इन सबको सोवियत के नियन्त्रण में ले लिया । इस पर भी, पश्चिम यह मान कर कि इटली, यूनान आदि राज्यों में रूस हस्तक्षेप नहीं करेगा, खामोश रहा । परन्तु जब इन दोनों देशों का सवाल आया तो सोवियत संघ ने हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया इसमें मतभेद अधिक उग्र हो गया । पश्चिम ने इटली में साम्यवादी दल की ताकत को तोड़ने के लिये फासिस्टों से सहयोग किया । यूगोस्लाविया में उन्होंने राज पक्षपाती दल का समर्थन किया क्योंकि चर्चिल को साम्यवादी टीटो पसन्द नहीं था । यूनान में भी साम्यवाद के विरुद्ध राज पक्षपाती दल का समर्थन किया गया । इसका प्रत्युत्तर सोवियत संघ ने कुछ अधिक उग्रता तथा क्रूरता के साथ दिया । पोलैण्ड के कटिन (Latyn) वन हत्याकाण्ड में लाल सेना ने लगभग चार हजार गैर-साम्यवादियों को मौत के घाट उतार दिया । कम्बोडिया के द्वारा पूर्वी यूरोपियन राज्यों के गैर साम्यवादी नेताओं का दमन किया गया, देश निर्वासन आजन्म कारावास तथा मृत्यु दंड की सजायें दी गईं । बल्गारिया के कृषक नेता पेत्कोव को देश द्रोह के अपराध में प्राण दंड की सजा दी गई । रूमानिया में मनिउ (Maniu) को कारावास में पटक दिया गया, हंगरी के नेता बेला कोवाक्स को रूसी जेल में बन्द कर दिया गया और पोलैण्ड के गैर साम्यवादी नेता मिकोलजजिक (Mikolajczyk) किसी प्रकार प्राण बचा कर पोलैण्ड से भाग गया । इस प्रकार के कार्यों से भयभीत होकर पश्चिम ने सोवियत संघ के साथ किसी समझौते पर पहुंचने का निश्चय किया और अक्टूबर १९४४ में कम से कम बाल्कन प्रायद्वीप की समस्या पर रूस और इंगलैण्ड में समझौता हो गया । इसके अनुसार रूमानिया तथा बल्गेरिया को साम्यवादी प्रभाव-क्षेत्र में तथा यूनान को मित्र राष्ट्रों के प्रभाव क्षेत्र में और हंगरी तथा यूगोस्लाविया को फिलहाल दोनों के प्रभाव-क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया । परन्तु इस समझौते से भी

शीतयुद्ध की प्रगति बन्द नही हुई अपितु और भी बढ़ती गई। शीत युद्ध की प्रगति का चौथा कारण अमेरिका द्वारा इंगलैण्ड को अणु रहस्य की जानकारी देना तथा सोवियत रूस को इस जानकारी के बारे में अंधकार में रखना था इससे दोनों पक्षों के मध्य तनाव की वृद्धि ही हुई अणुबम्ब की खोज का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि अब अमेरिका को अपनी सर्वोच्चता का अभिमान हो गया और रूसी सहायता का मूल्य लगभग समाप्त हो गया। सोवियत संघ ने अमेरिका के इस व्यवहार को अपने प्रति विश्वासघात माना और साथ ही उसके अन्तस्थ में इस शक्ति को खोज निकालने की तीव्र जिज्ञासा भी उत्पन्न हुई। परिणाम यह निकाला कि सोवियत संघ ने अणुशक्ति के क्षेत्र में अमेरिका के बराबरी का दर्जा प्राप्त कर लिया और अंतरिक्ष ज्ञान के क्षेत्र मे उसने अमेरिका को बहुत, पीछे छोड़ दिया है। १४ सितम्बर १९५९ में उसने सफलतापूर्वक मानव निर्मित प्रथम स्पूतनिक को चन्द्रलोक में पहुँचा दिया और ४ अक्टूबर १९५९ का सोवियत संघ का Cosmic Station चन्द्रमा के अदृश्य भाग के समीप पहुँच गया है और यथा शीघ्र हमें चन्द्रलोक का अज्ञात स्थिति से परिचित कराने वाला है। इससे अमेरिका अत्यधिक भयभीत हो उठा है वस ऊपर से दोनो देश शान्ति का आवरण डाले हुये है परन्तु अन्दर ही अन्दर अस्त्र शस्त्रों का निर्माण और नूतन विनाशकारी अस्त्रों की खोज का क्रम चल रहा है।

उपरोक्त कारणों के परिणाम स्वरूप 'शीतयुद्ध' की प्रगति हुई और संसार दो परस्पर विरोधी सशस्त्र खेमो में विभाजित हो चुका है। अधिकाश देश किसी न किसी गुट से सम्बन्धित हैं। युगोस्लाविया के मार्शल टीटो को रूस से प्रथक होने की नीति या प० नेहरू की तटस्थ नीति, वास्तव मे, स्वतन्त्र विचारों का प्रतिनिधित्व करती है, परन्तु इस प्रकार की नीतियाँ तभी तक अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ होंगी, जब तक संघर्ष का दिन नही आ जाता। जब यह आयेगा दोनो की विश्व नीति इनका अस्तित्व समाप्त कर देगी। पश्चिमी गुट्ट जिसका नेता अमेरिका है, 'लोकतन्त्रों' (Democracies) अथवा 'स्वतन्त्र संसार' (Freeworld) कहलाता है, जबकि रूसी गुट्ट को "शान्ति का" "लोकतन्त्रीय (Democratic) "जनता का लोकतन्त्र' (People's Democracy) कहा जाता है।

शीतयुद्ध ने महायुद्धोपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के स्थान पर उलझाने का तथा समस्याओं को कम करने के स्थान पर नई नई समस्याएं उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। शुरू मे आपसी मतभेदो की सीमा अपेक्षाकृत सीमित थीं। पूर्वी यूरोप और बाल्कन प्रायद्वीप के नियंत्रण का सवाल था। चर्चिल प्रारम्भ से से पूर्वी यूरोप का रूसी प्रभाव से बचाने के पक्ष में था परन्तु अमेरिका का स्तालिन के वचनो में विश्वास था और यह विश्वास था कि पूर्वी यूरोप के राज्यो मे निष्पक्ष चुनाव कराये जायेंगे तथा "प्रजातन्त्रों" की स्थापना की जायगी। परन्तु रूस ने यथाशीघ्र पूर्वी राज्यो को अपने संरक्षण मे ले लिया। उसकी इस नीति ने पूर्वी

**शीत युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं**

यूरोप की समस्या को सुलझा दिया और एक नई समस्या खड़ी हो गई पश्चिम के लिए—साम्यवादी प्रसार को रोकने की समस्या। इसके बाद विदेश मन्त्रियों की परिषद की बैठकें शुरू हुईं—पराजित राष्ट्रों के साथ की जाने वाली शान्ति सन्धियों की रूपरेखा का निर्धारित करने के लिए। परन्तु इन बैठकों में वाद विवाद इतना उग्र होता गया, एक दूसरे के दावे इतने अधिक बढ़ते गये और एक दूसरे की इतनी आलोचना की गई कि समस्याओं का हल तो हो नहीं सका और नई समस्याएँ पैदा होती गईं। ११ सितम्बर १९४५ से लेकर अब तक (१९५९) १८ बैठकें हो चुकी हैं परन्तु केवल ५ बैठकों में किसी प्रकार के समझौते हो सके बाकी १० बैठकें असफल रहीं। युद्ध समाप्ति के बाद ईरान से सोवियत सेनायें न हटाने से एक और समस्या पैदा हो गई था। इसी प्रकार यूनान के गृह युद्ध में यूनानी साम्यवादियों को पड़ौसी साम्यवादी देशों—अल्बानिया युगोस्लाविया बल्गेरिया आदि से प्राप्त होने वाली सहायता से पश्चिम का सोवियत रूस के प्रति अविश्वास बढ़ने लगा और इस प्रकार संसार को एक और नई समस्या ने परेशान करना शुरू कर दिया था। अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा 'स्वतन्त्र देशों की सहायता की घोषणा" तथा "मार्शल योजना' आदि कदम इन नई समस्याओं के परिणाम स्वरूप ही उठाने पड़े थे। परन्तु इन कदमों ने अब रूस का भयभीत कर दिया था। उसने इसके प्रत्युत्तर में कोमिन फार्म की स्थापना की। जैसे तैसे करके जर्मनी और जापान को छोड़कर अन्य पराजित राष्ट्रों के साथ सन्धियाँ करली गई परन्तु जर्मनी के मामले में दोनों पक्षों में भयंकर तनाव पैदा हो गया। पश्चिम ने जर्मनी के तीन अधिकार क्षेत्रों को मिलाकर पश्चिमी जर्मनी की स्थापना की तो सोवियत संघ ने पूर्वी जर्मनी की। परन्तु बर्लिन का निपटारा न हो सका। वैसे बर्लिन पूर्वी जर्मनी में स्थित है परन्तु बर्लिन नगर चार अधिकार क्षेत्रों में विभाजित है।

सुदूर पूर्व की घटनायें भी एक प्रकार से शीत युद्ध की उपज मानी जा सकती हैं। चीन में राष्ट्रवादी दल जिसका नेता च्यांगकाई शेक था की पराजय और साम्यवादियों की सफलता से जहाँ एक तरफ से सुदूर पूर्व की समस्या उलझ गई है वहाँ दूसरी तरफ अनेक नूतन समस्याएँ पैदा हो गई हैं। चीन की मान्यता का प्रश्न एक ऐसी ही समस्या है क्योंकि यदि उसे संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान दिया जाता है तो सोवियत संघ की शक्ति बढ़ जाती है और नहीं देने के कारण संसार की स्वतन्त्र जातियों की आलोचना का शिकार बनना जा रहा है। फिर भी वह फारमोसा को चीन माने हुये है। कोरिया के युद्ध ने एक नहीं, अनेक समस्याओं को पैदा कर दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ को नया इतिहास लिखना पड़ा पश्चिम को साम्यवादियों से लड़ने का भार वहन करना पड़ा, भारत आदि देशों को समझौते का द्वार खोजना पड़ा और तब कहीं जाकर युद्ध बन्द हो सका। परन्तु खतरा तो बना हुआ है। कोरिया का एकीकरण अधिक समय तक नहीं टल सकता परन्तु सवाल है साम्यवादी कोरिया और प्रजातान्त्रिक कोरिया। भावी साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए अमेरिका का दक्षिण कोरिया को सहायता का

भार भी उठाना पड रहा है। हिन्द चीन में साम्यवादी प्रसार ने भी नई समस्याओं को जन्म दिया। सीटो उसी की उपज है। जापान का पुन शस्त्रीकरण ( अमेरिका की सहायता से ) भी एक नई समस्या है।

मध्य पूर्व में शीत युद्ध ने अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं को जन्म दिया है। वस इस क्षेत्र के तेल और सामरिक महत्व के अड्डो के कारण पहले से ही कई समस्याएँ उलझी हुई पडी थी। स्वेज का सकट सर्वविदित है। बगदाद पैक्ट की पदायश इसी का परिणाम है। ईराक की क्रांति तथा बगदाद पक्ट की समाप्ति, लेबनान का घरेलू विवाद और अमेरिकन फौजो का लेबनान में प्रवेश, जोर्डन में ब्रिटिश सेना का प्रवेश, आइजनहावर सिद्धात की घोषणा तथा सनटो ( CENTO ) की रचना —ये सभी समस्याएं शीत युद्ध का वरदान है। आखिर इतना तो सभी को मालूम है ही कि द्वितीय महायुद्ध के बाद इतनी समस्याएं नही थी। फिर ये कहाँ से लाई ? नि सन्देह ये शीत-युद्ध की उपज है।

इसी प्रकार काश्मीर की समस्या का भी शीतयुद्ध की कृपा से समाधान नही हो सका है। क्योंकि फिलहाल, भारत किसी पक्ष के साथ किसी प्रकार के सैनिक समझौते में बधा हुआ नही है अत अमेरिका को यह चिंता है कि यदि काश्मीर भारत को मिल गया तो पाकिस्तान भी हाथ से निकल जायेगा। अत यह जानते हुए भी कि हर दृष्टि से काश्मीर भारत का अ ग है वह काश्मीर समस्या को उलझाये हुए है और चूँकि सयुक्त राष्ट्र सघ भी शीतयुद्ध का अखाडा बना हुआ है, जिसमें बहुमत ही सब कुछ है और जिसके छोटे छोटे पहलवानो की बहुत बडी सख्या अमेरिका के साथ है, इस समस्या का समाधान नही हो सका है। भारत की सीमा पर चीनी आक्रमण की समस्या को भी शीत युद्ध के रग म रगने का प्रयत्न भी किया गया परन्तु इस बार हम समझ गये और इस समस्या को आपसी वार्तालाप के द्वारा ही तय करने का निश्चय कर लिया है।

कुछ घटनाएं ऐसी भी हैं जिनकी सच्चाई का ज्ञान अभी तक नही मिल सका है और शीत युद्ध के वातावरण के परिणाम स्वरूप जो कुछ समाचार मिले हैं उनकी अतिशयोक्ति को देखते हुए, उन पर विश्वास करने की इच्छा नही होती। हगरी का हत्याकाड और गोटमाला का गडबड घटोला ऐसी ही घटनाएँ है।

नि शस्त्रीकरण की समस्या पर भी शीत युद्ध का महत्वपूर्ण प्रभाव पडा है। महायुद्ध के बाद इस समस्या को सुलझाने के लिए न जाने कितने सम्मेलन हो चुके है। परन्तु समस्या दिन प्रतिदिन उलझती जा रही है। और इसका सुलझाना सम्भव भी नही है। क्योकि इसके समाधान के लिए केवल आपसी सहयोग की ही आवश्यकता नही पडती बल्कि आपसी विश्वास और श्रद्धा का होना भी अनिवार्य है। शीतयुद्ध के वातावरण में आपसी विश्वास और श्रद्धा का उत्पन्न होना असम्भव है।

अब शीतयुद्ध की तीव्रता में कुछ कमी आने लगी है। वस स्तालिन की मृत्यु के उपरान्त, रूस की नूतन विदेश नीति के परिणाम स्वरूप कुछ समय के लिये इसमें

कमी आ गई थी। कोरिया की युद्ध बन्दी, हिन्द चीन की समस्या अस्थायी समाधान, कोमिन फार्म की समाप्ति, पश्चिम के साथ उदार व्यवहार, शिखर सम्मेलन की माग लोह आवरण की समाप्ति आदि घटनाएँ इस उपरोक्त कथन को पुष्ट करता है। परन्तु हंगरी के उपद्रव तथा स्वेज सकट के कारण शीत युद्ध पुन अपने पूर्ण यौवन पर आ गया था। फिर भी, दोनों पक्षों ने धैर्य का परिचय दिया। इस धैर्य का कारण तटस्थ राष्ट्रों के प्रयत्न थे। भारत आदि देशों ने शीत युद्ध को विश्वव्यापी रूप ग्रहण करने से रोका। पुन इसमें कमी आई और यात्रा कूटनीति ( Travel Diplomacy ) के द्वारा शीत युद्ध को समाप्त करने की दिशा में प्रयत्न जारी है। बुल्गानिन और ख्रुश्चेव की इंगलैंड यात्रा, अमेरिकन उपराष्ट्रपति निक्सन की रूस यात्रा, सोवियत उपप्रधान मिकोयान की अमेरिका यात्रा, ब्रिटेन के प्रधान मंत्री मैकमिलन की रूस यात्रा और ख्रुश्चेव की अमेरिका यात्रा, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि पूर्व और पश्चिम, परम्परागत मतभेदों को शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाने की दिशा में कदम बढ़ा रहे हैं। अमरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर द्वारा निकट भविष्य में की जाने वाली रूस यात्रा, इस दिशा का अगला महत्वपूर्ण कदम होगी। फिर भी एक बात खटकती है। शांति के ये कर्णधार एक दूसरे के घर जाने से पहले कुछ समस्याएँ पैदा कर देते हैं ताकि व्यक्तिगत वार्तालाप में अपने पक्ष को मजबूत बनाया जा सके। ख्रुश्चेव की अमेरिका यात्रा के पूर्व हिन्द चीन में पुन उपद्रव उठ खड़ा हुआ या उठाया गया तथा यात्रा के एक दिन पूर्व चन्द्रलोक को रूसी स्पूतनिक छोड़ा गया। पता नहीं अमेरिकन राष्ट्रपति की रूस यात्रा के समय क्या छोड़ा जायगा। इसमें हमें अधिक सरोकार नहीं। हमारा सरोकार इसमें है कि शीतयुद्ध को जड़मूल से उखाड़ दिया जाय।

## (४) अन्तर्राष्ट्रीय नोक-झोंक

अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोंक का तात्पर्य उन स्थानीय झगड़ों से है जिन्हें पूर्व और पश्चिम ने अपने २ स्वार्थों की बलिवेदी का बकरा बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया और उनकी हठधर्मी तथा अड़ियल नीति ने इन झगड़ों को और भी अधिक जटिल बना दिया जिसके परिणामस्वरूप उनका समाधान एक लम्बे अर्से तक उबड़ खाबड़ रास्ते में भटकता रहा या फिर अभी तक सही मार्ग की ओर उन्मुख न हो सका है।

अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोंक का सर्वप्रथम केन्द्र जर्मनी बना। याल्टा सम्मेलन ( फरवरी १९४५ ) में जर्मनी के भविष्य का निर्णय कर दिया गया था। इस निर्णय के अनुसार जर्मनी को चार अधिकृत क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया था और उस पर २० अरब डालर क्षतिपूर्ति लादने का निर्णय किया गया। क्षतिपूर्ति की कुल राशि में से १० अरब डालर रूस को देना तय किया गया। विजेताओं द्वारा सयुक्त रूप में शासित बर्लिन के ध्वसावशेषों को चार वृत-खण्डों में विभाजित कर दिया गया था। ५ जून सन् १९४५ को पोटसडाम समझौते ( जुलाई अगस्त १९४५ ) के पूर्व

**(१) जर्मनी और बर्लिन एकीकरण की समस्या**

बर्लिन में, समस्त जर्मनी के मामलों को संयुक्त-रूप से तय करने की दृष्टि से, मित्रराष्ट्रों की एक सैनिक नियन्त्रक परिषद् की प्रथम बैठक हुई, परन्तु बैठक में किसी प्रकार का समझौता न होसका। अत पोटसडाम सम्मेलन में जर्मनी के भाग्य का निर्णयाधिकार चार राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों का परिषद् को सौंप दिया गया और परिषद् को यह निर्देश भी दिया गया कि वह जर्मनी में नाजीवाद का अन्त, सैनिक प्रवृत्ति का अन्त, व्यापारियों के संघ का अन्त तथा प्रजातन्त्रीकरण का प्रयत्न करे। जर्मनी को एक आर्थिक इकाई के रूप में संगठित किया जाय तथा क्षतिपूर्ति की राशि तय की जाय।

विदेश मन्त्रियों की परिषद् ने अपना कार्य शुरू किया परन्तु शीत युद्ध की भावना से प्रभावित होने तथा याल्टा और पोटसडाम के मध्य विद्यमान् अंतर को अपने अपने पक्ष की तरफ मोड़ने की नीति के कारण उसे सफलता नहीं मिल सकी। मित्रों के समझौते का शीघ्रता से अन्त हो गया। " पेरिस ने अपने सहयोग को, उस समय तक के लिए हटा लिया, जब तक रूहर तथा राइनलैंड को जर्मन साम्राज्य से अलग न किया जाए। वाशिंगटन तथा लंदन ने इसके लिए इन्कार कर दिया। मास्को ने भी उस समय तक के लिए अपना सहयोग हटा लिया, जब तक रूहर को चार शक्तियों के नियन्त्रण में न रखा जाए तथा सोवियत रूस को हरजाने के रूप में १० ०००,०००,००० डालरों के लिए वचन न दिया जाए। वाशिंगटन तथा लन्दन ने इसको भी अस्वीकार कर दिया।[1]" फ्रांस झगड़ता रहा, रूस पूर्वी क्षेत्र से मशीनों को मास्को की तरफ भेजता रहा और वाशिंगटन तथा लंदन अपने अपने क्षेत्रों को संयुक्त करने की योजना बनाते रहे। १ जनवरी १९४७ को उन्होंने दोनों क्षेत्रों को मिलाकर "द्विक्षेत्र" (Bizonia) का निर्माण किया।

जून १९४८ में पश्चिम क्षेत्र की आर्थिक स्थिति को सुधारने की दृष्टि से एक नया सिक्का "ड्यूश मार्क' जारी किया गया। २४ जून को सोवियत अधिकारियों ने, विशिष्ट कठिनाइयों के बहाने से, बर्लिन के चारों तरफ के रास्तों को बन्द करके बर्लिन पर घेरा (Blockade) डाल दिया। इस घेरे के परिणामस्वरूप मित्रराष्ट्रों के अन्तर्गत बर्लिन के तीन-चौथाई खण्डों का बाह्य संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया क्योंकि बर्लिन पूर्वी क्षेत्र में स्थित था। इससे मित्रराष्ट्रों के बर्लिन क्षेत्रों की स्थिति शोचनीय हो गई। कुछ लोगों ने सशस्त्र बल से रास्ता बनाने का सुझाव रखा, परन्तु इसे स्वीकार नहीं किया गया और मित्रराष्ट्रों ने हवाई जहाजों की सहायता से पश्चिम बर्लिन के नागरिकों को रसद सामग्री पहुँचानी शुरू कर दी। यह घेरा लगभग एक वर्ष तक जारी रहा परन्तु पश्चिम के परिश्रम से सोवियत संघ की नीति असफल रही और ११ मई १९४९ ई० को बर्लिन का घेरा उठा लिया गया। सोवियत रूस की इस कार्यवाही की चर्चा करते हुए शूमेन ने लिखा है—" 'बर्लिन प्रतिरोध' वास्तव में इस बात के परीक्षण के लिए था कि पश्चिमी

---

१ शूमेन अन्तर्राष्ट्रीय-राजनीति

शक्तियों को बर्लिन से बाहर निकाला जा सकता था या नही, अथवा, कम से कम, उन्हें एक पश्चिमी जर्मन राज्य की योजनाओं को छोड़ने के लिए विवश किया जा सकता था या नहीं।" रूस न तो पश्चिमी शक्तियो को ही बर्लिन से बाहर निकाल सका और न पश्चिमी जर्मन राज्य की स्थापना को ही रोक सका। क्योंकि रूस की इस नीति ने फ्रांस को जर्मनी के पक्ष में कर दिया और उसने जर्मनी को विभाजित रखने तथा उसे निर्बल बनाने की नीति के स्थान पर पश्चिमी जर्मनी के निर्माण की तरफ कदम उठाने का निर्णय कर लिया और फलस्वरूप पश्चिम के तीनों अधिकार-क्षेत्रों को मिलाकर एक त्रिक्षेत्र ( Trizonia ) बनाया गया ( १९४९ )। इसके तुरन्त बाद ही भावी पश्चिमी जर्मनी राज्य के संविधान को बनाने के लिये एक विधान सभा का चुनाव कराया गया और २० मई १९४९ को "जर्मन संघीय प्रजातन्त्र" ( German Federal Republic ) अर्थात् पश्चिमी जर्मन राज्य की स्थापना की गई। इसकी राजधानी बान (Bonn) रखी गई। सोवियत रूस ने इसके बदले में पूर्वी जर्मन क्षेत्र मे, एक "जर्मन गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र" की स्थापना की। इसकी राजधानी बर्लिन रखी गई। यह कार्य ११ अक्टूबर सन् १९४९ ई० का किया गया था। २६ मई १९५३ को पश्चिमी राष्ट्रों ने पश्चिमी जर्मन गणराज्य को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की। रूस ने २५ मार्च १९५४ को पूर्वी जर्मन राज्य को पूर्ण सर्वोच्च सत्ता सौंप दी। इस प्रकार जर्मन को दो पृथक राज्यों में, एक दूसरे से भिन्न शासन व्यवस्था वाले राज्यों में विभाजित कर दिया गया। पश्चिमी जर्मनी की कुल आबादी लगभग ५ करोड़ १० लाख और पूर्वी जर्मनी की लगभग १ करोड़ ६० लाख है। पश्चिमी जर्मनी औद्योगिक दृष्टि से काफी सम्पन्न है और पूर्वी जर्मनी कृषि प्रधान राज्य है। धीरे धीरे सोवियत रूस ने पश्चिमी जर्मनी के साथ दौत्य ( Diplomatic ) सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये। परन्तु पश्चिम पूर्वी जर्मनी को स्वीकार नहीं करता है।

परन्तु अब एक नई समस्या उत्पन्न हो गई—जर्मन एकीकरण का तथा बर्लिन की स्थिति की समस्या। पश्चिम और पूर्व दोनों ही यह चाहते हैं कि जर्मनी का एकीकरण हो जाय, यदि यह सम्भव न हो तो, कम से कम, बर्लिन का फैसला ही हो जाय। इस उद्देश्य से बर्लिन में विदेश मन्त्रियों की एक बैठक हुई (२५ जनवरी–१८ फरवरी १९५४) परन्तु बैठक में किसी प्रकार के समाधान पर पहुँचना सम्भव न हो सका। पश्चिम की माँग थी कि जर्मनी के दोनों भागों में (बर्लिन सहित) स्वतन्त्र मतदान द्वारा एक विधान निर्मात्री सभा चुनी जाय और यह सभा संयुक्त जर्मनी की केन्द्रीय सरकार का निर्माण करे और जब जर्मनी के साथ संधि करने योग्य वातावरण पैदा हो जाय तो मित्रराष्ट्र इस केन्द्रीय सरकार के साथ संधि करें। संधि में रूस और पौलैंड द्वारा छीने गये जर्मन प्रदेशों की अन्तिम व्यवस्था भी सम्मिलित की जाय तथा नवनिर्मित जर्मन राज्य को शान्ति संधि की शर्तों के अन्तर्गत अपनी अन्तरराष्ट्रीय राजनीति की दिशा निर्धारित करने की छूट दी जाय। अर्थात् पश्चिम या पूर्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता दी जाय।

परन्तु रूस को पश्चिम की माग स्वीकार न थी। उसने पृथक माग रखी कि जर्मन एकीकरण का दायित्व जर्मनी की दोनो सरकारों पर छोड़ दिया जाय और महान शक्तियां इसमें हस्तक्षेप न करें। दोनो सरकारों का अस्तित्व बना रहे और सीधी वार्तालाप के द्वारा व एकीकरण का प्रयत्न करे। इस सम्बन्ध मे सावियत क्षेत्र में स्थापित साम्यवादी संस्थाओं की सुरक्षा का आश्वासन दिया जाय और पश्चिमी जर्मनी नाटो से अपना सम्बन्ध विच्छेद करले। यह तभी हो सकता है जबकि पश्चिमीराष्ट्र पूर्वी जर्मन गणराज्य की प्रभुसत्ता को मान लें तथा पश्चिमी जर्मन क्षेत्र मे अपनी सेनाएं हटा ले। पश्चिम सोवियत रूस की माग को स्वीकार करने को तैयार नहीं था।

जर्मन एकीकरण के प्रश्न पर दोनो पक्षो के मतभेद का मूल कारण उनके आपसी स्वार्थ थे। यदि मतदान संग्रह के आधार पर जर्मनी का एकीकरण किया जाना है तो पश्चिमी जर्मन सरकार की सफलता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं बचता क्योकि पश्चिमी जर्मनी की जनसंख्या ५करोड १० लाख है जबकि पूर्व की १ करोड ६० लाख और चूंकि पश्चिमी जर्मनी पश्चिम का अनुयायी है, अत सोवियत संघ के प्रभाव का समाप्ति निश्चित है। रूस नहीं चाहता कि पूर्वी जर्मनी उसके हाथ से निकल जाय। क्योकि इस स्थिति में उसे २०० मील पूर्व में पीछे हटना, पूर्वी जर्मनी मे स्थित रूसी सेना के २२ डिविजनो को हटाना तथा महत्वपूर्ण सामरिक अड्डा को खाली करना पड़ता। अर्थात् भविष्य मे पश्चिम के साथ लड़े जाने वाले संघर्ष मे उपयोगी प्रमाणित होने वाली रक्षा तथा आक्रमणात्मक शक्ति से हाथ धोना पडता। अत उसने जर्मन एकीकरण के प्रश्न को टालने में ही अपना कल्याण समझा क्योकि रूस के इस प्रकार जर्मनी से पीछे हटने के कारण पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों की स्थिति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडने की आशंका थी। दूसरी तरफ पश्चिम का आत्म निर्णय में अगाध विश्वास था। वे चाहते थे कि जर्मन लोग स्वतन्त्रता पूर्वक अपने भाग्य का फैसला आप करले। यदि मास्को की माग को स्वीकार कर लिया जाता तो सम्पूर्ण जर्मनी के साम्यवादी बन जाने की सम्भावना थी और इस स्थिति में जर्मनी मास्को की कठपुतली हो जाता और साम्यवादी प्रसार की सीमा राइन के किनारे तक आ जाती, जहा से पश्चिमी यूरोप का बड़ी सुगमता के साथ सर्वनाश किया जा सकता था।

इस प्रकार के स्वार्थ प्रधान मतभेदों के कारण जर्मन एकीकरण की समस्या का समाधान आज तक नहीं हो पाया है। बर्लिन की समस्या इससे भी गई बीती है। बर्लिन जर्मन राष्ट्रवाद की रीढ है और सहज स्वाभाविक ढंग से प्रत्येक जर्मन की दृष्टि बर्लिन की तरफ लगी हुई है। १० नवम्बर १९५८ को ख्रुश्चेव ने सम्पूर्ण बर्लिन पर पूर्वी जर्मनी के दावे का समर्थन करते हुए कहा कि बर्लिन में पश्चिमी राष्ट्रों को बने रहने का कोई कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं है। हा यदि वे चाहें तो सोवियत संघ बर्लिन की समस्या पर बातचीत करने को तैयार है। वह बर्लिन को निस्सैन्य (Demilitareized) स्वतन्त्र नगर बनाना चाहता है ताकि बर्लिन से सोवियत विरोधी जासूसी के अड्डे (पश्चिमी बर्लिन) को समाप्त किया जा सके, परन्तु पश्चिम पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। १० जनवरी

१९५९ को रूस ने बर्लिन समस्या के समाधान हेतु शिखर सम्मेलन का प्रस्ताव रखा। पश्चिम ने विदेश मन्त्रियो के सम्मेलन को बुलाने का सुझाव दिया जिसे रूस ने स्वीकार कर लिया। ११ मई १९५९ से चार राष्ट्रो—रूस, अमेरिका, इगलण्ड तथा फ्रास, के विदेश मन्त्रियो का जैनीवा में सम्मेलन हुआ परन्तु कोई सतोषजनक समझौता न हो सका और सम्मेलन स्थगित कर दिया गया। जुलाई में सम्मेलन की कार्यवाही पुन शुरू हुई परन्तु कोई परिणाम नही निकला और हमेशा की तरह यह भी असफल रहा। वास्तविकता यह है कि दोनो पक्षो में से कोई झुकने का तैयार नहीं है कोई यह नही चाहता था कि जो कुछ नियत्रण में है, वह हाथ से चला जाय। अत निकट भविष्य मे इस समस्या का समाधान होना कठिन ही दिखलाई पड़ता है।

अतर्राष्ट्रीय नोक झोंक की दूसरी प्रमुख समस्या साम्यवादी चीन" की मान्यता है। प्रथम महायुद्ध के अतिम समय में सम्पूर्ण ससार ने विशाल रूस देश में कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तो को कार्यान्वित होते देखा तो द्वितीय महायुद्ध के बाद ससार की घनी आबादी वाले चीन देश को साम्यवादी रूप धारण करते हुए देखा।

**(२) साम्यवादी चीन की मान्यता** सन् १९४९ ५० की चीन की क्रान्ति को, कुछ लोगो ने "रूसी षडयन्त्र" और कुछ लोगो ने "वाशिंगटन के षडयन्त्रकारियों का परिणाम' बताया है। परन्तु ये दोनो ही व्याख्याए गभीर नही है। 'चीन की लाल विजय, बीसवी शती मे रूस की सबसे भारी विजय तथा अमेरिका की सबसे भारी पराजय होते हुए भी, न तो अमेरिका के लोगो का कार्य था और न रूसियो का, वरन् चीनियो का ही कार्य था।"

यह सबकुछ कैसे हो गया, इसकी एक लम्बी कहानी है जो आगे के अध्याय म बतलाई जायेगी। यहा पर केवल इतना कहना काफी होगा की अमेरिका का पोषक पुत्र, कुमिनताग का सर्वाधिकारी, चीन का राष्ट्रपति च्यागकाईशेक को साम्यवादियो स बुरी तरह से पराजित होना पड़ा और उसे चीन की भूमि से अपना बोरिया बिस्तर समेट कर, अमरिका के सरक्षण मे, चीन के समीप स्थित फारमोसा द्वीप को अपना निवास स्थान बनाना पड़ा। २१ सितम्बर १९४९ का, पेकिंग में 'चीन के जनगणतत्र" की घोषणा करदी गई। दिसम्बर तक सम्पूर्ण चीन लाल शासन के अतगत आ गया।

रूस ने शीघ्र हो साम्यवादी चीन का मान्यता देदी और १४ फरवरी १९५० ई को मास्को में, दोनो देशो के बीच मित्रता, समझौता एव पारस्परिक सहायता की एक ३० वर्षीय सन्धि पर भी हस्ताक्षर कर दिये गये। इससे अमेरिका क्रोधित हो उठा और उसने साम्यवादी चीन को मान्यता देने, सयुक्त राष्ट्रसघ मे साम्यवादी चीन को उसका स्थान देने स अस्वीकार कर दिया क्योकि वह साम्यवादी चीन को रूस की कठपुतली मानता था रूस का सहयोगी समझता था। वैस लालचीन की वदेशिक नीति भी अमेरिका के विरुद्ध थी, क्योकि अमेरिका ने च्याग को अस्त्र शस्त्र प्रदान किये थे, उसे मान्यता देने से अस्वीकार कर दिया था, निरतर उसे समाप्त करने की चेष्टा की थी, और फारमोसा

के च्याग को ही विशाल चीन का प्रतिनिधि समझे बैठा था। वास्तव में यह कितनी दिल्लगी की बात है कि ५० करोड चीनी जनता पर शासन करने वाली सरकार को मान्यता न देकर, अमेरिकन सरक्षण मे एक छोटे से टापू में मुह छिपा कर बैठे हुए च्याग को विशाल चीन का प्रतिनिधि माना जा रहा है। जबकि भारत, इगलण्ड, वर्मा, रूस आदि अनेको देशो ने साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान कर दी है और उसके साथ दौत्य सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये है। भारत ने चीन को सयुक्त राष्ट्र में प्रवेश दिलवाने के लिये अनेक प्रयत्न किये है, यहाँ तक कि भारत चीन की सीमा विवाद के सम्बन्ध में चीन द्वारा आक्रामक कार्यवाहिया किये जाने के वाद भी सितम्बर १९५९ में भारत ने अन्तिम प्रयत्न किया, परन्तु अमेरिका के प्रभाव के कारण भारत के प्रयत्न सफल नही हुए। २८ जून १९५७ को अमेरिका के विदेश सचिव स्व० डलेस ने अपने देश की नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था, 'चीन में साम्यवाद ने हिंसा द्वारा सत्ता प्राप्त की है। वह हिंसा के सहारे जीवित है। उसने कोरिया में सयुक्त राष्ट्रसघ से सघर्ष लडा है। हिन्दचीन के गृह युद्ध में साम्यवादियो की सहायता की है। तिब्बत पर जबरदस्ती अधिकार किया है। मान्यता एक विशेष अधिकार है जो उत्तम व्यवहार के विश्व व्यापी मापदडो से ही अर्जित किया जा सकता है। उसका (साम्यवादी चीन का) इतिहास सशस्त्र आक्रमण का इतिहास है। क्या सात वर्ष में कोरिया, हिन्द चीन, तिब्बत फिलिपाइन्स और मलाया में पाच गृह युद्ध लडाने वाले को, सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा घोषित आक्रान्ता को तथा उससे लडने वाले को सयुक्त राष्ट्रसघ मे स्थायी स्थान और निषेधाधिकार दिया जाय, जिसका प्रधान उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा की स्थापना करना है।'' इस प्रकार चीन की मान्यता का प्रश्न आज भी उलझा हुआ पडा है और स्वतन्त्र राष्ट्रो की जमात–सयुक्त राष्ट्रसघ के पाँच स्थायी स्थानो में से एक पर चीन से निर्वासित च्याग का प्रतिनिधि आसन जमाये बैठा है।

अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोक की तीसरी बडी समस्या स्वेज का सकट थी। स्वेज सकट का विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय मे की गई है। यहा पर केवल नोक झोक की रूपरेखा की व्याख्या की जा सकती है। २६ जुलाई १९५२ को मिश्र मे एक सैनिक क्रांति हो गई और पश्चिम के पिट्ठू मिश्र के शाह फारूक का तख्ता उल्ट दिया गया। जनरल नगीब ने मिश्र की बागडोर सभाली परन्तु वह शीघ्र ही पश्चिम की तरफ झुकने लग गया। इस पर उसे पदच्युत कर दिया गया और कर्नल नासिर मिश्र का सर्वे सर्वा बन गया। नासिर साम्राज्यवाद का कट्टर शत्रु था वह नील नदी पर स्थित आस्वान बाध का विशाल पैमाने पर नवनिर्माण करना चाहता था ताकि मिस्री जनता की आर्थिक दशा में सुधार हो सके। पश्चिम ने उस बाध निर्माण कार्य के लिये अपेक्षित आर्थिक सहायता देने से इन्कार कर दिया। इस पर नासिर ने २७ जुलाई १९५६ को मिश्र देश से गुजरनेवाली स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। इससे इगलण्ड जिस पर सबसे अधिक प्रभाव पडा था और फ्रास क्रोधित हो

**(३) स्वेज सकट**

उठे। मामला संयुक्तराष्ट्र संघ में ले जाया गया, परन्तु समझौता न हो सका। इसी बीच २६ अक्टूबर १९५६ को इजरायल ने, स्वेच्छा से या इंगलैण्ड तथा फ्रांस के उकसाने पर मिश्र पर आक्रमण कर दिया और ३१ अक्टूबर को, इजरायल की ओट में इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने भी मिश्र पर आक्रमण कर दिया। संयुक्तराष्ट्र संघ ने युद्ध को बन्द करने का अथक प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। अमरिका ने भी युद्धबन्दी की अपील की परन्तु उसकी अपील में अधिक वजन नहीं था। ५ नवम्बर को रूस ने इंगलैण्ड और फ्रांस को युद्ध बन्द करने की चेतावनी दी। इसका तुरन्त प्रभाव पड़ा और ६ नवम्बर की रात्रि को युद्धबन्द हो गया। स्वेजनहर के क्षेत्र को अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस के नियन्त्रण में रख दिया गया।

इस प्रकार स्वेज नहर की समस्या का अस्थायी समाधान हो गया। परन्तु नासिर की नीति ने अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोंक को पुनः बढ़ावा देना शुरू कर दिया है। वह एक तरफ पश्चिम का कट्टर शत्रु, दूसरी तरफ सोवियत संघ का मित्र, तीसरी तरफ अरब राष्ट्रीयता का समर्थक और इस नाते मिस्री साम्यवादियों का दमनकर्ता है। अब कभी वह रूस से उलझ पड़ता है तो कभी पश्चिम से और रूस तथा पश्चिम, दोनों ही उसको अपने पक्ष में करने के लिये साम, दाम, भेद के पासे फेंकने में लगे हुए हैं।

चौथी समस्या कोरिया की है। वैसे अपने उद्भवकाल में यह समस्या बहुत ही भयंकर दिखलाई पड़ती थी परन्तु इसका कुछ समाधान हो जाने के कारण, अब इसका महत्व थोड़ा कम पड़ गया है। इसकी विस्तृत कहानी भी आगे बताई जायगी। संक्षेप में इसकी रूप रेखा इस प्रकार है—१९१० में जापान ने चीन से कोरिया छीन लिया था। द्वितीय महायुद्ध में जापान पराजित हुआ और उसने मित्रराष्ट्रों को आत्म समर्पण कर दिया। कोरिया में ३८° अक्षांश उत्तर की तरफ वाली जापानी सेना ने सोवियत संघ को और दक्षिण की सेना ने अमरिका को आत्म समर्पण किया। रूस और अमेरिका के मध्य बढ़ते हुए तनाव के परिणामस्वरूप कोरिया का एकीकरण न किया जा सका और जर्मनी की भांति कोरिया में भी दो राज्य स्थापित हो गये—३८° अक्षांश के उत्तर की तरफ साम्यवादी शासन व्यवस्था वाला उत्तरी कोरिया और ३८° अक्षांश के दक्षिण में अमेरिकन शासन-व्यवस्था वाला दक्षिणी कोरिया। दोनों राज्यों में शुरू से छोटी-मोटी झड़पें होती रहीं, परन्तु २५ जून १९५० को उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने उत्तरी कोरिया को आक्रान्ता घोषित करते हुए ( २७ जून ) सदस्यराष्ट्रों से उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही में सहयोग देने का आदेश दिया। जनरल मैकार्थर को संयुक्तराष्ट्र संघ की सेना का सेनापति बनाया गया। उत्तरी कोरिया को पीछे खदेड़ दिया गया। परन्तु जब मैकार्थर की सेनायें ३८° अक्षांश को पार करके तेजी से उत्तर की तरफ बढ़ने लगीं तो नवम्बर १९५० में चीन के स्वयं-सेवकों ने युद्ध में प्रवेश किया और युद्ध का नक्शा बदल गया।

**( ४ ) कोरिया की समस्या**

मैकार्थर को वापस ३८° अक्षांश तक खदेड दिया गया। एक वर्ष के निरन्तर संघर्ष के बाद, भारत आदि देशों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप १० जुलाई १९५१ को युद्धबन्दी के आसार दिखलाई पड़ने लगे। परन्तु अंतिम विराम संधि पर २७ जुलाई १९५३ के पूर्व हस्ताक्षर नहीं हो सके। इस प्रकार कोरिया की समस्या का समाधान हुआ परन्तु आज भी कोरिया के एकीकरण का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोंक के कारण अंधकार में पड़ा हुआ है।

अब हम कुछ छोटी परन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण समस्याओं की तरफ आते हैं। इस प्रकार की समस्याओं में हंगरी का हत्याकांड प्रमुख है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व हंगरी, आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजवंश के आधीन था परन्तु १९१९ में हंगरी को पूर्ण स्वतन्त्र मान लिया गया और वहां पर प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। द्वितीय महायुद्ध में हंगरी जर्मनी का शिकार बना और रूस की लाल सेनाओं द्वारा उसे जर्मन आधिपत्य से मुक्त किया गया। इस प्रकार, पूर्वी यूरोप के अन्य राज्यों की भांति हंगरी भी रूसी प्रभाव क्षेत्र में आ गया और वहां पर साम्यवादी शासन व्यवस्था स्थापित की गई। १८ अगस्त १९४९ को हंगरी में 'जनता का गणराज्य" विधिवत् स्थापित किया गया। २३ अक्टूबर १९५६ को हंगरी में स्तालिन विरोधी क्रांति हुई और स्तालिन कालीन नेताओं का पतन हो गया तथा १ नवम्बर १९५६ को इमरे नेगी (Imre Nagy) ने एक नई संयुक्त सरकार बनाई। इस नई सरकार ने पुरानी सरकार द्वारा रूस के साथ सम्पादित 'वारसा पेक्ट" का त्याग दिया और संयुक्तराष्ट्र संघ से अपनी तटस्थता की रक्षा करने का अनुरोध किया। नूतन सरकार के इन कार्यों से रूस क्रोधित हो उठा और उसकी सूझ-बूझ के अन्तर्गत हंगरी के प्रधानमंत्री नेगी के एक प्रमुख सहयोगी जानास कादर ने "हंगेरियन क्रांतिकारी मजदूरों और किसानों का" एक नई सरकार की स्थापना की। इस प्रकार हंगरी में दो परस्पर विरोधी सरकारों की स्थापना से गृह युद्ध शुरू हो गया। कादर ने सोवियत-संघ से और नेगी ने संयुक्तराष्ट्र संघ से सहायता की याचना की। ४ नवम्बर १९५६ को सोवियत सेनाएं कादर की सरकार की सहायता के लिये हंगरी पहुंच गईं। रूसी सेना में मंगोल, तातार आदि सैनिकों की प्रधानता थी और इन सैनिकों से यह कहा गया था कि वे साम्राज्यवादी तत्वों को दबाने के लिये भेजे जा रहे हैं। आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित इस रूसी सेना ने हंगरी में नादिरशाही कारनामों को भी मात कर दिया। उधर नेगी की सरकार संयुक्तराष्ट्र संघ का द्वार खटखटाती रही परन्तु सोवियत रूस के विरोधी रुख के कारण संयुक्तराष्ट्र संघ परिवार कोई कदम नहीं उठा सका और इधर उधर के वाद विवादों में उलझा रहा। तब तक इमरेनेगी की सरकार का पतन हो गया। नेगी को गिरफ्तार कर लिया गया और उस पर देशद्रोह का आरोप लगाया गया। अन्त में हंगरी के न्यायालय के निर्णयानुसार उसे फांसी दे दी गई। हंगरी के इस हत्याकांड में न जाने कितने हजारों व्यक्तियों

को मौत के घाट उतारा गया इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। लगभग २ लाख हंगेरियन लोग इस हत्याकांड मे भाग निकलने में अवश्य सफल रहे और वे आज भी विदेशो में पड़े सिसक रहे है।

संयुक्त राष्ट्र संघ इसरे नेगी को बचाने में असमर्थ रहा क्योंकि रूस का यह कथन था कि उसने हंगरी की वास्तविक सरकार के निमंत्रण पर वारसा पैक्ट के अन्तर्गत सरकार की सहायता के लिए रूसी सेना भेजी थी। अत संयुक्तराष्ट्र संघ सैनिक कदम उठाने मे असमर्थ रहा। फिर भी, उसने हंगरी की घटना की जाँच के लिए एक विशेष समिति नियुक्त की। परन्तु इस समिति को हंगरी में प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई। समिति ने हंगेरियन शरणार्थियो से पूछताछ की और अपनी रिपोर्ट (प्रतिवेदन) तैयार की। संघ ने इस प्रतिवेदन के आधार पर भारी बहुमत से सोवियत रूस को हंगरी मे हस्तक्षेप का दोषी ठहराया। परन्तु इस प्रकार के प्रस्तावों का कोई कोई प्रभाव नही पड़ा। भारत के प्रधान मंत्री उन्ही दिनों यूरोप की यात्रा कर रहे थे और उन्होंने हंगरी के मामले में रूसी कदम की कटु आलोचना की थी। अब सर्वत्र शांति है, क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय नोक झोक की दूसरी समस्याएँ पैदा हो गई।

इस बार अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोक पुन मध्य पूर्व के क्षेत्र से शुरू हुई। इराक की राज्य क्रान्ति बगदाद पैक्ट का अन्त, लेबनान का संकट और अमेरिकन सेनाओं का प्रवेश, जार्डन मे अंग्रेजी सेनाओं का प्रवेश आदि समस्याएँ नोक झोंक का केन्द्र बनी

**( ६ ) मध्यपूर्व की समस्या इराक की क्रांति**

वैसे इन समस्याओं का प्रादुर्भाव बहुत वर्षों पूर्व हो चुका था जिसका पूरा वर्णन आगे किया गया है, परन्तु १४ जुलाई १९५८ को इराक की सैनिक क्रान्ति तथा पश्चिम समर्थक इराकी प्रधानमंत्री नूरी असस्यद और इराक के राजा की हत्या से मध्यपूर्व की स्थिति शोचनीय हो गई। इस समस्या को समझने के लिए संक्षेप मे पूर्व इतिहास का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। मध्यपूर्व तेल का भण्डार तथा यूरोप के कल कारखानों का जीवन है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व मध्यपूर्व पर टर्की का प्रभुत्व था। प्रथम महायुद्ध मे टर्की ने जर्मनी का साथ दिया। युद्ध की समाप्ति के बाद मध्यपूर्व टर्की के प्रभुत्व से समाप्त हो गया। भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर स्थित लेबनान प्रदेश फ्रेंच मेंण्डेट बना। सीरिया भी फ्रेंच मेण्डेट बना। पेलेस्टाइन, ईराक तथा ट्रांस जोर्डन ब्रिटिश मैण्डेट बने। यमन और सऊदी अरबिया स्वतंत्र राज्य बन गये। मिश्र, ईरान पहले से ही टर्की से पृथक हो चुके थे। अरबों में राष्ट्रीयता की भावना बढ़ने लगी और परिणाम स्वरूप मिश्र, सीरिया, इराक, लेबनान, ईरान आदि स्वतंत्र राज्यो की स्थापना हुई। पलेस्टाइन क्षेत्र में इजरायल तथा जोर्डन नाम के राज्यों की स्थापना हुई। १९५६ म स्वेज संकट से मध्यपूर्व की स्थिति बिगड़ गई और मध्यपूर्व पूर्व और पश्चिम की नोक झोंक का केन्द्र बन गया।

१ फरवरी १९५८ को मिश्र तथा सीरिया ने मिलकर एक "संयुक्त अरब गण राज्य" ( United Arab Republic ) की स्थापना की। यह गणराज्य पश्चिम का विरोधी तथा रूस का सहयोगी था। इसके प्रत्युत्तर में पश्चिम समर्थक दो अरब राज्यों —ईराक तथा जोर्डन ने मिलकर "संयुक्त अरब राज्य" ( United Arab States ) की नींव रखी। ईराक बगदाद पैक्ट का सदस्य था और उसका प्रधान मन्त्री नूरी अस्सय्यद पश्चिम का प्रबल समर्थक था परन्तु ईराकी जनता पश्चिम के साम्राज्यवादी आवरण को दूर हटाना चाहती थी। कई बार विद्रोह हुए, परन्तु सेना की सहायता से उन्हें कुचल दिया गया। १४ जुलाई १९५८ को ईराक के राष्ट्रवादी सैनिकों ने जनरल अब्दुल करीम कासिम के नेतृत्व में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और नूरी तथा राजा को कत्ल कर दिया गया। इसी रोज इस्तम्बोल में बगदाद पैक्ट के प्रतिनिधियों की बैठक होने वाली थी। इस सैनिक क्रांति से संसार आश्चर्य चकित हो गया। संयुक्त अरब राज्य का संगठन टूट गया, बगदाद पैक्ट की मृत्यु हो गई।

परन्तु पश्चिम को ईराकी क्रांति के पीछे साम्यवादी सहयोग दिखाई दिया और इस क्रान्ति का पड़ौसी देशों पर, विशेषकर लेबनान और जोर्डन पर जो पहले से ही उपद्रव ग्रस्त थे, अनिष्ट प्रभाव पड़ने की आशंका हुई। फलस्वरूप १५ जुलाई १९५८ को लेबनान में अमेरिकन सेनाओं तथा १७ जुलाई को जोर्डन में ब्रिटिश फौजें, पश्चिम समर्थक इन राज्यों की सहायता करने पहुँच गई परन्तु वास्तविक उद्देश्य मध्यपूर्व में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना था। रूस ने अमेरिका तथा ब्रिटेन द्वारा सेना भेजने का घोर विरोध किया। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी खूब नोक झोंक हुई। अन्त में लोकमत के प्रबल प्रतिरोध के बाद अमेरिका और ब्रिटेन को अपनी सेनाएँ हटानी पड़ी। इस प्रकार नोक झोंक में कुछ कमी आई।

अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोंक की एक प्रमुख समस्या है—निःशस्त्रीकरण ( Disarmament )। राष्ट्र संघ में भी इसकी व्यवस्था की गई थी और राष्ट्र संघ के बाहर विविध देशों ने भी इस सम्बन्ध में अनेक प्रयत्न किये थे परन्तु सफलता नहीं मिली और द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ। महायुद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई और एक बार पुनः निःशस्त्रीकरण की दिशा में आगे कदम बढ़ाने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। विविध देशों के राजनीतिज्ञों द्वारा इस समस्या को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है क्योंकि युद्ध और शान्ति इस समस्या पर ही निर्भर करती है। निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता इस दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद अणुबम्ब से भी अधिक विनाशकारी अस्त्रों की खोज तथा निर्माण किया जा चुका है। १९५५ में सोवियत ने और १९५६ में अमेरिका ने उद्जन बम्ब का निर्माण किया जो कि अणुबम्ब से २०–२५ गुणा अधिक शक्तिशाली है। अगस्त १९५७ में रूस ने अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र

**(७) निःशस्त्रीकरण की समस्या**

( Inter Continental Ballistic Missile—ICBM ) का आविष्कार करके संसार को आश्चर्य तथा भय में डाल दिया। इससे अणुास्त्रों अर्थात् अणुबम के गोले को दुनियाँ के किसी भी हिस्से में फेंका जा सकता है। इसी प्रकार के अन्य बम्ब फेंकने वाले अस्त्रों का जैसे Intermediary Range Ballistic Missile जिसके द्वारा लेनिनग्राड से लंदन तक मार की जा सकती है, 'Short Range Rocket जिसके द्वारा सीमान्त प्रान्तों तक मार की जा सकती है। ४ अक्टूबर १९५७ को रूस ने प्रथम स्पुतनिक छोड़कर पश्चिम को भयभीत कर दिया। १४ सितम्बर १९५९ को रूस ने चन्द्रलोक में स्पुतनिक भेजने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार की उन्नति से अब यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि अब कहीं अन्तरिक्ष अस्त्रों के द्वारा ही आक्रमण न किया जाय। अतः इस भय से मुक्ति पाने के लिये निःशस्त्रीकरण की समस्या का एक ऐसा समाधान, जिससे सभी को सन्तोष हो सके, आत्म सुरक्षा की प्रत्याभूति का अनुभव हो सके, निकालना नितान्त अनिवार्य हो जाता है।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद, इस समस्या का हल ढूँढने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत तथा उसके बाहर अनेक प्रयत्न किए गये हैं और आज भी जारी है। सर्वप्रथम सं० रा० संघ के तत्वाधान में "अणुशक्ति आयोग" (Atomic Energy Commission) की स्थापना की गई। इस आयोग में सुरक्षा परिषद के पाँचों स्थायी सदस्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। अमेरिका ने इस दिशा में अपना प्रथम "बरूच योजना" ( Baruch Plan ) नामक प्रस्ताव रखा जिसमें अणुशक्ति का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने, किसी भी देश के प्रदेश का निरीक्षण करने, अणुास्त्रों के निर्माण को रोकने की तथा किसी भी देश को इस प्रश्न पर निषेधाधिकार न देने की व्यवस्था थी। परन्तु सोवियत संघ ने इसका अभिप्राय यह लगाया कि अमेरिका, जिसे फिलहाल अणुशक्ति पर एकाधिकार था, अपनी शक्ति को सर्वोच्च बनाये रखने के लिए, दूसरे देशों को नियन्त्रण में कसना चाहता है। अतः उसने माँग की कि पहले विद्यमान अणुास्त्रों को नष्ट कर दिया जाय। अमेरिका इस पर सहमत नहीं हुआ क्योंकि उसका कहना था कि अस्त्रों को नष्ट करने से इस बात की प्रत्याभूति नहीं मिलती कि कोई देश अणुास्त्रों का निर्माण नहीं करेगा। इस प्रकार तीन चार वर्षों तक आपसी वाद विवाद चलता रहा और १९४९ तक सोवियत संघ ने भी अणुशक्ति का सम्पूर्ण रहस्य खोज निकाला। अब समस्या का रूप बदल गया परन्तु पुराने वाद-विवाद जारी रहे।

१९५३ में अणु-उद्जन परीक्षण इतने अधिक बढ़ गये कि अफ्रीका तथा एशियाई देशों ने संयुक्त रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ में कई प्रस्ताव रखे। वैसे इसी गुट के दबाव के कारण १९५१ में संघ ने "अणुशक्ति आयोग" के स्थान पर एक "निःशस्त्रीकरण आयोग" की स्थापना करदी थी। परन्तु फिर भी किसी प्रकार की प्रगति नहीं हो

सके। १९५९ के मध्य तक अनेक बैठकों, सम्मेलनों तथा अधिवेशनों में इस समस्या पर नाना प्रकार के प्रस्ताव रखे गये हैं जिनको अन्तर्राष्ट्रीय नोक झोंक के कारण सफलता नहीं मिल सकी।

इस दिशा में सबसे अन्तिम प्रयत्न १८ सितम्बर १९५९ में किया गया है। सोवियत संघ के प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने अपनी अमेरिका यात्रा के समय संयुक्त राष्ट्र संघ में अपना प्रथम भाषण देते हुए समस्त राष्ट्रों से चार वर्ष में निःशस्त्रीकरण करने की अपील की।

**ख्रुश्चेव का प्रस्ताव**

उन्होंने अपने प्रस्ताव को सार रूप से इस प्रकार रखा —सभी स्थल, जल और नभ सेनाएँ समाप्त करदी जाएँ, सैन्य प्रधान कार्यालय और युद्ध मंत्रालय खत्म कर दिए जाएँ। सैनिक शिक्षा के संस्थान बन्द कर दिये जाएँ, विदेशी सैनिक अड्डे समाप्त कर दिये जाएँ, अणुबम्ब नष्ट कर दिये जाएँ और उनका उत्पादन आगे से निषिद्ध कर दिया जाए। श्री ख्रुश्चेव ने कहा—"जब तक हथियार मौजूद हैं, जब तक युवकों को लड़ाई छेड़ने की शिक्षा दी जा रही है, और सेनाओं के कार्यालयाध्यक्ष सैनिक आक्रमण की योजनाएँ तैयार कर रहे हैं, तब तक शान्ति के लिए कोई प्रत्याभूति नहीं दी जा सकती" श्री ख्रुश्चेव ने कहा कि यदि पश्चिमी राष्ट्र पूर्ण और आम निःशस्त्रीकरण के लिए तैयार न हुए तो सोवियत रूस आंशिक समझौते के लिए विभिन्न राष्ट्रों के साथ वार्तालाप करने को तैयार रहेगा। इस समझौते की शर्तें निम्न रहेंगी।

(१) पश्चिमी यूरोप में एक ऐसा क्षेत्र स्थापित किया जाए, जिसमें सेनाओं पर नियंत्रण रहेगा और उनका निरीक्षण होता रहेगा। विदेशी सेनाओं में कमी करनी जायगी।

(२) मध्य यूरोप में अणु वर्जन क्षेत्र स्थापित हो।

(३) तमाम विदेशी सेनाओं को हटा लिया जाय और तमाम विदेशी अड्डे खत्म कर दिए जाएं।

(४) नाटो एवं वारसा-संधि के देशों में अनाक्रमण संधि की जाए।

(५) अचानक हो आक्रमण के प्रश्न पर समझौता।

सोवियत संघ के प्रधान ख्रुश्चेव के इस प्रस्ताव का भारी स्वागत हुआ है।[1] अमरीकी विदेशमंत्री श्री हर्टर ने इस पर टीका करते हुए कहा कि ख्रुश्चेव के निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रस्ताव पर बड़े गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है। हालांकि यह गत १९३२ के प्रस्ताव जैसा अथवा १० जून १९५५ का किए गए विशिष्ट प्रस्ताव जैसा ही है। यह प्रस्ताव एक नया प्रस्ताव नहीं है। अमेरिका नियन्त्रित निःशस्त्रीकरण की दिशा में हर

---

१ The Hindustan Times dated 20-9-1959

तरह के प्रयत्न कर सकता है जबकि रूस अभीनव नियन्त्रित निश्शस्त्रीकरण से इन्कार करता रहा है। इस प्रकार अभी से नोंक झोंक शुरू हो गई है।

## उपसहार

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (१९४५-५९) की रूप रेखा का अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष की तरफ बढ सकते है कि, आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वस्तुतः दो शक्तियां—सोवियत सघ और अमेरिका द्वारा समायोजित हैं। परन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि दोनो के आदर्शों एव सिद्धान्तो, विश्वासो तथा मान्यताओं और काय करने के साधनो एव तरीको में अत्यधिक अन्तर है। दोनो में एक दूसरे के प्रति विश्वास एव निष्ठा का अभाव है सहयोग तथा सहअस्तित्व की भावना का अभाव है। फिर भी दोनो का लक्ष्य एक समान है। वह है ' विश्व प्रभुत्व की प्राप्ति" ।

सयुक्त राष्ट्रसघ जिस उद्देश्य से स्थापित किया गया था, वह अभी तक पूरा नही हुआ, लोग भविष्य के लिए चिन्तातुर है। विश्व के अनेक हिस्सो म फौजी सघर्ष चल रहे हैं, राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन चल रहे है और विश्वयुद्ध के बादल मडरा रहे है। तनाव या तो पराकाष्ठा तक पहुँच जाएगा अर्थात् विश्वयुद्ध की नौबत आ पहुँचेगी अथवा समय रहते सब राष्ट्र तनाव को खत्म करने मे सफल हो जाएगे। सफलता इस चीज पर निर्भर करती है कि विविध राष्ट्र विश्व को विभक्त करने के प्रयास न करके राष्ट्रों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न करे। विचारधारा की भिन्नता के कारण विभिन्न राष्ट्रों के शातिपूर्ण सहअस्तित्व व मैत्रीपूर्ण सहयोग के सिद्धान्तो के परिपालन में किसी किस्म की अडचन पैदा नही होनी चाहिए। यदि मतभेदो व सामाजिक भिन्नताओं पर जोर दिया गया तो शान्ति स्थापित करने के तमाम प्रयास विफल हो जाएगे।

अब वह समय आ गया है जबकि विश्व की प्रमुख समस्याओं का सुलझाने के लिए राजनीतिज्ञो की आपसी वार्ता, बैठके व उनके सम्मलन बुलाने के युग का सूत्रपात होना चाहिए। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तो को चरितार्थ करने के लिए शीत-युद्ध समाप्त होना चाहिए। युद्ध को आह्वान करने की कोशिशें बन्द की जानी चाहिए। अब समय आ गया जब हथियारों का चमचमाना बन्द होना चाहिए। इस खतरनाक स्थिति को खत्म करने से ही समूचा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण साफ हो सकेगा। एक सुखी, समृद्ध एव सम्पन्न ससार की सृष्टि हो सकेगी।

अध्याय १३

# निकट पूर्व की समस्या

(१९१९ ५९)

"यूरोप से तुर्की साम्राज्य का शनै शनै अदृश्य होना और उस अभाव की पूर्ति की समस्या ही वस्तुत निकट पूर्वी समस्या है।"—डा० मिलर

निकट पूर्व (Near East) या बाल्कन राष्ट्रीयताओं (Balkan Nationalisms) अथवा दक्षिण पूर्वी यूरोप (Southeastern Europe) की समस्या का उद्भव १७ वी शताब्दी में हुआ था। १४ वी और १५ वी शताब्दी में एशियाई तुर्कों ने दक्षिण पूर्वी यूरोप पर अधिकार कर लिया था। इस क्षेत्र को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बाल्कन प्रायद्वीप या निकट पूर्व भी कहते हैं। इसमें भिन्न भिन्न जातियां—यूनानी, रूमानियन, अल्बानियन, बल्गेरियन एव महान् स्लाव जाति जो अनेक, शाखाओं—सर्बियन, बास्नियन, माण्टीनिग्रेरियन मे विभक्त थी, निवास करती थी। ये जातियाँ रीति रिवाजों की दृष्टि स न केवल तुर्कों से ही भिन्न थी, अपितु आपस में, एक दूसरे से भी बहुत भिन्न थी। अठारहवी शताब्दी में तुर्की साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई और यूरोप के सामने यह समस्या आई कि तुर्की के उपरान्त उसका स्थान कौन ग्रहण करेगा? यह अनुमान था कि रूस या आस्ट्रिया उसके स्थान की पूर्ति करेगा परन्तु इस बात की कोई कल्पना भी नही करता था कि उस साम्राज्य में बसने वाली जातिया भी अपना भाग्य निर्णय अपने हाथ में लेने का दावा कर सकती हैं। तीन प्रमुख तत्व इस समस्या के रूप को स्पष्ट कर देते है—(१) तुर्की की निरन्तर निर्बलता, (२) बाल्कन प्रायद्वीप में निवास करने वाली जातियो म राष्ट्रीयता का उदय, और (३) महान् शक्तियो का हस्तक्षेप।

उपरोक्त तत्वों के सामूहिक परिणाम स्वरूप १८२२ म यूनान ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करदी। मिश्र और सीरिया भी धीरे २ तुर्की के शासन से दूर दूर होते गये। रूमानिया, सर्बिया, बल्गेरिया और अल्बानिया भी स्वतन्त्र हो गये। प्रथम महायुद्ध के बाद हमें निम्नलिखित स्वतन्त्र राज्यो का अस्तित्व देखने को मिलता है—रूमानिया, यूगोस्लाविया, यूनान, बल्गेरिया और अल्बानिया।

निकट पूर्व की समस्या पर विचार करने के पूर्व, इस स्थान पर एक बात को स्पष्ट कर देना अत्यधिक आवश्यक है ताकि पाठकों को भ्रम म न भटकना पड़े।

तरह के प्रयत्न कर सकता है जबकि रूस अभीतक नियन्त्रित निशस्त्रीकरण से इंकार करता रहा है। इस प्रकार अभी से नोक झोक शुरू हो गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (१६४५-५६) की रूप रेखा का अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष की तरफ बढ सकते हैं कि, आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वस्तुतः दो शक्तियों—सोवियत संघ और अमेरिका द्वारा समायोजित हैं। परन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि दोनो के आदर्शों एवं सिद्धान्तो, विश्वासो तथा मान्यताओं और काय करने के साधनो एवं तरीका में अत्यधिक अंतर है। दोनो में एक दूसरे के प्रति विश्वास एवं निष्ठा का अभाव है सहयोग तथा सहअस्तित्व की भावना का अभाव है। फिर भी दोनो का लक्ष्य एक समान है। वह है 'विश्व प्रभुत्व की प्राप्ति"।

**उपसंहार**

संयुक्त राष्ट्रसंघ जिस उद्देश्य से स्थापित किया गया था, वह अभी तक पूरा नहीं हुआ, लोग भविष्य के लिए चिन्तातुर हैं। विश्व के अनेक हिस्सा मे फौजी संघर्ष चल रहे हैं, राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन चल रहे हैं और विश्वयुद्ध के बादल मडरा रहे है। तनाव या तो पराकाष्ठा तक पहुँच जाएगा अर्थात् विश्वयुद्ध की नौबत आ पहुँचेगी अथवा समय रहते सब राष्ट्र तनाव को खत्म करने में सफल हो जाएगे। सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि विविध राष्ट्र विश्व को विभक्त करने के प्रयास न करके राष्ट्रो को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न करे। विचारधारा की भिन्नता के कारण विभिन्न राष्ट्रों के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व व मैत्रीपूर्ण सहयोग के सिद्धान्तो के परिपालन में किसी किस्म की अडचन पैदा नहीं होनी चाहिए। यदि मतभेदो व सामाजिक भिन्नताओं पर जोर दिया गया तो शांति स्थापित करने के तमाम प्रयास विफल हो जाएगे।

अब वह समय आ गया है जबकि विश्व की प्रमुख समस्याओं को सुलझाने के लिए राजनीतिज्ञो की आपसी वार्ता, बैठके व उनके सम्मेलन बुलाने के युग का सूत्रपात होना चाहिए। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तो को चरितार्थ करने के लिए शीत-युद्ध समाप्त होना चाहिए। युद्ध को आह्वान करने की कोशिशे बन्द की जानी चाहिए। अब समय आ गया जब हथियारो का चमचमाना बन्द होना चाहिए। इस खतरनाक स्थिति को खत्म करने से ही समूचा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण साफ हो सकेगा। एक सुखी, समृद्ध एवं सम्पन्न संसार की सृष्टि हो सकेगी।

# अध्याय १३

# निकट पूर्व की समस्या

## (१६१९ ५६)

"यूराप से तुर्की साम्राज्य का शनै शनै अदृश्य होना और उस अभाव की पूर्ति की समस्या ही वस्तुत निकट पूर्वी समस्या है।"—डा० मिलर

निकट पूर्व (Near East) या बाल्कन राष्ट्रीयताओं (Balkan Nationalisms) अथवा दक्षिण पूर्वी यूराप (Southeastern Europe) की समस्या का उद्भव १७ वी शताब्दी मे हुआ था। १४ वी और १५ वी शताब्दी में एशियाई तुर्कों ने दक्षिण पूर्वी यूरोप पर अधिकार कर लिया था। इस क्षेत्र का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बाल्कन प्रायद्वीप या निकट पूर्व भी कहते है। इसमे भिन्न भिन्न जातिया–यूनानी, रूमानियन, अल्बानियन, बल्गेरियन एव महान् स्लाव जाति जो अनेक, शाखाओ–सर्वियन, बोस्नियन, माण्टीनिग्रेरियन म विभक्त थी, निवास करती थी। ये जातिया रीति रिवाजो की दृष्टि स न केवल तुर्कों स ही भिन्न थी, अपितु आपस में, एक दूसरे स भी बहुत भिन्न थी। अठारहवी शताब्दी में तुर्की साम्राज्य का शक्ति क्षीण हो गई और यूरोप के सामने यह समस्या आ कि तुर्की के उपरान्त उसका स्थान कौन ग्रहण करेगा? यह अनुमान था कि रूस या आस्ट्रिया उसके स्थान का पूर्ति करेगा परन्तु इस बात की कोई कल्पना भी नही करता था कि उस साम्राज्य मे बसने वाली जातिया भी अपना भाग्य निर्णय अपने हाथ मे लेने का दावा कर सकती हैं। तीन प्रमुख तत्व इस समस्या क रूप का स्पष्ट कर देते है—(१) तुर्की की निरन्तर निर्बलता, (२) बाल्कन प्रायद्वीप में निवास करने वाली जातियो म राष्ट्रीयता का उदय, और (३) महान् शक्तियो का हस्तक्षेप।

उपरोक्त तत्वो के सामूहिक परिणाम स्वरूप १८२२ में यूनान ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करदी। मिश्र और सीरिया भी धीरे २ तुर्की के शासन से दूर दूर होते गये। रूमानिया, सर्बिया, बल्गेरिया और अल्बानिया भी स्वतन्त्र हो गये। प्रथम महायुद्ध के बाद हमें निम्नलिखित स्वतन्त्र राज्यो का अस्तित्व देखने को मिलता है—रूमानिया, यूगोस्लाविया, यूनान, बल्गेरिया और अल्बानिया।

निकट पूर्व की समस्या पर विचार करने के पूर्व, इस स्थान पर एक बात को स्पष्ट कर देना अत्यधिक आवश्यक है ताकि पाठको को भ्रम में न भटकना पडे। 'निकट पूर्व'

की क्षेत्रीय सीमा तथा उसमें सम्मिलित राज्यों के बारे में, विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। कुछ लोग मिश्र, तुर्की, सीरिया, इजरायल, जोर्डन आदि को भी निकट पूर्व में सम्मिलित करते हैं तो कुछ लोग इन्हें मध्यपूर्व में सम्मिलित करते हैं। तुर्की की समस्या बहुत जटिल है क्योंकि यह बाल्कन प्रायद्वीप अर्थात् दक्षिण पूर्वी यूरोप से भी घनिष्ट रूप से सबंधित है और एशिया से भी है। परन्तु बाकी के देशों को निकटपूर्व के अन्तर्गत रखना कहां तक सही है, यह एक विवादग्रस्त विषय है। हमने अपने अध्ययन की दृष्टि से निकटपूर्व में निम्नलिखित राज्य सम्मिलित किये हैं —

**क्षेत्रीय सीमा**

रूमानिया, यूगोस्लाविया, यूनान, बल्गेरिया और अल्बानिया।

## रूमानिया

प्रथम महायुद्ध में रूमानिया ही एक ऐसा देश था जिसने अपना रास्ता सही चुना, युद्ध में पराजित हुआ परन्तु शांति को जीता। १९१६ तक रूमानिया ने युद्ध में सक्रिय




भाग नहीं लिया था। परन्तु इसी वर्ष में जब मित्रराष्ट्रों का भविष्य उज्जवल दिखाई देने लगा तो उसने अपने तथा कथित मित्रों—जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। धुरी राष्ट्रों ने बहुत शीघ्रता से रूमानिया को पराजित कर दिया और मई १९१८ में उन्होंने उसे बुखारेस्ट की संधि पर हस्ताक्षर करने को विवश किया। इस संधि

के द्वारा रूमानिया जर्मनी का एक आर्थिक उपनिवेश बन गया। नवम्बर १९१८ में जब जर्मनी की स्थिति शोचनीय हो गई तो रूमानिया ने फिर एक बार जर्मनी के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया। इस प्रकार की नीति के परिणामस्वरूप परिस अधिवेशन के समय उसे मित्रराष्ट्रों की पंक्ति में स्थान प्राप्त हुआ। पेरिस की शांति व्यवस्था से रूमानिया का क्षेत्रफल तथा आबादी दुगनी हो गई, उसका क्षेत्रफल ५२,००० वर्ग मील से ११३,००० वर्गमील हो गया तथा आबादी ८,०००,००० से बढ़कर १७,०००,००० हो गई। बाल्कन प्रायद्वीप में रूमानिया सर्वशक्तिशाली राज्य बन गया। रूमानिया को रूस से बेसारबिया, आस्ट्रिया से बुकोविना, हंगरी से ट्रांसिलवानिया प्राप्त हुआ और १९१३ में द्वितीय बाल्कन युद्ध के परिणाम स्वरूप प्राप्त डाब्रूजा प्रांत पर उसके आधिपत्य को मान्यता दे दी गई।

परन्तु इन उपलब्धियों के परिणामस्वरूप रूमानिया विविध जातियों वाला राज्य बन गया। उसकी तत्कालीन आबादी में १,३५० ००० हंगेरियन ८००,००० जर्मन, ५००,००० रूथेनियन ३५०,००० बल्गेरियन ३१० ००० रूसी तथा ८१०,००० यहूदी थे। रूमानिया की यहूदी विरोधी नीति ने उसे जर्मनी की तरफ झुकने में सहयोग दिया। दूसरी बात यह थी कि रूमानिया के सीमान्त सुरक्षित नहीं रहे। इसकी सीमा पाँच राज्यों की सीमाओं से मिली हुई थी जिनमें से दो राज्य हंगरी तथा बल्गेरिया जर्मनी के साथ थे। फिर जर्मनी से रूसी यूक्रेन प्रदेश का मार्ग रूमानिया होकर जाता था। इससे भी उसे दोनों पक्षों की तरफ से भय बना रहता था।

१९१९ से १९३३ तक रूमानिया का राजनीतिक इतिहास दो प्रश्नों आर्थिक स्थिति और किसानों की प्रशासन व्यवस्था में प्रतिनिधित्व की मांग, से अधिक प्रभावित रहा है। परन्तु १९३३ के उपरान्त, संघर्ष का प्रमुख केन्द्र सम्राट् कारोल (Carol) तथा रूमानियन फासिस्टों, जिन्हें "आइरन गार्ड" (Iron Guard) कहा जाता था, के मध्य संघर्ष था। १९३८ के अन्त तक सम्राट ने सभी राजनीतिक दलों को तथा लोकतान्त्रिक संस्थाओं का भंग करके अपनी तानाशाही स्थापित करली जो सितम्बर १९४० तक जारी रही।

विदेश नीति के क्षेत्र में रूमानिया यथास्थिति का जबरदस्त समर्थक तथा संधि संशोधन विरोधी पक्ष का शक्तिशाली अनुयायी बना रहा। रूस के विरुद्ध मार्च १९२१ में उसने पोलण्ड के साथ एक सुरक्षात्मक समझौता किया। संधि संशोधन विरोधी नीति के कारण रूमानिया, यूगोस्लाविया तथा चेकोस्लोवाकिया के अधिक निकट आता गया और "लघु मैत्री संघ" (Little Entente) में सम्मिलित हुआ। चूंकि फ्रांस भी यथास्थिति को बनाये रखने का पक्षधर था अतः १९२६ में रूमानिया ने उसके साथ भी एक संधि कर ली। हिटलर के उत्थान से तथा जर्मनी और बल्गेरिया की मित्रता के भय से, १९३४ में वह "बाल्कन मैत्रीसंघ" (Balkan Entente) का सदस्य बन गया। १९३८ में आस्ट्रिया के पतन ने रूमानिया को अपनी विदेशनीति का पुनर्निर्माण करने का

विवश किया। म्यूनिख समझौता के बाद, रूमानिया जर्मनी की तरफ आकर्षित होता गया और १९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ तो शुरू में उसने तटस्थ रहने का विचार किया था परन्तु इटली के युद्ध में कूदने तथा फ्रांस के शीघ्र पतन से स्थिति बन गई और रूमानिया में जर्मन समर्थक सरकार की नियुक्ति की गई। परन्तु इससे रूमानियाँ का अंग भंग नहीं बचा और उसे मजबूरी की स्थिति में बेसेरबिया तथा उत्तरी बुकोविना रूस को, दक्षिणी डोब्रूजा बल्गेरिया को तथा ३० अगस्त १९४० को रिबनट्राप के निर्णयानुसार ट्रांसिलवानिया हंगरी को देना पड़ा। इस अंग भंग से सम्राट कारोल की सत्ता का अन्त हो गया और माईकेल को राजा बनाया गया। नये राजा ने रूमानिया का भविष्य धुरीराष्ट्रों की कृपा पर छोड़ दिया और इस प्रकार रूमानिया जर्मनी का एक आश्रित राज्य बन गया। १९४१ में जर्मनी के साथ रूमानिया ने भी सोवियत संघ पर आक्रमण किया। परन्तु शीघ्र ही स्थिति बदल गई और २३ अगस्त १९४४ को उसने सोवियत संघ की लाल सेनाओं को बिना किसी शर्त के आत्म समर्पण कर दिया। १३ दिसम्बर १९४७ को साम्यवादी दबाव के कारण सम्राट् माइकेल को सिंहासन से अलग हो जाना पड़ा और रूमानियन लोक सभा ने रूमानिया की जनता का गणराज्य घोषित कर दिया। अर्थात् रूमानिया पूर्ण रूप से साम्यवादी बन गया। सोवियत संघ ने भी उदारता का व्यवहार करते हुए ट्रांसिलवानिया का प्रांत पुनः उसे दे दिया। महायुद्ध के उपरान्त की गई संधियों के अनुसार उस पर ३०० ०००, ००० डालर की क्षतिपूर्ति लादी गई। उसकी सैनिक शक्ति कम कर दी गई। बाद में सोवियत रूस ने १५०,०००,००० डालर की क्षतिपूर्ति कम करदी। तब से ही रूमानिया सोवियत संघ की कठपुतली बना हुआ है।

## यूगोस्लाविया

प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात सर्बिया के संकट से हुआ था। सर्बिया के पक्ष में सम्पूर्ण मित्रराष्ट्र थे। अतः युद्ध के बाद सर्बिया का अत्यधिक विस्तार किया गया। सर्बिया और मांटिनीग्रो राज्यों को मिलाकर एक विशाल स्लाव राज्य-यूगोस्लाविया का निर्माण किया गया। यूगोस्लाविया को आस्ट्रिया हंगरी के भूतपूर्व बाल्कन प्रांत बास्निया तथा हर्जीगोविना प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त उस निम्न प्रांतों का लाभ हुआ—डालमेशिया, कारनिओला और कुछ भाग आस्ट्रिया से, क्रोएशिया, स्लोवानिया और वायवाडिना हंगरी से प्राप्त हुए। नवनिर्मित यूगोस्लाविया राज्य का क्षेत्रफल ९६,००० वर्गमील और जनसंख्या १२,०००,००० थी। १९३९ तक बाल्कन प्रायद्वीप में, रूमानिया को छोड़कर यह सबसे बड़ा राज्य था। ऐतिहासिक दृष्टि से यूगोस्लाविया का एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में अस्तित्व १९१९ में वर्साय की संधि की धाराओं के अन्तर्गत आया। वस्तुतः १ दिसम्बर १९१८ को बेलग्रेड में सब, क्राटस्लोवन आदि जातियों के प्रतिनिधियों के विशेष अधिवेशन में इस नूतन राज्य की स्थापना कर दी गई थी परन्तु इसका "यूगोस्लाविया" नाम ३ अक्टूबर १९२९ को रखा गया था।

जून १९२१ में बेलजियन संविधान के आधार पर यूगोस्लाविया की लोक सभा ने एक संविधान बनाया जिसमें एकात्मक राज्य, एक सदन वाली लोकसभा तथा सीमित राजतन्त्र की व्यवस्था की गई थी। परन्तु इससे सम्पूर्ण यूगोस्लाविया में राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। क्रोट लोग एक स्वतन्त्र क्रोट गणराज्य की स्थापना या कम से कम यूगोस्लाव संघ राज्य के अन्तर्गत एक स्वायत्त शासन इकाई की स्थापना के पक्ष में थे। इस राजनीतिक अव्यवस्था से लाभ उठाते हुए यूगोस्लाविया के राजा अलैक्जेण्डर ने ६ जनवरी १९२९ को संवैधानिक सरकार का तख्ता पलट दिया और संविधान को रद्द करते हुए एकाधिकार शक्तियों को धारण किया। ३ सितम्बर १९३१ को एक नया संविधान बनाया गया जिसमे राजा के एकाधिकार सुरक्षित रखे गये। ९ अक्टूबर १९३४ को मार्सेलिज नगर में फ्रेंच विदेश मन्त्री बार्थो सहित अलैक्जेण्डर को कत्ल कर दिया गया और ग्यारह वर्षीय पीटर द्वितीय को यूगोस्लाविया का सम्राट घोषित कर दिया गया। राजकुमार पॉल संरक्षक नियुक्त किये गये।

विदेश नीति के क्षेत्र में, १९१९ से १९३३ तक, यूगोस्लाविया को इटली का भय बना रहा क्योंकि इटली एड्रियाटिक सागर को अपने प्रभुत्व में लाने का आकांक्षी था। परन्तु यूगोस्लाविया इसका विरोधी था क्योंकि उसका अस्तित्व ही एड्रियाटिक सागर की स्वतन्त्रता पर टिका हुआ था। अत इटली के लिये यूगोस्लाविया की शक्ति को क्षीण करना आवश्यक हो गया। इस ध्येय से इटली ने यूगोस्लाविया के विरुद्ध वोजवाडिना (Vojvodina) में हंगरी के, मेसिडोनिया में बल्गेरिया के और क्रोट लोगों की स्वतन्त्रता के दावे का जबरदस्त समर्थन किया। इटली की इन हरकतों ने यूगोस्लाविया को "संधि-संशोधन विरोधी नीति" (Non revisionist Policy) का पक्षधर बना दिया और उसे फ्रांस द्वारा समर्थित 'लघु मैत्री संघ' की तरफ कदम बढ़ाने को विवश किया। इस संधि के द्वारा यूगोस्लाविया और फ्रांस एक दूसरे के नजदीक आने में सफल हुए। परन्तु घटनाएँ इस तेजी से बदलती गईं कि यूगोस्लाविया का फ्रेंच मित्रता से विश्वास हट गया। अलैक्जेण्डर की फ्रांसीसी भूमि पर हत्या, १९३३ में मुसोलिनी द्वारा फ्रांस के सामने "चार राष्ट्रों की सन्धि" (Four Power Pact) का प्रस्ताव रखना और फ्रांस का इसको स्वीकार कर लेना, जर्मनी में हिटलर का उत्थान और फ्रांस द्वारा इटली की मित्रता को प्राप्त करने के प्रयत्न आदि घटनाओं ने यूगोस्लाविया को बहुत प्रभावित किया। १९३५-३६ में फासिस्ट शक्तियों द्वारा १९१९ की प्रादेशिक व्यवस्था का अतिक्रमण, पश्चिमी राष्ट्रों की प्रसादन नीति और फ्रांस का इंगलैण्ड पर निर्भर होते जाना आदि घटनाओं ने यूगोस्लाविया को जनवरी १९३७ में बल्गेरिया के साथ मैत्री का समझौता करने को विवश किया। मार्च १९३७ में उसने इटली के साथ अनाक्रमण संधि की। १९३७—३८ के समय में, यूगोस्लाविया धीरे धीरे, जर्मनी का आर्थिक सत्ता का अंग बनता जा रहा था। अगस्त १९३९ में उसे क्रोट लोगों को स्वायत्त शासन का अधिकार देने को विवश होना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के शुरू में

युगोस्लाविया तटस्थ रहने का इच्छुक था परन्तु जर्मनी के दबाव के कारण २५ मार्च १९४१ को उसे 'त्रिगुट संधि" (Tripartite Pact) पर हस्ताक्षर करने को विवश होना पड़ा। इससे सम्पूर्ण देश में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और सम्राट ने क्रांति कर दी, तत्कालीन सरकार को अपदस्थ करके, युगोस्लाविया की तटस्थता की घोषणा की। ६ अप्रैल १९४१ को जर्मनी ने युगोस्लाविया पर आक्रमण कर दिया। १२ दिन के भीतर संगठित प्रतिरोध का अन्त हो गया। सम्राट भाग गया और सम्पूर्ण युगोस्लाविया पर शत्रुओं का अधिकार हो गया।

पराजय के बाद ही, युगोस्लाविया को अंग भंग का घोर अपमान सहन करना पड़ा। जर्मनी ने स्लाविना प्रांत पर, रूमानिया ने पूर्वी युगोस्लाविया के अधिकांश भाग पर, बल्गेरिया ने सर्वियन मेसिडोनिया पर, इटली ने कोटार के सामुद्रिक अड्डे पर और अल्बानिया ने आस पास के सामुद्रिक तट पर अधिकार कर लिया। हंगरी ने ट्रायनान की संधि द्वारा युगोस्लाविया को दिये गये अपने सभी प्रान्तों का पुनः प्राप्त कर लिया। क्रोएशिया को एक स्वतंत्र राज्य बना दिया गया। इस प्रकार युगोस्लाविया का अब नाम मात्र ही बाकी रह गया। परन्तु युगोस्लाविया के नागरिकों की देश भक्ति अभी जीवित थी। उन्होंने पहले जनरल मिहाजलोविक (Mihajlovic) के नेतृत्व में 'चेतनिक' (Chetnik) संगठन की स्थापना की और बाद में मार्शल टीटो के नेतृत्व में 'पार्टीसनस' (Partisans) की स्थापना की। चेतनिक राजपक्षपाती और साम्यवाद विरोधी थे।

१९४२ में युगोस्लाविया की उपरोक्त दोनों पार्टियों में खुल्लमखुल्ला संघर्ष शुरू हो गया। धीरे धीरे इंगलैण्ड और अमेरिका को यह आभास होने लगा कि चेतनिक संगठन जर्मनी का हिमायती है। अतः उन्होंने मार्शल टीटो की सहायता देना शुरू कर दी। उधर रूस जर्मनी को पराजित करता हुआ आगे बढ़ता आ रहा था। इधर टीटो ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर जर्मनों को युगोस्लाविया से बाहर खदेड़ना शुरू कर दिया। नवम्बर १९४५ के अन्त तक युगोस्लाव संविधान ने एक नूतन संविधान पारित करके, युगोस्लाविया को 'जनतांत्रिक गणराज्य' घोषित कर दिया। इस प्रकार युगोस्लाविया साम्यवादी बन गया और मार्शल टीटो उसका राष्ट्रपति बन गया।

युगोस्लाविया साम्यवादी तो बन गया परन्तु सोवियत संघ की कठपुतली बनना में अस्वीकार कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप उसे कामिनफार्म से निकाल दिया गया। साम्यवादी समाज से बहिष्कृत कर दिया गया और दूसरे साम्यवादी देशों ने भी उससे नाता तोड़ दिया। यह सब २८ जून १९४८ को हुआ। उस रोज संसार इस सूचना को कि युगोस्लाव साम्यवादी दल को अभद्र व्यवहार के कारण, मार्क्सवाद तथा लेनिन वाद के प्रतिकूल मार्ग का अवलम्बन करने के लिए तथा सोवियत संघ के प्रति अमैत्रीपूर्ण रुख अपनाने के कारण साम्यवादी समाज से बहिष्कृत किया जाता है, सुनकर स्तम्भित रह गया। इतना ही नहीं बल्कि उस पर यह आरोप लगाया गया

कि उसका संचालन अफसर शाही लोगों के द्वारा किया जा रहा है जो वर्ग भेद को बनाये रखने के समर्थक हैं और मार्क्स के वर्ग संघर्ष द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना के विरोधी हैं और जो साम्यवादी समाज की संस्था "कोमिन्फार्म" में उपस्थित होकर अपनी भूलों पर विचार विमर्श करने को भी तैयार नहीं हैं तथा सोवियत संघ के विरुद्ध साम्राज्यवादी तत्वों को प्रोत्साहन दे रहे हैं। २६ जून को यूगोस्लाव साम्यवादी दल ने इस सूचना पर दुख प्रकट करते हुए इन आरोपों का खंडन किया। इस प्रकार मार्शल टीटो तथा स्तालिन के मध्य शीत युद्ध का सूत्रपात हुआ। वास्तविक बात यह थी कि टीटो सोवियत संघ का एक सामन्त बनने को तैयार नहीं था। वह उसके साथ एक स्वतन्त्र तथा समान शक्ति के रूप में सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था। दूसरी बात यह थी कि यूगोस्लाविया को सोवियत सेनाओं ने मुक्त नहीं किया था अपितु टीटो ने जर्मनों को अपने देश से खदेड़ा था। अतः सोवियत संघ के अहसान का कोई सवाल नहीं उठता था। पश्चिमी लेखकों का कथन है कि मार्शल टीटो यूगोस्लाव लोगों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए उद्योग धन्धों को विकसित करना चाहता था और रूस चाहता था कि यूगोस्लाविया उसके लिए कच्चामाल का क्षेत्र तथा उसके उत्पादन की मंडी बना रहे। चाहे जो भी कारण रहा हो, स्तालिन की मृत्यु के समय तक ( ५ मार्च १९५३ ) दोनों देशों के सम्बन्ध दिन प्रतिदिन बिगड़ते गये और एक दूसरे के विरुद्ध धुआधार प्रचार किया जाता रहा।

मार्शल टीटो का सोवियत संघ के प्रति विद्रोह, पश्चिमी क्षेत्र में एक शुभ घटना और पूर्वी यूरोप में व्याप्त साम्यवाद विरोधी आन्दोलन का प्रथम चरण माना गया। अमरिका ने अवसर का लाभ उठाते हुए यूगोस्लाविया को आर्थिक सहायता करने का निश्चय कर लिया। जुलाई १९४८ में उसने युद्धकाल में जब्त किये गए ६ करोड़ डालर पुनः यूगोस्लाविया को लौटा दिये और यूगोस्लाविया ने भी इसके बदले में अमेरिकन दावे के १ करोड़ ७० लाख डालर चुकाने का वचन दिया। इसी प्रकार अन्य पश्चिमी देशों के साथ यूगोस्लाविया ने संधियां करली।

स्तालिन की मृत्यु के उपरान्त यूगोस्लाविया और रूस के सम्बन्धों में सुधार होना शुरू हुआ। यूगोस्लाविया के विरुद्ध किया जाने वाला प्रचार शिथिल होता गया। मई दिवस पर, सोवियत नेताओं ने यूगोस्लाव साम्यवादी दल के प्रति किसी प्रकार के कटु वचनों का प्रयोग नहीं किया। यह गत पांच वर्षों में पहला अवसर था जब कि यूगोस्लाव साम्यवादी दल को बख्शा गया था। २६ अप्रैल १९५३ को मोलोतोव ने मास्को स्थित यूगोस्लाव प्रतिदूत ( Charge d'affairs ) को, दोनों देशों के मध्य दौत्य सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध में बातचीत के लिये बुलाया। जुलाई १९५३ में राजदूतों की नियुक्ति भी करदी गई। सितम्बर १९५४ में रूस तथा यूगोस्लाविया ने व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर किये। इसके पूर्व पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों—बल्गेरिया, हंगरी, रूमानिया आदि के साथ यूगोस्लाव शासन ने समझौते कर लिये थे। २० अक्टूबर १९५४

को बेलग्रेड की मुक्ति की दसवी वर्षगांठ पर सोवियत सघ ने मार्शल टीटो की प्रशंसा की और उन्हे यूगोस्लाविया का सपूत कहकर सम्बोधित किया। २८ नवम्बर को यूगोस्लाविया के राष्ट्रीय दिवस पर मास्को स्थित यूगोस्लाव राजदूतावास के समारोह में सोवियत नेताओ ने मार्शल टीटो तथा यूगोस्लाव साम्यवादी दल की शुभकामना के नाम पर जाम पिये। ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि दोनो देश मार्क्स तथा लेनिन के बतलाये हुए रास्ते के राही है अत उनमें मतभेद का उठना असम्भव है।

परन्तु टीटो सोवियत नीति के जाल में फसना नही चाहता था। वह साम्यवादी सिद्धान्तो की घोषणा के लिए एक सयुक्त रगमच पसन्द नही करता था। वह चाहता था कि सोवियत सघ अन्य साम्यवादी देशो के साथ समानता का व्यवहार करे। दूसरे देशो की प्रभुसत्ता का आदर करे और उनके घरेलू मामलो हस्तक्षेप करना बन्द कर दे। इसके अतिरिक्त टीटो जिसे सोवियत सघ के वचनो में पूर्ण विश्वास नही था, पश्चिम के साथ स्थापित किये हुए अपने सम्बन्धो का समाप्त करना भी नही चाहता था क्योकि पश्चिम की सहायता के बूते पर ही वह सोवियत सघ का सफलतापूर्वक सामना कर सका था और करने की आशा रखता था। सोवियत सघ ने टीटो के भ्रम को दूर करते हुए उसे आश्वासन दिया कि यूगोस्लाविया अपने पूर्व सम्बन्धो को कायम रखते हुए रूस के साथ मित्रता कर सकता है। २७ मई से जून १९५५ तक सोवियत नेताओ—ख्रुश्चेव, बुल्गानिन और मिकोयान का मार्शल टीटो से व्यक्तिगत वार्तालाप हुई और आपसी मतभेदो को दूर करने का प्रयत्न किया गया। ख्रुश्चेव ने सोवियत सघ की भूतपूर्व नीति का दोष बेरिया आदि नेताओ पर डाला जिन्हें अब तक मृत्यु दण्ड दिया जा चुका था। २ जून को दोनो देशो के नेताओ ने एक सयुक्त घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसमें एक दूसरे के साथ सहयोग करने पर जोर दिया गया था।

जून १९५५ मे मार्शल टीटो रूस की यात्रा के लिए रवाना हुए। उनके रूस पहुँचने के पूर्व उनके विरोधी मोलोतोव को विदेश मन्त्री पद से पृथक कर दिया गया और शेपीलोव को विदेश मन्त्री नियुक्त किया गया। टीटो की मास्को यात्रा सतोषजनक प्रमाणित हुई और दो घोषणाए की गई। प्रथम के अन्तर्गत यूगोस्लाविया ने अधिकाश पहलुओ पर सोवियत विदेश नीति का समर्थन करने का वचन दिया यदि रूस उसे और अधिक आर्थिक सहायता देता रहा और दूसरी के अन्तर्गत यूगोस्लाव साम्यवादी दल ने स्वतन्त्रता, समानता एव सम्मान के आधार पर रूसी साम्यवादी दल से समझौता कर लिया।

परन्तु यह मैत्रीपूर्ण व्यवहार अधिक समय तक नही चल पाया और इसके मार्ग में रोडे आने लग गये। ३ सितम्बर १९५६ को सोवियत साम्यवादी दल ने पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी दलो को एक पत्र भेजा जिसमें राष्ट्रीय साम्यवादी प्रवृत्तियो की भर्त्सना करने तथा साम्यवादी गुट को मजबूत बनाने की अपील की गई। इस पत्र से यूगोस्लाविया में असतोष फैलने लगा। यूगोस्लाव सरकार ने दो भूतपूर्व कामिन्फार्मवादियो का स्वागत

गार सोवियत पत्रो ने उसके कार्यों की कटु आलोचना की। इससे बेलग्रेड का असतोष और अधिक बढ गया। परन्तु १७ सितम्बर को ख्रुश्चेव ने अचानक ही बेलग्रेड की यात्रा की और दोनो पक्षा के मतभेदो को दूर करने का प्रयत्न किया परन्तु विशेष सफलता नही मिली। याल्टा मे दोनों देशो के नेता एक बार पुन मिले परन्तु फिर भी कोई फायदा नही हुआ। पोलैण्ड और हगरी की घटनाओ से दोनो देशो के तनाव में और अधिक वृद्धि हुई। क्योकि पोलण्ड में गोमुल्का की विजय टीटोवाद की विजय थी। हगरी के मामले में टीटो ने सोवियत रूस का तथा हगरी के तत्कालीन प्रधान कादर (Kadar) की कटु आलोचना की। परन्तु मास्को ने टीटो की आलोचना नही की। १६५७ के मध्य, रूमानिया में मार्शल टीटो और ख्रुश्चेव की गुप्त वार्त्तालाप हुई और तब से मार्शल टीटो ने कादर का आलोचना करनी बन्द कर दी है। युगोस्लाविया निरन्तर सोवियत सघ के शाति प्रयत्नो का समर्थन करता आ रहा है।

परन्तु १६५७ के अन्त में पुन मतभेद उठ खडा हुआ। सोवियत शासन की स्थापना की ४० वी वर्षगाठ पर मास्को में साम्यवादी देशो के प्रतिनिधि एक विशेष समारोह में सम्मिलित हुये। उस सम्मेलन में दो प्रस्ताव रखे गये एक शाति घोषणा पत्र और दूसरा 'सभी साम्यवादी देशों की साम्यवादी तथा श्रमिक पार्टियो की घोषणा' (Declaration of the Communist and Workers Parties of all Communist Countries) युगोस्लाविया ने प्रथम पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया परन्तु दूसरे पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया क्योंकि इससे उसे दूसरो की इच्छानुसार चलना पडता। इससे सोवियत सघ पुन नाराज हो गया और परिणाम स्वरूप अप्रल १६५८ में बेलग्रेड की काग्रेस के समारोह में रूसी प्रतिनिधि मडल को नही भेजा गया। १६५६ में पुन कुछ सुधार हुआ है और दोनो देश एक दूसरे के नजदीक आने का प्रयत्न कर रहे है।

दोनो देशो के मतभेद का मूल कारण अज्ञात है। परन्तु पश्चिमी विचारको का अनुमान है कि मार्शल टीटो स्वतन्त्र रूप से काम करना पसन्द करते हैं। वे साम्यवादी है परन्तु सोवियत वादी नही और हिंसा तथा प्रचार के द्वारा साम्यवाद का प्रसार करने के पक्ष में नही है बल्कि जनता के लिये ठोस कार्यों को कार्यान्वित करके लोकमत के मानस को जीत कर उन्हे साम्यवाद की दीक्षा देना चाहते है अर्थात् प्रेम व शान्ति के साथ लोगों की स्वीकृति से साम्यवाद का प्रचार करना चाहते है। परन्तु साम्यवादी विचारकों का कथन है कि मार्शल टीटो विश्व की समस्याओ के समाधान लिए अपनी योजनाए बनाते रहते है और यह हठ करते रहते है कि उनकी योजनाओं को जिस अधिकाश देश मानने को तयार नही है, लागू किया जाय। यह सोवियतसघ को मान्य नहीं है।

## यूनान

यूनान का इतिहास सदियो पुराना है और आधुनिक पश्चिमी सभ्यता, यूनानी सभ्यता का ही एक सशोधित एव परिवर्द्धित रूप है। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम काल

में यूनान ने तुर्की की दासता से स्वतन्त्रता प्राप्त की। बाल्कन राज्यों में स्वतन्त्रता प्राप्त करने वाला प्रथम राज्य यूनान ही था। परन्तु यूनान में राजतन्त्र का भविष्य सन्देहपूर्ण ही रहा। यूनान की स्वतन्त्रता के उपरान्त तीन राजाओं को सिंहासन छोड़ कर यूनान से बाहर जाना पड़ा और एक को कत्ल कर दिया गया। केवल एक राजा (अलेक्जेण्डर) अपनी स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हुआ (१९२०) था।

१९१० से यूनान की राजनीति दो प्रमुख मतवादों इलेफ्थिरियॉस वेनिजेलॉस (Eleutherios Venizelos) के पक्ष या विपक्ष के इर्द गिर्द चक्कर लगाती रही। उसका जन्म क्रीट में हुआ था, बाद में वह यूनान में बस गया और १९१० में पहली बार यूनान का प्रधान मन्त्री बना। उसमें एक महान् राजनीतिज्ञ के बहुत से गुण विद्यमान थे और वह अपने साथियों से कहीं अधिक सूझ-बूझ वाला व्यक्ति था। इस कारण उसके साथी उससे जलते रहते थे और जब तब उसके विरुद्ध मोर्चाबन्दी करने से नहीं चूकते थे।

प्रथम महायुद्ध के समय वेनिजेलॉस तथा यूनान के तत्कालीन सम्राट कानस्टाइन का यूनान की विदेशनीति पर आधार भूत मत भेद था। इसका एक कारण था। कानस्टाइन की पत्नी जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय की बहन थी। अतः वह जर्मनी के प्रति उदार तटस्थता की नीति का पालन करना चाहता था जबकि वेनिजेलॉस खुले रूप से मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेना चाहता था। १९१७ में वेनिजेलॉस ने सम्राट को पदच्युत करवाने का सफल प्रयत्न किया और मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर महायुद्ध में सम्मिलित हो गया। कानस्टाइन के पुत्र अलेक्जेंडर को सिंहासन पर बैठाया गया जो १९२० में मर गया।

महायुद्ध में यूनान के सहयोग तथा पेरिस अधिवेशन में वेनिजेलॉस की कूटनीति के परिणाम स्वरूप न्यूली और सेव्रे की सन्धियों द्वारा यूनान को पूर्वी और पश्चिमी थ्रेस Thrace, एड्रियानोपल और स्मर्ना (Smyrna) प्राप्त हुआ। परन्तु यूनानी सेनाओं की वापसी तथा तुर्की की राष्ट्रीय चेतना जिसका नेतृत्व मुस्तफा कमाल पाशा ने किया था, यूनान को स्मर्ना से खदेड़ दिया गया और एड्रियानोपल पुनः तुर्की को वापस सौंपने का निश्चय किया गया। इटली ने भी डोडेकेनीज के टापुओं (Dodecanese Islands) के अधिकार के दावे को छोड़ दिया। अन्त में परिस्थिति यह रही कि यूनान के पास केवल थ्रेस बच गया। इससे यूनानी असन्तुष्ट हो गये और वेनिजेलॉस को प्रधान मन्त्री पद से पृथक होना पड़ा। हालांकि यूनानी डटे रहे परन्तु उन्हें तुर्कों के हाथों बुरी तरह से पराजित होना पड़ा। इसका एक कारण तो यह था कि इंग्लैंड और फ्रांस ने यूनान की सहायता नहीं की जबकि १९२१ में तुर्की और फ्रांस में सन्धि हो जाने से तुर्की को फ्रांस का सहारा मिल गया। दूसरी बात यह थी कि यूनानियों में साहस एकता नहीं थी और युद्ध राष्ट्रीय प्रेम से प्राण प्राप्त दे। इस

यूनानियो ने अपने राजा कानस्टाइन को पुन निवासित कर दिया और जॉर्ज द्वितीय को सिंहासन पर बठाया। परन्तु दिसम्बर १९२३ मे उसे भी निर्वासित कर दिया गया और एडमिरल कोनडोरोइटस (Koundouriotes) को अस्थायी राष्ट्रपति घोषित कर दिया गया। इसी समय नये चुनाव हुए और जनवरी १९२४ में वेनिजेलॉस पुन प्रधान मन्त्री बना परन्तु राजा की वापसी का पक्ष धर हाने के कारण दो महीना के बाद ही उसे फिर हटना पडा। इसके बाद यूनान में दो-तीन तानाशाहो ने शासन किया और जुलाई १९२८ में वेनिजेलॉस पुन प्रधानमन्त्री बना और १९३३ तक वह इस पद पर बना रहा। बाद में पुन अराजकता पैदा हो गई और २५ नवम्बर १९३५ को जार्ज द्वितीय को वापस राजा घोषित कर दिया गया। अप्रैल १९३६ मे मिटक्सज (Metaxes) प्रधान मन्त्री बना और १९४० तक इस पद पर बना रहा। महायुद्ध (१९३९—४५) में यूनान ने पुन मित्र राष्ट्रो का पक्ष लिया और उसे जमनी स पराजित होना पडा। अक्टूबर १९४४ तक सम्पूर्ण यूनान जमन आधिपत्य मे मुक्त हो गया। बाद म महाशक्तियो के हस्तक्षेप से यूनान में गृह-युद्ध जारी हो गया और २८ सितम्बर १९४६ को सम्राट पुन यूनान लौट सका।

विदेश नीति के क्षेत्र में जैसा कि बतलाया जा चुका है यूनान ने तुर्की के साथ १९२३ में समझौता कर लिया था। १९३३ में तुर्की के साथ अकारा सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये और इस प्रकार दोनो देशो के सीमान्तो की समस्या का समाधान किया गया। इसी प्रकार बल्गेरिया के साथ भी धीरे धीरे अच्छे सम्बन्ध स्थापित किये गये। १९२८ में इटालियन नीति—कोर्फू तथा अल्बानियों को हडपने की नीति म यूनान की चिन्ता बढ गई। दोनो देशो में छुट पुट झडप भी हो गई परन्तु १९२३ अस्थायी समझौता हो गया। जमनी के साथ यूनान के आर्थिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ट होन गये और १९३९ में स्थिति यह थी कि जमनी के साथ उसका आयात निर्यात अन्य देशो म अधिक था। साइप्रस की समस्या को लेकर यूनान और इंगलैंड के मध्य तनाव बना रहा परन्तु फिर भी परम्परागत उदार मैत्री की भावना बनी रही। अप्रैल १९३९ में अल्बानियों पर इटली के अधिकार से यूनान की स्वतन्त्रता ही नहीं बल्कि पूर्वी भूमध्य सागर का शक्ति सतुलन भी खतरे में पड गया और इसलिए इगलैंड तथा फ्रास ने यूनान को उसकी स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति दी। अत यूनान युद्ध समय तक तटस्थ रहा और १९४० में इगलण्ड तथा जमनी दोनो के साथ व्यापारिक समझौता किया। २८ अक्टूबर १९४० को इटली ने यूनान के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। ब्रिटेन ने यूनान की सहायता की। यूनानियो ने भी आपसी मत भेदो को भुला कर शत्रुओ का सामना किया और दिसम्बर के अन्त तक इटालियन सनाओ को अल्बानिया की तरफ खदेड दिया। २९ जनवरी १९४१ को मिटेक्सेज का देहान्त हो गया परन्तु उसके उत्तराधिकारी कोरीजिस (Corizis) ने शत्रुओ के प्रति युद्ध को जारी रखा। ६ अप्रैल को जमनी ने भी यूनान पर धावा बोल दिया। १८ अप्रैल को कोरीजिस ने आत्म हत्या कर ली

और २० अप्रैल को यूनानी सेना की करारी पराजय हुई। सम्राट ने क्रीट को अपना राजधानी बनाया। २७ अप्रैल को जर्मन सेना ने एथेंस पर अधिकार कर लिया और एक कठपुतली सरकार की स्थापना की। धीरे २ सम्पूर्ण यूनान पर धुरी सेनाओं का अधिकार हो गया और सम्राट तथा उसकी सरकार पहले काहिरा और बा. में लन्दन भाग गई। १९४१ के मध्य में यूनान में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्र पात हुआ। इसका नेतृत्व दो परस्पर विरोधी दलों राष्ट्रीय प्रजातान्त्रिक यूनानी सेना (National Democratic Greek Army E D E S) और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन (National Liberation Movement E A M) ने किया। पहला अनुदारवादी था और दूसरा वामपक्षी। दोनों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ और १९४४ जाकर दोनों में सुलह हुई और संयुक्त रूप से देश को स्वतन्त्र करने की योजना बनाई जा सकी। १५ अक्टूबर १९४४ तक सम्पूर्ण देश को स्वतन्त्र कर दिया गया।

इसी समय (अक्टूबर १९४४) इंगलैण्ड और सोवियत संघ के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार यूनान को ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र मान लिया गया। यूनान का नियन्त्रण प्राप्त करने में ब्रिटेन का एक विशेष हित था। वह भूमध्यसागर के उस पार स्थित ब्रिटिश साम्राज्य के मार्गों जो कि भूमध्यसागर से होकर जाते थे, को सुरक्षित रखना चाहता था। क्योंकि साम्यवादी यूनान से न केवल इन मार्गों को ही खतरा था बल्कि तुर्की और इटली में भी साम्यवादी प्रभाव के बढ़ने की आशंका थी। यूनान की इस सामरिक महत्ता में पश्चिम को अपनी आत्म सुरक्षा की कुंजी दिखाई पड़ा। अतः जब ब्रिटेन ने यूनान का दायित्व लिया तो उसने यूनान की सभी लड़ाकू पार्टियों को भंग कर दिया और सभी दलों के सदस्यों को मिलाकर एक सामयिक (Provisional) सरकार की स्थापना की। परन्तु वामपक्षी दल E A M शीघ्र ही इससे अलग हो गया और यूनान में गृह युद्ध शुरू हो गया। वामपक्षी दल को साम्यवादी देशों से सहायता मिल रही थी और अनुदार दल को पश्चिमी देशों से। ब्रिटिश सेना ने साम्यवादियों को कुचलने में अथक परिश्रम किया। परन्तु स्तालिन अथवा सोवियत पक्ष ने एक भी विरोधी शब्द का उच्चारण नहीं किया। मार्च १९४५ में नये चुनाव कराये गए और राजपक्षपाती दल (अनुदार दल) को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। सितम्बर में राजा को पुनः यूनान में निमन्त्रित किया गया।

परन्तु साम्यवादियों ने अपना संघर्ष जारी रखा और दिसम्बर १९४६ में यूनानी सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ से प्रार्थना की कि साम्यवादियों को गुप्त रूप से विदेशी सहायता मिल रही है। १९४७ में संयुक्त राष्ट्र संघ ने इसकी जाँच के लिये एक विशेष आयोग भेजा जिसने जाँच पड़ताल के बाद यह प्रतिवेदन (Report) प्रस्तुत किया कि युगोस्लाविया, अल्बानिया तथा बल्गेरिया से यूनानी साम्यवादियों को हर प्रकार की सहायता दी जा रही है। अतः सोवियत संघ, जो अब तक अक्टूबर समझौते के कारण चुप बैठा था, ने अब यूनान की समस्या में विशेष रुचि लेना शुरू कर दिया। इस नई स्थिति

ने ग्रिन का अपनी नीति पर पुनर्विचार करने को बाध्य किया। २४ फरवरी १६४७ को ग्रिन ने स्पष्ट कर दिया कि अपनी आर्थिक स्थिति के कारण वह अब यूनान में सेना नहीं रख सकेगा और न ही उसे किसी प्रकार की सहायता दे सकेगा। इससे अमेरिका भयभीत हो गया। क्योंकि यदि यूनान हाथ से चला जाता है तो साम्यवादी साम्राज्य की अन्तिम चौकी-तुर्की का बचाना असम्भव हो जाता है। अत अमेरिका ने यूनान को हर प्रकार की सहायता देने का निश्चय कर लिया। ट्रूमन ने घोषणा की कि अमेरिका स्वतंत्र देशों को बिना सहायता के देखना न पसन्द कर सकता है और न ही करना चाहिए। १२ मार्च को काफी वाद विवाद के बाद ट्रूमन ने अपना अन्तिम निर्णय घोषित कर दिया। वह था—ट्रूमैन सिद्धान्त जिसका अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। अमेरिकन सहायता, यूनानियों के पराक्रम तथा युगोस्लाविया और रूस के मत भेद जिसके परिणाम स्वरूप युगोस्लाविया ने साम्यवादियों को सहायता देने से इन्कार कर दिया था, के सामूहिक कारणों से यूनान के गृह युद्ध का अन्त हुआ जिसमें साम्यवादियों के प्रभुत्व का हमेशा के लिये अन्त हो गया।

## बल्गेरिया

बाल्कन प्रायद्वीप के राज्यों में बल्गेरिया ही एक देश था जिसने दुर्भाग्यवश प्रथम महायुद्ध में धुरीराष्ट्रों जर्मनी और आस्ट्रिया हंगरी का साथ दिया था। उसे इसकी सजा भुगतना पड़ा और न्यूली की संधि के द्वारा उसके बहुत से प्रदेश छीन लिये गये, क्षतिपूर्ति की रकम थाप दी गई और उसकी सैनिक शक्ति को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया। युद्ध काल में फर्डीनान्द को सिंहासन का परित्याग करना पड़ा और उसका पुत्र बोरिस तृतीय सिंहासन पर बैठाया गया जिसने अपनी मृत्यु के समय तक (२३ अगस्त १६४३) शासन किया।

विदेश नीति के क्षेत्र में, १६१६ से ही बल्गेरिया संधि संशोधन पक्ष का समर्थक रहा था। वह मेसिडोनिया, दक्षिणी डोब्रूजा और एजियन सागर की तरफ जाने के लिये गलियारा प्राप्त करने का उत्सुक था। उसकी इस माग का इटली ने समर्थन किया परन्तु इंगलैण्ड और फ्रांस ने डटकर विरोध किया। मेसिडोनिया की माग के कारण उसके युगोस्लाविया से सम्बन्ध बिगड़ गये और एजियन सागर की तरफ रास्ते की माग से यूनान उसका विरोधी हो गया। डोब्रूजा की माग तथा रूमानिया में बसे बल्गर लोगों के प्रति रूमानियन सरकार के बुरे व्यवहार की आलोचना करने से रूमानिया भी उसका शत्रु बन गया। तुर्की के साथ उसने अवश्य सम्बन्ध सुधार लिये और १६२५ में उसके साथ एक मैत्री संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। परन्तु १६३४ में बाल्कन राज्यों द्वारा रचित एवं सम्पादित "बाल्कन राज्यों के समझौते" पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। १६३७ में उसने युगोस्लाविया के साथ भी अपने सम्बन्ध सुधार लिये। इसके पीछे उसका उद्देश्य लघुमैत्री संघ को कमजोर बनाना था।

द्वितीय महायुद्ध के शुरू में बल्गेरिया ने तटस्थ रहने का प्रयत्न किया परन्तु अन्त में उसे जर्मनी की कठपुतली बन जाना पडा और १ मार्च १६४१ को उसे जर्मनी के साथ "त्रिराष्ट्रसंधि" (Tripartite Treaty) पर हस्ताक्षर करना पडा। जब जर्मन सेना ने यूगोस्लाविया तथा यूनान पर आक्रमण किया तो बल्गेरियन सेनाओं ने उस सहयोग दिया। इसी प्रकार २५ नवम्बर १६४१ को बल्गेरिया ने साम्यवादी विरोधी संधि (Anti Comintern Pact) में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। इसी समय मित्रराष्ट्रों ने बल्गेरिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। युद्ध काल में बल्गेरिया के राजा बोरिस की मृत्यु हो गई और उसके ६ वर्षीय पुत्र सीमेन को राजा बनाया गया। सितम्बर १६४४ में बल्गेरिया युद्ध बन्दी की दुहाई देने लग गया और २८ अक्टूबर को उसकी प्रार्थना स्वीकार करली गई। बल्गेरिया में रूसी नेतृत्व के अन्तर्गत एक नियन्त्रण आयोग स्थापित किया गया और धीरे २ बल्गेरिया साम्यवादी चंगुल में फंसता गया। ८ सितम्बर १६४६ को राजतंत्र को बनाये रखने के लिये लोकमत लिया गया जिसके परिणाम स्वरूप राजा को अपने सिंहासन से और बल्गेरिया को अपने राजा से मुक्ति मिली और बल्गेरिया मे प्रजातान्त्रिक गणराज्य की स्थापना की गई।

बल्गेरिया साम्यवादी कैसे बन गया ? इसकी कहानी बहुत दिलचस्प है। ६ सितम्बर १६४४ को 'पितृभूमि मोर्चे' (Fatherland Front) ने अपनी सरकार बनाई और २८ अक्टूबर को युद्ध बन्दी भी हो गई। इस दल पर साम्यवादियों का प्रभाव अधिक था। फिर भी जॉर्जीव (Georgiev) प्रधानमन्त्री बना और साम्यवादियों को गृह तथा न्याय विभाग का मन्त्रित्व दिया गया। शीघ्र ही साम्यवादियों ने शुद्धि करण का शुरू किया और अपने विरोधियों को कारावास अथवा निर्वासन या मौत के घाट की तरफ भेजना शुरू कर दिया। इससे पितृभूमि मोर्चे में दरार पड गई और पेटकॉव (Petkov) मोर्चे से पृथक हो गया और उसने साम्यवादियों के विरोधी दल का निर्माण किया। विरोधी दल ने पश्चिम से सहायता की अपील की और साम्यवादियों ने सोवियत संघ की तरफ हाथ फैलाया। १८ नवम्बर १६४५ को नये चुनाव हुये। विरोधी दल ने इसमें भाग नहीं लिया और साम्यवादियों की जीत हुई। परन्तु पश्चिम के दबाव के कारण प्रजातन्त्रों के नेताओं-पेटकॉव तथा लुल्चेव आदि को मन्त्रिमंडल में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया परन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। २७ अक्टूबर को संविधान सभा के लिये पुनः चुनाव हुए और साम्यवादी भारी बहुमत से जीते। जोर्जी दिमित्रोव प्रधानमन्त्री बना। अगस्त १६४७ में पेटकॉव पर अभियोग चलाया गया और उसे प्राणदंड दिया गया। १६४७-४८ में बल्गेरिया ने पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों के साथ पारस्परिक सहायता संधियां कीं। रूस के साथ भी इसी तरह की संधि की गई। तब से अब तक बल्गेरिया सोवियत संघ के आदेशानुसार चल रहा है और विदेशनीति के क्षेत्र में सोवियत संघ का जबरदस्त समर्थन करता आ रहा है।

# अल्बानिया

तुर्की सत्ता म सबसे अन्त म मुक्ति पाने वाला बाल्कन प्रदेश अल्बानिया था। १६१२ में अल्बानियन लोगो ने इटली तथा आस्ट्रिया हगरी की सहायता से तुर्की शासन के प्रति विद्रोह कर दिया और अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। १७ दिसम्बर १६१२ में लन्दन राजदूतो के अधिवेशन में अल्बानिया की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया गया, इसकी सीमाए निर्धारित की गई और एक यूरोपियन राजकुमार को अल्बानिया पर शासन करने को चुना गया। फरवरी १६१४ म राजकुमार विलियम अल्बानिया का राजा बन कर अल्बानिया म आये परन्तु सितम्बर १६१४ म उन्हे वापस लौटने को विवश कर दिया गया। इस समय प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात हो चुका था और आस्ट्रियन तथा बल्गेरियन सेनाओ ने इस छोटे से नवनिर्मित निर्बल राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। जून १६१७ में इटली ने अल्बानिया को शत्रुओ से मुक्त करके पुन उसकी स्वतन्त्रता की घोषणा की। १६१८ में मित्रराष्ट्रो ने अल्बानिया म सामयिक सरकार की स्थापना की परन्तु इसके विरुद्ध जनआदोलन बढता गया और १६२० मे एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की गई।

पेरिस शाति अधिवेशन में इटली ने अल्बानिया को अपने सरक्षण मे रखने की माग की परन्तु विल्सन तथा लायडजार्ज ने उसकी माग को ठुकरा दिया और उधर अल्बानियन लोगो ने इटली की सेनाओ को अपने देश से खदेड दिया। परन्तु अल्बानिया की सीमाओ का निर्माण काफी नोक झोक के बाद १६२३ में ही हो सका। इटली ने अल्बानिया की राष्ट्रीय सरकार को मान्यता प्रदान करदी। इस राष्ट्रीय सरकार में अहमद बे जोगू (Ahmed Bey Zogu) का अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रभाव था। फिर भी १६२४ में एक राजा के पादरी फान नोली (Fan Noli) के नेतृत्व म, मौजूदा प्रशासन के विरुद्ध एक क्रातिकारी आन्दोलन शुरू हो गया। अहमद जोगू यूगोस्लाविया भाग गया और वहा पर अपनी शक्ति को सगठित करके पुन अल्बानिया में प्रवेश किया और पुन सत्ता पर अधिकार कर लिया। शायद जोगू को यूगोस्लाविया से सहायता मिली थी क्योकि जनवरी १६२५ में जोगू के अल्बानियन गणराज्य का राष्ट्रपति बन जाने के अविलम्ब बाद स्वेतीनौम और वर्मोशा के विवादग्रस्त क्षेत्र यूगोस्लाविया को दे दिये गये।[1] १ सितम्बर १६२८ को अल्बानिया को एक राजतन्त्र घोषित कर दिया गया और जोगू उसका प्रथम सुलतान बन गया।

यद्यपि जोगू ने यूगोस्लाविया की सहायता से फान नोली की सरकार को अपदस्थ करके सत्ता हथियाई थी। परन्तु १६२५ से उसका झुकाव इटली की तरफ बढता गया। इसका प्रमुख कारण अल्बानिया की आर्थिक स्थिति था। जोगू अपने देश की आर्थिक

---

[1] गथोर्न हार्डी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सक्षिप्त इतिहास।

स्थिति को उन्नत करना चाहता था और यूगोस्लाविया व्यापक पैमाने पर सहायता करने में असमर्थ था। अतः जोगू इटली के, जोकि हर प्रकार की सहायता देने में समर्थ था, जाल में उलझता गया। इटालियन विशेषज्ञों के निर्देशानुसार अल्बानियन सेना का संगठन किया गया। इटालियन पूंजी से अल्बानिया की राष्ट्रीय बैंक का विस्तार किया गया, उद्योग धंधों को विकसित किया गया और कई नूतन परिवर्तन किये गये। इटालियन सहायता के फलस्वरूप यूनान और यूगोस्लाविया अल्बानिया के अंग भंग की योजना को कार्यान्वित करने में असफल रहे। परन्तु अल्बानिया को भी अपने साम्राज्य प्रसार की महत्वाकांक्षा को छोड़ना पड़ा। १६२६ में जोगू के शासन के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। जोगू ने मुसोलिनी की सहायता से इस विद्रोह को कुचल दिया और इटली के साथ तिराना की संधि (Treaty of Tirana) की जिसमें यह व्यवस्था की गई कि अल्बानिया की मांग पर इटली को अल्बानिया के आन्तरिक तथा वैदेशिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार रहेगा। १६२७ में इटली के साथ एक सुरक्षा संधि भी की गई। १६३१ के बाद जोगू ने इटली के प्रभाव से मुक्त होने का असफल प्रयत्न करना शुरू कर दिया। इससे मुसोलिनी नाराज हो गया और ७ अप्रैल १६३६ को इटालियन सेनाओं ने अल्बानिया पर आक्रमण कर दिया। १४ अप्रैल को अल्बानिया इटली साम्राज्य में मिला लिया गया। जोगू भाग गया। १६४४ तक अल्बानिया इटली के अधिकार में रहा। १६४४ के अन्त में इटली और अल्बानियन संघ को तोड़ दिया गया और अल्बानिया में एक नई सरकार स्थापित करने का निश्चय किया गया। जनरल इन्वर होक्सा (Enver Hoxha) ने एक लोकप्रिय सरकार की स्थापना की। १० नवम्बर १६४५ को इंगलैण्ड अमेरिका और रूस ने इस सामयिक सरकार को इस शर्त पर कि वह यथा शीघ्र स्वतन्त्र चुनाव करायेगी, मान्यता दे दी, दिसम्बर १६४५ में चुनाव हुआ और साम्यवादियों को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। १-२ जनवरी १६४६ को अल्बानिया जनतान्त्रिक गणराज्य घोषित कर दिया गया और जोगू के अधिकारों को समाप्त कर दिया गया।

नूतन अल्बानियन गणतंत्र शुरू में यूगोस्लाविया के साथ अधिक सम्पर्क में रहा और मास्को के प्रति उसकी निष्ठा कम रही। क्योंकि महायुद्ध के समय उसे रूस से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिली थी और न ही बाद में कोई विशेष सहायता प्राप्त हो सकी। इसके अतिरिक्त १६५५ तक रूस के साथ उसकी कोई पारस्परिक सहायता सन्धि भी नहीं हुई। हालांकि यूनान के गृह युद्ध तथा अन्य सामान्य घटनाओं के कारण उसका रूस से सम्बन्ध बना रहा। परन्तु यूगोस्लाविया से उसे बहुत अधिक सहायता मिली। फिर यूगोस्लाविया पहला देश था जिसने स्वतन्त्र अल्बानियन गणराज्य को मान्यता दी थी और उसके साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित किये थे। अतः यह स्वाभाविक था कि अल्बानिया यूगोस्लाविया की तरफ आकर्षित होता। परन्तु कुछ अल्बानियन अपने देश पर यूगोस्लाव प्रभाव को ठीक नहीं मानते थे और उन्हें भय था कि कहीं अल्बानिया यूगोस्लाविया की पराधीनता मान न रह जाय। अतः जब १६४८ में मार्शल

टीटो को साम्यवादी समाज से बहिष्कृत कर दिया गया तो अल्बानिया ने यूगोस्लाविया से सम्बन्ध विच्छेद कर लिये और मास्को की तरफ बढ़ने लगा। १९५५ में उसने वारसा पैक्ट पर हस्ताक्षर किये और तब से अल्बानिया निरन्तर मास्को का समर्थन करता आ रहा है।

## अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे निकट पूर्व

निकट पूर्व को, पूर्व और पश्चिम का संगम केन्द्र माना जाता है। प्राय इसे पूर्व और पश्चिम रूपी बोतल की गर्दन की उपमा दी जाती है परन्तु फिर भी यह क्षेत्र न तो घनिष्ट रूप से एकता के सूत्र में बंधा हुआ न स्वयं में पूर्ण ही है। यह क्षेत्र न तो यातायात के साधनों की दृष्टि से और न कृषि तथा उद्योग धंधों की दृष्टि से विकसित

**पृष्ठ भूमि**

है बल्कि निर्धनता और आपसी फूट का बोल बाला है। संकीर्ण जातीयता का गढ़ है। इस क्षेत्र में विविध जातियां—आर्मीनियन यहूदी, अल्बानियन, सर्ब, बल्गेरियन, तुर्क आदि बसी हुई है जिनका एक मात्र काम एक दूसरे से घृणा करना है। इन सब तत्वों की प्रधानता के कारण, शताब्दियों से विदेशी शक्तियों को अपना प्रभुत्व स्थापित करने तथा बाल्कन में हस्तक्षेप करने की प्रेरणा प्राप्त होती रही है जिसके परिणाम स्वरूप बाल्कन प्रायद्वीप "यूरोप के बारूद का ढेर" तथा 'यूरोपियन कूट नीति का अखाड़ा" कहा गया है।

यदि हम इसके इतिहास का अध्ययन करें तो मालूम होगा कि प्रथम महायुद्ध के पूर्व इस क्षेत्र पर तुर्की का आधिपत्य था जो लगभग चार पांच सौ वर्षों से चला आ रहा था। परन्तु दक्षिण पूर्वी यूरोप का अधीश्वर एशियाई तुर्की रोग ग्रस्त हो गया

**विविध शक्तियों की रंग भूमि**

और बाल्कन जातियों के राष्ट्रीय आन्दोलन, यूरोप की महान् शक्तियों के स्वार्थों के कारण बाल्कन प्रायद्वीप विश्राम का केन्द्र बन गया। वास्तव में यह विविध शक्तियों की रंगभूमि बन गया और इस रंगभूमि पर जर्मन, रूसी, आस्ट्रो हंगेरियन तथा तुर्कों ने अपना अपना अभिनय प्रदर्शित किया और इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने अपने व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से उनके अभिनय का निर्देशन भी किया। परन्तु प्रथम महायुद्ध और बाल्कन जातियों को स्वतन्त्रता के लिए उकसाने तथा महान् शक्तियों की गुप्त सन्धियों, रूस आस्ट्रिया हंगरी, जर्मनी की शक्ति के पतन, विल्सन के आत्म निर्णय के सिद्धान्त और साम्यवादी रूस की औपनिवेशिक साम्राज्य के अन्त की दलील और १९१९ में शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त की हत्या के फलस्वरूप निकट पूर्व की समस्या में एक क्रान्तिकारी मोड़ आया। पांच नये स्वतन्त्र राज्यों का नये सिरे से निर्माण किया गया।

संक्षेप में, महायुद्ध के उपरान्त से लेकर १९३३ तक इटली ने निकट पूर्व में अपने प्रभुत्व का स्थापित करने का प्रयत्न किया क्योंकि इस क्षेत्र में अतिरिक्त उसे अन्य कोई

क्षेत्र दिखलाई नहीं पड़ा जिस पर वह सुगमता पूर्वक अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। इटली के प्रयत्नों से इंगलैण्ड तथा फ्रांस का प्रभुत्व काफी क्षीण हो गया परन्तु उन्होंने इटली के विरुद्ध बाल्कन देशों का बाल्कन मैत्री संघ बनाने का प्रोत्साहन किया और सहयोग भी दिया। १९-९ से १९४४ तक जर्मनी और इटली ने इस क्षेत्र पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया और इंगलैण्ड तथा फ्रांस को यहाँ से हटना पड़ा। १९४५ से इस पर सोवियत संघ और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच प्रतियोगिता शुरू हो गई और यूनान को छोड़कर बाकी सब बाल्कन देशों पर साम्यवादी रूस का प्रभाव स्थापित हो गया। काफी संघर्ष और परिश्रम के बाद पश्चिमी देश केवल यूनान को अपनी तरफ कर सके।

युद्धोपरान्त सर्वप्रथम और साथ ही शांति गुटों में से एक स्थायी गुट का जो उदभव हुआ, उसे अनधिकृत रूप से "लघु मैत्री संघ" (The Little Entente) के नाम से पुकारा जाता है। इस मैत्रीसंघ का निर्माण तीन द्विपक्षीय सन्धियों (Bilateral Treaties) से हुआ था—(१) चेकोस्लोवाकिया और युगोस्लोवाकिया के बीच (१४ अगस्त १९२०) (२) चेकोस्लोवाकिया और रूमानिया के बीच (२३ अप्रैल १९२१), और (३) रूमानिया तथा युगोस्लाविया के बीच (७ जून १९२१)। सन्धियों का प्रमुख उद्देश्य तीनों राज्यों को, हंगरी द्वारा बिना किसी विवाद के किये जाने वाले आक्रमण से बचाना था। अर्थात् शक्ति के द्वारा ट्रायनन की सन्धि में संशोधन करने वाले किसी प्रयत्न को या हैप्सबर्ग के पुनर्रोहण को रोकना था। इसके अतिरिक्त रूमानिया और युगोस्लाविया ने एक आपसी समझौता कर लिया कि वे बल्गेरिया की तरफ से दोनों देशों में से किसी एक पर आक्रमण होने की स्थिति में दूसरे की सहायता को पहुँच जायगा। लघु मैत्री संघ की सीमा सीमित थी और महान् शक्तियों के आक्रमण के विरुद्ध किसी प्रकार की सहायता की प्रत्याभूति की व्यवस्था इसमें सम्मिलित नहीं की गई थी।

**लघु मैत्री संघ की रचना**

आपसी कृतज्ञता के अतिरिक्त इन सन्धियों ने सदस्य देशों को मैत्री बंधन में आबद्ध कर दिया। मैत्री का यह भाव, विदेश नीति के क्षेत्र में, हंगरी के संशोधनवादी भय की सीमा को लाँघकर और आगे बढ़ गया। हालांकि लघु मैत्री संघ मुख्यतः एक राजनीतिक संघ था परन्तु फिर भी विशेषकर १९२७ के उपरान्त तीनों देशों ने व्यापारिक समझौतों आदि के माध्यम से आर्थिक उन्नति की दृष्टि से एक सामान्य मार्ग को ग्रहण करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार राष्ट्रसंघ तथा विविध यूरोपियन समितियों की बैठक में एक सामान्य दृष्टिकोण को अपनाने का भी प्रयत्न किया गया। परन्तु इस प्रकार का प्रदर्शन यदाकदा ही किया जा सका। क्योंकि प्रत्येक देश की व्यक्तिगत समस्याएँ इतनी अधिक थीं कि दूसरे साथी देश उसमें रुचि लेने के इच्छुक नहीं थे। फिर इस संघ ने अपने सदस्यों को दूसरे देशों के साथ समझौता करने की भी छूट दे

रखा थी। इससे एक सामान्य विदेश नीति का अनुसरण कठिन हो गया।

लघु मंत्री संघ में सम्मिलित होने वाले देशों के प्रेरक भाव भिन्न भिन्न थे। अर्थात् प्रत्येक देश को अपनी कुछ आन्तरिक और विदेशी समस्याओं के कारण संघ में सम्मिलित होना पड़ा था। पहले चेकोस्लोवाकिया को ही लीजिये। इसका निर्माण सेन्ट जर्मेन की संधि के द्वारा हुआ। इसका नाम भी इसी समय गढ़ा गया क्योंकि इससे पूर्व इस राज्य का इतिहास में कभी अस्तित्व नहीं था। वैसे चेक राष्ट्रीयता के आधार पर चेकोस्लोवाकिया का निर्माण किया गया था परन्तु इसमें अन्य अल्पसंख्यक को भी सम्मिलित कर लिया गया। महान् स्लाव जाति की दोनों शाखाओं चेक और स्लोवाक जिनके पीछे इसका नाम पड़ा, आपस में लड़ती झगड़ती रहीं। अतः चेक सरकार को यह भय उत्पन्न हो गया कि भावी संकट के समय ये अल्पसंख्यक जातियां सहयोग देंगी भी या नहीं। भय का दूसरा कारण उसकी प्राकृतिक स्थिति थी। उसकी राजधानी प्रेग सीमान्त पर स्थित थी और जर्मनी की तरफ से होने वाले आक्रमण से उसकी रक्षा करना अत्यधिक कठिन था। इसी प्रकार हंगरी के साथ होने वाले संघर्ष में लम्बे और सकीर्ण भूभाग की सुरक्षा भी असाध्य थी। यही कारण था कि चेकोस्लोवाकिया यथा स्थिति का समर्थक और संधि-संशोधन वादियों का शत्रु था और इस दृष्टि से उसे जर्मनी, हंगरी, आस्ट्रिया और बलोरिया से हमेशा भय बना रहा।

रूमानिया को चेकोस्लोवाकिया की तरह अल्पसंख्यकों का अधिक भय नहीं था परन्तु उसके तेल के केन्द्रों की तरफ महाशक्तियों की ललचाई दृष्टि लगी हुई थी। इसके अतिरिक्त उसे रूस और बलोरिया का भय बना हुआ था क्योंकि महायुद्ध के बाद उसे इन दोनों देशों के प्रान्त प्राप्त हुये थे और वे कभी भी अपने प्रान्तों को पुनः वापस लेने का प्रयत्न कर सकते थे। क्योंकि जहाँ तक रूसी प्रदेशों का प्रश्न था रूस ने उसे स्वीकार नहीं किया था। अतः रूमानिया को मित्रों की सख्त आवश्यकता थी और इसी कारण उसकी नीति व्यापक प्रति रक्षात्मक संधि की ओर मुड़ी।

यूगोस्लाविया को एक तरफ घरेलू मामलों की चिन्ता लगी हुई थी तो दूसरी तरफ विदेशी मामलों का भय। घरेलू मामलों में सबसे अधिक भय अल्पसंख्यकों का था। विदेशी मामलों में उसके हित सर्वाधिक विविधतापूर्ण और विस्तृत थे। क्योंकि यूगोस्लाविया मध्य यूरोप का भी देश था और बाल्कन प्रायद्वीप का भी। रूमानिया और चेकोस्लोवाकिया की भांति उसे हंगरी से अधिक भय नहीं था क्योंकि उसे हंगरी से विशेष भूभाग नहीं मिला था। उसे इटली से अधिक भय था। इटली एड्रियाटिक सागर में अपनी स्थिति मजबूत बनाने में लगा हुआ था। यूगोस्लाविया का अनुमान था कि इटली उसके राज्य को छिन्न भिन्न कर देने के षड्यन्त्र में लगा हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों राज्यों को उन देशों का भय था जिनके प्रान्त उन्हें मिले थे। अर्थात् रूमानिया को रूस, हंगरी और बलोरिया का, यूगोस्लाविया को इटली का और चेकोस्लोवाकिया को हंगरी का। चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया

किसी रूस विरोधी गुट्ट मे शामिल न होने को दृढ थे क्योकि एक तो दोना ग्रोर का स्लाव जनता मे भावनात्मक सम्बन्ध था और दूसरे उन्हे रूस के स्वस्थ हो जान का विश्वास था और परिणामत वे रूस के साथ वाले सीमान्त को, चाहे वह पोलण्ड हो या कही अन्यत्र, अस्थिर और खतरनाक मानते थे।

घटनाओ के प्रकाश की दृष्टि में देखा जाय तो लघु मैत्री सघ मे बहुत सी कमिया दिखलाई पडती है। यह हगरी के विरूद्ध निर्देशित की गई थी परन्तु विविध प्रयत्ना के उपरान्त भी, लघुमैत्री सघ और हगरी के सशोधनवाद के मध्य की खाई को पाटा नही जा सका। हगरी के ऊपर बहुत अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया जोकि वास्तव मे इन वर्षों मे एक निर्बल शक्ति थी और जिसकी सैनिक शक्ति लघुमैत्री सघ के प्रत्येक सदस्य देश से काफी कम थी। जिन महान् शक्तियो से वास्तव मे भय था, उस भय से मुक्त होने की कोई व्यवस्था नही की गई। क्योकि इस सम्बन्ध में तीनो सदस्यो में से प्रत्येक देश को भिन्न महान् शक्ति से भय था, अत एक सामान्य नीति निर्धारित नही की जा सकी। चैकोस्लोवाकिया को जर्मनी से, रूमानिया को रूस से, और यूगोस्लाविया को इटली से भय था। चैकोस्लोवाकिया को प्रत्यक्ष रूप से रूस से कोई शिकायत नही थी, रूमानिया का भी जर्मनी से कोई भय नही था और न ही इटली के प्रति उसे शिकायत थी। इसका अर्थ यह हुआ कि लघुमैत्री सघ मे आतरिक सुरक्षा को अधिक महत्व दिया गया था और विदेशी भय से कम सुरक्षित था। यह बात १६३० में बिल्कुल स्पष्ट हो गई।

फ्रास के द्वारा लघुमैत्री सघ के राज्यो से राजनीतिक सधिया करने से, लघुमैत्री सघ की शक्ति काफी मजबूत हो गई। क्योकि फ्रास ने लघुमैत्री सघ की सेनाओ को युद्ध सामग्री देना हगरी से उनकी रक्षा करना तथा यूगोस्लाविया को इटली से विशेष रूप से बचाना स्वीकार कर लिया था। फ्रास की नीति का आधार "एक गुप्त सौदा था जिसके अनुसार वर्साय की सधि को कार्यान्वित करने में फ्रास की सहायता करना लघुमैत्री सघ के तीनों राष्ट्रो का कर्तव्य था जब कि इस सधि में स्वय उनका अपना हित नगण्य था।"[1] इस गुप्त सौदे ने तीनो देशो को फ्रास के विश्वासपात्र पिछलग्गू ( Satellites ) राज्य बना दिये।

कुछ अन्य तथ्यो मे भी लघुमैत्री सघ काफी प्रभावित हुआ। १६२० में रापालो की सधि के द्वारा इटली और यूगोस्लाविया ने आपसी मतभेदो को दूर करने का प्रयत्न किया। लासेन की सधि के द्वारा तुर्की की सीमाओ के निर्णय से भी बाल्कन राज्यों का भय काफी कम हो गया। इसी प्रकार, शुरू में इगलैण्ड, फ्रास और इटली के इस दृढ निश्चय से कि आस्ट्रिया को जर्मनी का अग नही बनने दिया जायेगा, बाल्कन राज्यों को भय से मुक्ति मिली। फिर भी, इटली में फासिस्ट सत्ता के उत्थान तथा उसका

---

१ ई एच कार — दो विश्वयुद्धो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

साम्राज्यवादी आक्रमणात्मक नीति से बाल्कन राज्य काफी भयभीत हो उठे। १९२६ २७ में इटली का अल्बानिया की तरफ झुकाव तथा बल्गेरिया की तरफ प्रसार ने यूगोस्लाविया में भयंकर संकट उत्पन्न कर दिया और इससे रोम तथा पेरिस के सम्बन्ध भी बिगड़ने लग गये।

परन्तु सत्य तो यह है कि सभी प्रमुख यूरोपियन शक्तियों का बाल्कनक्षेत्र में किसी न किसी प्रकार का विशेष हित निहित था। इटली और फ्रांस के हितों का हम उल्लेख कर चुके हैं। फ्रांस का, बाल्कन प्रायद्वीप में यथा स्थिति को बनाये रखने तथा जर्मनी और इटली के प्रसार को रोकने एवं आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता को कायम रखने में विशेष हित था। इस योजना की सफलता बाल्कन राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता पर निर्भर करती थी। अतः फ्रांस का लघुमैत्री संघ की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाना स्वाभाविक था। इटली अपनी उन आकांक्षाओं को जिन्हें वह आपसी वार्त्तालाप के द्वारा पेरिस शांति अधिवेशन में प्राप्त करने में असफल रहा था, अब बाल्कनक्षेत्र में युद्धाभिनय के द्वारा प्राप्त करने की योजना बनाने में लगा हुआ था। इटली यूगोस्लाविया का शत्रु था क्योंकि जिन प्रान्तों पर इटली ने अपनी आशाएं बाँध रखी थी वे प्रान्त यूगोस्लाविया को मिले थे। वैसे फ्रांस की भाँति इटली भी आस्ट्रियन स्वतन्त्रता का पक्षधर था, परन्तु यूरोपियन मामलों में फ्रांस के साथ उसकी प्रतिद्वंद्विता ने उसे हंगरी और बल्गेरिया का मित्र बना दिया और इथोपियन संकट के समय जर्मन सहायता के बदले में उसने आस्ट्रियन स्वतन्त्रता के प्रति अपनी पुरानी नीति का भी परित्याग कर दिया। जर्मनी का बाल्कन प्रायद्वीप में, १९३३ तक विशेष हित नहीं था। इंगलण्ड का हित प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष था, अर्थात् जिब्राल्टर, माल्टा, और स्वेज नहर के कारण भूमध्य सागर में उसके प्रभुत्व को चुनौती देने वाला का प्रतिरोध करना या चुनौती को रोकना था। तुर्की का प्रमुख हित, जलडमरूमध्य ( Straits ) के संरक्षक के रूप में अपनी स्थिति को बनाये रखना था। इसके लिए यह आवश्यक था कि बाल्कन राज्यों पर किसी एक शक्ति के प्रभुत्व का विरोध किया जाय तथा बाल्कन राज्यों को ब्रिटेन तथा रूस के साथ घनिष्ठ मित्रता स्थापित करने से रोका जाय। उसने बाल्कनक्षेत्र में इटली की कार्यवाहियों को सन्देह की दृष्टि से देखा और बाल्कन संघ की स्थापना के लिये अथक प्रयत्न किया। सोवियत संघ अब भी पुरानी लकीर का अनुसरण कर रहा था और जलडमरूमध्य के रास्ते से भूमध्यसागर तक पहुँचने की खिड़की प्राप्त करने को प्रयत्नशील था। १९१९ से १९३३ तक सोवियत विदेश नीति का ध्येय बाल्कन राज्यों के साथ 'द्विपक्षीय तटस्थता की संधियां" करने का रहा और १९३३ के बाद सामूहिक सुरक्षा की नीति का पालन किया गया। परन्तु १९१९ से १९३३ के समय में फ्रांस और इटली, बाल्कन राज्यों में, एक दूसरे के प्रभुत्व को समाप्त करने में लगे हुए थे।

१९३२ में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता, विश्व आर्थिक सम्मेलन

(१९३३) की असफलता तथा जर्मनी में हिटलर के उत्थान से नवीन समस्या उत्पन्न हो गई अपने साथ नवीन संकट भी समेट कर लेती आई। इसका तत्काल प्रभाव यूनान और तुर्की पर पड़ा और उन्होंने सितम्बर १९३३ में एक संधि पर हस्ताक्षर किए जिसके द्वारा आपसी सीमान्तों की सुरक्षा की प्रत्याभूति दी गई। अक्टूबर १९३४ में फ्रांसीसी भूमि पर युगोस्लाव शासक अलैक्जेण्डर की हत्या से बाल्कन राजनीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। युगोस्लाविया का इटली के प्रति सन्देह बढ़ गया और फ्रांस के साथ भी उसकी अनबन हो गई। परन्तु इस घटना से फ्रांस और इटली एक दूसरे के नजदीक आ गये, लघुमैत्री संघ में भी फूट पड़ गई। चेकोस्लोवाकिया आस्ट्रिया का मित्र बन चुका था और युगोस्लाविया जर्मनी की तरफ खिंचा जा रहा था। चेकोस्लोवाकिया ने सोवियत संघ के साथ भी संधि करली परन्तु रूमानिया ने सोवियत संघ के साथ संधि करने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार लघुमैत्रीसंघ के सदस्यों में फूट बढ़ती गई और इस संघ की सार्थकता भी समाप्त हो गई।

इस प्रकार की उथल पुथल राजनीतिक पृष्ठि भूमि में, बाह्य प्रभावों से मुक्त एक बाल्कन संघ बनाने का प्रयत्न शुरू हुआ और ९ फरवरी १९३४ को, यूनान, युगोस्लाविया, रूमानिया और तुर्की ने बाल्कन मैत्री संघ (Balkan

बाल्कन मैत्री संघ

Pact) पर हस्ताक्षर किये। इसके अन्तर्गत सदस्य राज्यों ने बल्गेरिया, हंगरी या अल्बानिया के सम्भावित उपद्रवों के विरुद्ध यथास्थिति को बनाये रखने की इच्छा व्यक्त की। अल्बानिया को इस संघ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण नहीं दिया गया क्योंकि वह एक तरह से इटली का संरक्षित राज्य बन चुका था। बल्गेरिया को निमन्त्रित किया गया था परन्तु उसने सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह संशोधनवादी राज्य था और मौजूदा सीमान्तों को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। कारनेल बाल्कन संघ के बारे में लिखा है कि "किन्तु इस समझौते द्वारा स्थापित" 'बाल्कन मैत्री संघ" बहुत कमजोर ढांचा साबित हुआ। युगोस्लाविया के लिए इस समझौते का प्रमुख लक्ष्य बाल्कन मामलों में इटली व हंगरी के विरुद्ध अपनी सुरक्षा प्राप्त करना था। इसके विपरीत, यूनान ने इटालियन जौ सेना से शत्रुता करने की हिम्मत नहीं होने के कारण समझौते के अनुसमर्थन के साथ ही इस बात की घोषणा भी की कि इस समझौते का स्वीकार करने में वह किसी गैर बाल्कन राष्ट्र से युद्ध करना या मानना कोई कर्तव्य नहीं मानता।" अर्थात् शुरू से ही सदस्य राष्ट्रों में अनबन शुरू हो गई। सी० ई० ब्लैक ने लिखा है कि बाल्कन मैत्री संघ की धाराओं में केवल एक बाल्कन आक्रान्ता के विरुद्ध सुरक्षा की व्यवस्था की गई थी, न कि किसी महान शक्ति के विरुद्ध।[1]

---

(१) C E Black—Challenge in Eastern Europe

द्रुतगति से प्रसार। पश्चिम के पूंजीवाद ने साम्यवाद के प्रसार को रोकने का व्रत

**द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त**

साम्यवाद ने पूंजीवाद के उन्मूलन का दृढ़ निश्चय कर लिया जिसके परिणामस्वरूप पूर्व और पश्चिम में भयंकर तनाव पैदा हो गया और इस तनाव की अभिव्यक्ति हुई शीतयुद्ध के द्वारा। शीतयुद्ध का शिकार बना पूर्वीयूरोप तथा निकट पूर्व। बर्बे याल्टा सम्मेलन मे पश्चिम ने पूर्वी यूरोप पर रूसी प्रभाव स्वीकार कर लिया था। परन्तु उस समय शायद उन्हें इस बात का अनुमान नहीं था कि सोवियतसंघ इस क्षेत्र की पुरानी शासन-व्यवस्था को जड़मूल से उखाड़ फेंकेगा और इस क्षेत्र के राज्यों का साम्यवाद का कट्टर समर्थक बनाने का अथक प्रयत्न करेगा और उसे इस प्रयत्न मे अत्यधिक सफलता भी मिलेगी। परन्तु जब रूस ने याल्टा तथा पोटसडाम निर्णयों की अवहेलना करते हुए, स्वतन्त्र चुनावों का नाटक खेलते हुए, साम्यवादी शासन व्यवस्था का स्थापित करने का प्रयत्न किया तो पश्चिम की आखें खुलीं। परन्तु उसने बहुत देरी कर दी थी क्योंकि इस समय तक चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, हंगरी, पोलण्ड आदि पूर्वी यूरोपीय देश तो पूर्ण रूप से सोवियत संघ की कठपुतली बन ही चुके थे परन्तु निकट पूर्व के—युगोस्लाविया, रूमानिया, बल्गेरिया और अल्बानिया भी रूसी शिकंजे में फंस गये थ। केवल यूनान अभीतक साम्यवाद के विरुद्ध अपनी अन्तिम लड़ाई लड़ रहा था। अत पश्चिम अपनी पूर्ण शक्ति के साथ यूनान की सहायता को जा पहुँचा और यूनान साम्यवादी होते होते बच गया। १९४८ में युगोस्लाविया सोवियत रूस से पृथक हो गया। हालांकि वह साम्यवादी बना रहा। इन सब घटनाओं का पिछले पृष्ठों म विस्तार के साथ उल्लेख किया जा चुका है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से, द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त निकट पूर्व में दो ही महत्वपूर्ण घटनाएं घटित हुई है। एक बाल्कन समझौता और दूसरा वारसा समझौता जिसमें निकट पूर्व के अधिकांश राज्य सम्मिलित हुए। बाल्कन समझौते का उद्भव १९५३ म यूनान और तुर्की के मध्य की गई संधि से हुआ है। ९ अगस्त १९५४ को युगोस्लाविया के इस संधि में सम्मिलित हो जाने से इसका निर्माण पूर्ण हो गया। यह समझौता २० वर्षों के लिये किया गया। समझौते के अनुसार सदस्य देश पर होने वाले आक्रमण को दूसरे सदस्यों पर भी आक्रमण माना गया और दूसरे सदस्य आक्रान्त सदस्य की व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से सहायता करेंगे। आक्रमण की स्थिति में, सदस्य देशों द्वारा की जाने वाली कार्यवाहियां आपसी सलाह से की जायेगी परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखा जायेगा कि इन कार्यवाहियों के परिणामस्वरूप नाटो के प्रति यूनान और तुर्की के दायित्व पर किसी प्रकार का आघात न पहुँचे।

वारसा समझौता का विस्तृत अध्ययन हम बारहवें अध्याय मे कर चुके हैं। यहाँ पर इतना कहना यथेष्ट होगा कि पश्चिम द्वारा निर्मित विविध सैनिक संधियों एवं संगठनों के प्रत्युत्तर में सोवियत संघ ने साम्यवादी देशों का एक संगठन बनाया जिसका

# अध्याय १४
# पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका

## ( मध्य पूर्व की समस्या )

एशिया, अफ्रीका और यूरोप के सगम स्थल "मध्य पूर्व" (Middle East) की भौगोलिक स्थिति का सही सीमांकन करना बहुत ही कठिन काम है और इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में भी अत्यधिक भिन्नता है। सामान्यत मिश्र के पश्चिमी भाग से लेकर अफगानिस्तान के पूर्वी भाग तक के क्षेत्र का 'मध्य पूर्व' के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कुछ लोग उत्तरी अफ्रीका के अरब राज्यों को भी इसमें सम्मिलित कर लेते है। सुप्रसिद्ध लेखक गाई विण्ट[1] के अनुसार, सीमित अर्थ में मध्यपूर्व का अर्थ मिश्र तथा एशिया के अरब राज्य और व्यापक अर्थ म इनके साथ ईरान, तुर्की, लीबिया, ट्यूनिसिया, अलजीरिया तथा मोरक्को को भी सम्मिलित किया जा सकता है। हम व्यापक अर्थ को लेकर मध्यपूर्व की चर्चा करेंगे क्योंकि 'मध्यपूर्व' अथवा पश्चिमी एशिया' शब्द अरब राष्ट्रों की भौगोलिक स्थिति के पूर्ण प्रतीक नहीं है। मिश्र, सूडान, और लीबिया अरब संघ म सम्मिलित होते हुए भी भौगोलिक दृष्टि से पश्चिमी एशिया म नही है। ये अफ्रीका के उत्तरी भाग में स्थित हैं। परन्तु उनमें पनपी हुई राष्ट्रवादी आकांक्षा, उनके स्वतन्त्रता सग्राम, उनकी सफलता और उनमें प्रजातन्त्र की स्थापना आदि जो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी है, उनका अरब राष्ट्रों के घटना चक्र से अलग नही किया जा सकता। दोनों प्रदेशों में घटने वाली घटनाएं एक ही घटना चक्र की लम्बी शृंखला की अटूट कड़ियाँ है। उनका अध्ययन इतिहास के एक ही महत्वपूर्ण अध्याय के रूप म किया जाना चाहिये। इसी दृष्टि से इस अध्याय का शीर्षक 'पश्चिमी एशिया और अफ्रीका" दिया गया है।

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर, मध्यपूर्व म सम्मिलित राज्यों की सूची निम्न प्रकार से तैयार की जा सकती है।[2]

---

1 Guy Wint—Middle East Crisis
2 Statesman's Year Book—1955

| क्र० सं० | राज्य का नाम | क्षेत्र फल (वर्ग मील में) | जन संख्या | राजनीतिक स्थिति |
|---|---|---|---|---|
| १ | अदन | १८५ ००० | ६५० ००० | ब्रिटेश का सरक्षित प्रदेश |
| २ | अफगानिस्तान | २५०,९६६ | १ २०,०० ००० | स्वतन्त्र (राजतन्त्र) |
| ३ | बहरीन | २३१ | १२०,००० | स्वतन्त्र राजतन्त्र (ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र में) |
| ४ | साइप्रस | ३५८४ | ४९२ ००० | ब्रिटेन का सरक्षित प्रदेश |
| ५ | मिश्र | ३,८६,१९८ | २,३२,४० ० ० | स्वतन्त्र (प्रजातन्त्र राज्य) } संयुक्त अरब गणराज्य |
| ६ | सीरिया | ६६,००० | ३७,९१,००० | |
| ७ | ईरान | ६ २८,००० | २,००८१ ५१० | स्वतन्त्र (प्रजातन्त्र राज्य) |
| ८ | इराक | १ ७१,५९९ | ५६,३८,१०९ | स्वतन्त्र (राजतन्त्र) |
| ९ | इजरायल | ८०४८ | १९ ७६,००० | स्वतन्त्र (सैनिक शासन) |
| १० | जाडन | ३७ २६४ | १४,७१,००० | स्वतन्त्र (प्रजातन्त्र राज्य) |
| ११ | कु त | ८००० | १,७०,००० | स्वतन्त्र (राजतन्त्र) |
| १२ | कतर | ८४९४ | १७ ००० | स्वतन्त्र शेख राज्य (ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र में) |
| १३ | आमन तथा मसकत | ८२,००० | ५,५०,००० | " " ( " " " " )<br>स्वतन्त्र (राजतन्त्र) |
| १४ | सौदी अरब | ८७० ००० | १,१०,००,००० | स्वतन्त्र (राजतन्त्र) |
| १५ | लबनान | ४ ०० | १४,१५ ९५९ | स्वतन्त्र (प्रजातन्त्र राज्य) |
| १६ | तुर्की | २९६,५०३ | २४१,११,७७८ | स्वतन्त्र (प्रजातन्त्र राज्य) |
| १७ | यमन | ७५,२९० | ५० ००,००० | स्वतन्त्र (राजतन्त्र) |
| १८ | ट्यूनिसिया | ४८ १९५ | ३०,०० ००० | स्वतन्त्र (प्रजातन्त्र राज्य) |
| १९ | मोरक्को | १७२ ८०२ | ९१,८३ ०२३ | स्वतन्त्र (राजतन्त्र) |
| २० | लीबिया | ६७९ ३५८ | ८८८ ४०१ | स्वतन्त्र (प्रजातन्त्र राज्य) |
| २१ | अल्जीरिया | ३२९६९४६ | ८ ९८१,८०० | फ्रेंच उपनिवेश |

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में, उपरोक्त राज्यों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त, उपरोक्त राज्यों में से अधिकांश राज्य, पश्चिमी साम्राज्यवाद के चंगुल में फंस गये थे। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद, पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध, राष्ट्रवादी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसके परिणामस्वरूप साम्राज्यवादियों को अपना बोरिया बिस्तर उठाकर, मध्यपूर्व से रवाना होना पड़ा। परन्तु शीघ्र ही मध्यपूर्व को आर्थिक साम्राज्यवाद का शिकार बनना पड़ा और आजकल रूस तथा अमेरिका में, मध्यपूर्व को अपने प्रभाव में लाने तथा बनाये रखने के लिये भयंकर प्रतिद्वंद्विता चल रही है और अरब जनता एक संयुक्त अरब राज्य की स्थापना का स्वप्न देख रही है।

पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका की घटनाओं की चर्चा करने से पूर्व, उन

तत्वों का, जिन्होंने इस क्षेत्र की घटनाओं को पैदा करने मे योगदान दिया है अथवा मध्यपूर्व के महत्व को विकसित करने में सहयोग दिया है, अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। इतिहास तथा आज का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण इस बात को स्वीकार करता है कि मध्यपूर्व, विश्व राजनीति और सामरिक महत्व का एक महत्वपूर्ण, केन्द्र बिन्दु बना हुआ है और स्वतन्त्र ससार के लिये मध्यपूर्व की सामरिक स्थिति बहुत ही महत्वपूर्ण है। यहाँ पर हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि महाशक्तियो के स्वार्थ इस क्षेत्र मे सक्रिय नही होते तो, इस क्षेत्र का महत्व बहुत कम हो जाता। मानव जाति के इतिहास में मध्यपूर्व के सघर्ष की कहानी अद्वितीय है। प्रारम्भ से लेकर आज तक, मध्यपूर्व विदेशी शक्तियो के द्वारा पदाक्रान्त होता रहा है। हित्ती, यूनानी, रोमन अरब मगोल और तुर्क सेनाये मध्यपूर्व पर अपना कुछ न कुछ प्रभाव अंकित करने में सफल रही थी। आटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत, पहली बार, कई शताब्दियोंके बाद, कई शताब्दियो तक, सम्पूर्ण मध्यपूर्व, एक ही शासन-तन्त्र के आधीन रहा था परन्तु यूरोप के रोगी 'तुर्की" की निर्बलता तथा पड़ोसी रूस की मध्यपूर्व की तरफ अग्रसर होने की जिज्ञासा से मध्यपूर्व पुन विक्षोभ केन्द्र बन गया। प्रथम महायुद्ध ने आटोमन साम्राज्य का अन्त कर दिया और मध्यपूर्व का अंग भंग हो गया। द्वितीय महायुद्ध के समय मध्यपूर्व पुन महान् शक्तियो का अखाडा बन गया और द्वितीय महायुद्ध के बाद रूस और अमेरिका की कूटनीति के सघर्ष में मध्यपूर्व बुरी तरह से उलझा हुआ है।

**मध्यपूर्व के प्रभाव कारी तत्व**

मध्यपूर्व के महत्व का प्रथम कारण उसकी भौगोलिक सीमा या स्थिति है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण मध्यपूर्व, एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप को एक दूसरे से मिलाने वाला स्थान है—सगम स्थल है। एटलांटिक महासागर और भूमध्यसागर तथा स्वेज के उत्तरी मार्गों और खाडियो को मिलाने वाली कड़ी है, इन प्रायद्वीपों और महासागरो के बीच एक भित्ति का काम भी करता है। यूरोप से एशिया अफ्रीका, आस्ट्रेलिया के मध्य यातायात के मार्गों का प्रहरी है। स्वेज नहर का महत्व बहुत अधिक है। इसके माध्यम से ही पूर्व और पश्चिम के मध्य की दूरी को कम से कम समय मे तय किया जाता है। परन्तु यह सब कुछ तभी तक सम्भव है, जब तक कि मध्य पूर्व सुरक्षित है। यदि मध्यपूर्व सोवियत प्रभाव के अन्तर्गत चला जाता है तो पश्चिमी राष्ट्रो का पूर्वी देशो के साथ सम्पर्क टूट सकता है। इसी प्रकार भूमध्यसागर का भी अपना महत्व है। यह प्रत्यक्ष रूप से यूरोप एशिया और अफ्रीका तीनो प्राय द्वीपों की सेवा करता है और अप्रत्यक्षरूप से अमेरिका, दक्षिणी एशिया, सुदूरपूर्व आदि की सेवा करता है। अत भूमध्य सागर का नियत्रण, अफ्रीका की सुरक्षा, नेटो की वामपंक्ति तथा यूरोप की बचाव पंक्ति की सुरक्षा की दृष्टि से, अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। भूमध्यसागर और कृष्ण सागर को मिलाने वाले दर्रे दानियाल

**(१) भौगोलिक स्थिति**

और वास्फोरस जलडमरूमध्या का सामरिक महत्व भी किसी से कम नही है। आजकल इन पर तुर्की का अधिकार हैं। रूस, इन पर अधिकार करने की ताक में है। पश्चिम रूस को दूर रखने के प्रयत्न में लगा हुआ है और यही कारण है कि वह तुर्की का हर प्रकार की सहायता प्रदान कर रहा है और यूनान को भी साम्यवादी आतक से दूर रखने की कोशिश में लगा हुआ है। मध्यपूर्व की भौगालिक स्थिति का महत्व इस कारण से और भी अधिक बढ जाता है कि अफगानिस्तान से लेकर तुर्की तक के देश सोवियत सघ की दक्षिणी सीमा पर स्थित है। भावी युद्ध म, सावियत सघ बहुत सुगमता के साथ इन देगो पर अधिकार करके अफ्रीका तथा एशिया पर अधिकार कर सकता है और पश्चिमी दगो के यातायात मार्गों को बन्द करके उन्हें चारो तरफ से घेर सकता है। यदि मध्यपूर्व पश्चिम के प्रभाव में बना रहे तो पश्चिम देश, इस क्षेत्र से बहुत सफलता के साथ सोवियत सघ पर आक्रमण कर सकते हैं या सावियत आक्रमण का प्रतिराध किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यपूव की भौगोलिक स्थिति तथा सामरिक महत्व के कारण, वह दो महान् शक्तियो बीच मुर्गे लडाने का अखाडा बना हुआ है।

मध्यपूर्व के महत्व का एक प्रमुख तत्व, इस क्षेत्र में उपलब्ध तल भडार है। तेल आधुनिक औद्योगिक जीवन का कलेवर है। औद्योगिक राष्ट्रा के विकास तथा अस्तित्व का एकमात्र सहारा है। सम्पूण ससार मे उपलब्ध हाने वाले

**(२) तेल का महत्व**

तेल का लगभग ६६% भाग अर्थात् दो तिहाई भाग मध्यपूव के देशा से प्राप्त होता है। परन्तु इसमे यह नही समझना चाहिए कि मध्यपूव के सभी देश तेल की दृष्टि से सम्पन्न है। तेल मुख्यत ईरान की खाडी के आस-पास वाले देशा—कुवैत, ईरान, इराक, सौदीअरब, कतर, बहारीन आदि में पाया जाता है। अन्य देशो में भी तेल के विशाल भडारो की खोज जारी है और आशा है कि अधिक तेल क्षेत्रो का पता शीघ्र ही लग जायेगा। तेल के इन विशाल भडारा की वजह से पश्चिम के देश मध्यपव को अपने प्रभाव क्षेत्र में बनाये रखना चाहते हैं। रूस इस तरफ ललचाई नजर से देखता रहता है और मध्यपूव के निर्धन देशा का तो यह एकमात्र सहारा है। प्रथम और विशेषकर द्वितीय महायुद्ध में मित्रराष्ट्रा को जो सफलता मिली है, यूरोप का जो औद्योगिक विकास हुआ है उसका प्रधान कारण मध्यपूर्व का तेल ही है। तेल की करामात से ही वायुयान, सामुद्रिक जहाज, मोटरें गाडिया और असख्य कल-कारखाने अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। यदि पश्चिम को तेल मिलना बन्द हो जाय तो उसकी सैनिक शक्ति का, उसके औद्योगिक जीवन का अन्त हो जायेगा, इसमे कोई सन्देह नही हैं। स्वेज नहर सकट से यह बात स्पष्ट हो गई थी।

मध्यपूर्व के तेल क्षेत्रो को खोजने तथा तेल कम्पनियो का स्थापित करने मे पश्चिमी देशो ने, विशेषकर इगलैण्ड, फ्रास और अमेरिका ने अथक प्रयत्न किया है और

यही कारण है कि मध्यपूर्व में स्थित तेल कम्पनियां उपरोक्त तीनों दशों के आधीन हैं। १६३८ ३६ में मध्यपूर्व में उत्पन्न होने वाले तेल का लगभग ८० प्रतिशत ब्रिटिश तेल कम्पनियां उत्पन्न करती थी जब कि अमेरिकन तेल कम्पनियां केवल १२ प्रतिशत ही उत्पन्न करती थीं। परन्तु १६५६ ५७ में स्थिति बदल गई और अमेरिकन कम्पनियां लगभग ६० प्रतिशत तेल उत्पन्न करने लगी और ब्रिटिश तेल कम्पनियां केवल ३० प्रतिशत तेल ही तैयार कर पा रही हैं। १६३८ ३६ में ब्रिटिश तेल कम्पनियां लगभग १ करोड़ २५ लाख टन (वार्षिक) तेल उत्पन्न करती थी जबकि अमेरिकन कम्पनियां केवल २० लाख टन तेल उत्पन्न करती थी। १६५६ ५७ म अमेरिकन तेल कम्पनियां का उत्पादन लगभग ८ करोड़ ५० लाख टन तक पहुँच गया जबकि ब्रिटिश कम्पनियां का उत्पादन ६ करोड़ टन से अधिक नहीं बढ़ पाया। इस समय अमेरिकन तेल कम्पनियां मे, अमेरिका की लगभग १ अरब डालर पूंजी लगी हुई है। कुवत, बहरीन तथा रास अलूनतूरा ( सौदी अरब ) अमेरिका के प्रमुख केन्द्र है। उसने सौदी अरब से लेकर लेबनान के समुद्रतट पर स्थित सैदा नामक स्थान तक एक पाइप लाइन भी बना ली है। ईराक पट्रोलियम कम्पनी, इंग्लो ईरानियन कम्पनी आदि, प्रमुख तेल कम्पनियां हैं। तेल की उपलब्धि तथा अक्षय भंडार ने मध्यपूर्व के महत्व का बहुत अधिक बढ़ा दिया है।

म यपूर्व का प्रभावित करने वाला एक तत्व, यहाँ के लोगों का आर्थिक जीवन है। तेल कम्पनियों से अत्यधिक मुनाफा होता है। परन्तु यह मुनाफा शेखों, मुल्लाओं तथा उच्चाधिकारियों के बीच ही बट जाता है और जन साधारण को

**(३) आर्थिक जीवन**

इससे कोई विशेष लाभ नहीं होता और उन्हें अपनी जीविका जन के लिये कठिन श्रम करना पड़ता है। मध्यपूर्व का अधिकांश भाग मरुस्थल है और इस मरूभूमि के कारण यहां के लोगों की आर्थिक स्थिति और भी अधिक दयनीय हो गई है। संबंधित सरकारों की सुधारों के प्रति अरुचि तथा सामंतवादी शासन एवं सामाजिक अवस्था के परिणामस्वरूप यहां के लोग आज भी दयनीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ऐसे लोगों को, चांदी की चमक से बहुत जल्द खरीदा जा सकता है।

म यपूर्व की जनता की स्थिति भी एक महत्वपूर्ण प्रभावकारी तत्व है। सीमित मध्यपूर्व में लगभग ५ करोड़ व्यक्ति निवास करते हैं और व्यापक मध्यपूर्व में लगभग साढ़े तेरह करोड़ व्यक्ति निवास करते हैं। इस विशाल जनसंख्या का

**(४) यहाँ के लोग**

६०% भाग इस्लाम धर्म का, ४% ईसाई धर्म का तथा २% यहूदी धर्म का अनुयायी है। मुस्लिम जनता का अधिकांश भाग अरबों का है जो कि अपने आपको एक जाति, एक प्रजाति या नस्ल तथा एक राष्ट्रीयता से संबंधित मानते हैं। परन्तु फिर भी इस्लाम के अनुयायियों में आपसी सहयोग की कमी है। वैसे साइप्रस,, इजरायल और लेबनान को छोड़कर बाकी समस्त देशों में मुस्लिम लोगों की प्रधानता है परन्तु वे जातिगत तथा धार्मि[illegible] [illegible]ओं के [illegible] एक

दूसरे से दूर जा पडे है। अरबो और तुर्कों मे जबरदस्त शत्रुता है। इसके अतिरिक्त शिया और सुन्नी वर्गो मे भी काफी तनातनी है। ईरान में शियाओ की प्रधानता है और इराक म भी शियाओ का काफी जोर है परन्तु अन्य देशो मे सुन्नी मुसलमानो का प्रभाव है। आपसी झगडो के अतिरिक्त दूसरी जातियो के साथ विशेषकर यहूदियो के साथ उनका सघर्ष काफी पुराना हैं और अभी तक जारी है।

मध्यपूर्व के अधिकाश लोग अशिक्षित है। अघ विश्वासो क भ्रमजाल में उलझे हुए है तथा राजनीतिक अधिकारो स वचित है। उन्हे अपने विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नही है। इस कारण अधिकाश लोग अज्ञान के अन्धकार में भटक रहे है और अवसरवादी तत्वो के हाथो में पडकर मध्यपूर्व की शाति तथा व्यवस्था को उपद्रवो तथा विद्रोहो क माध्यम स यदा-कदा भग करते रहत है। इससे प्रतिक्रियावादी शक्तियो को अपना स्वार्थ सिद्ध करने का स्वर्ण अवसर प्राप्त होता रहता है।

मध्यपूर्व की समस्या को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व अरब राष्ट्रीयता (Arab Nationalism) है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व इसक्षेत्र पर तुर्क साम्राज्य का अधिकार था। प्रथम महायुद्ध मे तुर्की ने जर्मनी का साथ दिया और इगलण्ड ने तुर्की को पराजित करने के लिये मध्यपूर्व क अरबो को उकसाना शुरू किया

(४) अरब राष्ट्रीयता और युद्धसमाप्ति के बाद अरबो को एक सयुक्त अरब साम्राज्य की स्थापना का वचन भी दिया। गथान हार्डी ने ठाक ही लिखा है कि "एक सयुक्त अरब साम्राज्य पहली बार उन दावो में सामने आया जो मक्का के शरिफ ने युद्ध के आरम्भिक काल मे ब्रिटेन के साथ हो रही वातचीत में रखे थ।" युद्ध के बाद इस समझौते को लागू करने के लिए काफी प्रयत्न किया गया परन्तु स्वार्थी महान् राष्ट्रो ने जनता की इच्छा का सम्मान करने का नाम तक नही लिया और तुर्क साम्राज्य क ईराक, फिलिस्तीन तथा ट्रासजाडन प्रदेश ब्रिटेन के सरक्षण मे तथा सीरिया और लबनान फ्रास के सरक्षण मे रख गये। मित्रराष्ट्रो के इस कृत्य ने युद्ध कालीन अरब राष्ट्रीयता को पुन जाग्रत कर दिया। इस नूतन अरब राष्ट्रीयता की प्रथम विशेषता पश्चिमी साम्राज्यवाद का उग्रविरोध तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति थी। इसकी दूसरी विशेषता पश्चिम के आर्थिक शोषण से मुक्ति थी। क्योकि पश्चिमके देशो ने मध्यपूर्व उद्योग धधो को विकसित करने की तरफ बिल्कुल ध्यान नही दिया था। वे तो अपने देश क उद्योग धधो के लिये आवश्यक कच्चे माल के उत्पादन को बढाने की कोशिश म लगे रहे।

अरब राष्ट्रीयता की झलक अनेक रूपो में देखने को मिलती है। पश्चिम क देश जिन साधनों के द्वारा अरब देशो का आर्थिक शोषण कर रह थ, उन साधनो का राष्ट्रीयकरण अरब राष्ट्रीयता का एक महत्वपूर्ण स्वरूप था। सवप्रथम एग्लो ईरानियन तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण और तदुपरान्त स्वेजनहर का राष्ट्रीयकरण अरब राष्ट्रीयता के ज्वलन्त उदाहरण ह। अरब राष्ट्रीयता का दूसरा रूप अपने देशो स, विदेशी सेनाओ को

हटाने तथा विदेशी अड्डों की समाप्ति की माग में देखने को मिलता है। विदेशी सेनाओं की उपस्थिति तथा विदेशी अड्डों का अस्तित्व सार्वभौम सत्ता की राह में रोड़े थे, राजनयता का कलंक था और इस कलंक को धोने का निश्चय, अरब जनता का मूल मंत्र बन गया। मिश्र और ईरान के प्रयत्न इस ध्येय की प्राप्ति के ज्वलन्त उदाहरण है। तीव्र रूप पराधीन अरब राज्यों के स्वतंत्रता संघर्ष का समर्थन है। आज भी साइप्रस तथा अल्जीरिया परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं। यहूदियों को मध्यपूर्व से बहिष्कृत करना अरब राष्ट्रीयता का एक महत्वपूर्ण रूप है और इसके कारण मध्यपूर्व की शान्ति खतरे में पड़ी हुई है। पश्चिमी देश यहूदियों के समर्थक है और उनकी कृपा से ही उन्हे इजरायल राज्य की स्थापना करने में सफलता मिली थी। पश्चिम के इस विश्वासघात ने अरबों को क्रोधित कर दिया और अरब राष्ट्रीयता का एक नया रूप पश्चिम के समर्थकों का सफाया निखर उठा। अभी हाल ही में इराक की राज्यक्रांति तथा पश्चिम के समर्थक इराकी राजा और इराकी प्रधानमंत्री की हत्या इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अरब लोग पश्चिम के पक्षपातियों का अन्त करने को तुले हुए हैं।

अरब राष्ट्रीयता तथा समस्त अरब देशों की एकता (Pan Arabism) के आन्दोलन का इतिहास बहुत ही दिलचस्प है। इस आन्दोलन का सूत्रपात १६ वीं शताब्दी में शुरू हुआ उस समय जबकि अरबों में जागृति का सूत्रपात हुआ था। इसका मूल ध्येय विविध अरब भाषाभाषी देशों को संयुक्त करना था। सदियों से आरोपित तुर्कों के आधिपत्य का अन्त करना था। एक भाषा एक नस्ल और एक धर्म तथा एक राज्य और राष्ट्रीयता के आधार पर एक संयुक्त अरब राज्य का नवनिर्माण करना था।

**(६) अखिल अरब की भावना**

अरबों की इस महत्वाकांक्षा को जागृत करने में ग्रेट ब्रिटेन ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। परन्तु युद्धोपरान्त शान्ति समझौतों ने अरब एकता के स्वप्न को समाप्त कर दिया। परन्तु अरब जनता इससे हतोत्साहित नहीं हुई और अपने ध्येय की प्राप्ति में जुटी रही। सर्व प्रथम इराक, जोर्डन, सीरिया और लेबनान में स्वतंत्रता संघर्ष का सूत्रपात हुआ और १९४१ तक इन चारों राज्यों ने बहुत कुछ अंशों में स्वाधीनता प्राप्त करली। ईरान, मिश्र, यमन, सौदी अरब पहिले से ही स्वतन्त्र राज्य बन चुके थे। १९४४ में, अरब एकता को स्थापित करने की दृष्टि से सिकन्दरिया में, अरब राज्यों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें मिश्र, इराक, जोर्डन, सीरिया, लेबनान, सौदी अरब, यमन तथा फिलस्तीन के अरब प्रतिनिधियों ने भाग लिया। काफी वाद विवाद के बाद अरब संघ (Arab League) की स्थापना को स्वीकार किया गया। २२ मार्च १९४५ को उपरोक्त राज्यों ने (फिलस्तीन को छोड़कर) संघ के प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। मार्च १९५३ में लीबिया तथा जून १९५६ में सूडान भी अरब संघ में सम्मिलित हो गये। अरब लीग का संगठन बहुत सरल है। संघ एक कौंसिल, ६ स्थायी समितियों और एक स्थायी सचिवालय जिसका प्रधान केन्द्र काहिरा में है विभाजित है।

अरब लीग का मुख्य ध्येय बाह्य सुरक्षा है न कि एक शक्तिशाली सघ राज्य की स्थापना करना है। मिश्र और लीग के छोटे सदस्य राज्यो के बीच शुरू से ही तनाव बना रहा है। इराक ने कई वर्षों से अपना बिल अदा नही किया और जाडन ने हमेशा लीग को विभाजित करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार सौदी अरब का रुख प्रतिकूल रहा है और लेबनान जिसमें ईसाई लोगो की सख्या अरबो के बराबर ही है, लीग का एक निबल सदस्य साबित हुआ है। अरब लीग को एकता के सूत्र में पिरोने वाली कडी विदेशी सत्ता का भय है। सभी सदस्य विदेशी सत्ता को दूर रखने, परतन्त्र अरब राज्यो को स्वतन्त्र कराने में तथा फिलस्तीन से यहूदियो को मार भगाने के मामलो पर एकमत हैं। इसी समान दृष्टि के कारण उन्होने पारस्परिक विवादो का शातिपूर्ण निपटारा करना स्वीकार किया है। परन्तु अरब लीग के इतिहास से पता चलता है कि लीग कोई ठोस कार्य करने अथवा सक्रिय कदम उठाने मे असफल रही है। यह ठीक है कि लेबनान की मुक्ति म अरब लीग का महत्वपूर्ण सहयोग रहा परन्तु स्वेज सकट तथा एग्लो यमन विवाद के समय अरब लीग कोई विशेष कदम नही उठा सकी। इसी प्रकार अल्जीरिया को स्वतन्त्र कराने म भी अरब लीग असफल रही है। फिलस्तीन के सम्बन्ध मे अरब लीग को बहुत अधिक अपमानित होना पडा है।

अरब राज्यो की एकता को स्थापित करने मे अरब लीग पूर्ण रूप मे असफल रही। १ फरवरी १६५८ को मिश्र तथा सीरिया दोनो ने मिलकर एक सयुक्त अरब गणराज्य (UAR) की स्थापना की और इसके साथ ही अरब लीग का प्रभाव भी समाप्त हो गया क्योंकि इसके प्रत्युत्तर में जोडन तथा इराक ने मिलकर सयुक्त अरब राज्य की स्थापना की। ६ मार्च १६५८ को यमन, अपनी स्वतन्त्र सत्ता को सुरक्षित रखता हुआ सयुक्त अरब गणराज्य में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार अरब राज्य दो परस्पर विरोधी गुटो म विभाजित हो गये। जुलाई १६५८ मे इराक की राज्यक्रान्ति ने जोडन तथा इराक के सघ का अत कर दिया और अब पता नही उसका अगला कदम क्या होगा।

सक्षेप म, मध्यपूर्व की महत्ता तथा मध्यपूर्व की समस्या को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व इस प्रकार स है—(१) भौगोलिक स्थिति, (२) विशाल तेल भडार (३) शोचनीय आर्थिक जीवन (४) परस्पर विरोधी जातियो का निवास, (५) अरब राष्ट्रीयता, (६) अरब एकता का प्रयत्न और (७) आपसी झगडे तथा महाशक्तियो के परस्पर विरोधी स्वार्थ। इन सभी कारणो के सयुक्त परिणामस्वरूप मध्यपूर्व का महत्व बहुत अधिक बढ जाता है। अब हम मध्यपूर्व के प्रमुख देशो की प्रमुख घटनाओ का उल्लेख करेंगे ताकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो स परिचित होने में सुविधा मिल सके।

## (१) तुर्की (Turkey)

आटोमन तुर्क साम्राज्य के उत्थान और पतन की कहानी बहुत अधिक रोमाचकारी है। शुरू मे, यह एक घुमक्कड जाति थी जो गोबी रेगिस्तान के किनारे किनारे अपने खेमे लगाता फिरती थी। तातार जाति के आक्रमणो से तग आकर अनातोलिया प्रदेश में

आकर बस गई। यहीं पर इस जाति ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया और एक नव राज्य की स्थापना की। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में ओटोमन साम्राज्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया। उस समय सम्पूर्ण बाल्कन प्रदेश, उत्तरी अफ्रीका तथा पश्चिमी एशिया का अधिकांश भाग उसके साम्राज्य में सम्मिलित था।

**ओटोमन साम्राज्य का अवसान**

उन्नीसवीं शताब्दी के साथ ही साथ तुर्की के मुसलमानी साम्राज्य का अवसान शुरू हो गया। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक वाल्तेयर ने इसके बारे में कहा था कि यह तो मुस्लिम ही और न साम्राज्य और न तुर्की है। मुस्लिम इसलिये नहीं कि करोड़ों मुसलमान इसकी सीमा के बाहर निवास करते थे और इसकी सीमा में लाखों गैर मुसलमान बसे हुए थे। साम्राज्य इस दृष्टि से नहीं कि इसमें निवास करने वाली ईसाई जातियाँ अपने स्वतन्त्र राजकीय गिरजाघरों में संगठित थीं और विदेशी यूरोपियनों को तुर्क साम्राज्य में विशेषाधिकार मिले हुए थे और उन पर तुर्की नियम लागू नहीं किये जा सकते थे। तुर्की इसलिये नहीं कि साम्राज्य की भाषा और साहित्य अरबी में था और इसके कानूनों का निर्माण शासन करने वाली तुर्क जाति के द्वारा नहीं बल्कि उलेमाओं के द्वारा, जो धर्म गुरु के नाम से विख्यात थे किया जाता था।

ओटोमन लोगों ने अपने साम्राज्य के पुनरुत्थान के लिये शुरू में मुस्लिम पद्धति के सहारे प्रयत्न किया और तत्कालीन सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय (१८७६—१९०९) ने अपने आपको सुल्तान और खलीफा घोषित करते हुए, सम्राट के पद के सम्मान को बढ़ाने तथा मुसलमानों का विश्वास प्राप्त करने का अथक प्रयत्न किया। परन्तु ओटोमन साम्राज्य को मुस्लिम केन्द्र बनाने का यह प्रयत्न असफल रहा। १९०८ में युवक तुर्कों ने ओटोमन साम्राज्य के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। परन्तु यह प्रयत्न भी विफल रहा। युवक तुर्कों के समय में बल्गेरिया ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, यूनान ने क्रीट पर अधिकार कर लिया, आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रान्तों को हड़प लिया और इटली ने त्रिपोली पर अधिकार कर लिया। यूरोपियन लोगों ने अरब लोगों को भी उत्साहित किया जिसके परिणाम स्वरूप अरबों के विद्रोह उठ खड़े हुए हैं। इराकी कर्मचारियों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिये एक गुप्त संस्था की स्थापना की। इसी प्रकार सीरिया की स्वतन्त्रता के लिये एक गुप्त संस्था स्थापित की गई। मक्का का शेरिफ हुसैन अपने आपको एक विशाल अरब का अधिपति बनने का स्वप्न देखने लगा और नज्द का नेता इब्न वहाबी शासन की स्थापना की तैयारी में जुट गया। इस प्रकार, प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही तुर्की साम्राज्य धीरे धीरे पतन की ओर अग्रसर हो रहा था। प्रथम महायुद्ध में तुर्की ने जर्मनी के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित होकर अपने भविष्य को और भी अन्धकार मय बना लिया। ३० अक्टूबर १९१८ को तुर्की ने मुड्रोस स्थान पर मित्र राष्ट्रों को आत्म समर्पण कर दिया।

'शुरू में यह तथ्य एक विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है कि प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की ओर से लड़ने वाले सब राष्ट्रों में से पराजय से सबसे पहले स्वस्थ होने वाला, शांति संधि सबसे पीछे करने वाला और पराजित पक्ष का एक मात्र ऐसा राष्ट्र जिसके साथ संधि की शर्तें बातचीत द्वारा तय हुई और उस पर लादी नहीं गई-तुर्की ही था।'[1] परन्तु ऐसा ही हुआ। सुल्तान अब्दुल हमीद ने साम्राज्य को मुस्लिम बनाने का प्रयत्न किया था परन्तु वह असफल रहा। युवक तुर्कों ने इसे साम्राज्यवादी बनाने का प्रयत्न किया था परन्तु महायुद्ध में तुर्की की पराजय के कारण वे भी असफल रहे। अब इसे तुर्की बनाना किसी और के लिये बाकी था। यह काम मुस्तफा कमाल अथवा कमाल अतातुर्क ने पूरा कर दिखाया।

**सेव्रे और लासेन की सन्धियाँ**

मुस्तफा कमाल तुर्की सेना का एक सेनापति था और ब्रिटिश अधिकारी उसे पकड़ कर माल्टा में निर्वासित करने की योजना बना चुके थे। परन्तु कमाल कुस्तुनतुनिया के एक निर्जन स्थान में छिपा हुआ, तुर्की के नव निर्माण की रूप रेखा तैयार कर रहा था। वैसे कमाल जन्म से तुर्क नहीं था। १९०८ में वह तुर्की सेना में सम्मिलित हुआ था और तब से उसने तुर्की के प्रत्येक युद्ध में भाग लिया था। सैनिकों में, वह अपने पराक्रम तथा न्याय के लिये अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था परन्तु राजनीतिज्ञ उसे अविश्वास तथा घृणा की दृष्टि से देखते थे। अब युद्धबन्दी के समय मुस्तफा कमाल बिल्कुल अकेला रह गया। फिर भी, किसी तरह से उसे उत्तरी अनातोलिया में निःशस्त्रीकरण की देख रेख के लिये भेजा गया। मुस्तफा कमाल ने अनातोलिया के सैनिकों और नागरिकों को निःशस्त्र करने की



चित्र—मुस्तफा कमाल

अपेक्षा शस्त्र धारण करने का आवाहन किया। उसने घोषणा की कि जब तक तुर्की अपनी स्वाधीनता को प्राप्त नहीं कर लेगा तब तक वह शस्त्र नहीं रखेगा।

कमाल की घोषणा एक बकवास दिखाई पड़ती थी। क्योंकि सुल्तान और

---

१—गेथार्न हार्डी—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास।

सरकार उसके विरुद्ध थी और मित्रराष्ट्रा को भी उससे कोई सहानुभूति नहीं था। परन्तु जब मई १६१६ म मित्रराष्ट्रा के आशीर्वाद के साथ यूनानी नाविका न स्मर्ना म प्रवेश किया तो तुर्क जनता कमाल के पक्ष में होती गई। इसी समय मुस्तफा कमाल ने तुर्की जनता के प्रतिनिधियो का आमन्त्रित किया और उन्होने मुस्तफा कमाल को अपना अध्यक्ष चुन लिया। सितम्बर में दूसरा अधिवेशन हुआ और एक राष्ट्रीय घोषणा पत्र प्रकाशित किया गया जिसम आधुनिक तुर्की राज्य की रूप रेखा का उल्लेख किया गया। इसमे अरब भाषा भाषी प्रदेशो की प्रभुत्ता का दावा छोड दिया गया परन्तु इन समस्त प्रदेशो पर, जो तर्क राष्ट्रीयता से सम्बन्धित थे, दावा किया गया।

ऐसे समय में मित्र राष्ट्रा ने सेव्रे की सधि करके एक भयकर भूल का। सेव्रे की सन्धि की चर्चा द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। यहाँ पर केवल इतना कहना काफी होगा कि सेव्रे की सधि ने तुर्की साम्राज्य के आकार को बिल्कुल कम कर दिया था और एक स्वाभिमानी राष्ट्र इसे कदापि सहन नही कर सकता था। इस सधि ने तुर्की को एक एशियाई देश बना दिया और तुर्की के प्रातो को विजताओं ने किसी न किसी बहाने स हडप लिया। मुस्तफा कमाल ने सेव्रे की सधि को अस्वीकार कर दिया।

जून १६२० मे यूनान ने सेव्रे की सन्धि द्वारा प्रदत्त तुर्की प्रान्तो को अपने अधिकार मे लेने के लिये सेनाएँ भेज दी। मित्रराष्ट्रो ने यूनान का सहयोग देकर भारी भूल की। मित्रराष्ट्रो का उद्देश्य यूनानी आक्रमण से मुस्तफा कमाल व राष्ट्रवादियो को भयभीत करना था ताकि वे सेव्रे की सन्धि का स्वीकार कर ले। शुरू मे यूनानियो को काफी सफलता मिली और उन्होने अन म स्मर्ना तथा उस्हाक तक अधिकार कर लिया और राष्ट्रवादियो का मार भगाया। परन्तु नवम्बर १६२० म यूनान के प्रधान मन्त्री वनीजिलोस को त्याग पत्र देना पडा और सम्राट कानस्टाइन पुन यूनान लौट आया। वनीजिलोस के कारण ही मित्रराष्ट्र यूनान के साथ थे। अब वे तटस्थ हो गये। १६२२ मे स्थिति बदल गई। अगस्त १६२२ म मुस्तफा कमाल ने यूनानियो पर भयकर आक्रमण किया और उन्हे तुर्क प्रातो स खदेडना शुरू कर दिया। यूनानियो की भयकर पराजय ने ससार को तुर्की राष्ट्रीयता का परिचय दे दिया। थ्रेस तक आते आते मुस्तफा कमाल के सामने एक नई समस्या आ गई। थ्रेस ब्रिटिश सेना के सरक्षण म था और मुस्तफा उस पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु भाग्यवश इस समस्या का शीघ्र ही समाधान हो गया और ब्रिटेन ने पूर्वी थ्रेस पर मुस्तफा कमाल को अधिकार करने की स्वीकृति दे दी। इससे राष्ट्रवादियों उनके घोषणा पत्र या करार द्वारा निर्धारित तुर्की राज्य का सम्पूर्ण भाग प्राप्त हो गया। ब्रिटेन के साथ सुलह करके मुस्तफा कमाल ने भावी शांति-वार्ता का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

तुर्की के साथ नई सधि करना आवश्यक हो गया था। परन्तु एक कठिनाई था। तुर्की मे इस समय एक प्रकार से दो सरकार थे—एक कुस्तुनतुनिया में स्थित सुल्तान का

सरकार और दूसरी अकारा में स्थित मुस्तफा कमाल की सरकार। मित्रराष्ट्रों ने वैधानिक सरकार को अपना प्रतिनिधिमडल भेजने को लिखा। तुर्की के अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास, अमेरिका इटली, रूमानिया, यूगोस्लाविया, रूस, जापान और यूनान को भी निमत्रित किया गया। लासेन को सधि वार्ता का केन्द्र चुना गया और नवम्बर १६२२ में सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। सधि सम्मेलन के कुछ दिना पूर्व नाटकीय ढग से तुर्की के सुल्तान को अपदस्थ कर दिया गया और तुर्की के सर्वोच्च अधिकार मुस्तफा कमाल के हाथ में आ गये। हालाकि वैधानिक दृष्टि से अक्टूबर १६२३ में ही तुर्की का गणराज्य घोषित किया जा सका था। मुस्तफा कमाल ने अपने विश्वस्त साथी इजमत पाशा को तुर्की का प्रतिनिधि बनाकर लासेन सम्मेलन में भेजा। इजमत पाशा ऐसी किसी सधि पर जिससे तुर्की की आर्थिक अथवा कानूनन स्वतन्त्रता पर आघात होता हो, हस्ताक्षर करने को तयार नही था। अत फरवरी १६२३ में सम्मेलन बिना किसी निर्णय पर पहुँचे ही स्थगित कर दिया गया। परन्तु अप्रैल मे पुन अधिवेशन हुआ जुलाई १६२३ में लासेन की सधि पर हस्ताक्षर कर दिये गये।

लासेन की सधि की प्रमुख शर्तें इस प्रकार थी (१) तुर्की को ऐड्रियानापल नगर सहित पूर्वी थ्रेस का अधिकार दिया गया। (२) कुस्तुनतुनिया का तुर्की का भाग स्वीकार कर लिया गया। (३) थ्रेस सीमा तक्षेत्र और जलडमरूमध्यक्षेत्र का असैन्यीकृत कर दिया गया और जलडमरूमध्य को शांति के समय सभी देशा के लिये तथा युद्धकाल में यदि तुर्की तटस्थ हो तो भी सभी देशो के लिये, परन्तु यदि तुर्की युद्धरत हो तो शत्रु देशो के अतिरिक्त सभी देशो के जहाजों के लिये खोल दिया गया। ४) सेव्रे की सधि द्वारा थोपा गया युद्ध का समस्त हर्जाना रद्द कर दिया गया। सभी समर्पण पत्रो (Capitulations) का समाप्त कर दिया गया। तुर्की ने इसके प्रत्युत्तर में कानून सम्बन्धी सुधारों को कार्यान्वित करने तथा राष्ट्रीय अल्पसख्यकों की व्यवस्था करने का बचन दिया। (५) दुर्गो पर विदेशी नियन्त्रण समाप्त कर दिया गया। ६) तुर्की की जल, थल और नभ सेना पर आरोपित प्रतिबन्धो को हटा लिया गया। (७) इम्बरोस, टेनेडाम और रैबिट द्वीपो पर तुर्की के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। (८) तुर्की ने लीबिया, सूडान, मिस्र, इराक, सीरिया और फिलस्तीन पर अपने सभी दावो को समाप्त कर दिया और साइप्रस पर ब्रिटेन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त यूनान और तुर्की में एक पृथक समझौता हुआ जिसके अनुसार तुर्की ने दस लाख यूनानी नागरिको को यूनान भेजने तथा यूनान ने चारलाख तुर्कों को तुर्की भेजने का निश्चय किया।

आगामी तेरह वर्षों तक, लासेन सधि, अपने मूल रूप में कायम रही और हस्ताक्षर कर्ता देश इसका पालन करते रहे। १६३६ मे इसमें कुछ सशोधन कियेगये परन्तु ये सशोधन भी सबधित देशो की सर्वमान्य इच्छानुसार ही किये गये थे। गेथोर्न हार्डी ने लिखा है कि "इस सधि ने युद्ध के बाद वाली अन्य किसी सधि की अपेक्षा अधिक स्थायी समझौते को सुस्थान की। यह लादी नही गई थी, बल्कि बातचीत से तय हुई था और

इसी तथ्य से इसकी स्थायित्व की सम्भावनाओं की आशा थी।' वास्तव में लासेन संधि की सफलता के लिये कई तत्व उत्तरदायी थे। प्रथम तत्व यह था कि यह संधि युद्ध समाप्त के पाँच वर्षों के बाद की गई थी—अर्थात् ऐसे समय में की गई थी जबकि युद्धकालीन प्रतिशोधात्मक एवं घृणापूर्ण वातावरण का अन्त हो चुका था। दूसरा बात यह था कि यह संधि अन्य संधियों की भांति आरोपित नहीं की गई थी अपितु लम्बी वार्ता का परिणाम थी। तीसरी बात यह कि यह संधि एक तटस्थ और शांत स्थान पर की गई थी। इन सब बातों के संयोग से लासेन संधि एक सफल संधि बन गई।

फिर भी, हमारे सामने एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। मित्रराष्ट्रों ने अपने द्वारा आरोपित सेव्रे की संधि का अतिक्रमण सहन करके उसके स्थान पर एक नूतन संधि स्वीकार क्यों की? इसका मूल कारण यह हो सकता है कि मित्रराष्ट्र प्रथम महायुद्ध के परिश्रम के कारण काफी थक चुके थे और उनके सैनिकों में भी अब वापस अपने अपने घरों को लौटने की इच्छा प्रबल हो रही थी। फिर इस समय यूनान के प्रधान मंत्री वेनीजिलास अपने पद से अलग हो चुके थे और सम्राट कान्सटाइन को मित्रराष्ट्रों की कृपा प्राप्त नहीं थी। फ्रांस का तो उससे बेहद घृणा था। इधर मित्रराष्ट्रों में भी आपसी विरोध उत्पन्न हो गया था। फ्रांस ने तुर्की के साथ गुप्त समझौता कर लिया था और इटली अपनी साम्राज्यवादी नीति की नई आधारशिला रखने में लगा हुआ था। उधर साम्यवाद की लहर तुर्की की तरफ बढ़ती चली आ रही थी और इस बात का आशंका थी कि कहीं तुर्की इस लहर में डूब न जाय। फिर इंगलैण्ड और फ्रांस को किसी प्रकार का क्षति सहन नहीं करनी पड़ रही था। इन सब परिस्थितियों के कारण मित्रराष्ट्रों ने तुर्की के साथ नवीन संधि करने का निश्चय किया था।

मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में, तुर्की ने न केवल अपने खोये सम्मान को ही प्राप्त किया परन्तु अपना आधुनिक रूप भी प्राप्त किया। १ नवम्बर १९२२ को राजतंत्र का अन्त कर दिया गया। २९ अक्टूबर १९२३ को तुर्की को गणराज्य घोषित किया गया और मुस्तफा कमाल को प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया। ३ मार्च १९२४ को खलीफा के पद को समाप्त कर दिया गया और २० अप्रैल को एक नया संविधान लागू किया गया। धार्मिक कानूनों तथा आदेशों को रद्द कर दिया गया और धार्मिक मठों को समाप्त कर दिया गया। पर्दा प्रथा का अन्त हुआ और बहुविवाह को रोक दिया गया। १९२६ में यूरोपियन तिथिक्रम को लागू किया गया तथा शुक्रवार के स्थान पर रविवार को छुट्टी का दिन घोषित किया गया। राजनीति के क्षेत्र में राजधानी का परिवर्तन किया गया (कुस्तुनतुनिया से अंकारा)। न्याय व्यवस्था का संगठन किया गया और दीवानी तथा फौजदारी नियमों का आधुनिकीकरण किया गया। स्त्रियों को नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार दिये गये। सार्वजनिक प्रशासन को संगठित किया गया तथा प्रति क्रिया वादी तत्वों का दमन किया गया। शिक्षा की तरफ विशेष ध्यान दिया गया

**तुर्की का आधुनिकीकरण**

और प्रौढ़ लोगों को शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया। विज्ञान तथा औद्योगिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया। आर्थिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण सुधार किये गये। पुराने करों के स्थान पर नये कर लगाये गये। उद्योग धंधों को विकसित किया गया। यातायात के साधनों का सुधार किया गया तथा नवीन सड़कों का निर्माण किया गया। राष्ट्रीय बैंकों की स्थापना की गई तथा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन दिया गया। इन सब सुधारों के कारण तुर्की बहुत शीघ्र एक उन्नत देश बन गया।

इस प्रकार कमाल के नेतृत्व में साम्राज्य की मृत्यु और एक राष्ट्र का उद्भव हुआ। तुर्की गणराज्य ने अपने पडोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार के द्वारा अपनी स्थिति को सुदृढ बनाने का प्रयत्न किया। क्योंकि तुर्की में यह भावना प्रचलित थी कि यदि तुर्की को उन्नत बनाना है तो शांति की स्थापना अनिवार्य है। यही कारण है कि तुर्की का उद्देश्य न तो किसी देश की भूमि का हड़पना और न अपने देश की भूमि पर किसी का अधिकार करने देना बन गया। सर्वप्रथम, तुर्की ने अपने शक्तिशाली पडोसी देश रूस के साथ मित्रता की। रूस भी तुर्की की भांति यूरोपियन शक्तियों से नाराज था। अत: दोनों में शीघ्र ही संधि हो गई। इस संधि का सूत्रपात १९२१ की मास्को संधि से हुआ था और १९२५ की मैत्री करार से दोनों देशों के सम्बन्ध और अधिक मजबूत हो गये। द्वितीय महायुद्ध के कुछ वर्ष पूर्व तक दोनों देशों की मित्रता बनी रही परन्तु द्वितीय महायुद्ध के सूत्रपात से कुछ तनाव पैदा हो गया हालांकि पूर्ण और स्पष्ट रूप से परस्पर संघर्ष की नौबत कभी नहीं आई।

**अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तुर्की**

१९३० में तुर्की ने शताब्दियों प्राचीन यूनानी शत्रुता का अन्त करते हुए यूनान के साथ मित्रता स्थापित की। १९३४ में यूनान और तुर्की ने रूमानिया तथा युगोस्लाविया के साथ मिलकर बाल्कन संघ का निर्माण किया और सदस्य देशों की प्रादेशिक अखण्डता की प्रत्याभूति दी। १९३७ में तुर्की ने अफगानिस्तान, ईरान, इराक के साथ निकट पूर्वी करार (Near Eastern Pact) पर हस्ताक्षर किये। इस करार का उद्देश्य अनाक्रमण तथा सदस्य देशों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना और आपसी विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से हल करना था। १९२८ में तुर्की ने इटली के साथ भी मित्रता की संधि की परन्तु दोनों देशों के बीच तनाव बना रहा।

१९३२ में, यथास्थिति को बनाये रखने तथा सामूहिक सुरक्षा को दृढ करने की दृष्टि से तुर्की ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण की। राष्ट्र संघ की सदस्यता की प्राप्ति से तुर्की का सम्मान बढ़ गया। १९३६ में मान्ट्रियक्स (Montreux) सम्मेलन में तुर्की को जलडमरूमध्य प्रवेश द्वार की किलेबंदी करने का अधिकार मिल गया। इससे तुर्की की सुरक्षा अधिक दृढ़ हो गई। १९३६—३८ में जब एकतन्त्रवादी की आक्रमणात्मक कार्यवाहियाँ अधिक बढ़ने लग गई तो तुर्की ने फ्रांस और इंगलैण्ड के साथ अपने सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ करने का निश्चय किया। इससे पूर्व उनके साथ उसके

सम्बन्ध अधिक अच्छे नही थे। मोसुल विवाद को लेकर इगलैण्ड के साथ उसका ... हो गया था और अलेक्जण्ड्रेटा प्रात को, जो फ्रेंच सरक्षित सीरिया में स्थित था ... के साथ उसका तनाव बना हुआ था। जुलाई १९३९ में तुर्की और फ्रास में एक ... झौता हो गया जिसके अनुसार उपरोक्त प्रात तुर्की को प्राप्त हो गया। अक्टूबर १९३९ मे तुर्की ने इगलैण्ड और फ्रास के साथ सधि करली जिसके अनुसार बाल्कन प्रायद्वीप म तुर्की ने इटालियन या जर्मन आक्रमण का निरोध करने का वचन दिया और इगलैण्ड तथा फ्रास ने तुर्की पर किये जाने वाले आक्रमण का सामना करने का वचन दिया। तुर्की ने रूसी आक्रमण के विरुद्ध सहायता देने मे अस्वीकार कर दिया था।

द्वितीय महायुद्ध के समय मे तुर्की ने तटस्थ रहने का निर्णय किया और अपने इस निर्णय पर डटे रहने का अथक प्रयत्न भी किया। इगलैण्ड और फ्रास के सहयोग से उसने २० लाख सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना को तैयार किया परन्तु युद्ध में सम्मिलित नही हुआ। १९४० मे फ्रास के पतन से उसकी तटस्थ नीति और भी अधिक स्पष्ट हो गई और उसने जर्मनी तथा मित्र राष्ट्रों दोनो ही के साथ समान व्यवहार वाली नीति का पालन किया। फरवरी १९४५ में तुर्की ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। परन्तु इस घोषणा का अभिप्राय सेनफ्रासिसको सम्मेलन म, जिसम सयुक्त राष्ट्र सघ का रूप रेखा तैयार की जाने वाली थी, सम्मिलित होने की योग्यता प्राप्त करना था।

इस बीच में, तुर्की और रूस के सम्बन्ध बिगडते गये। मास्को तुर्की की तटस्थ नीति के कारण बौखला उठा था और उसने १९२५ में तुर्की के साथ किये गये अनाक्रमक करार को रद्द कर दिया तथा तुर्की के सामने आक्रामक मागे प्रस्तुत की। १९४५ म रूस द्वारा प्रस्तुत मागो में बाल्कन सागर के कुछ तटीय क्षेत्र और कार्केशियन प्रात सम्मिलित थे जिन पर तुर्की का अधिकार था। अन्य मागो में जलडमरूमध्य प्रदेश म रूस द्वारा सैनिक चौकियां स्थापित करने का अधिकार भी सम्मिलित था। तुर्की ने इन मागो को ठुकरा दिया और १९४६ तथा १९४७ में रूस ने तुर्की के विरुद्ध एक निदात्मक प्रचार किया। इसी समय पर ट्रूमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत अमरिका ने तुर्की को आर्थिक मदद देनी शुरू कर दी जिसके परिणाम-स्वरूप रूसी मागो के प्रति तुर्की रूख अत्यधिक कडा होता गया। १९५० में तुर्की न स्पष्ट रूप से रूसी मागो को अस्वीकार कर दिया और कोरिया युद्ध के समय उसने सयुक्त राष्ट्र सघ को साम्यवादी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए ४५०० सैनिको की सहायता दी। १९५२ में तुर्की उत्तर अटलाटिक सधि सगठन (Nato) म सम्मिलित हो गया और १९५५ में बगदाद सधि का सदस्य बन गया। इराकी क्रान्ति के कारण बगदाद सधि नष्ट हो गई और १९५९ में एक नूतन सगठन "सेन्टो (Cento) का निर्माण किया गया जिसका मुख्य कार्यालय तुर्की की राजधानी अकारा म रखा गया। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तुर्की धीरे धीरे पश्चिम की तरफ झुकता गया और आज मध्यपूर्व म वह पश्चिम का एक प्रबल पक्षधर है।

## (२) इजरायल

फिलस्तीन की भूमि पर स्थित इजरायल राज्य की स्थापना बीसवी सदी की एक आश्चर्य जनक महत्वपूर्ण घटना है। इजरायल यहूदियो का राज्य है उनका राष्ट्रीय घर है। ऐतिहासिक दृष्टि से पिछले दो हजार वर्षों से फिलस्तीन का एक विशेष एव आकर्षक स्थान रहा। विश्व के तीन प्रमुख धर्मों यहूदी ईसाई और इस्लाम

ऐतिहासिक भूमिका का उद्गम स्थान होने का श्रेय फिलस्तीन को प्राप्त है। इसका इतिहास हजरत मूसा से शुरू होता है जिन्होने अपने अनुयायिओ को मिश्री अत्याचारों से दूर, फिलस्तीन की पवित्र भूमि पर बसने की प्रेरणा दी थी। ६५ ई० पू० में फिलस्तीन पर रोमन लोगो का अधिकार हो गया और ६३४ ई० तक फिलस्तीन रोमन साम्राज्य का अग बना रहा। इसके बाद प्रथम महायुद्ध तक यह देश तुर्की साम्राज्य का प्रात बना रहा।

फ्रेंच क्राति ने जिस राष्ट्रवादी भावना का जन्म दिया, उसका प्रभाव यहूदियो पर भी पड़ा। इस समय यहूदियो का कोई राज्य नही था। परन्तु उनमे आपसी सहयोग भी नहा था। यूरोप के सभी राज्यो ने समय समय पर उन पर अमानवीय अत्याचार किये। इन अत्याचारो से परेशान होकर उनमें आपसी सहयोग की भावना का विकास हुआ और १८६७ में थियाडोर हर्सल (Heızl) के नेतृत्व मे एक जायनवादी कांग्रेस (Zionist Congress) की स्थापना की गई और बासल (Basel) नामक स्थान पर इस कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बुलाया गया। जायनवाद (Zionism) का नाम बाइबल में वर्णित जायन पहाडी के नाम पर रखा गया। ऐसा अनुमान है कि जरुसलम का यह पहाडी एक समय यहूदियो के प्रसिद्ध राजा दाऊद का राजकीय निवास स्थान था। जायनवादी कांग्रेस का अभिप्राय इस पहाडी तथा पहाडी वाले देश को पुन प्राप्त करना था ताकि यहूदियो को अन्य देशो का अत्याचार सहन न करना पडे। इसी को यहूदीवाद या जियोनिज्म कहा जाता है। इस आन्दोलन ने यहूदियों को फिलस्तीन में बसने की प्रेरणा दी और प्रथम महायुद्ध तक लगभग एक लाख यहूदी फिलस्तीन में बस गये।

प्रथम महायुद्ध के समय तुर्की ने जर्मनी का साथ दिया था। ब्रिटेन ने तुर्कों के विरुद्ध अरबो का सहयोग प्राप्त करने के लिये युद्ध समाप्ति के बाद तुर्की साम्राज्य के अरब भाषा भाषी प्रान्तो को स्वतन्त्रता देने का प्रलोभन दिया और अरबो ने तुर्कों से लोहा लिया। १९१५ १६ में ब्रिटेन के सामने एक कठिनाई आ खडी हुई। विस्फोटक पदार्थों के काम में आनेवाली मद्यसार (alcohol) का अभाव पड गया और इसके अभाव में साम्राज्य सेना की शक्ति कमजोर पड गई। ब्रिटेन की इस कठिनाई का यहूदी रसायन शास्त्री डा० वीजमान (Dr Weizmann) ने दूर कर दी और उसने लकडी से मद्यसार निकालने का नुस्खा ढूढ निकाला। ब्रिटिश सरकार ने डा० वीजमान को इसका बदला देने की जिज्ञासा प्रकट की और वीजमान ने अपने सजातियो की सेवा की ही

अपनी सेवा बतलाया। अर्थात् फिलस्तीन में यहूदियों का राज्य स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की। वैसे ब्रिटिश सरकार शुरू से ही इस संबंध में सोच रही थी और उसने यूगेण्डा प्रदेश यहूदियों को सौंपने का निश्चय भी कर रखा था परन्तु डा० वीजमान ने यूगेण्डा प्रदेश को उपयुक्त नहीं समझा। ब्रिटिश प्रधान मंत्री लायड जार्ज ने वाजमान की बात का स्वीकार कर लिया और २ नवम्बर १९१७ को ब्रिटिश विदेश मंत्री आर्थर जेम्स बालफोर ने फिलस्तीन में यहूदियों का 'राष्ट्रीय निवास' (National देने की घोषणा की। ब्रिटेन की इस नीति के पीछे अमरिका का महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में घसीटना भी था क्योंकि लाखों यहूदी अमरिका के नागरिक तथा मतदाता थे। एक अन्य ध्येय यहूदियों से आर्थिक सहायता प्राप्त करना भी था। युद्ध समाप्ति के बाद फिलस्तीन एक अधिदेश (Mandate) के रूप में इंगलैण्ड को प्रदान किया गया।"

१९१९ के उपरान्त, फिलस्तीन की समस्या का उल्लेख करने के पूर्व इस समस्या की पृष्ठभूमि में निहित महत्वपूर्ण संघर्षकारी तत्वों का उल्लेख करना उपयुक्त रहेगा।

**कलहकारी तत्व**

क्योंकि इन तत्वों के कारण ही फिलस्तीन की समस्या इतनी उलझनकारी रूप धारण मध्यपूर्व का यह छोटासा राज्य परस्पर विरोधी राष्ट्रीयताओं—अरब राष्ट्रवाद और राजनीतिक जायनवाद जिनका उद्भव एक ही समय और एक ही क्षेत्र को लेकर हुआ था—का कलहकारी केन्द्र बना हुआ है। दूसरा प्रमुख तत्व ब्रिटेन का स्वार्थ था। मध्यपूर्व में इंगलैण्ड के विशेष स्वार्थ थे। स्वेज नहर के द्वारा ब्रिटिश उपनिवेश साम्राज्य की सुरक्षा का सवाल था क्योंकि मिश्र में राष्ट्रवादी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और सीरिया फ्रेंच नियंत्रण में था। अतः ब्रिटेन फिलस्तीन को अपने अधिकार में रखना चाहता था। तीसरी बात यह थी कि इसके पीछे तीन महान् धर्मों को थी। यहूदी मुसलमान और ईसाई–इन तीनों धर्मों के अनुयायी यहाँ पर बसे हुए थे और तीनों के पवित्र स्थान फिलस्तीन में थे। चौथी बात यह थी अमेरिका में बसे ४० लाख यहूदी मतदाता अमेरिकन राष्ट्रपति के निर्वाचन को काफी प्रभावित कर सकते थे। अतः अमरिका भी यहूदियों का समर्थक बन गया। इसी प्रकार ब्रिटेन को अपने उपनिवेशों में बसे मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिये अरबों को सन्तुष्ट करना भी आवश्यक था। सच्ची बात तो यह थी कि इस सम्बन्ध में ब्रिटिश नीति अस्थिर थी–एक तरफ उसे अपने स्वार्थों का चिन्ता थी, दूसरी तरफ उसे यहूदियों से सहानुभूति थी और तीसरी तरफ वह अरबों की भावना को भी ठेस नहीं पहुँचाना चाहता था। १९३३ के बाद जर्मनी, रूमानिया और पोलण्ड में यहूदियों पर जो अत्याचार किये गये, उन्हें देखते हुए फिलस्तीन में यहूदियों को बसने से रोकना अमानवीय कदम हो सकता था। हिटलर की यहूदियों के प्रति नीति दुहरी थी–प्रथम, उनकी सम्पत्ति को हड़पना तथा यह प्रमाणित करना कि वह कठोर नियंत्रण रख सकता है और दूसरी मध्यपूर्व में यहूदियों और अरबों में आपसी झगड़ा खड़ा करके ब्रिटेन के लिये नई कठिनाइयाँ उत्पन्न करना। ताकि

जमनी के प्रति अपना पूर्ण शक्ति का प्रयोग न कर सके। अन्त म, फिलस्तीन का एक विशेष आर्थिक महत्व था। इराक और अरबिया का तेल फिलस्तीन के रास्ते से एक बहुत बडी पाइप लाइन के द्वारा बन्दगाहो तक पहुँचाया जाता था। पाइप लाइनो के कारण फिलस्तीन की समस्या और भी अधिक उलझनी गई।

बालफोर घोषणा (१९१७) ने फिलस्तीन मे, यहूदियो के लिये "एक राष्ट्रीय निवास" की स्थापना का आश्वासन दिया था। १९२२ मे राष्ट्रसघ ने फिलस्तीन पर ब्रिटिश आदिष्ट की स्वीकृति प्रदान कर दी। इससे अरबो का

अरबों और यहूदियों में झगडे

चिन्ता बढ गई। हालाकि ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की थी कि फिलस्तीन मे यहूदियो का राष्ट्रीय घर स्थापित करते समय ऐसा कोई कदम नही उठायेगी जिससे गैर यहूदी जनता के नागरिक तथा धार्मिक अधिकारो को किसी प्रकार की ठेस लगे। अरबो की समझ मे नहीं आ रहा था कि आखिर ब्रिटेन अपनी दो परस्पर विरोधी प्रतिज्ञाओ को कैसे पूरा करेगा। स्वय बालफोर ने इस विरोधाभास को स्वीकार करते हुए कहा था कि—'मेरी समझ में यह कभी नही आया कि घोषणा तथा प्रतिश्रव (Covenant) में समन्वय कैसे लाया जा सकता है। हम यहूदी राज्य की स्थापना के लिये वचन बद्ध है, चाहे यह गलत हो या ठीक, चाहे इसका नतीजा अच्छा हो या बुरा।" अर्थात् ब्रिटेन शुरू से ही यहूदी राज्य की स्थापना के पक्ष मे था। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन भी इस बात पर ब्रिटेन के साथ थे।

इस प्रकार की परिस्थिति में ससार के भिन्न भिन्न भागो मे हजारो यहूदी फिलस्तीन मे बसने लगे। अमेरिका के पूँजीपति यहूदियो ने उन्हें आर्थिक सहायता दी जिसके सहारे यहूदियो ने निर्धन अरबो से भूमि खरीदना शुरू कर दिया। फिलस्तीन के यहूदी काफी सगठित थे और उन्होने अपनी भूमि पर अरबो को काम पर लगाना बन्द कर दिया। उद्योग-धंधो में भी इसी नीति का सहारा लिया गया। परिणाम यह निकला कि अरब लोगों की आर्थिक स्थिति बिगडने लगी और वे फिलस्तीन छोडकर पडोसी देशो मे बसने लगे और यहूदी उनका स्थान लेने लगे। इससे अरबो की चिन्ता और अधिक बढ गई और उन्होने विद्रोह कर दिया। १९२९ मे यहूदी विरोधी कार्यवाही में बहुत से यहूदियो का कत्ल कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने किसी तरह से विद्रोह का दमन किया और अशान्ति तथा उपद्रव का सारा दोष अरब लोगो पर लादा। परन्तु राष्ट्रसघ के आदिष्ट आयोग ने इसका उत्तरदायित्व अरबो तथा ब्रिटिश सरकार—दोनो पर डाला और ब्रिटेन को भविष्य मे अधिक सावधानी रखने का आदेश दिया गया।

परन्तु यह तो शुरूआत मात्र थी। १९३० में अरबो की माँग पर यहूदी विस्थापितों के नियत्रण के सम्बन्ध में शॉ आयोग की नियुक्ति की गई जिसने यहूदी विस्थापितो के नियत्रण का सुझाव दिया। परन्तु डा० वीजमान ने इस निर्णय या सुझाव का विरोध किया और ब्रिटिश सरकार ने भी इस पर विशेष ध्यान नही दिया। १९३० में यहूदी विस्थापितो की संख्या और भी अधिक बढ गई।

इसी समय एक नवीन समस्या को लेकर अरबो और यहूदियो में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इसका सूत्रपात एक प्राचीन दीवार (wailing wall) से शुरू हुआ। दोनों पक्ष इसे अपनी अपनी पवित्र थाती मानते थे। यहूदियो का कहना था कि यह प्राचीन दीवार उनके मंदिर का अंतिम अवशिष्ट चिन्ह थी और अरबो का कथन था कि यह बुराक पशु, जिस पर चढ़ कर हजरत मुहम्मद बहिश्त गये थे—का अस्तबल था जिसमें शिला का गुम्बद तथा अक्सा की मसजिद भी है। दीर्घकाल से यहूदी इस दीवार की पूजा करते चले आ रहे थे परन्तु तुर्क शासन तक उन्होंने कभी दावा नहीं किया था। वस्तुतः दीवार और उसके नीचे का चबूतरा मुसलमानो की सम्पत्ति थी। झगड़े का कारण यह था कि जिस दिन यहूदियों की पूजा का दिन था उसी दिन हजरत मुहम्मद का जन्म दिवस भी आ पड़ा। अतः दोनो पक्षो की भीड़ में कुछ कहा—सुनी हो गई और बढ़ते बढ़ते दंगें की नौबत आ पहुँची। इसमें १३३ यहूदी और ११६ अरब मारे गये और हजारो घायल हुये। ब्रिटिश सरकार ने एक आयोग नियुक्त किया। उधर राष्ट्र संघ की परिषद् ने भी एक तटस्थ आयोग नियुक्त किया तथा ब्रिटिश सरकार ने सर जान होप सिम्पसन को यहूदी अन्त प्रवास (Immigration) और भूमि बन्दोबस्त की समस्या पर प्रतिवेदन देने के लिये भेजा।

ब्रिटेन की इस नीति का कारण विश्व जायनवादी संगठन के साथ उसका मतभेद था। इसी मतभेद या विवाद के कारण २००० यहूदियो को दिये गये पासपोर्ट रद्द कर दिये गये थे। अक्तूबर १९३० में सिम्पसन रिपोर्ट के साथ ही साथ ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया जो यहूदियो के विरुद्ध में था। यहूदी क्षेत्रो में इसकी घोर निन्दा की गई और इसे बालफोर घोषणा तथा भूतपूर्व प्रतिज्ञाओ से हटना माना गया। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री रम्जे मैकडोनल्ड ने इस अशान्त वातावरण को दूर करने का प्रयत्न किया और उन्होंने डॉ० वीजमान को आश्वासन पूर्ण पत्र भी लिखा। इससे यहूदी तो शांत हो गये परन्तु अरबो में विद्रोह की ज्वाला सुलगने लग गई।

१९३५ के अंत में अरब नेताओं ने अपनी मांगो की एक सूची ब्रिटिश सरकार के सामने रखी। उनकी कुछ मांगे इस प्रकार थी—प्रजातान्त्रिक सरकार की स्थापना, यहूदियो को भूमि बेचने का निषेध छोटे किसानो को कर्ज के कारण भूमि से बेदखल न करने के सम्बन्ध में एक कानून का निर्माण तथा यहूदी विस्थापितो को फिलस्तीन में आने से रोकना तथा इस बात का सख्ती के साथ पालन किया जाना। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने अरब मांगो को ठुकरा दिया। इसका परिणाम बहुत बुरा हुआ और १९३६ में अरबों और यहूदियो में अनेक दंगे हुए तथा सैकड़ो लोग मार डाले गये। इस पर ब्रिटिश सरकार ने लार्ड पील की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्त की। जुलाई १९३७ में इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए कहा कि अरबो और यहूदियो के हित व अभिलाषाए, एक दूसरे से इतनी भिन्न है कि उनमे समझौता होना असम्भव है। अतः फिलस्तीन में शांति और व्यवस्था की स्थापना के लिये तथा ब्रिटेन द्वारा दोनो पक्षो को

दी गई प्रतिज्ञाओं की पूर्ति के लिये, फिलस्तीन का अरब राज्य तथा यहूदी राज्य में विभाजन कर दिया जाय। इस योजना ने सभी पक्षों को क्रोधित कर दिया। यहूदियों ने एक बार पुनः विश्वासघात का आरोप लगाया। अरबों ने दावा किया कि "समृद्धि शाली क्षेत्र यहूदियों को दिया जा रहा है, धार्मिक ब्रिटन को (योजना में जेरूसलेम, बाथलहेम आदि धार्मिक नगरों का ब्रिटिश प्रशासन में रखने की व्यवस्था थी) और सबसे बजर क्षेत्र अरबों को दिया जा रहा है।"[1] इसी समय, इटली अरबों को उकसा रहा था जिसके फलस्वरूप कई दंगे हुए और बहुत कठिनता से शांति स्थापित की जा सकी। इस समय तक (१९३७) फिलस्तीन में लगभग ४ लाख यहूदी बस चुके थे।

ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तीन की समस्या राष्ट्र संघ को सौंप दी जिसने १९३८ में सर जॉन वुडहेड के नेतृत्व में एक आयोग स्थापित किया। वुडहेड आयोग ने फिलस्तीन विभाजन योजना को अस्वीकार कर दिया क्योंकि दोनों देशों की सीमाओं को निर्धारित करना अत्यधिक कठिन काम था। अतः ब्रिटिश सरकार ने फिलस्तान की शांति को बनाये रखने के लिये गैर-फिलस्तीन अरब नेताओं, फिलस्तीन अरब नेताओं तथा यहूदी नेताओं का एक सम्मेलन फरवरी १९३९ में, लन्दन में बुलाया। सम्मेलन में अरबों ने यहूदियों के साथ बैठना अस्वीकार कर दिया। अतः प्रधान मंत्री चेम्बरलेन को दोनों प्रतिनिधियों से अलग अलग वार्तालाप करनी पड़ी। अरबों ने फिलस्तीन में एक स्वतंत्र अरब राज्य की स्थापना की माग की और यहूदियों ने अपने राज्य की। दोनों पक्षों में किसी प्रकार का समझौता न हो सका और इसी अवसर पर द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया। अतः फिलस्तीन का मामला खटाई में पड़ गया।

द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिका में स्थित यहूदियों ने अपने आन्दोलन को जारी रखा और किसी न किसी प्रकार से अमेरिकन राष्ट्रपतियों रूजवेल्ट तथा ट्रूमेन को प्रभावित करने में सफलता प्राप्त करली। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद फिलस्तीन की समस्या पुनः अपना विकराल रूप धारण करके उठ खड़ी हुई। क्योंकि यहूदियों को अमेरिका का गुप्त सहयोग प्राप्त था और अरबों को नव निर्मित अरब लीग का। अतः ब्रिटेन ने, २ अप्रैल १९४७ को फिलस्तीन की समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में प्रस्तुत कर दिया और इस बात का संकेत भी किया कि ब्रिटेन यथाशीघ्र अपने दायित्व से मुक्त होना पसन्द करेगा। १३ मई १९४७ को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के प्रथम अधिवेशन में फिलस्तीन की समस्या का अध्ययन करने के लिये एक विशिष्ट समिति (UNSCOP) की स्थापना की गई। समिति में ११ देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे और स्वीडन के मुख्य न्यायाधीश अलफ्रेड एमिल सेण्डस्ट्रोम को समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। अगस्त १९४७ के अन्त तक समिति ने अपना प्रति-

1 Langsam The World Since 1919

**संयुक्त राष्ट्र संघ** वेदन प्रस्तुत कर दिया। समिति का प्रतिवदन सत्र सम्मत नहीं
**और फिलस्तीन** था। बहुमत ने फिलस्तीन के विभाजन का समर्थन किया। विभा
जन योजना इस प्रकार थी– (१) अरब राज्य (२) यहूदी राज्य और (३) जेरुसलेम शहर को अन्तर्राष्ट्रीय न्यास प्रणाली के अन्तर्गत रखना। इन तीनों क्षेत्रों का एक आर्थिक संघ होना चाहिए। अल्पमत ने एक संघीय राज्य की स्थापना का सुझाव दिया जिसके अन्तर्गत अरबों तथा यहूदी राज्यों को स्वायत्त शासनाधिकार दिया जाय। प्रतिवेदन पर महासभा में गर्मा गरम बहस हुई। ग्रेट ब्रिटेन ने आदिष्ट प्रथा की समाप्ति पर अपनी स्वीकृति दे दी। यहूदियों ने एक स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना पर प्रसन्नता प्रकट की। परन्तु अरबों ने इसका डटकर विरोध किया। अरब उच्चतर समिति के हुसैनी ने इस एक अनैतिक, अनुचित तथा गैर–कानूनी निर्णय बतलाया। रूस और अमेरिका ने विभाजन का समर्थन किया। २९ नवम्बर १९४७ को महासभा ने फिलस्तीन का विभाजन स्वीकार कर लिया। महासभा ने सिफारिश की कि फिलस्तीन को अरब तथा यहूदी राज्यों में विभाजित कर दिया जाय तथा जरूसलम का अलग राज्य में रखा जाय। दोनों राज्यों का एक चुंगी संघ हो और यातायात तथा आवागमन की सुविधाओं के लिये दोनों मिलकर काम करें तथा दोनों देशों का करेंसी एक समान हो।

महासभा के इस निर्णय की यहूदी और अरब दोनों क्षेत्रों में कटु आलोचना की गई। सौदी अरब के अमीर फजल अल साउद ने घोषणा की कि विभाजन योजना के सम्बन्ध में महान् शक्तियों ने संघ के सदस्यों पर अनुचित दबाव डालकर इसे पास कराया है। इसमें कुछ सच्चाई अवश्य है। क्योंकि विभाजन का निर्णय अन्तिम समय पर अमरिका के दबाव के कारण ही सम्भव हो सका था। चाहे जो हो, विभाजन योजना को कार्यान्वित करने का भार, महासभा ने बोलिविया, चेकोस्लोवाकिया डेनमार्क पनामा तथा फिलीपीन्स के प्रतिनिधियों की एक समिति को सौंप दिया। परन्तु ब्रिटेन ने इस समिति के सदस्यों को फिलस्तीन में जाने की अनुमति नहीं दी। मई १९४८ में इस समिति को भंग कर दिया गया।

इसी बीच, ११ दिसम्बर १९४७ को ब्रिटेन ने घोषणा की कि १५ मई १९४८ को फिलस्तीन में आदिष्ट प्रथा को समाप्त कर दिया जायगा। इस घोषणा का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा और अरबों ने यहूदियों पर आक्रमण कर दिया। यहूदी पहले से ही तैयार बैठे थे। इस आपसी झगड़े में ३००० अरब तथा २८०० यहूदी मार डाले गये। सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर १९ अप्रैल १९४८ को महासभा का दूसरा विशेष अधिवेशन बुलाया गया परन्तु आपसी विरोध की तीव्रता के कारण किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका।

अमरिका [illegible] प्रभाव के कारण फिलस्तीन विभाजन का प्रस्ताव पारित हो गया [illegible] विभाजन योजना को कार्यान्वित करने के लिए [illegible] का प्रयत्न करने के [illegible]

म नही था। हां, शांति की स्थापना के लिय वह ऐसा कदम उठाने को तैयार था। ब्रिटेन फिलस्तीन की समस्या के समाधान के लिये अपने नागरिको का खून बहाने को तयार नही था। मास्को और वाशिंगटन आपसी मतभेद के कारण अपनी अपनी सेना को भेजने को तैयार नहीं थे। सयुक्त राष्ट्र सघ की तरफ से सेना भेजन पर भी यही कठिनाइ आती और रूस माने सनिको का भी सम्मिलित करने का हठ करता। यह अमेरिका को पसन्द नही था। इस प्रकार की विषम परिस्थिति को १४ मई १६४८ को तेल अवीव (Tel Aviv) की घोषणा—"इजरायल की स्थापना की घोषणा" ने और अधिक विषम बना दिया। यहूदियो ने अपने नेता रब्बी सिलवर के नेतृत्व में इस दिन स्वतन्त्र इजरायल राज्य की स्थापना की घोषणा की और यहूदी सेना ने अपने आधीन प्रदेशो का प्रशासन भी समाल लिया। ब्रिटेन ने तत्काल ही आदिष्ट प्रणाली की समाप्ति को घोषणा करदी। दस मिनट के बाद ही अमेरिका ने इजरायल राज्य को मान्यता प्रदान करदी। मिस्र प्रतिनिधि ने सयुक्त राष्ट्र महासभा में भाषण करते हुए कहा— 'जो भी कार्यविधि इस सबध में अपनाई गई, वह तो महज मजाक बन कर रह गई। यह कार्य सयुक्त राष्ट्र सघ पर ही नही अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर भी एक घातक प्रहार है। महासभा के सदस्या के साथ धोखा किया गया है।"

इजरायल राज्य की घोषणा

इजरायल राज्य का स्थापना की घोषणा ने अरब राज्यो को क्रोधित कर दिया और उन्होंने चारों तरफ स इजरायल पर आक्रमण कर दिया। दुर्भाग्यवश अरबो में आपसी सहयोग की कमी थी जिसके कारण उन्हे अनेक बार पराजित होना पडा। फिलस्तीन में बसे अरबो की स्थिति बहुत शोचनीय हो गई। हजारो अरब मारे गये तथा लाखो बेघरबार हो गये। मिश्र ने किसी प्रकार यहूदियो को पराजित करके गाजा पट्टी पर अधिकार कर लिया। अरबो और यहूदियो के इस सघर्ष स महासभा बहुत अधिक चिंतित हो उठी। २६ मई को सुरक्षा परिषद ने युद्ध विराम का आदेश दिया तथा सर्वसम्मति से स्वीडन के काउंट बर्नडोट (Bernadotte) को मध्यस्थ नियुक्त किया गया। बर्नडोट की सहायता के लिये अमेरिकी, बेल्जियन तथा फ्रेंच प्रेक्षको की नियुक्ति की गई। सुरक्षा परिषद द्वारा जारी शांति का आदेश एक मास के बाद प्रभावहीन हो गया और पुन लड़ाई शुरु हो गई क्योकि अरब लोग फिलस्तीन म किसी कीमत पर यहूदी राज्य की स्थापना के पक्ष में नही थे। जुलाई मे सुरक्षा परिषद ने पुन युद्ध विराम आज्ञा जारी की जिसके फलस्वरूप अक्टूबर तक शांति रही। उसके बाद पुन भारी सघर्ष शुरू हो गया। इसी बीच १८ सितम्बर १६४८ को जेरुसलम म मध्यस्थ बर्नडोट की हत्या कर दी गई। इससे स्थिति और अधिक विषम बन गई। परन्तु सुरक्षा परिषद ने सावधानी से काम लिया और बर्नडोट के स्थान पर उसके सहयोगी डा० राल्फ बुन्च को स्थानापन्न मध्यस्थ नियुक्त किया गया। परन्तु स्थिति में अधिक सुधार नही हो सका और १ दिसम्बर १६४८ को जार्डन ने अरबी फिलस्तीन पर अधिकार कर लिया और अपने अधिकार की

**संयुक्त राष्ट्र संघ और फिलस्तीन** वेदन प्रस्तुत कर दिया। समिति का प्रतिवेदन सर्व सम्मत नहीं था। बहुमत ने फिलस्तीन के विभाजन का समर्थन किया। विभाजन योजना इस प्रकार थी—(१) अरब राज्य (२) यहूदी राज्य और (३) जेरूसलेम शहर का अन्तर्राष्ट्रीय प्रन्यास प्रणाली के अन्तर्गत रखना। इन तीनों क्षेत्रों का एक आर्थिक संघ होना चाहिए। अल्पमत ने एक संघीय राज्य की स्थापना का सुझाव दिया जिसके अन्तर्गत अरबी तथा यहूदी राज्यों को स्वायत्त शासनाधिकार दिया जाय। प्रतिवेदन पर महासभा में गर्मा गरम बहस हुई। ग्रेट ब्रिटेन ने आदिष्ट प्रथा की समाप्ति पर अपनी स्वीकृति दे दी। यहूदियों ने एक स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना पर प्रसन्नता प्रकट की। परन्तु अरबों ने इसका डटकर विरोध किया। अरब उच्चतर समिति के हुसैनी ने इसे एक अनैतिक, अनुचित तथा गैर-कानूनी निर्णय बतलाया। रूस और अमेरिका ने विभाजन का समर्थन किया। २६ नवम्बर १९४७ को महासभा ने फिलस्तीन का विभाजन स्वीकार कर लिया। महासभा ने सिफारिश की कि फिलस्तीन को अरब तथा यहूदी राज्यों में विभाजित कर दिया जाय तथा जेरूसलेम को अरब राज्य में रखा जाय। दोनों राज्यों का एक चुंगी संघ हो और यातायात तथा आवागमन की सुविधाओं के लिये दोनों मिलकर काम करें तथा दोनों देशों का करेंसी एक समान हो।

महासभा के इस निर्णय की यहूदी और अरब नेताओं क्षेत्रों में कटु आलोचना की गई। सौदी अरब के अमीर फैसल अल साउद ने घोषणा की कि विभाजन योजना के सम्बन्ध में महान् शक्तियों ने संघ के सदस्यों पर अनुचित दबाव डालकर इसे पास कराया है। इसमें कुछ सच्चाई अवश्य है। क्योंकि विभाजन का निर्णय अन्तिम समय पर अमरिका के दबाव के कारण ही सम्भव हो सका था। चाहे जो हो, विभाजन योजना को कार्यान्वित करने का भार, महासभा ने बोलिविया, चेकोस्लोवाकिया डेनमार्क पनामा तथा फिलीपीन्स के प्रतिनिधियों की एक समिति को सौंप दिया। परन्तु ब्रिटेन ने इस समिति के सदस्यों को फिलस्तीन में जाने की अनुमति नहीं दी। मई १९४८ में इस समिति को भंग कर दिया गया।

इसी बीच, ११ दिसम्बर १९४७ को ब्रिटेन ने घोषणा की कि १५ मई १९४८ को फिलस्तीन में आदिष्ट प्रथा को समाप्त कर दिया जायेगा। इस घोषणा का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और अरबों ने यहूदियों पर आक्रमण कर दिया। यहूदी इसके लिये पहिले से ही तैयार बैठे थे। इस आपसी झगड़े में ३००० अरब तथा २८०० यहूदी कत्ल कर दिये गये। सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर १६ अप्रैल १९४८ को महासभा का दूसरा विशेष अधिवेशन बुलाया गया परन्तु वाद विवाद की तीव्रता के कारण किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका।

अमरिका जिसके प्रभाव के कारण फिलस्तीन विभाजन का प्रस्ताव पारित हुआ था विभाजन योजना को कार्यान्वित करने के लिये सैनिक शक्ति का प्रयोग करने के पक्ष

म नहीं था। हाँ, शान्ति की स्थापना के लिये वह ऐसा कदम उठाने को तैयार था। ब्रिटेन फिलस्तीन की समस्या के समाधान के लिये अपने नागरिकों का

**इजरायल राज्य की घोषणा**

खून बहाने को तैयार नहीं था। मास्को और वाशिंगटन अपने मतभेद के कारण अपनी अपनी सेना को भेजने को तैयार नहीं थे। संयुक्त राष्ट्र संघ की तरफ से सेना भेजने पर भी यही कठिनाई आती और रूस अपने सैनिकों को भी सम्मिलित करने का हठ करता। यह अमेरिका को पसन्द नहीं था। इस प्रकार की विषम परिस्थिति का १४ मई १९४८ को तेल अवीव (Tel Aviv) की घोषणा—"इजरायल की स्थापना की घोषणा" ने और अधिक विषम बना दिया। यहूदियों ने अपने नेता रब्बी सिलवर के नेतृत्व में इस दिन स्वतन्त्र इजरायल राज्य की स्थापना की घोषणा की और यहूदी सेना ने अपने प्राचीन प्रदेशों का प्रशासन भी सम्भाल लिया। ब्रिटेन ने तत्काल ही आदिष्ट प्रणाली की समाप्ति की घोषणा करदी। दस मिनट के बाद ही अमेरिका ने इजरायल राज्य को मान्यता प्रदान करदी। मिस्री प्रतिनिधि ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में भाषण करते हुए कहा—'जो भी कार्यविधि इस सम्बन्ध में अपनाई गई, वह तो महज मजाक बन कर रह गई। यह कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ पर ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी एक घातक प्रहार है। महासभा के सम्मान के साथ धोखा किया गया है।'

इजरायल राज्य की स्थापना की घोषणा ने अरब राज्यों को उत्तेजित कर दिया और उन्होंने चारों तरफ से इजरायल पर आक्रमण कर दिया। दुर्भाग्यवश अरबों में आपसी सहयोग की कमी थी जिसके कारण उन्हें अनेक बार पराजित होना पड़ा। फिलस्तीन में बसे अरबों की स्थिति बहुत शोचनीय हो गई। हजारों अरब मारे गये तथा लाखों बेघरबार हो गये। मिस्र ने किसी प्रकार यहूदियों को पराजित करके गाजा पट्टी पर अधिकार कर लिया। अरबों और यहूदियों के इस संघर्ष से महासभा बहुत अधिक चिन्तित हो उठी। २९ मई को सुरक्षा परिषद ने युद्ध विराम का आदेश दिया तथा सर्वसम्मति से स्वीडन के काउंट बर्नाडोट (Bernadotte) को मध्यस्थ नियुक्त किया गया। बर्नाडोट की सहायता के लिये अमेरिकी बेल्जियन तथा फ्रेंच प्रेक्षकों की नियुक्ति की गई। सुरक्षा परिषद द्वारा जारी शांति का आदेश एक मास के बाद प्रभावहीन हो गया और पुनः लड़ाई शुरू हो गई क्योंकि अरब लोग फिलस्तीन में किसी कीमत पर यहूदी राज्य की स्थापना के पक्ष में नहीं थे। जुलाई में सुरक्षा परिषद ने पुनः युद्ध विराम आज्ञा जारी की जिसके फलस्वरूप अक्टूबर तक शान्ति रही। उसके बाद पुनः भारी संघर्ष शुरू हो गया। इसी बीच १८ सितम्बर १९४८ को जेरूसलम में मध्यस्थ बर्नाडोट की हत्या कर दी गई। इससे स्थिति और अधिक विषम बन गई। परन्तु सुरक्षा परिषद ने सावधानी से काम लिया और बर्नाडोट के स्थान पर उनके सहयोगी डा० राल्फ बुन्च को स्थानापन्न मध्यस्थ नियुक्त किया गया। परन्तु स्थिति में अधिक सुधार नहीं हो सका और १ दिसम्बर १९४८ को जार्डन ने अरबी फिलस्तीन पर अधिकार कर लिया और अपने अधिकार की

घोषणा भी करदी। डा० राल्फबुंच के प्रयत्नों से फलस्वरूप अंत में युद्ध विराम हो सका और २० जुलाई १९४९ तक चार युद्धविराम समझौते किये गये। मिश्र सीरिया, लेबनान, जोर्डन तथा इजरायल ने सैनिक शक्ति का प्रयोग न करने का वायदा किया। परन्तु लौसान स्थान पर वार्तालाप में पुनः तनाव उत्पन्न हो गया और आज भी समस्या का उचित समाधान नहीं हो सका है। इसी बीच मई १९४९ में अरब राज्यों के विरोध के उपरान्त इजरायल को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया।

अरबों की असफलता और यहूदियों की सफलता के पीछे अनेक तत्व कार्य कर रहे थे। केवल ८००० वर्गमील क्षेत्र तथा ६५० ००० आबादी वाले इजरायल राज्य की २० लाख वर्गमील क्षेत्र तथा ४ करोड़ आबादी वाले अरब राज्यों पर सफलता कदापि संभव नहीं हो सकती थी। अरब राज्यों में केवल एक बात पर यहूदियों के प्रति घृणा, पर ऐक्य था। बाकी के प्रश्नों पर उनमें काफी मतभेद था और वे आपसी सहयोग तथा पूर्ण शक्ति के साथ काम करने में असफल रहे। इसके विपरीत यहूदियों में आपसी सहयोग तथा संगठन था और उन्हें विदेशी यहूदियों से हर प्रकार की सहायता मिल रही थी। अमेरिका जैसे महान् राष्ट्र का आशीर्वाद भी उनके साथ था। अरब राज्यों की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी और सोवियत संघ के साथ उनके सम्बन्ध अधिक अच्छे नहीं थे। अतः उन्हें अमेरिकन डालरों की आवश्यकता थी। अमेरिकन डालरों को प्राप्त करने के लिये इजरायल के प्रति नम्र नीति का पालन करना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त फिलस्तीन के अरब शरणार्थियों को बसाने के लिये भी आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। फिर फिलस्तीन के क्षेत्र पर सभी अरब राज्यों को हिस्सा मिलने की संभावना भी नहीं थी। इन सब तथ्यों की पृष्ठभूमि में, इजरायल का अस्तित्व कायम रह सका।

**अरब इजरायल संघर्ष के परिणाम**

अरबों और यहूदियों के आपसी झगड़े के महत्वपूर्ण परिणाम निकले। सर्वप्रथम परिणाम इजरायल राज्य का जन्म था। इजरायल राज्य की घोषणा के बाद लड़े गये युद्ध के परिणामस्वरूप इजरायल का क्षेत्रफल २००० वर्ग मील बढ़ गया। दूसरा परिणाम अरबों का लाभ था। इस संघर्ष में मिश्र को गाजा पट्टी का अधिकार तथा जोर्डन को फिलस्तीन अरब क्षेत्र प्राप्त हो गये। तीसरा परिणाम जेरूसलम नगर का विभाजन था। ३ अप्रैल १९४९ को इजरायल जोर्डन युद्ध विराम समझौते के अनुसार जेरूसलम नगर का विभाजन किया गया। जेरूसलम का नवीन नगर जिसकी आबादी लगभग एक लाख थी, इजरायल के अधिकार में रखा गया तथा प्राचीन नगर का जिसकी आबादी लगभग ६० हजार थी, जोर्डन को सौंप दिया गया। दोनों नगरों के बीच आबादी रहित एक क्षेत्र की स्थापना की गई। चौथा परिणाम अरब शरणार्थियों की समस्या थी। फिलस्तीन से भागे या खदेड़े गये अरबों को फिर से बसाने की समस्या अत्यधिक दुष्कर प्रमाणित हुई और यदि अमेरिका तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ सहायता नहीं देते तो लाखों अरब मौत के शिकार बन जाते। एक महत्वपूर्ण परिणाम अरब राज्यों में आपसी मतभेद

का उठ खडा होना था। जोडन और मिश्र तथा जोडन और सौदी अरब के सम्बन्ध बिगडने लग गये। इसका एक परिणाम यह निकला कि अरब लीग का प्रभाव क्षीण पड गया। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि अरब राज्यो की सैनिक शक्ति बहुत कमजोर है तथा उसमे सुधार करने की आवश्यकता है। इस संघर्ष के कारण सीमा विवाद उठ खडा हुआ जिसके परिणाम स्वरूप आये दिन छोटी मोटी झडपे होती रहती है और जिससे मध्यपूर्व की शांति और व्यवस्था किसी भी दिन खतरे में पड सकती है।

अंतिम और महत्वपूर्ण परिणाम मिश्र इजरायल का तनाव था। मिश्र ने इजरायली सामुद्रिक जहाजो को स्वेज नहर से गुजरने पर पाबन्दी लगाई। इससे इजरायली व्यापार-वाणिज्य को काफी क्षति सहन करनी पड रही है। दोनो देशो के बीच तनातनी इतनी अधिक बढ गई कि १९५६ में इजरायल ने मिश्र पर आक्रमण कर दिया और इजरायल की आड में इंगलण्ड तथा फ्रांस ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण का बदला चुकाने के लिये मिश्र पर आक्रमण कर दिया। इस घटना की चर्चा अगले पृष्ठो में की जायगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, काफी शताब्दियो के बाद यहूदियो को अपने राष्ट्रीय घर प्राप्त करने मे सफलता मिली। इजरायल राज्य की स्थापना करने मे सफलता मिली। इसका कुछ श्रेय तो यहूदियो की लग्न, सहयोग तथा संगठन को दिया जा सकता है और बाकी परिस्थितियो को। अरबो की असफलता का मुख्य कारण उनके राष्ट्रीय राज्यो के परस्पर विरोधी स्वार्थ थे—एक दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना तथा आपसी सहयोग की कमी थी। फिर भी, फिलस्तीन की समस्या का समुचित हल अभी बाकी है?

## (३) मिश्र

**ऐतिहासिक पृष्ठभूमि**

मिश्र का इतिहास हमारे इतिहास की भांति अति प्राचीन है और राष्ट्रवादी आन्दोलन से भी परिपूर्ण है। मध्य युग में मिश्र देश पर ओटोमन साम्राज्य का अधिकार हो गया और इसका शासन प्रबन्ध तुर्क सुल्तान तथा खलीफा द्वारा नियुक्त खादिव (वायसराय) करता था अठारहवीं शताब्दी में खादिव लगभग स्वतन्त्र शासक हो गया और सुल्तान का प्रभुत्व नाम मात्र को बाकी रह गया। उन्नीसवीं शताब्दी में यह नाम मात्र आधिपत्य भी कम होता गया। इसी सदी के शुरू में फ्रेंच क्रांति के प्रमुख सेनानी नेपोलियन ने ब्रिटिश साम्राज्य के पूर्वी मार्गों को नील डेल्टा के मार्ग से बन्द करने का असफल प्रयत्न किया था। परन्तु इससे ब्रिटेन संभल गया और तब से मिश्री मामलो में उसकी रुचि बढती गई। १८६९ में स्वेज नहर के चालू हो जाने से ब्रिटेन की रुचि और अधिक बढ़ गई। १८७९ मे ब्रिटेन ने स्वेज नहर के हिस्सो का एक बडा भाग खरीद कर, मिश्र में अपने हितो को और अधिक मजबूत बना लिया। १८८१-८२ में मिश्री नेता अरबी पाशा ने "मिश्र मिश्रवालो का है" नारा लगाया और मौजूदा सरकार का तख्ता उलटने का प्रयत्न किया परन्तु तत्कालीन मिश्री शासक ने ब्रिटिश सहायता से उसके विद्रोह को कुचल दिया। अरबी पाशा का

विद्रोह तो दबा दिया गया परन्तु सहायता को आये हुए अंग्रेजो का मिश्र से बाहर निकालना मुश्किल हो गया। १८८२ ई० से लेकर १९१४ तक ब्रिटेन ने, सर्वोच्चसत्ता या प्रभुसत्ता का प्रदर्शन किये बिना, मिश्र पर शासन किया और इस अवधि में ब्रिटेन मिश्र को ओटोमन साम्राज्य का अंग मानता रहा और दिखावे के तौर पर ब्रिटिश कर्मचारियों और सैनिकों को मिश्र के खादिव तथा उसके सुल्तान खलीफा के कर्मचारी तथा सैनिक मानता रहा।

प्रथम महायुद्ध से स्थिति बदल गई। तुर्की ने ब्रिटेन के विरुद्ध जर्मनों का साथ दिया। ऐसी स्थिति में मिश्र को तुर्की साम्राज्य का अंग मानना ठीक नहीं था, उस समय मिश्र का खादिव भी गुप्त वार्ता के लिये तुर्की गया हुआ था। अतः ब्रिटेन को उसके प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया और १८ दिसम्बर १९१४ को ब्रिटेन ने मिश्र को अपना संरक्षित राज्य घोषित कर दिया और इस घोषणा के साथ ही, मिश्र पर तुर्की प्रभुत्व का भी अन्त हो गया। मिश्र के तत्कालीन शासक अब्बास हिल्मी द्वितीय को अपदस्थ कर दिया गया और उसके भतीजे हुसैन कामिल को मिश्र का शासक बनाया गया। १९१७ में कामिल की मृत्यु पर, उसके भाई फुआद को मिश्र का राजा बनाया गया।

प्रथम महायुद्ध के शुरू में इंगलैण्ड ने घोषणा की थी कि मिश्र की सुरक्षा का व्यय वह स्वयं वहन करेगा और इसके लिये मिश्री नागरिकों को सहयोग देने के लिये विवश नहीं किया जायेगा। परन्तु यह घोषणा अधिक समय तक अमल में नहीं लाई जा सकी और ब्रिटेन को शीघ्र ही मिश्री जनता का सेवायें प्राप्त करने को विवश होना पड़ा। शुरू शुरू में मिश्रियों को अच्छा वेतन दिया गया। उनकी वस्तुओं की कीमतें भी अदा की गईं। फिलस्तीन तथा सीरिया स्थित ब्रिटिश सेनाओं के गमनागमन की सहायता के लिये मिश्री श्रमिकों तथा ऊँट सवारों का संगठन बनाया गया। परन्तु ज्यों ज्यों युद्ध की ज्वालाएं बढ़ती गईं ब्रिटिश उदारता समाप्त होती गई और मिश्री लोगों को जबरदस्ती सेना में भर्ती किया जाने लगा। उनके सामान को हड़प लिया गया तथा उन पर नाना प्रकार के अत्याचार किये गये। इससे मिश्रियों में अंग्रेजों के प्रति घृणा बढ़ती गई परन्तु युद्ध के दिनों में उन्होंने इस घृणा का प्रदर्शन नहीं किया। शायद इस भय से कि उन दिनों ब्रिटेन की सेना मिश्री भूमि पर कवायद कर रही थी।

युद्ध बन्दी के बाद, मिश्री नेताओं को उस समय अत्यधिक आश्चर्य हुआ जबकि भारतीय राजाओं तथा अरबियन दोस्तों को शांति सम्मेलन में सम्मिलित होने को निमन्त्रित किया गया, परन्तु उन्हें इस योग्य नहीं समझा गया या मिश्र की समस्या को शान्ति सम्मेलन के सम्मुख प्रस्तुत करने का अवसर नहीं दिया गया। उनका क्रोध

**राष्ट्रवादी आन्दोलन** इसलिये भी बढ़ गया था कि विल्सन के आत्म निर्णय सिद्धान्त की घोषणा से उन्हें जो नव जीवन मिला था, वह अब उनसे छीना जा रहा था। मिश्र की राष्ट्रवादी पार्टी (वफद पार्टी) के नेता जगलुल पाशा ने अपने साथियों सहित पेरिस जाने का निश्चय किया ताकि मिश्र की वकालत की जा सके।

परन्तु ब्रिटिश अधिकारियों ने उन्हें उनके साथियो सहित गिरफ्तार करके माल्टा द्वीप भेज दिया। इससे सम्पूर्ण मिश्र मे विद्रोह उठ खडा हुआ। भयकर दमन के उपरान्त विद्रोह शात किया जा सका। ब्रिटिश सरकार ने जुगलुल पाशा को भी मुक्त कर दिया और लार्ड मिलनर की अध्यक्षता में मिश्री समस्या पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिये एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने सिफारिश की कि मिश्र का कुछ प्रतिबन्धो के साथ स्वाधीनता प्रदान कर दी जाय। समिति के सुझावानुसार १६२१ में एक सधि का मसविदा तैयार किया गया और मिश्र को प्रस्तुत किया गया। परन्तु राष्ट्रवादिया ने इस सधि को अस्वीकार कर दिया।

पुन राष्ट्रव्यापी आन्दोलन उठ खडा हुआ। जुगलुल पाशा को इस बार जिब्राल्टर भेज दिया गया। जनरल अलैनबी ने विद्रोह को तो दबा दिया परन्तु ब्रिटिश सरकार को भी चेतावनी दे दी कि मिश्र को यथा शीघ्र स्वाधीनता देने में ही इगलैण्ड का कल्याण है। फलस्वरूप २८ फरवरी १६२२ को इगलैण्ड ने मिश्र की स्वाधीनता को स्वीकार करते हुए उसके साथ एक सधि कर ली। इस सधि के द्वारा निम्न बातो पर ब्रिटेन का पूर्णाधिकार स्वीकार किया गया—(१) स्वेज नहर की सुरक्षा, (२) मिश्र की सुरक्षा (३) मिश्र में विदेशी हितो तथा विदेशी नागरिकों की रक्षा तथा (४) सूडान का नियत्रण। अर्थात् इगलण्ड ने स्वेज तथा मिश्र की सुरक्षा के बहाने स्वेज क्षेत्र तथा अन्य सामरिक स्थानो पर अपनी सेनाओ को रखने एव मिश्र की विदेश नीति को निर्देशित करने का अधिकार अपने पास सुरक्षित रख लिया। इस सधि ने राष्ट्रवादिया को बहुत क्रोधित कर दिया परन्तु व शक्तिहीन थे। सधि का यथाशीघ्र लागू किया गया। सुल्तान फाउद ने बादशाह की उपाधि धारण की। १६२३ में एक नया सविधान लागू किया गया तथा ससद के लिये चुनाव कराये गये। इस चुनाव मे वफ्ददल को भारी बहुमत प्राप्त हुआ और जुगलुल पाशा प्रधान मत्री बने।

१६२४ में, सूडान के गवर्नर जनरल सरली स्टेक तथा मिश्री सेना के प्रधान सेनापति की काहिरा में हत्या करदी गई। इससे ब्रिटेन और मिश्र के सम्बन्ध बिगड गये और परिणाम स्वरूप जुगलुल पाशा को त्याग पत्र देना पडा। इसके बाद मिश्र की राजनीति में उतार चढाव आता रहा। क्योंकि राष्ट्रवादी दल

**पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति**

पूर्ण स्वाधीनता की माँग कर रहा था और बादशाह तथा उसके सामत ब्रिटेन का पक्ष ले रहे थे। १६२७ में जुगलुल पाशा की मृत्यु से राष्ट्रवादी दल की शक्ति भी कुछ कम हो गई। हालांकि मुस्तफा नहस पाशा ने किसी न किसी तरह से राष्ट्रवादियो के जोश को बनाये रखा। १६२६ म ब्रिटेन में मजदूर मन्त्रिमडल बना और उसने मिश्र के साथ एक नई सधि का प्रस्ताव रखा। परन्तु नहस पाशा पूर्ण स्वाधीनता के अतिरिक्त अन्य किसी सधि के पक्ष में नहा थे। १६३० म बादशाह ने लोकसभा को भग कर दिया और इस्माइल सिदकी को प्रधान मत्री बनाया जिसने एक नये सविधान को लागू किया। सिदकी ने आगामी

तीन वर्षों तक तानाशाह की भांति शासन किया। परन्तु उसके बाद मिश्र के राजनीतिक जीवन में पुनः विक्षोभ उत्पन्न हो गया। १६३५ के बाद इटली की अफ्रीकन नीति के कारण स्थिति और भी गंभीर हो गई। इथोपिया पर इटली के आधिपत्य ने ब्रिटेन और मिश्र दोनों को ही एक दूसरे के समीप लाने में योगदान दिया जिसके फलस्वरूप १६३६ में मिश्र और इंगलैण्ड के बीच एक नवीन संधि हो गई। संधि वार्ता २ मार्च १६३६ से शुरू हुई थी परन्तु आपसी वाद विवाद की उग्रता के कारण रह रह कर गत्यावरोध उत्पन्न हो जाता था। २६ अगस्त को संधि पर हस्ताक्षर कर दिये गये। इस नवीन संधि के अनुसार युद्ध स्थिति में पारस्परिक आपसी सहायता तथा ब्रिटेन का सम्पूर्ण मिश्र में उपलब्ध सभी सुविधाओं का लाभ उठाने का अधिकार सूडान पर संयुक्त नियन्त्रण, स्वेज नहर क्षेत्र में ब्रिटिश सेना की उपस्थिति। शान्तिकाल में ब्रिटिश सेना की संख्या १०,००० सैनिक तथा ४०० चालक (Pilots) तय हुई थी।) तथा पोर्ट सईद व सिकन्दरिया पर ब्रिटिश सेना का नियन्त्रण एवं युद्ध काल में मिश्र की भूमि से अंग्रेजी सेना को गुजरने का अधिकार दिया गया। इस संधि की विशेषता यह थी कि इंगलैण्ड ने प्रथम बार मिश्र को एक स्वतन्त्र राष्ट्र मानते हुये संधि सम्पन्न की थी। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड ने, अन्य यूरोपियन राज्यों को, जिन्हें मिश्र में विशेषाधिकार तथा अतिरिक्त प्रादेशिकाधिकार (Extra Territorial Rights) प्राप्त थे, इन अधिकारों को छोड़ने के लिये तैयार करेगा और मिश्र में स्थित विदेशी नागरिकों की जान माल की सुरक्षा का दायित्व मिश्री सरकार ने लेने का वचन दिया। इसी समय फाउद की मृत्यु हो गई और उसका सोलह वर्षीय पुत्र फारूक सिंहासन पर बैठा। मिश्र को राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बना लिया गया और ब्रिटिश प्रयत्न के फलस्वरूप मिश्र में विशेषाधिकार प्राप्त राष्ट्रों का १६३७ में माँट्रिआक्स में एक सम्मेलन हुआ जिसमें सब सम्मति से १६४६ तक, सभी सम्बंधित राष्ट्रों ने विशेषाधिकारों को त्यागने का वचन दिया।

द्वितीय महायुद्ध के समय, स्वेज नहर की सुरक्षा तथा नाजी जर्मनी का प्रसार रोकने की दृष्टि से सम्पूर्ण मिश्र में ब्रिटिश सेना तैनात कर दी गई थी। युद्ध समाप्ति के बाद मिश्री नेताओं ने, ब्रिटिश सेना को मिश्र से हटाने की मांग की। इसके साथ ही १६३६ की संधि की संशोधन मांग भी ज़ोर पकड़ने लगी। ब्रिटिश सरकार द्वारा मौन धारण करने से स्थिति गंभीर हो गई। १६४५ में, ब्रिटिश निर्वाचन में मजदूर दल विजयी रहा। इससे मिश्रियों को कुछ आशा बंधी। परन्तु मजदूर सरकार की नीति में भी नवीनता नहीं आई। इस पर मिश्र में अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। १६४६ में सिकन्दरिया तथा काहिरा में ब्रिटिश सैनिकों पर, मिश्री भीड़ ने आक्रमण भी किये। इस प्रकार की परिस्थिति में संधि संशोधन की वार्ता जारी हुई परन्तु उसका कोई लाभकारी परिणाम नहीं निकला क्योंकि मिश्र सभी ब्रिटिश सैनिकों की वापसी चाहता था परन्तु इंगलैण्ड अपने यातायात की सुरक्षा की दृष्टि से मिश्र से सभी सैनिकों को हटाने के लिये तैयार नहीं था। १६४७ में मिश्र ने संयुक्त राष्ट्रसंघ से भी अपील की परन्तु वहाँ

पर भी उसे कोई विशेष लाभ नही हुआ। १९४८ में इजरायल राज्य की स्थापना से स्थिति और भी अधिक शोचनीय हो गई क्योकि मिश्र, अरब लीग का सदस्य था और इस नाते वह यहूदी राज्य की स्थापना के विरुद्ध था। अक्टूबर १९५१ में, नहस पाशा की सरकार ने मिश्री लोकसभा द्वारा इस सम्बन्ध में एक आदेश (Decree) को पास करवाने में सफलता प्राप्त करली। इस आदेश के द्वारा फारूक को मिश्र तथा सूडान का शासक घोषित किया गया तथा स्वेज नहर के क्षेत्र में ब्रिटिश सैनिकों के अधिकारों की समाप्ति की घोषणा की गई।

घोषणा के द्वारा किसी सधि को रद्द करना सुगम है परन्तु अपने देश से किसी के सैनिक आधिपत्य को हटाना एक कठिन काम होता है। मिश्र की इस कार्यवाही को इगलण्ड ने गैर कानूनी बताया। क्योकि ब्रिटिश सेना १९३६ की सधि के आधार पर मिश्र में ठहरी हुई थी और सधि को एक पक्षीय अस्वीकरण के मिश्र की राज्यक्रांति कारण समाप्त नही माना जा सकता था। ब्रिटेन उस समय तक हटने को तैयार नही था जब तक कि १९३६ की सधि के स्थान पर दोनो देशों में आपसी वार्तालाप के द्वारा कोई नया समझौता नही हो जाता। सूडान के सम्बन्ध में, सूडानी जनता की इच्छा जाने बिना, सूडान के भाग्य का निर्णय भी इगलण्ड कोस्वीकार नही था। ब्रिटेन के इस रुख से मिश्र में विद्रोह उठ खडा हुआ। मिश्री सरकार ने भी ब्रिटिश सेना के साथ असहयोग शुरू कर दिया और जनता ने ब्रिटिश सेना के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध छेड दिया। जनवरी १९५२ में काहिरा में विदेशी सम्पत्ति को नष्ट कर दिया गया। इस प्रकार की स्थिति में मत्रि मडल बनते बिगडते रहे और सम्पूर्ण देश अशाति तथा अराजकता का अखाडा बन गया। २६ जुलाई १९५२ को, मिश्र की सैनिक क्राति ने सम्पूर्ण ससार को आश्चर्य चकित कर दिया। काहिरा में सेना के प्रधान जनरल नगीब तथा कर्नल नासर के नेतृत्व में राजक्राति हो गई और मिश्र के शासक फारूक को अपने शिशु पुत्र अहमद फाउद द्वितीय के पक्ष में सिंहासन त्यागने को विवश किया गया और उसे मिश्र से खदेड दिया गया। जनरल नगीब प्रधानमत्री बन गया। जून १९५३ में मिश्र का गणराज्य घोषित कर दिया गया और जनरल नगीब राष्ट्रपति तथा प्रधानमत्री-दोनो बन गया। इस प्रकार बिना रक्तपात के, मिश्र की राजक्राति सफल हो गई।

नूतन सरकार ने ब्रिटेन को स्वेज नहर क्षेत्र से सेना हटाने को कहा। मिश्र और ब्रिटेन में वार्तालाप शुरू हुआ। मिश्री सरकार, अरब लीग के किसी सदस्य देश पर आक्रमण होने की स्थिति में ब्रिटिश सेना को पुन प्रवेश देने को तैयार थी, परन्तु इगलैण्ड अरबलीग के देशों के साथ तुर्की तथा ईरान को भी सम्मिलित करना चाहता था अर्थात् यदि तुर्की और ईरान पर भी आक्रमण हो तो ब्रिटिश सेना को पुन प्रवेश का अधिकार दिया जाय। मिश्री सरकार इसे स्वीकार करने को तैयार नही था। अत सुलह वार्ता भग हो गई। फरवरी १९५४ म मिश्र में दूसरी राजक्राति हो गई और नगीब के स्थान पर कर्नल गामेल अब्दुल नासर मिश्र का तानाशाह बन बैठा। उसकी सरकार

ने साम्यवादियों के विरुद्ध सख्त कदम उठाये तथा ब्रिटेन के साथ पुनः सुलह वार्ता शुरू की गई। काफी वाद विवाद के बाद २७ जुलाई १९५४ को मिश्र और ब्रिटेन में एक संधि पर हस्ताक्षर किये गये। इस संधि के अनुसार ब्रिटेन ने २० जून १९५६ तक धीरे धीरे अपने समस्त सैनिकों का हटाना स्वीकार कर लिया और मिश्र ने, अरब लीग के किसी सदस्य तथा तुर्की पर आक्रमण होने की स्थिति में ब्रिटिश सेना को मिश्र में प्रवेश करने तथा सभी सुविधाएं देने का आश्वासन दिया। परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया कि युद्ध की समाप्ति अथवा आक्रमण के संकट के दूर होने ही ब्रिटिश सेना यथाशीघ्र वापस चली जायेगी। मिश्र ने स्वेज नहर में जहाजरानी की स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति दी तथा संधि में स्वेज को मिश्र का अविभाज्य अंग और अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग स्वीकार किया गया। इस संधि की अवधि ७ वर्ष रखी गई तथा इसकी समाप्ति के १२ मास पूर्व, नवीन व्यवस्था के सम्बन्ध में दोनों देशों में सलाह करना तय हुआ। इस संधि के कारण १९३६ की एंग्लो मिश्री संधि का अंत हो गया। मार्च १९५६ तक ब्रिटिश सेना का आखिरी दस्ता मिश्र से रवाना हो गया। २३ जून १९५६ को नवीन संविधान के अनुसार मिश्र एक सर्व प्रभुत्व सम्पन्न स्वाधीन राष्ट्र बन गया। २६ जुलाई १९५६ को मिश्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण की घोषणा करदी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर बहुत घातक प्रभाव पड़ा। स्वेज संकट को समझने के लिये स्वेज नहर के इतिहास का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

स्वेज नहर का इतिहास सन् १८५४ से शुरू होता है। इसी साल फ्रांस के एक इन्जीनियर फर्डिनन्ड डी लेमप्स ने मिश्र के खादिव को खारी झील और तिमासलेक से होते हुए स्वेज की खाडी से भूमध्यसागर तक सीधी नहर से रास्ता निकालने का सुझाव दिया। अबतक पश्चिम से पूर्व का सामुद्रिक मार्ग गुडहोप अन्तरीप का चक्कर लगाता हुआ जाता था। इस नए प्रस्तावित रास्ते से पश्चिम और पूर्व के सामुद्रिक मार्ग में ५,००० मील की दूरी कम हो जाती थी। ३० नवम्बर १८५४ को काहिरा में नहर निर्माण तथा व्यापार की स्वीकृति पर हस्ताक्षर कर दिये गये जिसके अनुसार स्वेज नहर पर नहर निर्माण कम्पनी (कम्पनी यूनिवर्सेल ट कनाल मेरी टाइम डी स्वेज) का ९९ वर्ष के लिये अधिकार स्वीकार कर लिया गया। नहर निर्माण का सम्पूर्ण व्यय कम्पनी ने उठाना स्वीकार कर लिया और कुल मुनाफे का १५% हिस्सा मिश्री सरकार द्वारा नहर निर्माण में लगाई जाने वाली पूंजी का ब्याज तथा उस पूंजी का लाभांश मिश्री सरकार को देना स्वीकार किया। ७५% मुनाफा कम्पनी के शेयर होल्डरों में विभाजित करना तथा १०% मुनाफा कम्पनी की स्थापना के लिये उत्तरदायी सदस्यों को देना भी तय किया गया। कम्पनी के संगठन पर भी प्रकाश डाला गया जिसके अनुसार बोर्ड आफ डायरेक्टर्स की स्थापना की गई जो नहर कम्पनी का नियंत्रण रखेगा। कम्पनी के हिस्सेदारों में से, मिश्र की सरकार को, बोर्ड के सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। यह भी तय किया गया कि नहर से सभी देशों के जहाजों का, शुल्क कर

**स्वेज नहर का इतिहास**

अग्र करने के बाद, गुजरने दिया जायेगा तथा सभी देशो के जहाजो से समान गुल्क लिया जायेगा और किसी देश को किसी प्रकार की विशेष सुविधा नही दी जायगी। अन्त में, यह तय किया गया कि कम्पनी के नियन्त्रण की अवधि ( ९९ वर्ष ) के समाप्त होने के बाद, नहर पर मिश्र का अधिकार हो जायेगा परन्तु मिश्र को, कम्पनी की मशीनो तथा भवनो आदि का मुआवजा चुकाना पडेगा।

१८५९ ई० में स्वेज नहर का निर्माण कार्य शुरू हुआ और दस वर्षो के अथक प्रयत्न के बाद, पोर्ट सईद से स्वेज तक १०३ मील लम्बी नहर बनकर तयार हो गई। ऐसा अनुमान है कि नहर निर्माण के कठिन कार्य में, लगभग १२०,००० मिश्री मजदूरो को अपने प्राणो से हाथ धोना पडा। १७ नवम्बर १८६९ को नहर का यातायात शुरू हो गया। स्वेज नहर कम्पनी के कुल ८००००० शेयर थे। १७६,६०० शेयर मिश्र के खादिव के पास तथा अन्य शेयर फ्रेंच, ब्रिटिश, डच आदि यूरोपियन सरकारें तथा नागरिको के पास थे। मिश्र का खादिव बहुत ही अपव्ययी था और उसने ब्रिटेन से काफी कर्जा ले लिया। इगलैण्ड के प्रधान मन्त्री डिजरायली ने स्वेज नहर के महत्व को रखते हुए, ब्रिटिश कर्ज के बदले में, मिश्री खादिव से ३,९७६,५८२ पाउंड में १७६६०० शेयर खरीद लिए। १९५६ में ब्रिटिश सरकार के पास ३५३,५०४ शेयर थे। अर्थात् ४४% शेयरो पर ब्रिटेन का अधिकार था। इससे स्वेज नहर के सम्बन्ध में ब्रिटिश प्रभाव का महत्व बढ गया। १८८० में मिश्र के खादिव ने दूसरी भयंकर भूल की। उसने कम्पनी से प्राप्त होने वाले १५% मुनाफे को, हमेशा के लिये फ्रास को हस्तातरित कर दिया। इस प्रकार मिश्र, स्वेज नहर, जिसका निर्माण मिश्री साधनो के सहयोग से ही सम्भव हो सका था, के मुनाफे से वंचित हो गया।

२९ अक्टूबर १८८८ को, ब्रिटेन फ्रास जर्मनी, आस्ट्रिया, स्पेन इटली नीदरलैंड, रूस और तुर्की ( क्योकि मिश्र तुर्की का भाग था ) के प्रतिनिधियो का कुस्तुनतुनिया मे एक सम्मेलन हुआ और एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। इसके अनुसार बिना किसी भेदभाव के, स्वेज नहर मार्ग को, सभी देशो के व्यापारिक तथा लडाकू जहाजो के लिए उन्मुक्त रखना स्वीकार किया गया तथा स्वेज नहर क्षेत्र में युद्ध छेड़ने का निषेध किया गया। मिश्र को अपनी सुरक्षा तथा आन्तरिक व्यवस्था के लिए नहर क्षेत्र में सेनाओ का प्रयोग करने की स्वीकृति दी गई। इस अधिकार से मिश्र और कम्पनी का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। फिर भी न तो कम्पनी के द्वारा और न ही अन्य किसी देश द्वारा यह सवाल उठाया गया कि स्वेज नहर मिश्र का अविभाज्य अग है या नही। इस सम्बन्ध में एक लेखक ने लिखा है कि मिश्र पिछले कई वर्षों से सर्व प्रभुत्व सम्पन्न देश नही था और कुछ वर्षों पूर्व तक, राजनीतिक दृष्टि से, नहर सम्बन्धी मामलो में स्वतन्त्र कदम उठाने को स्वतन्त्र नही था। अत यह प्रश्न ही नहीं उठा। वैसे, कम्पनी के सगठन एव संविधान से यह मालूम हो जाता है कि कम्पनी का वास्तविक स्वरूप जानबूझ कर

पैंचीदे ढंग से अभिव्यक्त किया गया था और एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होने के बाद भी, कम्पनी का स्वामित्व तथा प्रशासन फ्रांस द्वारा प्रभावित था।

२८ फरवरी १९२२ को मिश्र और ब्रिटेन के बीच एक संधि हुई जिसके अनुसार मिश्र की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया गया। स्वेज को मिश्र का एक अविभाज्य अंग मानते हुए भी ब्रिटेन ने नहर क्षेत्र में अपने अधिकारों को सुरक्षित रखा। १९३६ की सन्धि के द्वारा आगामी बीस वर्षों के लिये इंगलैण्ड स्वेज नहर का नियन्त्रण कर्ता बन गया। ७ मार्च १९४९ को मिश्र और स्वेज कम्पनी के बीच एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार नहर के व्यापारिक नियन्त्रण तथा संचालन में मिश्र एक विशेष सुविधा प्राप्त हिस्सेदार बन गया। लगभग ७० वर्षों के बाद मिश्र को स्वेज नहर के मुनाफे का कुछ हिस्सा प्राप्त होने लगा। २७ जुलाई १९५४ को एंग्लो मिश्री संधि के द्वारा ब्रिटेन ने स्वेज क्षेत्र से अपने समस्त सैनिकों को हटाना स्वीकार कर लिया और मार्च १९५६ तक उसने अपने वचन को पूरा कर दिया। २६ जुलाई १९५६ को मिश्र ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी।

स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण यकायक ही नहीं हुआ था। इसकी पृष्ठ भूमि में अनेक तत्व सक्रिय थे और परिस्थितियों ने इस प्रकार कदम उठाने की प्रेरणा प्रदान की थी। राष्ट्रीयकरण की पृष्ठ भूमि में मुख्य रूप से तीन तत्व काम कर रहे थे—(१) मध्य पूर्व सुरक्षा के प्रति पश्चिमी देशों की चिन्ता, (२) मिश्र द्वारा साम्यवादी देशों से अस्त्रों की खरीद तथा (३) आसवान बाँध योजना। जैसा कि शुरू में बतलाया जा चुका है कि मध्य पूर्व का एक विशिष्ट सामरिक महत्व है। द्वितीय महायुद्ध के बाद

**स्वेज राष्ट्रीयकरण की पृष्ठभूमि**

साम्यवादी रूस की बढ़ती हुई शक्ति से पश्चिमी देश चिन्तित हो उठे थे क्योंकि पूर्वी यूरोप साम्यवादी प्रभाव के चंगुल में फंस चुका था और अब मध्य पूर्व की बारी थी। अतः मध्य पूर्व में, साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिये पश्चिमी देश, मध्य पूर्व के देशों का एक संगठन बनाना चाहते थे। इस संगठन में मिश्र को सम्मिलित करना आवश्यक था। परन्तु मिश्र की पश्चिम समर्थक इजरायल राज्य से शत्रुता थी और मिश्र को अपनी भूमि पर विदेशी अड्डों की उपस्थिति का कटु अनुभव भी था। अतः उसने मध्य पूर्व सुरक्षा संगठन में सम्मिलित होने से अस्वीकार कर दिया। अमरिका ने मिश्री भूमि में बदले में, उसे आर्थिक सहायता का प्रलोभन भी दिया परन्तु मिश्र ने संगठन में शामिल होना अस्वीकार कर दिया। मिश्र की इस नीति के कारण पश्चिमी देश उससे नाराज हो गये। १९५३ में ब्रिटेन ने पुनः सैनिक व सुरक्षा संधि वार्तालाप को जारी किया परन्तु मिश्र के रुख में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया।

मिश्र की अस्वीकृति के उपरान्त, अमरिका ने यहूदी राज्य इजरायल की सैनिक शक्ति को मजबूत बनाने में योगदान दिया। हालांकि, अमेरिका का हित साम्यवाद के विरुद्ध इजरायल को सशक्त बनाना था परन्तु इजरायल की बढ़ती शक्ति में मिश्र सर्वाधिक

हो उठा और उसने अपनी सैनिक शक्ति को बढाने का सकल्प किया। परन्तु इसके लिय आधुनिक अस्त्रो की आवश्यकता थी। अत मिश्र ने पश्चिमी देशो के साथ वार्तालाप शुरू किया। पश्चिमी देश शस्त्र देने को भी तयार थे परन्तु साथ ही वे मिश्र का सहयोग भी चाहते थे—साम्यवाद के विरुद्ध मिश्र का सहयोग। मिश्र का राष्ट्रपति कनल नासर, स्वतन्त्र नीति का उपासक था। उस समय शस्त्रो की आवश्यकता नही थी। अत पश्चिम द्वारा इनकार करने के बाद उसने साम्यवादी देशो से बात चीत की और २७ सितम्बर १९५५ को मिश्र तथा चेकोस्लोवाकिया में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार मिश्र के कपास और चावल के बदले २५०० लाख पौं क मूल्य के अस्त्र शस्त्र देना, चकोस्लोवाकिया ने स्वीकार कर लिया। मिश्र क इस कृत्य स पश्चिमी देश बहुत क्रोधित हो उठ और उन्होंने उसे समझौते को रद्द करने का कहा। मिश्र ने ऐसा करने स अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप मिश्र और पश्चिम के सम्बन्ध बिगड गये।

परन्तु राष्ट्रीयकरण का मूल कारण आसवान बाध योजना था। ब्रिटेन ने, अपने मिश्री आधिपत्य काल में अपनी सूती मिलो के लिय कपास प्राप्त करने की दृष्टि स, सर्व प्रथम, नील नदी के ऊपर आसवान बाध का निर्माण किया था। आसवान बाध विश्व क आश्चर्यों में से एक है। १९३०- १ म ब्रिटिश इजीनियरो ने दूसरी बार, इस बाध में महत्वपूर्ण सुधार किये। १½ मील दूरी तक, नील नदी के दोना किनारा को पत्थर एव सामन्ट की ठास दीवार से मजबूत बनाया गया और मुख्य भाग को १९०′ ऊंचा किया गया। १९५३ में आसवान बाध को और ऊंचा उठाने तथा बाध का विस्तृत करने की कल्पना की गई। १९५५ मे जर्मन इजीनियरो ने कनल नासर का आसवान बाँध योजना प्रस्तुत की। नासर दो प्रमुख कारणो से बाध को बनाने के पक्ष में था—एक तो यह कि बाँध के निर्माण से मिश्र के नागरिको की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा और इससे मिश्री जनता नासर शासन की समर्थक बन जायेगी। दूसरा कारण था—इस योजना के माध्यम स पश्चिम और पूर्व को आपस में टकराने का अवसर प्राप्त करना।

आसवान बाध के पुनर्निर्माण के लिय १,००० ०००,००० डालर की पूँजी की आवश्यकता थी जो मिश्र के द्वारा अपने राष्ट्रीय व्यय से जुटाना असम्भव था। अत उसने पश्चिमी देशो से सहायता की याचना की। शुरू में इगलैण्ड ने ४५० लाख पौं, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने २००० लाख डालर तथा अमेरिका ने ७०० लाख डालर की सहायता का आश्वासन दिया था। परन्तु मिश्र द्वारा पश्चिम विरोधी कार्यवाहिया करने के कारण पश्चिम का सन्देह हो गया और उन्होंने सशर्त सहायता देने का प्रस्ताव रखा। नासर ने इस ठुकरा दिया। उधर नासर सोवियत सघ से भी वार्तालाप चला रहा था। वास्तव में नासर दोहरी चाल चल रहा था। एक तरफ वह पश्चिम से वार्तालाप कर रहा था और दूसरी तरफ सोवियत सघ से। पश्चिम के सामने एक और सकट आ खड़ा हुआ। सूडान ने, जिसे आसवान-बाध से काफी क्षति पहुँचने वाली थी पश्चिम

को सुझाव दिया कि, वे सूडानी जल संकट का भी ध्यान रखें। अतः पश्चिम ने मिश्र को कहा कि वह पहले अपने पड़ोसी से समझौता करले, बाद में हम सहायता दे सकें। परन्तु नासर को रूसी सहायता का विश्वास था। अतः उसने कोई उचित जवाब नहीं दिया। इस पर अमेरिका और इंगलैण्ड ने सहायता देने में अस्वीकार कर दिया।

अमेरिका और इंगलैण्ड की अस्वीकृति की घोषणा ईदुलफित्र के दिन की गई थी। इससे मिश्रियों में घोर निराशा तथा नासर के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। कर्नल नासर ब्रियोनी ( Brioni ) द्वीप में प० नेहरू तथा मार्शल टीटो के साथ युत वार्ता करके लौटा ही था। उसने बहुत वीरतापूर्वक मिश्रियों की आलोचना का सामना किया और २६ जुलाई १६५६ को एक नया कदम स्वेज नहर का राष्ट्रीकरण, उठाकर मिश्री जनता के हृदय में उसने पुनः अपना स्थान बना लिया।

**राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया ?**

परन्तु सवाल यह उठता है कि जब नासर को रूसी सहायता का विश्वास था तो उसने राष्ट्रीयकरण क्यों किया ? आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विद्यार्थी को तटस्थ होकर एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि पश्चिम की शक्तियाँ साम्यवाद के प्रसार को रोकना चाहती हैं और उस देश को जिसमें साम्यवादी प्रभाव के बढ़ने की आशंका हो, सघन आर्थिक सहायता देने को तैयार रहती हैं। परन्तु यदि वह राष्ट्र सघन सहायता नहीं लेता तो वे अधिक रुचि नहीं लेते। इसी प्रकार सोवियत रूस उस देश को हर प्रकार का प्रलोभन देता है। परन्तु जब वह देखता है कि अमुक देश पश्चिम से पृथक हो गया तो वह भी अपने आश्वासनों से हाथ खींच लेता है। कम से कम मिश्र के साथ ऐसा ही घटित हुआ होगा। रूस द्वारा सहायता देने से इन्कार करने पर या रूस द्वारा मिश्र को नवीन राय सुझाने पर नासर ने राष्ट्रीयकरण की ओर कदम बढ़ाया। इसमें रूस को निम्न फायदे थे-(१) मिश्र को सहायता देने से मुक्ति, (२) मिश्र को पूर्ण रूप से पश्चिम से पृथक करना, (३) साम्यवादी प्रसार की पृष्ठभूमि को तैयार करना तथा (४) मिश्री समस्या को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में पश्चिम को बदनाम करना। सत्य बात तो सम्बन्धित व्यक्तियों को ही मालूम है, यह तो हमारा अनुमान मात्र है, जो कि गलत भी हो सकता है।

राष्ट्रीयकरण नियम के अनुसार स्वेज कम्पनी को मिश्री ज्वाइंट कम्पनी में बदल दिया गया और इसके कोष तथा पूंजी पर मिश्र सरकार का अधिकार माना गया। कम्पनी के शेयर होल्डरों को उस समय के शेयर भाव से मुआवजा देना तय किया गया। कम्पनी की मिश्र तथा मिश्र से बाहर की सारी सम्पत्ति पर मिश्र का अधिकार घोषित किया गया।

स्वज नहर का एक पक्षीय राष्ट्रीयकरण नियमानुसार प्रवधि से १२ वष पूर्व किया गया। एक पक्षीय इसलिये कि सबधित पक्षो से किसी प्रकार का विचार विमश नही किया गया था और न ही उनकी स्वीकृति ली गई। इससे इग्लड और फ्रास मे एक तहलका मच गया क्योकि इन दोना देशो को स्वेज कम्पनी से अत्यधिक आय प्राप्त होती थी। शीघ्र ही पश्चिमी देशो में विचार विमश शुरू हुआ। २७ जुलाई को ब्रिटेन ने मिश्र को एक विरोध पत्र भेजा जिसमें कहा गया था कि मिश्र के इस कार्य न अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के जल भाग की स्वतन्त्रता के लिये गभीर खतरा उत्पन्न कर दिया है तथा इसके जो भी परिणाम होगें उनकी पूरी जिम्मेदारी मिश्री सरकार पर हागी। मिश्र ने विराध पत्र को स्वीकार नही किया क्योकि स्वेज का राष्ट्रीयकरण वह अपना सार्वभौम अधिकार समभता था। २८ जुलाई को ब्रिटेन ने एक नियम द्वारा स्वेज कम्पनी की रकम तथा मिश्र के स्टर्लिंग को रोक दिया। मिश्र को भेजी जाने वाली युद्ध सामग्री पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। इग्लड के तत्कालीन प्रधान मत्री एथोनी ईडन ने कडा कदम उठाने का सकेत किया। फ्रांस के विदेश मत्री पीनो ने नासर को हिटलर की उपाधि से विभूषित किया। ३१ जुलाई को अमेरिका, उस समय तक के लिये, जब तक कि स्वेज कम्पनी के वास्तविक उत्तराधिकारी का फैसला नही हो जाता, अमेरिका स्थित स्वेज कम्पनी की रकम पर रोक लगा दी। अन्य पश्चिमी देशो की प्रतिक्रिया भी इसी प्रकार रही। रूस ने राष्ट्रीयकरण को मिश्री सत्ता क अन्तर्गत माना।

**राष्ट्रीयकरण की प्रतिक्रिया**

२ अगस्त १९५६ को इगलड, फ्रास तथा अमेरिका के विदश मत्रियो का एक सम्मेलन हुआ जिसमें १६ अगस्त को २४ राष्ट्रो का अधिवेशन बुलाने का विचार तय किया गया। मिश्र ने इस सम्मेलन में सम्मिलित हाने से इन्कार कर दिया क्योकि उसका कहना था कि जब ४५ राष्ट्र स्वेज का उपयोग कर रहे थे ता २४ राष्ट्रो को ही निमन्त्रित क्या किया जाय और दूसरी बात यह कि सम्मेलन को मिश्र की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में विचार करने का कोई अधिकार नही है। यूनान ने भी भाग लेने से इन्कार कर दिया। अत १६ अगस्त को २२ राष्ट्रो का सम्मेलन हुआ। २६ अगस्त को १७ राष्ट्रो ने डलेस योजना को स्वीकार कर लिया। डलेस योजना का एक महत्वपूर्ण तत्व आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री डा० मेंजीज के नेतृत्व मे एक प्रतिनिधि मण्डल काहिरा भेजना था जो नासर को सम्मेलन की कार्यवाही से सूचित करे और उसके विचारो को जाने। मेंजीज ने ३ सितम्बर से ९ सितम्बर तक नासर से वार्ता की। परन्तु इसका कोई परिणाम नही निकला। नासर ने डलेस योजना को ठुकरा दिया। इस प्रकार मेंजीज शिष्ट मण्डल असफल रहा।

१९ सितम्बर को लन्दन मे १८ राष्ट्रो की बैठक हुई जिसमें स्वेज नहर प्रयोक्ता सघ (Suez Canal User's Association—SCUA) की स्थापना की चर्चा की गई। १ अक्टूबर १९५६ को लन्दन में SCUA का उद्घाटन किया गया। इस

संघ में १५ राष्ट्र सम्मिलित हुए। संघ के मत में दो सिद्धान्त थे—(१) ऐसी स्थिति आ जाये कि मिश्री सरकार स्वेज संचालन के कार्य को नियमित ढंग से संचालित करने में असमर्थ हो जाय तो प्रयोक्ता राष्ट्र अपने २ जहाज स्वेज नहर में से भेजें और (२) यदि मिश्री सरकार उन जहाजों को प्रवेश न करने दे, तो सभी प्रयोक्ता राष्ट्र स्वेज नहर का बहिष्कार करें। मिश्र ने प्रयोक्ता संघ को किसी प्रकार की मान्यता नहीं दी।

२६ सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने सुरक्षा परिषद के सामने इस समस्या को रखा। मिश्र ने भी इसके दूसरे दिन एंग्लो फ्रेंच प्रस्ताव के विरुद्ध अपील की। संयुक्त राष्ट्र संघ में स्वेज नहर की समस्या को लेकर काफी वाद विवाद हुआ। अन्त में १३ अक्टूबर १६५६ को सुरक्षा परिषद् के प्रयत्नों से ६ सूत्री तत्वों पर आधारित प्रस्ताव पर मिश्र ने अपनी सहमति प्रदान कर दी। प्रस्ताव के ६ सूत्र इस प्रकार थे—(१) बिना किसी भेद भाव के, स्वेज नहर, सभी राष्ट्रों के जहाजों के लिये खुली रहेगी। (२) मिश्र की सर्वोच्च सत्ता का सम्मान अनिवार्य है। (३) स्वेज संचालन की नीति स्थानीय राजनीति से पृथक रहे। (४) शुल्क का निर्णय मिश्र तथा प्रयोक्ता संघ मिल कर करें। (५) शुल्क राशि का एक भाग स्वेज नहर के विकास कार्यों पर व्यय किया जायें और (६) स्वेज कम्पनी तथा मिश्र के आपसी झगड़े का फैसला पंच निर्णय द्वारा हो।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ ने आपसी वार्तालाप का द्वार पुनः खोल दिया और आधार भूत तत्वों पर समझौता भी हो गया। परन्तु २६ अक्टूबर १६५६ को बिना किसी सूचना या ठोस आधार के इजरायल ने मिश्र पर आक्रमण कर दिया। अगले दिन इंगलण्ड तथा फ्रांस ने मिश्र और इजरायल को युद्ध बन्दी के सम्बन्ध में बारह घण्टे की चेतावनी दी। इजरायल ने इसे स्वीकार कर लिया परन्तु मिश्र ने इसे ठुकरा दिया क्योंकि लड़ाई के सम्बन्ध में वह बिलकुल निर्दोष था। इस पर इंगलैंड तथा फ्रांस ने मिश्र पर आक्रमण कर दिया। कुछ लोगों का कथन है कि मिश्र पर किया गया आक्रमण एक सुनिश्चित योजना का परिणाम था। इस आक्रमण के लिये मिश्र तयार नहीं था। फिर भी उसने कड़ा प्रतिरोध किया।

**मिश्र पर आक्रमण**

३० अक्टूबर को अमेरिका की प्रार्थना पर सुरक्षा परिषद् का अधिवेशन बुलाया गया जिसमें अमेरिकन प्रतिनिधि ने इंगलण्ड तथा फ्रांस पर जल्दबाजी का तथा गलत कदम उठाने का आरोप लगाया और युद्ध विराम का प्रस्ताव रखा। इंगलैंड और फ्रांस के निषेधाधिकार के कारण अमेरिकन प्रस्ताव स्वीकार न हो सका। १ नवम्बर को महासभा के सामने पुनः प्रस्ताव रखा गया जो २ के विरुद्ध ६२ मतों के बहुमत से पास हो गया। परन्तु इंगलण्ड तथा फ्रांस ने सशर्त युद्ध विराम की घोषणा करने पर बल दिया। इधर मिश्र की स्थिति काफी कमजोर हो चुकी थी। ६ नवम्बर १६५६ को रूस ने इंगलण्ड तथा फ्रांस को युद्ध बन्दी की चेतावनी दी। ७ नवम्बर को युद्ध बन्द हो

गया। १५ नवम्बर १९५६ का सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना युद्ध बन्दी क्षेत्र में आ पहुँची। धीरे २ इगलैण्ड, फ्रास और इजरायल की सेनाओ को सम्पूर्ण मिश्र से हट जाना पडा। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रयत्नो के फलस्वरूप स्वेज सकट को हल करने का प्रयत्न किया गया।

**आक्रमण के परिणाम**

स्वेज सकट तथा मिश्र पर किये गये आक्रमण के परिणाम बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। स्वेज नहर के बन्द हो जाने से मध्य पूर्व से यूरोप को भेजे जाने वाले तेल म भारी कमी आ गई जिसके कारण यूरोप के सामने तेल की समस्या खडा हो गई। आक्रमण के परिणाम स्वरूप इगलण्ड और फ्रास के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को बहुत धक्का लगा और छोटे छोटे राष्ट्रो का विश्वास कम हो गया। इगलण्ड के प्रधान मन्त्री एँथोनी ईडन को त्याग पत्र देने पर विवश होना पडा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे मिश्री आक्रमण एँग्लो फ्रेंच नीति की एक भारी पराजय सिद्ध हुआ और इसने एक बात स्पष्ट कर दी कि एग्लो फ्रेंच के प्रभुत्व का जमाना अब लद चुका है क्योकि इगलैण्ड और फ्रास स्वेज नहर पर अपना अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित करने में असफल रहे। ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल में भी फूट पड गई। भारत और पाकिस्तान ने ब्रिटिश नीति का विरोध किया। कनाडा ने भी उसकी नीति की आलोचना की। यहाँ तक कि उसका जबरदस्त समर्थक देश दक्षिणी अफ्रीका भी, इस अवसर पर तटस्थ रहा। आक्रमण ने एशिया तथा अफ्रीका के देशो के आपसी सहयोग को और अधिक मजबूत बनाया। अरब राष्ट्रो ने भी एकता का परिचय दिया। सीरिया तथा सौदी अरब ने इगलण्ड तथा फ्रास की कटु आलोचना की तथा अपने देशो में से तेल के प्रवाह को रोक दिया। मित्र क शत्रु जाडन ने भी इगलैण्ड को अपने अड्डो का प्रयोग करने की स्वीकृति नही दी। इसी प्रकार अन्य अरब राष्ट्रो ने इस अभियान की निन्दा की। इससे रूस का प्रभाव बढ गया। रूसी चेतावनी के फलस्वरूप युद्ध बन्द हो सका था। अत मध्य पूर्व के देशो में रूस की लोक प्रियता का विकास हुआ और अब उसे एक मित्र तथा शुभ चिन्तक की दृष्टि मे देखा जाने लगा। स्वेज सकट को हल करने में सयुक्त राष्ट्र सघ ने जो प्रयत्न किया और उसमें सफलता प्राप्त की, उसके कारण उसके सम्मान तथा गौरव की भी वृद्धि हुई और छोटे राष्ट्रो का सयुक्त राष्ट्र सघ में विश्वास बढ गया। अमेरिका द्वारा मिश्र का साथ देने अथवा इगलैण्ड और फ्रास की सहायता न करने के कारण इगलैण्ड और फ्रास के साथ उसके सम्बन्धो म कुछ कटुता आ गई। मिश्र को भी इस आक्रमण के परिणाम स्वरूप भारी आर्थिक क्षति उठानी पडी। हालांकि इससे मिश्र का सम्मान अवश्य बढा और मिश्र एशियाई तथा अफ्रीकी देशो की स्वाधीनता का अगुआ बन गया। इस सम्बन्ध में, भारत सरकार ने जो प्रयत्न किया उससे भारत के सम्मान मे भी वृद्धि हुई।

मिश्र अभियान में एंग्लो फ्रेंच नीति की असफलता के अप्रत्यक्ष परिणाम भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इससे तेल के नवीन क्षेत्रों को ढूँढने की आवश्यकता प्रतीत हुई और

**अप्रत्यक्ष परिणाम**

फलस्वरूप कनाडा तथा अमेरिका में इस तरफ अत्यधिक ध्यान दिया जा रहा है ताकि तेल के लिये स्वेज क्षेत्र के मार्ग तथा मध्य पूर्व की कम्पनियों पर निर्भर न रहना पड़े। इसके साथ ही, मध्य पूर्व के पश्चिम समर्थक देशों मे अतिरिक्त तेल पाइपों के लगाने की योजना पर भी विचार किया गया। दस हजार टनेज के जहाजों के निर्माण की योजना बनायी जा रही है ताकि इन हल्के जहाजों के द्वारा स्वेज मार्ग का बहिष्कार करने तथा उसी भाव से तेल को यूरोप तक लाना सम्भव हो सके। अणुशक्ति के अधिकाधिक प्रयोग करने की दिशा में परीक्षण करना ताकि तेल की आवश्यकता ही न रहे। इससे स्वेज नहर का विकास भी रुक गया। क्योंकि मिश्र अपनी ही पूँजी तथा सीमित साधनों से उसका विकास करने में असफल है। पश्चिम का विश्वास वह खो चुका है और नासर की साम्यवादी विरोधी नीति के कारण रूस से भी अधिक सहायता की आशा निरर्थक है। मध्य पूर्व में यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त हो गया। वैसे संयुक्त राष्ट्र संघ युद्ध विराम तथा समझौता कराने में सफल अवश्य रहा परन्तु आक्रान्ताओं के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही न करने तथा शीघ्र कदम न उठाने के कारण उसके आत्म सम्मान को भी भारी ठेस पहुँची है। इससे इंकार नहीं किया जा सकता। इजरायल की सैनिक श्रेष्ठता तथा अरब देशों द्वारा मिश्र की सहायता न करने से अरब संघ की निर्बलता स्पष्ट हो गई।

मिश्री आक्रमण का एक अप्रत्यक्ष महत्वपूर्ण परिणाम संयुक्त अरब गणराज्य (UAR) की स्थापना है। मिश्र की सैनिक असफलता तथा इजरायल की सैनिक

**संयुक्त अरब गण राज्य**

सफलता और उसके पीछे एंग्लो फ्रेंच समर्थन ने मध्य पूर्व की राजनीति में एक महत्वपूर्ण नीति का उद्भव हुआ। मिश्र और सीरिया दोनों देशों ने मिलकर, १ फरवरी १९५८ को संयुक्त अरब गणराज्य की स्थापना की। दोनों देशों ने भविष्य में एक शासनाध्यक्ष, एक लोक सभा, एक संयुक्त सेना तथा एक राष्ट्रीय ध्वज को रखने का निश्चय किया। कर्नल नासर संयुक्त अरब गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति चुने गये। यह प्रयत्न अरब एकता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम माना जाता है। ६ मार्च १९५८ को, अपनी स्वतन्त्र सत्ता को सुरक्षित रखता हुआ, यमन भी इस संघ में सम्मिलित हो गया। पश्चिम के समर्थक देशों इराक तथा जोर्डन ने इसके प्रत्युत्तर में अरब संघ की स्थापना की परन्तु जुलाई १९५८ में इराकी क्रांति के परिणाम स्वरूप अरब संघ का अस्तित्व समाप्त हो गया।

## (४) सीरिया

प्रथम महायुद्ध के पूर्व मिश्र की भाँति सीरिया भी, ओटोमन साम्राज्य का अंग

था। महायुद्ध के बाद सीरिया को आदिष्ट प्रथा (Mandate System) के अन्तर्गत फ्रांसीसी प्रशासन को सौंप दिया गया। सीरिया रेशमी वस्त्रों को तैयार करने वाला एक प्रमुख देश था। परन्तु फ्रांस को अपने आदिष्ट दायित्व को पूरा करने में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। क्योंकि सीरिया के निवासी एक दूसरे से भिन्न भाषा बोलते थे तथा जाति की दृष्टि से भी अलग अलग उपजातियों में विभाजित थे। यातायात तथा गमनागमन का भी विशेष प्रबन्ध नहीं था। फ्रांस ने "विभाजन और शासन करो" की नीति का प्रयोग किया तथा सीरिया को पांच प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया। ये क्षेत्र थे—लेबनान, लेटाकिया, अलक्जेण्ड्रेटा, ड्रूस तथा दमिश्क या सीरिया। इन पांचों क्षेत्रों में पृथक पृथक ढंग का प्रशासन लागू किया गया तथा पृथक पृथक ध्वज रखे गये। पांचों के ऊपर एक हाई कमिश्नर को नियुक्त किया गया। इस प्रकार, फ्रांस ने शुरू से ही सीरिया को विभाजित करके प्रशासन करने का निश्चय कर लिया।

**सीरिया में फ्रेंच शासन**

परन्तु सीरियन जनता को यह विभाजन अच्छा नहीं लगा। मुस्लिम जनता को इस बात की भी शिकायत थी कि अल्प संख्यक ईसाई लोगों के साथ पक्षपात किया जाता है। ड्रूस के लोगों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। १९२५ में फ्रेंच अधिकारियों ने विद्रोही नेताओं को सुलह वार्तालाप के लिये दमिश्क बुलाया। दमिश्क में विद्रोही नेताओं के साथ विश्वास घात किया गया और उन्हें जेल में ठूंस दिया गया। इस पर सीरिया में जन विद्रोह की आग सुलग उठी। फ्रेंच सेना तथा पुलिस ने बर्बरता के साथ विद्रोह का दमन किया। दमिश्क शहर पर वायुयानों के द्वारा बम वर्षा की गई। कई गांवों को जला कर राख कर दिया गया। फिर भी कई महीनों तक विद्रोह की आग सुलगती रही। काफी हत्या काण्ड के बाद विद्रोह कुछ शान्त हुआ। १९२६ में लेबनान को सीरिया से पृथक कर दिया गया और वहां पर बिल्कुल अलग ढंग का शासन स्थापित किया गया।

१९२५ में सीरिया के हाई कमिश्नर सारेल (Sarrail) को वापस बुला लिया गया तथा एक योग्य राजनीतिज्ञ सीनेटर हनरी डी जावेन (Jouvenel) को हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया। नये हाई कमिश्नर के आने के पूर्व ही सीरिया स्थित फ्रेंच अधिकारियों ने ईसाई जनता को अस्त्र शस्त्र रखने की स्वीकृति देकर समस्या को खतरनाक बना दिया। नये शासक ने ड्रूस लोगों के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया परन्तु उनकी "शान्ति सम्मेलन" की मांग को ठुकरा दिया। अतः १९२ के शुरू में पुनः झगड़ा उठ खड़ा हुआ। दमिश्क पर पुनः बम वर्षा की गई। राष्ट्र संघ के आदिष्ट आयोग ने फ्रेंच नीति की कटु आलोचना की। फलस्वरूप जावेन के स्थान पर हनरी पानसो (Ponsot) की नियुक्ति की गई जिसने विद्रोह का दमन किया। परन्तु विद्रोह की आग भीतर ही भीतर सुलगती रही।

१६२८ में पोनसो ने सरकार के सगठन की रूपरेखा तैयार करने का दृष्टि से एक सीरियन सविधान सभा को आह्वान किया। इस सविधान सभा में राष्ट्रवादियों का बहुमत था जिन्होंने स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना पर जोर दिया। इस पर सविधान सभा ने अधिवेशन को स्थगित कर दिया गया। १६३० में हाई कमिश्नर ने एक सावधान प्रस्तुत किया जिसके अनुसार सीरिया में गणराज्य की स्थापना की व्यवस्था थी परन्तु साथ ही फ्रेंच आदिष्ट सत्ता का अकुश तथा सीरियन विदेश नीति पर फ्रेंच नियन्त्रण भी थोपा गया। प्रारूप सविधान के अनुसार एक लोक सभा तथा एक राष्ट्रपति जो कि हमेशा मुस्लिम ही होगा का व्यवस्था की गई। राष्ट्रपति का चुनाव लोकसभा द्वारा होने तथा राष्ट्रपति को अवधि पाँच वर्षों तक रखने की व्यवस्था की गई था। १६३२ में इस सविधान के अनुसार अव्यवस्थ वातावरण में प्रथम चुनाव हुये। फ्रेंच हस्तक्षेप के कारण राष्ट्रवादियों को केवल १५ स्थान ही मिल सके और ५४ स्थानों पर प्रगतिशील या फ्रेंच समर्थक दल का अधिकार हो गया। लोक सभा ने सीरिया के एक पूँजीपति अहमद अली बे एल आबेद को गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति चुना।

१६३३ मे मार्टेल सीरिया का नया हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया। उसने सीरियन प्रधान मन्त्री के साथ एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये जिसमे यह व्यवस्था की गई कि चार वर्षों के बाद फ्रास राष्ट्र सघ से सीरिया को अपना सदस्य बनाने की सिफारिश करेगा। आगामी २५ वर्षों तक, फ्रास सीरियन विदेश, सैनिक तथा आर्थिक मामलो पर अपना नियन्त्रण जारी रखेगा। परन्तु जब मार्टेल को यह मालूम हुआ कि लोक सभा इस दस्तावेज को स्वीकार नहीं करेगी तो उसने दस्तावेज का रद्द कर दिया तथा सविधान सभा को भी भग कर दिया गया। लोकसभा का विरोध केवल राजनीतिक कारणो से हा नहीं था बल्कि आर्थिक कारणो का भी प्रधानता थी क्योकि फ्रेंच शोषण के कारण सीरिया की आर्थिक स्थिति काफी दयनीय हो चुकी थी।

सितम्बर १६३६ में फ्रास और सीरिया के बीच दूसरी सधि हुई जिसमें तीन वर्षों के बाद सीरिया को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया गया। इस पर तुर्की ने प्रार्थना की कि नये सीरिया में अलैक्जेण्ड्रेटा क्षेत्र में जिसमें एटियोक नगर भी सम्मिलित हो, एक अर्द्ध स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की जाय क्योकि इस क्षेत्र के अधिकाश निवासी तुर्क थे। फ्रास ने इस प्रश्न को राष्ट्रसघ की कौसिल के सम्मुख रखा जिसने इस स्वीकार नही किया। इस पर अलैक्जेण्ड्रेटा क्षेत्र में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। १६३८ में यूरोप की राजनीतिक स्थिति खतरनाक होती जा रही थी, अत पेरिस और अकारा (तुर्की) के मध्य इस सम्बन्ध मे शीघ्र ही एक समझौता हो गया जिसके अनुसार फ्राको-तुर्किश नियन्त्रण के अन्तर्गत अलैक्जेण्ड्रेटा को एक स्वायत्त शासन राज्य बनाने का निश्चय किया गया। इस समझौते को शीघ्र ही कार्यान्वित भी कर दिया गया। तुर्की सेना भी इस क्षेत्र में पहुँच गई। नये चुनाव कराये गये और सितम्बर १६३८ में प्रथम विधान सभा

का अधिवेशन शुरू हुआ। नवीन राज्य का नाम हित्ती गणराज्य (Republic of Hatay) रखा गया।

नवीन गणराज्य का जीवन बहुत अल्पायु साबित हुआ। १६३६ मे, जब यूरोप की राजनीतिक स्थिति बहुत नाजुक हो गई, तो इंगलैण्ड और फ्रांस दोनों ही तुर्की के सहयोग को प्राप्त करने के आकांक्षी थे। इंगलैण्ड ने तुर्की के साथ एक पारस्परिक सहायता सन्धि करली। फ्रांस ने भी ऐसा ही किया। परन्तु उसे सन्धि की कीमत चुकानी पड़ी। हित्ती गणराज्य का अधिकांश भाग तुर्की को देने पर विवश होना पड़ा। अवशिष्ट भाग पुनः सीरिया को दे दिया गया। इस प्रकार हित्ती गणराज्य का अन्त हो गया।

सीरिया ने इस सन्धि का विरोध किया। क्योंकि फ्रांस को आदिष्ट क्षेत्र का भूभाग किसी दूसरे देश को हस्तांतरित करने का अधिकार नहीं था। इटली और जर्मनी ने सीरिया का पक्ष लिया। आदिष्ट आयोग ने भी फ्रांस की भर्त्सना की परन्तु फ्रांस डटा रहा। उसने १६३६ को फ्रांको सीरियन सन्धि का अनुसमर्थन भी नहीं किया क्योंकि फ्रांस ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में भूमध्यसागर के क्षेत्र को खाली करने के पक्ष में नहीं था। इस पर सीरिया में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। फ्रांस ने संविधान को रद्द कर दिया और तानाशाही शासन की स्थापना की। इसी समय द्वितीय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ।

जून १६४० में फ्रांस के पतन के उपरान्त सीरिया में धुरीराष्ट्रों का प्रभाव बढ़ने लगा। मई १६४१ मे सीरियन अधिकारियों ने धुरी राष्ट्रों को अपने हवाई अड्डों का प्रयोग करने का अधिकार दे दिया। वास्तव में इन अड्डों का प्रयोग ईराक के विद्रोही नेता रशीद अली की सहायता के लिये किया गया था। ब्रिटेन

**पूर्ण स्वाधीनता**

इसे सहन नहीं कर सकता था। अतः ८ जून १६४१ को ब्रिटिश फौजों ने सीरिया पर आक्रमण किया और १४ जुलाई तक सम्पूर्ण सीरिया उनके अधिकार मे आ गया। ब्रिटिश फौजों के साथ फ्रेंच जनरल कैट्रो (Catroux) भी था। उसने घोषणा की कि स्वतन्त्र फ्रांस सीरिया को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर देगा। २८ सितम्बर १६४१ को उसने सीरिया की स्वतन्त्रता की घोषणा की परन्तु कुछ फ्रांसीसी नेताओं ने प्राचीन साम्राज्यवाद की स्थापना का प्रयत्न किया। सीरिया में इन प्रयत्नों के विरुद्ध, फ्रेंच विरोधी प्रदर्शन किये गये। मई १६४५ में राष्ट्र व्यापी विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने तत्कालीन फ्रेंच सरकार के अध्यक्ष जनरल डीगाल से शांति स्थापित करने को कहा। २१ जून को सीरिया ने समस्त फ्रेंच नागरिकों को अपनी सेवा से मुक्त कर दिया। मार्च १६४५ में सीरिया ने जर्मनी तथा जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा की तथा अप्रैल में सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये। इस प्रकार १६४५ के मध्य तक सीरिया को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। राष्ट्रवादी दल के नेता कुवैतअली ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

फिर भी एक समस्या बच गई। सीरिया की भूमि से विदेशी सेना को हटाना। इस परिस्थिति तथा लन्दन ने १३ दिसम्बर १९४५ को एक संयुक्त घोषणा में कहा कि वे यथाशीघ्र अपनी अपनी सनिक टुकड़ियों का हटा लेंगें। परन्तु सीरिया को इससे सन्तोष नहीं हुआ और ८ फरवरी १९४६ को उसने इस मामले का संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद के सामने रखा। हालांकि रूस के निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद किसी निर्णय पर पहुँचने मे असफल रही परन्तु इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने ३० अप्रैल १९४६ तक अपनी सेनाएँ हटा ली।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त मध्यपूर्व का प्रमुखता के लिये रूस और अमेरिका का जो प्रतियोगिता शुरू हुई उसके बारे म सीरिया भी अछूता नहीं रहा परन्तु इसी समय इजरायल राज्य की स्थापना से अरब राष्ट्रवाद की भावना भी अधिक बलवती हो गई और सीरिया अरब लीग का सदस्य बन गया। १९५६ म मिश्र पर इजरायल के आक्रमण तथा इंगलैण्ड और फ्रांस के द्वारा इजरायल का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित होना, मिश्र की पराजय परन्तु पराक्रम के प्रदर्शन आदि घटनाओं ने सीरिया की जनता तथा नेताओं को काफी प्रभावित किया और उन्होंने अखिल अरब राज्य की स्थापना का स्वप्न देखना शुरू कर दिया। मिश्र के साथ सीरिया को मिलाकर एक संयुक्त अरब गणराज्य की स्थापना करके उन्होंने अपने स्वप्न को मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया है। आशा है कि सभी अरब राज्य सीरिया का अनुसरण करते हुए एक अरब संघ में सम्मिलित होकर अरब शक्ति के उत्थान में अवश्य योगदान देंगें।

## (५) लेबनान

प्रथम महायुद्ध के पूर्व लेबनान सीरिया का एक प्रान्त था। महायुद्ध के उपरान्त सीरिया को आदिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत फ्रांसीसी प्रशासन को सौंप दिया गया। फ्रांस ने लेबनान को सीरिया से पृथक कर दिया और एक पृथक शासन प्रणाली लागू की।

**फ्रेंच प्रशासन**

लेबनान भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर स्थित एक छोटा सा राज्य है परन्तु अपनी भौगोलिक तथा सामरिक स्थिति के कारण मध्यपूर्व म एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। बैरूत पूर्वी भूमध्य सागर के तट पर एक विशाल व्यापारिक बन्दरगाह है। निकट पूर्व का विशाल आधुनिक हवाई अड्डा भी लेबनान की भूमि पर ही है। इसके अतिरिक्त इराक (किरकुक) तथा सौदी अरब से तेल की पाइप लाइन लेबनान के सिडोन तथा ट्रिपोली बन्दरगाह तक आती ह अर्थात् इराक और सौदी अरब का तेल लेबनान के बन्दरगाहों से विदेशों का भेजा जाता है। लेबनान निकट पूर्व तथा मध्यपूर्व के देशों का प्रवेश द्वार है। इस कारण क्षेत्रफल तथा आबादी म छोटा होता हुआ भी, इसका स्थान महत्वपूर्ण है।

३० नवम्बर १९५६ को फ्रास ने लेबनान के साथ एक सधि की जिसके अनुसार तीन वर्षों के उपरात फ्रास ने लेबनान को स्वतन्त्रता देने तथा उसे राष्ट्र सघ की सदस्यता दिलवाने का आश्वासन दिया और बदले में लेबनान के सामरिक अड्डो का उपयोग करने का अधिकार सुरक्षित रखा। लेबनान के राष्ट्रवादियो ने इस सन्धि का विरोध किया और फ्रास ने भी इस सधि का अनुसमर्थन नही किया। द्वितीय महायुद्ध के शुरू होते ही लेबनान मे प्रत्यक्ष रूप से फ्रेंच शासन की पुनर्स्थापना की गई तथा सविधान सभा को भग कर दिया गया। इस पर लेबनान मे विद्रोह उठ खडा हुआ जिसे बर्बरता के साथ दबा दिया गया।

**पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति**

जून १९४० में फ्रास के पतन से लबनान में फ्रास का प्रभाव क्षीण पडने लग गया और धुरी राष्ट्रो का प्रभाव बढ गया। ब्रिटेन इसे बर्दाश्त नही कर सका और ८ जून को उसने सीरिया तथा लेबनान पर आक्रमण कर दिया और १४ जुलाई १९४१ तक सम्पूर्ण लेबनान पर उसका अधिकार हो गया। २६ नवम्बर १९४१ को फ्रेंच जनरल कटरू या केट्रो ने लेबनान की स्वतन्त्रता की घोषणा की। १९४४ में ब्रिटेन तथा अमेरिका ने लेबनान को मान्यता दे दी और उसके साथ राजनातिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये परन्तु फ्रास की बुरी नीयत से लबनान में राष्ट्रव्यापी विद्रोह उठ खडा हुआ। लेबनान सरकार ने समस्त फ्रेंच नागरिको को अपनी सेवा से मुक्त कर दिया। १ मार्च १९४५ को लेबनान ने जर्मनी तथा जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा की तथा अप्रैल १९४५ के सैन फ्रासिसको सम्मेलन में भाग लिया तथा सयुक्त राष्ट्र सघ के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर भी किये। सीरिया की भाँति लवनान मे भी विदेशी सेनाएँ जमी हुई थी। अत सीरिया और लेबनान ने मिलकर सुरक्षा परिषद मे अपील की और अन्त में ३० अप्रैल १९४६ को विदेशी सेनाएँ हटाली गई।

जुलाई १९५२ की मिश्री राजक्राति ने लेबनान को काफी प्रभावित किया। लबनान में ईसाई तथा अरब बसे हुए है। ईसाईयो तथा कुछ अरबो का झुकाव पश्चिम की तरफ है तथा अधिकाश अरबो का झुकाव राष्ट्रवाद की तरफ है। १९५६ में स्वेज

**लेबनान में सकट**

सकट ने राष्ट्रवाद को और अधिक भडका दिया और १९५८ में लेबनान गृह-युद्ध की लपटो में तथा विदेशी राजनीति की चालो में फँस गया। उस समय लेबनान के राष्ट्रपति चामौं (Chamoun) और प्रधान मन्त्री सामी सोलह थे और उनका झुकाव पश्चिम की तरफ था और उन्होने आइजन हावर सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। लेबनान के राष्ट्रवादी दल के नेता अब्दुला याफ्नी तथा साअब सालम ने सरकार की नीति की कटु आलोचना की क्योकि उनका झुकाव मिश्र तथा सीरिया की तरफ था—जो तटस्थ नीति का पालन कर रहे थे।

८ मई १६५८ का रात्रि को सरकार विरोधी अखबार "टेलीग्राफ" के प्रधान सम्पादक नासिब मतानी को बैरूत में कत्ल कर दिया गया। सरकार विरोधी दलों ने इस कत्ल के पीछे सरकार का हाथ बतलाया और उन्होंने विरोध प्रदर्शन किया, हड़ताल की तथा सरकारी नीति की कटु आलोचना की। इसका परिणाम बहुत बुरा निकला और लेबनान में गृह युद्ध शुरू हो गया। अमेरिका के सूचना विभाग को जला दिया गया। तेल की पाइप लाइनों को काट दिया गया। विद्रोहियों ने चामौं से त्याग पत्र देने की माँग की। लेबनान के विदेश मंत्री डा० चार्ल्स मलिक ने इस विद्रोह में मिश्र तथा सीरिया का हाथ बताया तथा उन्होंने कहा कि इन देशों से विद्रोहियों को सहायता मिल रही है। इससे विद्रोही और अधिक क्रोधित हो उठे और सम्पूर्ण लेबनान गृह युद्ध का रंगमंच बन गया। २२ मई को लेबनान ने सुरक्षा परिषद के सामने इस समस्या को प्रस्तुत किया तथा मिश्र और सीरिया पर विद्रोह को उकसाने एवं विद्रोहियों को अस्त्र शस्त्र से सहायता देने का आरोप लगाया। सुरक्षा परिषद काफी खोज बीन से इस निर्णय पर पहुँची कि लेबनान के आरोप सही नहीं हैं। परन्तु लेबनान अपनी बात पर डटा रहा और उसकी मान्यता थी कि विद्रोहियों में काफी लोग मिश्र तथा सीरिया से आये हुये हैं और वे शक्ति के बल पर सरकार का तख्ता उलटना चाहते हैं। इसके बाद लेबनान सरकार ने अमेरिका से सहायता की अपील की। अमेरिका ने यथा शीघ्र अपनी सेना को भेजने का आश्वासन दिया और १५ जुलाई १६५८ को अमेरिकन जहाजी बेड़े ने १५०० नौ सैनिक बेरूत पहुँचा दिये। २० जुलाई तक १०,००० अमेरिकन सैनिक लेबनान में पहुँच गये और इनकी सहायता से विद्रोह को दबा दिया गया।

लेबनान में अमेरिकन सेना को भेजने का मुख्य कारण जुलाई १६५८ का ईराकी क्रांति तथा साम्यवाद का तथा मिश्री राष्ट्रवाद का भय था। परन्तु लेबनान के विद्रोही नेता तथा लोकसभा के अध्यक्ष प्रदल आसीरा ने विदेशी सेना के आगमन का घोर विरोध किया तथा इसे अपने देश की सर्वोच्च सत्ता पर एक घातक प्रहार माना। १५ जुलाई को रूस ने सुरक्षा परिषद के सामने लेबनान से अमेरिकन सेना की वापसी का प्रस्ताव रखा परन्तु प्रस्ताव पास नहीं हो सका। १३ अगस्त १६५८ को इस समस्या के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। राष्ट्रपति आइजनहावर ने अमेरिका की नीति को स्पष्ट करते हुए कहा कि अमेरिका अपनी सेना हटाने को तैयार है यदि लेबनान की वैधानिक सरकार उसे ऐसा करने को कहे या संयुक्त राष्ट्र संघ लेबनान संकट को दूर कर सके। रूसी प्रतिनिधि ने अमेरिका पर आरोप लगाया कि वह तेल के प्रलोभन में लेबनान में डटा हुआ है। २१ अगस्त को महासभा ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें महामन्त्री को अधिकार दिया गया कि कि वे इस संकट को सुलझाने तथा अमेरिकन सेनाओं की वापसी के सम्बन्ध में प्रयत्न करें।

संयुक्त राष्ट्र संघ में लेबनान की समस्या पर वाद विवाद हो रहा था और लेबनान की भूमि पर गृह युद्ध जारी था। राष्ट्रपति चामों का कार्यकाल समाप्त होने वाला था। ३१ जुलाई को लेबानीज लोकसभा ने प्रधान सेनापति चेहब को अपना नया राष्ट्रपति चुन लिया। इससे गृह युद्ध समाप्त हो गया क्योंकि चेहब तटस्थ व्यक्ति है। २४ सितम्बर को राष्ट्रपति चेहब ने करामी को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। करामी की नई सरकार ने अमेरिका से अपील की कि वह यथा शीघ्र अपनी सेना हटाले। अब अमेरिकन सेना का वहा रहना कठिन हो गया क्योंकि वैधानिक सरकार ने यह माग रखी था। अत अमेरिकन सेनाओं को लेबनान से हटना पडा और २६ अक्टूबर १९५८ तक समस्त अमेरिकन सैनिक वापस चले गये। इस प्रकार लेबनान की समस्या का समाधान हुआ।

लेबनान संकट का अन्त

## (६) जोर्डन

प्रथम महायुद्ध के पूर्व जोर्डन ओटोमन साम्राज्य के सीरिया प्रान्त का एक अंग था। १९१८-२० तक उसकी स्थिति मे विशेष परिवर्तन नही हुआ। सेव्रे की सन्धि से फिलस्तीन का क्षेत्र ब्रिटेन को, आदिष्ट देश के रूप में सौंप दिया गया। इसी आदिष्ट क्षेत्र से ट्रास जोर्डन के पृथक क्षेत्र का अभ्युदय हुआ। शेरिफ हुसैन, जिसने प्रथम महायुद्ध मे मित्र राष्ट्रों को सहायता दी थी, के पुत्र अब्दुल्ला को १ अप्रैल १९२१ को, ब्रिटिश सहायता से जोर्डन का सिंहासन प्राप्त हो गया। अंग्रेजो के इस कृत्य ने अरब के इब्न साउद को क्रोधित कर दिया और वह अब्दुल्ला को अपहरण कर्त्ता ही मानता रहा। १९२७ मे जिद्दा की सन्धि से दोनो के सम्बन्धो म कुछ सुधार हुआ और यथा स्थिति को बनाये रखने का आश्वासन दिया गया। २० फरवरी १९२८ का आग्ल जोर्डन सन्धि के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने जोर्डन को नाम मात्र के लिये कुछ प्रशासनिक अधिकार द दिये। परन्तु १९१९-४५ तक वास्तविक दृष्टि से ट्रास जोर्डन ब्रिटेन का उपनिवेश बना रहा। द्वितीय महायुद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन ने जोर्डन को स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया और १९४६ में ब्रिटेन ने जोर्डन को अन्याम प्रथा के अन्तर्गत रखने का विरोध किया। २२ मार्च १९४६ को आग्ल जोर्डन सधि पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार ट्रांस जोर्डन की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया गया तथा जोर्डन ने ब्रिटेन को अकाबा तथा मालफाक के अड्डों पर अधिकार तथा ब्रिटिश सेना को रखने की बात स्वीकार कर ली। ब्रिटेन ने इसके बदले में जोर्डन को १६ करोड रुपये वार्षिक की सहायता देना स्वीकार कर लिया।

ट्रांस जोर्डन का अभ्युदय

इस प्रकार जोर्डन स्वतन्त्र हो गया और ब्रिटिश सरकार की सहायता से उसका गुजारा भी होने लग गया। ब्रिटेन के लिये जोर्डन का सहयोग बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि जोर्डन अरब राज्यों के केन्द्र में स्थित था। अत सामरिक दृष्टि से बहुत

महत्वपूर्ण था। मिश्र की क्रांति से जोर्डन की जनता काफी प्रभावित हुई परन्तु जोर्डन के शासक हुसैन और प्रधान मन्त्री नबुल्सी ने मिश्र की तरफ झुकना ठीक नहीं समझा। ये दोनो पश्चिम के समर्थक थे। जब मिश्र, सीरिया तथा सौदी अरब ने जोर्डन पर बहुत जोर डाला तो जोर्डन ने अपनी आर्थिक स्थिति का राग अलापना शुरू कर दिया। १९५७ के प्रारम्भ में, उपरोक्त तीनों ने जोर्डन को इस शर्त पर कि यदि वह पश्चिम का साथ छोड़ दे तो, १६ करोड़ रुपये वार्षिक की सहायता देना स्वीकार कर लिया। नाबुल्सी पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। उसने आइजनहावर सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया तथा मिश्र सीरिया और सौदी अरब के साथ समझौता कर लिया। इतना ही नहीं बल्कि १३ फरवरी १९५७ को उसने १९४८ की आंग्ल जोर्डन संधि को भी रद्द करने तथा ब्रिटिश सेना को जोर्डन खाली करने की घोषणा की। अप्रैल १९५७ में जार्डन ने सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का विचार किया। नाबुल्सी सरकार की इन कार्यवाहियों से इंगलैंड तथा अमेरिका दोनों चिंतित हो उठे। उन्होंने जार्डन के शासक हुसैन को आर्थिक सहायता का प्रलोभन दिया जिसके परिणाम स्वरूप नाबुल्सी को प्रधान मन्त्री पद से हटा दिया गया। इस पर जोर्डन में उपद्रव उठ खड़ा हुआ परन्तु सेना की सहायता से इस विद्रोह को दबा दिया गया। हुसैन ने इस विद्रोह के पीछे साम्यवादी रूस का हाथ बतलाया।

मिश्र और सीरिया के द्वारा संयुक्त अरब गणराज्य की स्थापना से जोर्डन की राजनीति पर काफी प्रभाव पड़ा और अमेरिकन प्रभाव के कारण जोर्डन ने इराक के साथ मिलकर अरब संघीय राज्य (Arab Federal State की स्थापना की। यह १४ फरवरी १९५८ को की गई थी। १४ जुलाई १९५८ को इराक में सैनिक क्रान्ति हो गई और इराक के राजा तथा प्रधान मन्त्री नूरी को, जो पश्चिम के वफादार सेवक थे, मौत के घाट उतार दिया गया।

**जोर्डन में संकट**

इससे जोर्डन की चिन्ता बढ़ गई और यह भय भी उत्पन्न हो गया कि कहीं इराकी सेना जोर्डन पर आक्रमण न कर दें। इराक की भांति जोर्डन में भी सैनिक क्रांति होने की सम्भावना थी। अतः १७ जुलाई को जार्डन के शासक ने इंगलैण्ड तथा अमेरिका से यथा शीघ्र सैनिक सहायता देने की अपील की। ब्रिटेन ने तत्काल सहायता भेजी और १८ जुलाई तक २००० सैनिक जोर्डन की राजधानी अम्मान पहुँच गये। संयोग की बात थी कि १५ जुलाई से लबनान में अमेरिकन सेना भी उतर रही थी। इससे मध्यपूर्व में विक्षोभ उत्पन्न स्वाभाविक था।

पहले बतलाया जा चुका है कि १३ अगस्त १९५८ को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाया गया था—लेबनान की समस्या पर विचार करने के लिये। इसी सम्मेलन में जोर्डन में ब्रिटिश सेना की उपस्थिति से उत्पन्न विक्षोभ की भी चर्चा की गई और जोर्डन से ब्रिटिश सेना हटाने की मांग की गई। महासभा ने संयुक्त राष्ट्र संघ के महामन्त्री को इस सम्बन्ध में अधिकार दे दिया था।

उनके प्रयत्ना के परिणाम स्वरूप तथा लबनान की समस्या के समाधान के कारण स्थिति में सुधार हो गया और २ नवम्बर १९५८ तक ब्रिटिश सेनाओं ने जाडन खाली कर दिया। परन्तु आपसी भय अभी तक बना हुआ है।

## (७) इराक

इराक का प्राचीन नाम मेसोपोटेमिया था। प्रथम महायुद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन ने तुर्की के तीन प्रान्तो, बसरा, बगदाद और मौसुल पर अधिकार कर लिया था। मौसुल क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले तेल तथा इराक के रास्ते ब्रिटिश भारत की सुरक्षा की दृष्टि से इगलण्ड को इस देश मे अत्यधिक रुचि थी। अत १९२० में उसने इस क्षेत्र का आदिष्ट अधिकार प्राप्त कर लिया। परन्तु इराकी जनता को आदिष्ट प्रथा का पूर्ण ज्ञान नही था। वह इसे भी एक प्रकार से आधिपत्य समझती थी और तुर्की आधिपत्य से मुक्त होकर ब्रिटिश आधिपत्य को स्वीकार करने को तैयार नही थी। अत इराक में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह उठ खडा हुआ जिसको काफी कठिनाई से बाद दबाया जा सका। इस प्रकार इराक, शुरू से ही ब्रिटेन के लिये सिर दर्द बन गया।

इराकी भावना को पहचान लेने के बाद, ब्रिटेन ने दूसरा तरीका अपनाया। २ अगस्त १९२१ को ब्रिटेन ने शेरिफ हुसैन के पुत्र फैजल को इराक का राजा घोषित कर दिया परन्तु वास्तविक शासनसूत्र अपने हाथ में रखा। इससे इराकी जनता का राष्ट्रीय प्रेम पुन भडक उठा और लाचार होकर १९२४ मे, इराक मे लोकसभात्मक शासन स्थापित करना पडा। परन्तु इससे राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव कम नही हुआ क्योंकि राष्ट्रवादी पूर्ण स्वतन्त्रता की माग कर रहे थे। ३० जनवरी १९२६ तथा १४ दिसम्बर १९२७ को इगलैण्ड ने इराक के साथ सधियां की और इराक को स्वतन्त्रता देने का आश्वासन भी दिया परन्तु इससे भी स्थिति में अन्तर नही पडा। वास्तव में, इगलण्ड इराक मे अधिक समय तक रुकना नही चाहता था परन्तु फ्रास के कारण उसे रुकना पडा। क्योंकि फ्रास को भय था कि इगलैण्ड द्वारा इराक खाली करने मे उसके आदिष्ट क्षेत्र सीरिया पर इसका बुरा प्रभाव पडेगा। ३० जून १९३० को इगलैण्ड ने इराक के साथ एक और नूतन सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार इगलण्ड ने इराक को राष्ट्र सघ की सदस्यता दिलवाने तथा सदस्यता मिलने हो आदिष्ट प्रथा को समाप्त करने का आश्वासन दिया। इसके बदले में इराक ने हब्बानिया आदि हवाई अड्डो पर ब्रिटिश अधिकार तथा इराकी भूमि से ब्रिटिश सेनाओं को गुजरने का अधिकार प्रदान किया।

३ अक्टूबर १९३२ को इराक को राष्ट्र सघ का सदस्य बना लिया गया। इराक ने गैर इराकी अल्प सख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा तथा विदेशी नागरिकों के अधिकारो के सम्मान का वचन दिया। इस प्रकार ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त हुआ

परन्तु ब्रिटिश प्रभाव जारी रहा। इराक अपने वचनो को निभाने में असमर्थ रहा और अल्प सख्यक असीरियनो को इराकी अत्याचार का शिकार बनना पडा। मामला बहुत अधिक सगीन हो जाता परन्तु इराकी सरकार ने शीघ्र ही अपने कृत्या की क्षमा याचना करली। १९३३ के मध्य म फैजल की मृत्यु हो गई और उसका अनुभव हीन २१ वर्षीय पुत्र गाजी इराक का शासक बना जो इराक की राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति को सभालने में असमर्थ रहा। ४ अप्रैल १९३९ को बगदाद के समीप एक दुर्घटना में गाजी की मृत्यु हो गई। इराकी जनता को इसमें ब्रिटिश नीति का हाथ दिखलाई दिया जिसके परिणाम स्वरूप ब्रिटिश विरोधी उपद्रव हुए। इन उपद्रवा के पीछे इटली और जर्मनी का हाथ था।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के बाद इराक की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दाव पेच के कारण असदिग्ध हो गई। तेल का बहुमूल्य क्षेत्र होने के कारण इराक के सहयोग की मित्रराष्ट्रो को अत्यधिक आवश्यकता थी और फासिस्ट शक्तियाँ भी उसकी तरफ ललचाई नजरो से देख रही थी। सितम्बर १९३९ में इराक ने जर्मनी के साथ अपने राजनीतिक सम्बन्धो को समाप्त कर दिया परन्तु अप्रैल १९४१ में रशीदअली ने मौजूदा सरकार का तख्ता पलट दिया और स्वय प्रधानमत्री बन गया। रशीदअली जर्मनी का समर्थक था। अत ब्रिटिश सेना ने इराक में प्रवेश किया और १ मई से रशीद अली के साथ युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध मे रशीदअली पराजित हुआ और अक्टूबर १९४१ में पश्चिम समर्थक नूरी अस सय्यद के नेतृत्व में नवीन सरकार का गठन किया गया। नूरी १९४४ तक अपने पद पर कायम रहा। १६ जनवरी १९४३ को इराक ने धुरी राष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। १९४२ में इराक और रूस के बीच राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त इराक में साम्यवादियो की प्रवृत्तियाँ बढने लगी। इससे पश्चिमी राष्ट्र चिन्तित हो गये। १६ जनवरी १९४८ को इगलण्ड ने ईराक के साथ एक नई सधि की जिसके अनुसार ब्रिटेन ने राजकीय रेलवे तथा बसरा बन्दरगाह का आंशिक नियत्रण इराक को सौंप दिया। हब्बानिया तथा शुआबा के हवाई अड्डे भी इराक को लौटा दिये गये हालाकि इनका नियत्रण ब्रिटिश हवाई सेना के अन्तर्गत रखा गया। इराकी जनता को यह सधि पसन्द नही आई और बगदाद मे भयकर उपद्रव उठ खडा हुआ जिसमें २० लोग मारे गये। जनमत के विरोध के भय से इराक ने इस सधि का अनुसमर्थन नही किया।

मध्यपूर्व मे साम्यवाद के बढते हुए प्रसार को रोकने के लिये पश्चिमी गुट ने बगदाद सधि का निर्माण किया। इसका उद्भव २४ फरवरी १९५५ की तुर्की—इराकी रक्षा सधि से हुआ था। बगदाद सधि का उल्लेख बारहवें अध्याय में किया जा चुका है। इराक बगदाद सधि में सम्मिलित हो गया, पश्चिम का पक्षधर बन गया परन्तु जनमत मिश्र तथा सीरिया की तरफ झुका हुआ था। १९५८ में मिश्र और सीरिया द्वारा सयुक्त

अरब गणराज्य की स्थापना ने इराकी जनता के राष्ट्रवाद को उत्तेजित कर दिया परन्तु इराकी सरकार ने जोर्डन के साथ मिलकर अरब संघीय राज्य की स्थापना करके जनता की आशा पर पानी फेर दिया। सैनिकों में भी विद्रोह की भावना बढ़ने लगी। १४ जुलाई १९५८ को जबकि इराकी राजा फैजल द्वितीय तथा उसका प्रधानमंत्री नूरी अस्सय्य" बगदाद संधि के सम्मेलन में भाग लेने के लिये तुर्की के इस्तम्बोल नगर की यात्रा की तयारी में लगे हुये थे, इराकी सेना ने विद्रोह का बिगुल बजा दिया और इन दोनों को मौत के घाट उतार दिया गया। सैनिक क्रांति का नेतत्व ब्रिगेडियर कासिम ने किया। क्रान्ति का मूल ध्येय इराक को पश्चिम के प्रभुत्व से मुक्त करना, अरब राज्यों के साथ एकता एवं सहानुभूति बढ़ाने वाले गणराज्य की स्थापना करना था। २७ जुलाई को कासिम ने इराकी शासन सचालन के लिये एक अस्थायी संविधान की घोषणा की। इराक को बगदाद संधि से मुक्त करने की घोषणा भी कर दी गई। इससे पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा निर्मित मध्यपूर्व संगठन छिन्न भिन्न हो गया और उन्होंने कासिम की सरकार का तख्ता पलटने का अथक प्रयत्न शुरू कर दिया। ८ मार्च १९५९ को उत्तरी इराक में स्थित मौसुल में कर्नल अब्दुल वहाब ने कासिम सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया परन्तु इस विद्रोह को शीघ्र ही कुचल दिया गया। वस्तुतः में आलोचकों का विश्वास है कि इस विद्रोह के पीछे पश्चिमी शक्तियों का हाथ था।

इराकी क्रान्ति से संयुक्त अरब गणराज्य को बहुत सी आशाएँ थी। इराक के संयुक्त अरब गणराज्य में सम्मिलित होने की भी आशा थी परन्तु कासिम राष्ट्रवाद का कट्टर उपासक निकला। इसीलिए कुछ लोगों की यह धारणा है कि मौसुल विद्रोह के पीछे कर्नल नासर का हाथ था और यही कारण है कि संयुक्त अरब गणराज्य के इराक स्थित राजदूतावास के अनेक अधिकारियों को यथाशीघ्र इराक छोड़ने का आदेश दिया गया था। इसी प्रकार साम्यवादियों को भी क्रांति से बहुत सी आशाएँ थी। परन्तु कासिम साम्यवादी तथा साम्राज्यवादी तत्वों से पृथक रहते हुए इराक की उन्नति के पक्ष में है। कासिम की इस राष्ट्रीय नीति के कारण इराक की स्थिति अधिक शोचनीय बन गई है और वह चारों तरफ से घिर गया है। बगदाद पेक्ट से पृथक हो जाने के कारण पश्चिमी देशों के साथ उसके सम्बन्ध बिगड़ गये हैं। संयुक्त अरब गणराज्य में सम्मिलित न होने के कारण मिश्र तथा सीरिया से भी उसके सम्बन्ध बिगड़े हुए हैं और साम्यवादियों को अपनी कार्यवाहियों का उचित अवसर न देने के कारण वह साम्यवादियों के सहयोग से भी वंचित हो गया है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि इराक के अन्दर ही कासिम के अनेक शत्रु पैदा हो गये और उसके शत्रु प्रतिदिन उसकी हत्या करवाने की ताक में लगे हुए हैं।

## (८) सोदी अरब

बीसवीं शताब्दी में अरब राष्ट्रवाद को उफनना का एक प्रत्यक्ष परिणाम-सौदी

अरब राज्य का स्थापना है। बीसवीं सदी के प्रथम दशक के बाद ही वहाबी (Wahabi) सम्प्रदाय के एक पराक्रमी पुरुष इब्न साउद ने सौदी अरब में अपनी स्थिति को काफी सुदृढ बना लिया था और २६ दिसम्बर १९१५ को इंगलैण्ड ने उसके साथ एक संधि की जिसके अनुसार इब्न ने प्रथम महायुद्ध में तटस्थ रहने तथा हजाज पर आक्रमण न करने का वचन दिया। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि तुर्की के विरुद्ध अरबों की सहायता प्राप्त करने की दृष्टि से ब्रिटेन ने मक्का के शेरिफ हुसैन से संधि करली थी और उसे संयुक्त अरब का नायक बनाने का वचन दिया था। युद्धकाल में हुसैन ने हजाज के बादशाह की उपाधि धारण कर ली थी। युद्ध समाप्ति के बाद ब्रिटेन अपने वचन का पालन करने में असमर्थ रहा। इससे हुसैन क्रोधित हो उठा। हालांकि हुसैन को हजाज का सुल्तान, उसके एक पुत्र अब्दुल्ला को जार्डन का शासक तथा दूसरे पुत्र फजल को इराक का शासक बना दिया गया था परन्तु इससे उसे सन्तोष नहीं हुआ और उसने वर्साय संधि का अनुसमर्थन करने से इनकार कर दिया और आदिष्ट प्रथा का भी घोर विरोध किया। लासन की संधि में भी उसने सम्मिलित होने से अस्वीकार कर दिया।

**सौदी अरब राज्य का प्रादुर्भाव**

७ मार्च १९२४ को हुसैन ने अपने जीवन की भयंकर भूल की। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि मुस्तफा कमाल ने खलीफा पद का अन्त कर दिया था। हुसैन ने अपने आपको खलीफा घोषित कर दिया। इस कारण इब्न साउद क्रोधित हो उठा और उसने मक्का पर आक्रमण कर दिया। ३ अक्टूबर १९२४ को हुसैन ने अपने पुत्र अली के पक्ष में अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया परन्तु अली भी इब्न को पराजित करने में असफल रहा। २२ दिसम्बर को जिदा पर इब्न का अधिकार हो गया। ८ जनवरी १९२६ को इब्न हजाज का बादशाह तथा नज्द का सुल्तान बन गया और उसने इन दोनों प्रदेशों को एक करके अपने राज्य का नया नाम 'सौदी अरब" रखा। ७ जून १९२६ को मक्का में इस्लामी कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और बहुत से मुस्लिम राज्यों ने इब्न के सौदी अरब राज्य को मान्यता प्रदान कर दी।

इंगलैण्ड और सौदी अरब के मध्य जोर्डन और सौदी अरब की सीमा के कारण सम्बन्ध स्थापित न हो सके। इसका प्रमुख कारण यह था कि इब्न को जोर्डन के शासक अब्दुल्ला से, जिसे इंगलैण्ड ने शासक बनाया था घृणा थी। परन्तु फिर भी २० मई १९२७ को जिदा की संधि से जार्डन और सौदी अरब के मध्य समझौता हो गया और इसके परिणाम स्वरूप इंगलैण्ड तथा सौदी अरब के सम्बन्धों में भी सुधार हो गया। १९३४ में यमन और सौदी अरब के मध्य विवाद उठ खड़ा हुआ परन्तु दोनों देशों के बीच एक अनाक्रमक समझौता हो जाने से विवाद समाप्त हो गया।

सौदी अरब के इतिहास की एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटना तेल की खोज है।

२६ मई १९३३ को अमेरिका को ६० वर्ष के लिये उत्तरी सौदी अरब में तेल निकालने की सुविधाएं प्रदान की गई जिसके परिणाम स्वरूप केलीफोर्निया ऑयल कम्पनी की स्थापना की गई जो १९३४ में टेक्सेज कम्पनी में विलीन हो गई और उसका नाम अरे बियन अमेरिकन ऑयल कम्पनी (ARAMCO) पड़ गया।

द्वितीय महायुद्ध के सूत्रपात से सौदी अरब की स्थिति गम्भीर हो गई परन्तु इब्न ने तटस्थता की घोषणा की। इसके उपरान्त भी उसने मित्र राष्ट्रों को हर तरह की सुविधाएँ प्रदान की। युद्धकाल में अमेरिका ने इब्न को अत्यधिक आर्थिक सहायता प्रदान की। सौदी अरब ने इस सहायता के बदले में अमेरिका की तेल कम्पनी के पास ही हवाई अड्डे बनाने की स्वीकृति प्रदान की। याल्टा सम्मेलन के बाद, राष्ट्रपति रूजवेल्ट के व्यक्तिगत वार्तालाप करने के बाद १ मार्च १९४५ को सौदी अरब ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। अप्रैल १९४५ में उसने सनफ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लिया तथा संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया।

**द्वितीय महायुद्ध के बाद**

१९५२ में मिश्री क्रान्ति ने सौदी अरब को काफी प्रभावित किया। वसे अन्य अरब राज्यों की भांति वह भी फिलस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना का विरोधी था और अरब संघ का सक्रिय सदस्य भी बन गया था परन्तु मिश्री क्रान्ति द्वारा प्रतिपादित अरब एकता के कारण सौदी अरब के राजनीतिज्ञों में मतभेद उत्पन्न हो गया। कर्नल नासर के व्यक्तित्व ने युवराज (सौदी अरब के) का मन मोह लिया और वे मिश्र के साथ कदम मिला कर चलने की बात पर विचार करने लग गये। इब्न इस प्रकार की नीति के पक्ष में नहीं है। हालांकि उन्हें कर्नल नासर से कोई विशेष शिकायत भी नहीं है। इराक की क्रान्ति का भी सौदी अरब पर काफी असर पड़ा है। साम्यवाद के प्रसार से भी उसे चिन्ता है क्योंकि सौदी अरब में इब्न की तानाशाही हुकूमत है। इस समय उसकी नीति अरब राज्यों की एकता, एशिया तथा अफ्रीका के देशों के साथ सहयोग पश्चिम तथा सोवियत संघ—दोनों के साथ मैत्री पूर्ण व्यवहार, अल्जीरिया के स्वतन्त्रता संघर्ष का समर्थन आदि है। एक तरह से उसकी नीति भारत की विदेश नीति के काफी निकट है। इतना होते हुए भी उसमें अरब राष्ट्रवाद के तत्व सक्रिय है।

## (६) ईरान

मध्य पूर्व की राजनीति में ईरान का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस्लाम धर्म का अनुयायी होते हुये भी ईरान अरब राज्यों से भिन्न है। क्योंकि अरब लोग कट्टर सुन्नी हैं जबकि ईरानी लोग शिया हैं। इसके अतिरिक्त ईरान तेल का भंडार है। भौगोलिक दृष्टि से भी ईरान का काफी महत्व है क्योंकि यह रूस की सीमा पर स्थित है। १९०७ की एंग्लो रशियन संधि के द्वारा इंगलैंड तथा रूस ने ईरान को अपने अपने प्रभाव क्षेत्रों में बाट लिया था।

प्रथम महायुद्ध के अन्त में सम्पूर्ण ईरान ब्रिटिश सत्ता के अधिकार में था और ब्रिटेन की इच्छा इस भाग को संरक्षित प्रदेश बनाने की थी। इसी कारण पेरिस शान्ति सम्मेलन में ईरानी प्रतिनिधि मण्डल को कोई स्थान नहीं दिया गया। इसके पीछे एक कारण यह भी था कि १९१९ में ही ब्रिटेन ने काजर वंश के ईरानी शासक से एक सन्धि कर ली थी जिसके द्वारा ईरान ब्रिटिश साम्राज्य का एक रक्षित प्रान्त बन गया।

ईरान और ब्रिटेन की इस सन्धि से ईरानी लोग क्रोधित हो उठे और युवक सनातन रिजा खाँ के नेतृत्व में विद्रोह का बिगुल बज उठा। रिजा खाँ ने इस सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया। ईरानी मजलिस (लोकसभा) ने भी इस सन्धि को ठुकरा दिया। फरवरी १९२१ में रिजा खाँ ने राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की घोषणा की और वह स्वयं इस सरकार का प्रधान मंत्री बन गया। इसी साल राष्ट्रीय सरकार ने सोवियत रूस के साथ एक मैत्री सन्धि की जिसके अनुसार रूस ने १९०७ की सन्धि से प्राप्त ईरानी अधिकारों का परित्याग कर दिया। इस परिस्थिति में ब्रिटेन ने ईरान के साथ संघर्ष करना उचित नहीं समझा और उसने सन्तोष धारण कर लिया।

रिजा खाँ एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। १९२५ में ईरान की विधान सभा ने फारस (ईरान) के प्राचीन काजर वंश के शाह को अपदस्थ कर दिया तथा रिजा खाँ को शाह घोषित किया। इस प्रकार रिजा खाँ ईरान का शासक बन गया। फारस का नाम ईरान इसी साल में रखा गया था। रिजा खाँ के नेतृत्व में ईरान की अत्यधिक उन्नति हुई तथा विदेशी शक्तियों का प्रभुत्व समाप्त हो गया और ईरान सही अर्थों में एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। राजनीतिक क्षेत्र में ईरान अरब राज्यों से पृथक् ही रहा। हालांकि १९२६ में उसने तुर्की तथा अफगानिस्तान के साथ मैत्री सन्धियाँ सम्पादित की।

तेल की समस्या को लेकर इंगलैण्ड के साथ ईरान के सम्बन्धों में सुधार नहीं हो सका। १९२७ में दोनों देशों के बीच इस सम्बन्ध में एक सन्धि भी हुई परन्तु १९३२ में पुनः सम्बन्ध बिगड़ गये। ईरान ने एंग्लो ईरानियन आयल कम्पनी को दी गई सुविधाओं को रद्द कर दिया। इस पर ब्रिटेन ने ईरान की खाड़ी में अपने युद्ध पोत भेज दिये तथा राष्ट्र संघ में भी इस समस्या को रखा गया। परन्तु दोनों देशों की आपसी वार्तालाप के कारण विवाद का अन्त हो गया और आपस में समझौता हो गया जिसके अनुसार ईरान को तेल कम्पनी से प्राप्त होने वाले लाभ को बढ़ा दिया गया तथा ईरान ने कम्पनी को दी जाने वाली सुविधाओं की अवधि को ६० वर्ष तक बढ़ा दिया।

नाजी जर्मनी के साथ ईरान के सम्बन्ध घनिष्ट होते गये। जर्मनी ने ईरान की आर्थिक स्थिति सुधारने, उद्योग धन्धों को विकसित करने तथा कृषि में सुधार करने के सम्बन्ध में बहुत सहायता दी। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ में ईरान ने अपनी तटस्थता की घोषणा की परन्तु रिजा खाँ का झुकाव जर्मनी की तरफ था। जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया तो ईरान ने ब्रिटेन तथा रूस को ईरानी यातायात तथा अन्य

मार्गों का उपयोग करने का अधिकार देने से स्पष्ट मना कर दिया। इस पर मित्र राष्ट्रों ने ईरान पर आक्रमण कर दिया। युद्धकाल में ईरान एंग्लो अमेरिकन क्षेत्र तथा रूसी क्षेत्र में बँटा रहा। मित्र राष्ट्रों ने रिजा खाँ को पदत्याग करने को विवश किया और उसके पुत्र मोहम्मद रिजा को सितम्बर १९४१ में सिंहासन पर बैठाया जिसने २६ जनवरी १९४२ को ब्रिटेन तथा रूस के साथ संधि करली। संधि के अनुसार ईरान की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया गया तथा यह आश्वासन दिया गया कि युद्ध समाप्ति के बाद ६ महीनों के अन्दर अन्दर ईरान से विदेशी सेनाएँ हटाली जायेंगी। ब्रिटेन ने अपना वचन पूरा कर दिया परन्तु सोवियत रूस ने सेनाएँ हटाने से अस्वीकार कर दिया। मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में रखा गया। परन्तु रूस अपनी बात पर डटा रहा। आखिर काफी वाद विवाद के उपरान्त मई १९४६ में रूस ने अपनी सेना ईरान से हटाई।

ईरान के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण है। कुछ लोगों की धारणा है कि कर्नल नासर को इससे प्रेरणा प्राप्त हुई और स्वेज कम्पनी का राष्ट्रीयकरण किया गया। १५ मार्च १९५१ को ईरानी लोकसभा ने डा० मुसद्दिक को प्रधान मन्त्री बनाया जिसने तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया। इससे एंग्लो ईरानियन ऑयल कम्पनी ईरान की सम्पत्ति बन गई। डा० मुसद्दिक को साम्यवादी संस्था तुदेह अथवा कामगार दल से सम्बन्ध रखने के संदेह के कारण अपदस्थ कर दिया गया अथवा यह कहना अधिक ठीक रहेगा कि शाह के प्रधान सेनापति जनरल जहदी ने १९५३ में डा० मुसद्दिक की सरकार, जो कि पूर्ण रूप से तानाशाह बनती जा रही थी और जिसके द्वारा ईरानी राजतन्त्र का अस्तित्व खतरे में था, का तख्ता उलट दिया गया और उस पर अभियोग चलाया गया तथा ३ वर्ष के कारावास की सजा दी गई। इसके बाद ईरान अमेरिका के आर्थिक चंगुल में उलझता गया।

आधुनिक ईरान की नीति के प्रमुख सिद्धान्त है—पश्चिम का अनुकरण, बगदाद सन्धि ( जो अब समाप्त हो चुकी है ) की सक्रिय सदस्यता तथा ईरानी राष्ट्र की आर्थिक प्रगति। १९५६ में डा० मुसद्दिक को मुक्त कर दिया गया परन्तु अब उनका प्रभाव नष्ट हो गया है फिर भी कुछ लेखकों का विश्वास है कि ईरान का राष्ट्रवाद अभी काफी संगठित है और मुसद्दिक की शक्ति काफी सबल है। जो भी हो, ईरान सोवियत संघ का विरोधी तथा पश्चिम का एक वफादार साथी प्रमाणित हो चुका है। मध्य पूर्व में होते हुए भी, मध्यपूर्व की राजनीति, विशेषकर अरब इजरायल संघर्ष के प्रति वह उदासीन है।

मध्यपूर्व के प्रमुख राज्यों की घटनाओं का अध्ययन करने के बाद हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी कुछ विशेषताओं के कारण मध्यपूर्व को साम्राज्यवाद का शिकार बनना पड़ा था और आज मध्य पूर्व तीन पृथक पृथक शक्तियों के बीच उलझा हुआ है। ये शक्तियाँ निम्न हैं—(१) पश्चिम

निष्कर्ष

का साम्राज्यवाद ( २ ) साम्यवाद का आर्थिक समानवाद और (३) मिश्र का अरबवाद। इसके अतिरिक्त पृथक पृथक राज्यों के परस्पर विरोधी राष्ट्रीय हितों तथा आपसी झगड़ा के कारण भी मध्यपूर्व की स्थिति शोचनीय होती जा रही है। इसका परिणाम क्या निकलेगा—इस सम्बन्ध में भविष्यवाणी तो नहीं की जा सकती परन्तु मिश्र तथा इराक की क्रांतियां एवं इन क्रांतियों के परिणाम स्वरूप स्थापित शासनों की सफलता से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह दिन दूर नहीं जबकि विदेशी शक्तियों को—चाहे वह रूस हो या अमेरिका, का जबरदस्त शिकस्त खाना पड़ेगी और मध्य पूर्व के देश यदि एकता के बन्धन में नहीं भी बंध सके तो भी सही अर्थों में स्वतन्त्र अवश्य हो जायेंगे।

उत्तरी अफ्रीका के ट्यूनिसिया, मारक्को तथा लीबिया को विदेशी साम्राज्यवाद के जाल में उलझाये रखने के लिये कौनसा प्रयत्न नहीं किया गया था परन्तु सभी प्रयत्न असफल सिद्ध हुए। इन देशों को स्वाधीनता देनी ही पड़ी। इसी प्रकार अल्जीरिया को परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ने के लिये हर सम्भव साधन तथा प्रलोभन का सहारा लिया जा रहा है परन्तु हमारा अपना विश्वास है कि एक दिन विदेशी शक्तियों को अल्जीरिया के राष्ट्रवादी आन्दोलन के सामने घुटने टेकने ही पड़ेंगे।

मध्यपूर्व अर्थात् पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका के देशों का, सभ्यता और संस्कृति के प्रसार की आड़ में शोषण करना अब सम्भव नहीं है क्योंकि वह जमाना लद चुका है जबकि एशिया और अफ्रीका के जनमत में राजनीतिक चेतना जाग्रत नहीं हुई थी। आज एशिया जाग उठा है। अफ्रीका जाग उठा है। पश्चिम की शक्तियां अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए हमारा शोषण करने में कदापि सफल नहीं हो सकती। केवल आपसी सहयोग तथा सामूहिक कल्याण की नीति के द्वारा वे अपनी आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कर सकती है।

———

# पन्द्रहवां अध्याय

## पूर्वी एशिया का जागरण

### ( सुदूर पूर्व की समस्या )

पूर्वी एशिया का जागरण बीसवी सदी के विश्व इतिहास का एक क्रांतिकारी अध्याय, एक महत्वपूर्ण मोड तथा सीमा चिन्ह है। पश्चिमी साम्राज्यवाद के राजनीतिक अत्याचार तथा आर्थिक शोषण के भार से दबे हुए पिछडे तथा कमजोर एशियाई देशो की जनता का राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ में एक विशिष्ट स्थान रखता है। 'एशिया एशियावासियो का है" की जापानी हुंकार ने साम्राज्यवादी श्वेतागो के काले हृदया का आतंकित कर दिया था। जापानी पराजय के बाद भारत, ब्रह्मा, श्री लंका, हिन्दशिया तथा हिन्द चीन और मलाया की स्वाधीनता ने पश्चिमी साम्राज्यवाद का छिन्न भिन्न कर दिया है। एक महान शक्ति के रूप मे साम्यवादी चीन का उत्थान पश्चिमी गुट के प्रभाव पर एक प्राणघातक प्रहार है जिसके बचाव का साधन ढूंढने में उसकी सम्पूर्ण सम्पदा और सामर्थ्य लगी हुई है। इन सब बाता को समझने के लिय पूर्वी एशिया का, विशेष कर चीन और जापान के इतिहास का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

**पूर्वी एशिया के इतिहास की विशेषताए**

१९१९ स १९५९ तक, पूर्वी एशिया के इतिहास की प्रमुख विशेषताए इस प्रकार है—(१) जापान का अप्रत्याशित उत्थान—जापानी साम्राज्य का विकास तथा प्रसार और १९४५ में नाटकीय ढग से उसका अवसान। (२) साम्राज्यवादी शक्तियो के विरुद्ध चीनी जनता का राष्ट्रीय आन्दोलन तथा धीरे धीरे अपने ध्येय की प्राप्ति में सफलता प्राप्त करना। दीर्घकालीन गृह-युद्ध के उपरान्त १९४९ मे साम्यवादी दल के नेतृत्व में सर्वप्रभुत्व सम्पन्न जनतांत्रिक गणराज्य की स्थापना। (३) पश्चिमी राष्ट्रो ब्रिटेन, फ्रास और हालैण्ड के विरुद्ध एशियाई देशा भारत इडानेशिया, श्री लका हिन्द चीन, बर्मा तथा मलाया का राष्ट्रीय आन्दोलन —साम्राज्यवादियो द्वारा स्वाधीनता संघर्ष का दमन और एशियाई जनता की विजय (४) प्रथम महायुद्ध के उपरान्त, पूर्वी एशिया म जापान, अमेरिका, रूस और ब्रिटेन के आपसी हितो में संघर्ष—जापान का

जर्मनी की तरफ झुकाव और एशिया के लिये नूतन व्यवस्था की जापानी घोषणा। और पश्चिमी देशों द्वारा जापानी युद्धाधिकारियों को सन्तुष्ट करने का असफल प्रयत्न। अन्तिम विशेषता है द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त साम्यवादी प्रभाव की वृद्धि और पूंजीवादी अमेरिका द्वारा उसके अवरोध का प्रयत्न।

## (१) चीन की कहानी

उन्नीसवीं सदी के प्रथम अर्द्धांश तक, चीन "रमणीय एकान्तवास" (Splendid Isolation) का शान्तिपूर्वक उपभोग करता रहा और पश्चिम के लालुप साम्राज्यवादी तत्वों के सम्पर्क से दूर रहा। परन्तु यूरोप के सभ्य राष्ट्रों ने अकारण ही शक्ति प्रदर्शन द्वारा चीन के विशाल एवं व्यापक सामुद्रिक तट का द्वार उन्मुक्त करके ही विश्राम लिया।

**चीन में साम्राज्यवादियों का प्रवेश**

सन् १६ वीं शताब्दी में, पुर्तगालियों ने मकाओ द्वीप में अपनी व्यापारिक कोठियां स्थापित करके चीन से व्यापार करना शुरू कर दिया था और कैंटन में अंग्रेज, डच तथा स्पेनिश भी बस गये थे परन्तु इन लोगों की स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी। इन्हें चीनी भूमि पर नहीं रहने दिया जाता था और किसी प्रकार की व्यापारिक सुविधाएं भी नहीं दी गई। इतना ही नहीं, बल्कि इन्हें बुरी तरह से अपमानित भी किया जाता था। यूरोपियनों की भांति रूस ने भी चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने का प्रयत्न किया था और वह एक सन्धि करने में भी सफल रहा परन्तु सन्धि की शर्तें इतनी कठोर थीं कि रूसी व्यापार का अखाड़ा जम नहीं सका।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक नई योजना तैयार की। चीन के लोगों को अफीम का नशा करना सिखाया और भारत से चीन को अफीम निर्यात किया जाने लगा। चीनी सरकार मादक अफीम के बुरे परिणामों से चिन्तित हो उठी और उसने अफीम के व्यापार का निषेध कर दिया तथा इस नियम का उल्लंघन करने वालों को कठोर सजा देने की घोषणा की। इससे ब्रिटिश सरकार को चीन से युद्ध छेड़ने का बहाना मिल गया और फलस्वरूप अफीम युद्ध (१८३९-४२) लड़ा गया। मध्य कालीन अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित चीनी सेना आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित ब्रिटिश सेना का सामना न कर सकी और लाचार होकर २९ अगस्त १८४२ को चीन ने इंगलैण्ड के साथ नानकिंग की सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार पांच चीनी बन्दरगाहों—कैंटन, अमोय, फूचो, निगपो और शंघाई, को अंग्रेजी व्यापारियों के लिये उन्मुक्त कर दिया गया तथा हांगकांग का द्वीप इंगलैण्ड को सौंप दिया गया। इस प्रकार सर्व प्रथम इंगलैण्ड ने चीन से सम्बन्ध स्थापित किया। धीरे धीरे अन्य यूरोपियन राज्यों ने भी चीन के साथ व्यापारिक सन्धियाँ कीं। १८४४ में अमेरिका ने भी सन्धि कर ली। इस सन्धि में एक नवीनता थी—क्षेत्रातीत अधिकार (Extra—territorial Jurisdiction) अर्थात् विदेशी अमेरिकन नागरिकों के अभियोगों की सुनवाई का अधिकार चीन को न

होकर अमरिका को होगा। यह चीन की सार्वभौम सत्ता पर एक प्रहार था। परन्तु फिर भी चीन अपनी उन्नति की तरफ ध्यान न दे सका, अपनी सैनिक शक्ति का आधुनिकरण नही कर सका।

१८५६ में, एक फ्रेंच रोमन कैथोलिक पादरी को चीनी सरकार ने प्राण दण्ड की सजा दी। इंगलण्ड और फ्रांस को युद्ध का बहाना मिल गया और उन्होंने युद्ध छेड दिया। चीन पुनः पराजित हुआ और १८६० में उसे दूसरा बार लाचार होकर सन्धि करनी पडी। इस सन्धि के अनुसार चीन के ११ बन्दरगाहों को (पहल पाच के अतिरिक्त) विदेशियों के लिये खोल दिया गया तथा यांगत्सी नदी को भी विदेशी व्यापार के लिये उन्मुक्त कर दिया गया। राज्यातीत अधिकार को और अधिक उदार बना लिया गया। युद्ध के समय में रूस ने आमूर नदी के उत्तर के चीनी प्रान्त और उसूरी के पूर्व के प्रदेश अपने अधिकार में कर लिये। चीन को इन प्रान्तों पर रूसी अधिकार को मान्यता देनी पडी। १८७६ में मार्गरी हत्याकांड की आड में यूरोपियन देशों ने चीन से और अधिक सुविधाएं प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

चीन में विदेशी साम्राज्यवाद के प्रसार में जापान भी अपने प्रलोभन को न रोक सका। १८९४-९५ में चीन जापान का युद्ध हुआ जिसमें चीन पराजित हुआ और उसे शिमानोसेकी की सन्धि पर हस्ताक्षर करना पडा। इसके अनुसार लिआओतुंग का प्रदेश फारमोसा का द्वीप, पेस्कादोरस द्वीप समूह पर जापान का अधिकार मान लिया गया तथा कोरिया को जापानी प्रभाव के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया। इसके पूर्व कोरिया चीन का एक अंग था। जापान के 'पीत साम्राज्यवाद' से घबडा कर रूस, जर्मनी और फ्रांस ने जापान को चेतावनी दी कि वह लिआओतुंग (मंचूरिया का प्रदेश) पुनः चीन को लौटा दे। जापान ने स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए सुझाव मान लिया।

रूस ने चीन को लिआओतुंग दिलवाकर चीनी मित्रता प्राप्त कर ली। जिसके परिणाम स्वरूप मंचूरिया में रूस को रेलवे लाइन बनाने का अधिकार मिल गया। धीरे धीरे पेकिंग सरकार रूसी प्रभाव में आती गई। १८९७ में दो जर्मन पादरियों की हत्या की ओट में जर्मनी ने चीन से बल पूर्वक किंग ताओ बन्दरगाह तथा कियाऊ चाऊ की खाडी पर अपना अधिकार कर लिया और शिआओ (शातुंग) प्रदेश में रेलवे बनाने तथा खनिज पदार्थों के उपयोग का एकाधिकार भी प्राप्त कर लिया।

चीन में विदेशी साम्राज्यवाद के प्रसार के विरुद्ध विद्रोह उठ खडा हुआ जिसे मुष्टि विद्रोह (Boxer—Rising) कहा जाता है। इस विद्रोह में चीनी जनता ने विदेशियों को मौत के घाट उतारना शुरू कर दिया। जर्मन और जापानी राजदूतों की भी हत्या कर दी गई। इस पर विदेशी शक्तियों ने संयुक्त रूप से कार्यवाही की और विद्रोह का दमन किया गया तथा चीन से अनेक नूतन सुविधाएँ प्राप्त की गई। परन्तु इस घटना से चीन का इतिहास बदल गया। चीन का नव जागरण हुआ और १९११ में क्रान्ति हो गई।

८ नवम्बर १६११ को चीन के मचू वश के अन्तिम सम्राट ने राजसिंहासन त्याग दिया। पकिंग मे चीनी जनतन्त्र की स्थापना की गई और सेनापति युआन शी-काई प्रधान मन्त्री चुने गये। युआन शी काई एक महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति था। उसने विद्रोहियो का दमन शुरू कर दिया जिसके प्रत्युत्तर में नानकिंग में डा० सन यात सेन के नेतृत्व में एक सामयिक सरकार की स्थापना की गई। डा० सेन चीन की एकता के समर्थक थे। अत फरवरी १६१२ में पकिंग और नानकिंग में सन्धि हो गई। युआन शी काई सम्पूर्ण चीन के राष्ट्रपति मनोनीत किये गये।

**प्रथम महायुद्ध और चीन**

प्रथम महायुद्ध मे चीन तटस्थ ही रहा। इसका एक कारण चीन की आतरिक स्थिति थी। १६१३ में राष्ट्रपति युआन शी काई ने कोमिताग अथवा राष्ट्रीय दल (डा० सेन का दल) को अवैधानिक करार दे दिया और अपने स्वार्थ के हेतु राजतन्त्र की स्थापना का तथा स्वय को सम्राट घोषित करने के प्रयत्न में लग गया। इसमे चीन में विद्रोह उठ खडा हुआ। दूसरा कारण जापान की नीति थी। जापान नहा चाहता था कि चीन युद्ध में सम्मिलित हो क्योकि ऐसा करने से चीन का शान्ति सम्मेलन म अपना मामला रखने का अवसर मिल जाता। यह जापान के हित के विरुद्ध था क्योकि जापान चीन को अपने प्रभाव क्षेत्र में रखना चाहता था। उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड दिया था और चीन में स्थित जर्मन क्षेत्रो पर अधिकार कर लिया। १६१५ में जापान ने चीन के सामने "इक्कीस मागे" रखी। इन मागो को लेकर दोनो राष्ट्रो के बीच झगडा उत्पन्न हो गया परन्तु जापान की शक्ति के आगे चीन को झुकना पडा और उसने उपरोक्त मागो पर आधारित दो सन्धियो पर हस्ताक्षर करके अपना पीछा छुडाया। १६१६ में राष्ट्रपति युआन शी काई की मृत्यु हो गई और ली युआन हुग राष्ट्रपति बने। कोमिताग के प्रति उसकी नीति भी ठीक नही रही जिसके परिणाम स्वरूप कटन मे डा० सनयात सेन की अध्यक्षता मे ससदीय सरकार की स्थापना की गई। एक बार पुन चीन, उत्तर और दक्षिण की सरकारों में विभाजित हो गया। इसी समय (१६१७) मित्र राष्ट्रो ने चीन पर दबाव डाला कि वह जर्मनी और आस्ट्रिया हगरी के विरुद्ध युद्ध घोषणा करे। अमेरिका ने जापान को भी कहा कि वह चीन को युद्ध घोषणा करने के लिये कहे। परिणाम स्वरूप अगस्त १६१७ में पकिंग सरकार ने युद्ध घोषणा कर दी। कटन सरकार ने भी युद्ध घोषणा कर दी।

महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त, चीन को भी पेरिस शान्ति सम्मेलन में अपना प्रतिनिधि मडल भेजने का निमत्रण मिला। इस सम्बन्ध मे चीन की दोनो सरकारो के बीच सुलह हो गई और एक मिलाजुला प्रतिनिधि मडल परिस सम्मेलन म भेजा गया।

**पेरिस सम्मेलन और चीन**

चीनी प्रतिनिधियो ने न केवल जापानियो के बल्कि उन सभी विदेशी शक्तियो के विरुद्ध जो चीन का शोषण कर रह थे अपोर की ओर उनके चीन से हट जाने की प्रार्थना की। इसमे विदेशी

गत्तिया मतक हो गई । जापान ने चीन के जमन प्रभाव वर्ती क्षेत्र शानुग पर अपना दावा प्रस्तुत किया । इस पर चान जापान का वाद विवाद उठ खडा हुआ । राष्ट्रपति विलसन ने कुछ समय तक चीन का समर्थन किया परन्तु लॉयड जार्ज और क्लामा शा ने जोर देते हुए उससे कहा कि गुप्त सधियो के कारण वे जापान का समर्थन करने को मजबूर है । अत विल्सन को झुक जाना पडा और चीनी विरोध के उपरान्त जापान को चीन स्थित भूतपूर्व जर्मन क्षेत्रो का अधिकार प्राप्त हो गया । चीन न सधि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया । उसने सेंट जर्मेन की सधि पर हस्ताक्षर करके अपने लिये राष्ट्र सघ की सदस्यता अवश्य प्राप्त कर ली ।

शाति सम्मेलन में चीन की असफलता की सूचना पाते ही सम्पूर्ण चीन मे जापान के प्रति तीव्र विद्रोह उठ खडा हुआ । छात्राओ ने इस विद्रोह में प्रमुख भाग लिया । व्यापारियो और बकरो ने भी इसमें सक्रिय भाग लिया । जापानी माल का बहिष्कार करने की घोषणा की गई । विद्रोहियो ने पेकिंग सरकार के जापान समर्थक मत्रियो तथा कर्मचारियो पर घातक हमले किये । इससे जापान चिंतित हो उठा क्योकि उसके विदेशी व्यापार पर इसका बुरा प्रभाव पडा । अत उसने शातुग प्रदेश पुन चीन को लौटाने के लिय वार्तालाप शुरू किया परन्तु पेकिंग सरकार ने जापानी प्रस्ताव को ठुकरा दिया और विदेशी शक्तियो से आर्थिक सहायता की अपील की जिसमें उसे सफलता नही मिली । इस समय पर (१९२१) अमेरिका के राष्ट्रपति ने वाशिगटन सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया । इस सम्मेलन का वास्तविक उद्देश्य नौसेना का निशस्त्रीकरण तथा सुदूर पूर्व की समस्याओ का अन्तर्राष्ट्रीय समाधान करना था ।

नवम्बर १९२१ में शुरू होने वाले वाशिगटन सम्मेलन को बुलाने के कई प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष कारण थे । पेरिस शान्ति व्यवस्था द्वारा सुदूर पूर्व का जो हल किया गया था उसके कारण जापान और अमेरिका के मध्य तनाव उत्पन्न हो गया था । वैसे १९०५ से ही जब जापान ने रूस को पराजित किया था, वाशिगटन

वाशिगटन सम्मेलन प्रशासन टोकियो की गतिविधियो का सन्देह की दृष्टि से देखना बुलाने के कारण था रहा था । १९२० में अमेरिका और कनाडा को यह विश्वास होने लग गया था कि जमन साम्राज्यवाद को पराजित करने में जापान ने अपेक्षाकृत नगण्य सहयोग ही दिया और वह एशिया में अपने व्यापार-वाणिज्य तथा प्रभाव को बढाने तथा चीन का जापानीकरण करने में ही लगा रहा । यही कारण था कि अमरिका ने जापान की इक्कीस माँगो तथा शातुग आधिपत्य का विरोध किया था । परन्तु अमेरिका और जापान के मध्य तनाव का वास्तविक कारण शातुग नहीं था बल्कि याप (Yap) द्वीप था । यह पश्चिमी कैरोलिन के पास एक छोटा सा द्वीप था और जापान ने अभी हाल ही इस पर अधिकार किया था । इसके पूर्व यह जमन आधिपत्य में था । इस द्वीप का महत्व इसके सबमेरीन केबल Submarine Cable) केन्द्र होने म था । जर्मन डच पद्धति के द्वारा यह नादरलैण्ड टापुओ तथा शघाई को

मिलाने का काम करता था। दूसरी तरफ यह समुद्री तार पद्धति के द्वारा ट्राम पेसिफिक अमेरिकन केबल जो कि गाम (Guam) से मनीला को मिलाता था सबधित था। विल्सन ने इस द्वीप के अन्तर्राष्ट्रीयकरण पर जोर दिया था परन्तु पेरिस सम्मेलन ने इस आदिष्ट द्वीप के रूप में जापान को सौंप दिया।

वाशिंगटन सम्मेलन को बुलाने का दूसरा प्रमुख कारण नाविक शक्ति को सीमित करना था। महायुद्ध के उपरान्त ग्रेट ब्रिटेन, जापान और अमेरिका अपनी आय का एक बड़ा हिस्सा नाविक शक्ति के विकास पर व्यय कर रहे थे। ब्रिटेन और जापान इस व्यय का सहन करने में असमर्थ थे। अतः वे नाविक शक्ति के सीमन अथवा निःशस्त्रीकरण के पक्ष मे थे। अमरिका, यद्यपि व्यय को सहन करने में समर्थ था परन्तु वह भी नाविक प्रतियोगिता को समाप्त करना चाहता था क्योंकि वह युद्ध के पक्ष मे नही था और शांति की स्थापना के लिये निःशस्त्रीकरण आवश्यक था।

तीसरा कारण अमरिका की एंग्लो-जापानी सधि (१६०२) के प्रति अरुचि थी। युद्ध काल मे एंग्लो जापानी सहयोग तथा पेरिस सम्मेलन में ब्रिटेन द्वारा जापान के समर्थन, ने अमेरिका को विश्वास दिला दिया कि इस सधि का उद्देश्य एशिया में जापानी नीति को बल प्रदान करना है। १६२१ में यह सधि समाप्त होने वाली था परन्तु १६२० मे सधि की पुनर्स्थापना के लिये दोनो दशो मे वार्तालाप शुरू हो चुका था। अमेरिका को यह बात पसन्द नही थी। हालाकि ब्रिटेन ने यह आश्वासन दिया था कि अमेरिका और जापान के मध्य यदि युद्ध छिड़ा तो सधि प्रभावकारी नहीं होगी। ब्रिटेन भी इस समय इस प्रश्न पर उलझन में पडा हुआ था। उसे यह तय करना था कि नई सधि के द्वारा प्रशान्त महासागर म वह जापानी हितो का समर्थन कर या चीन के प्रति 'उन्मुक्त द्वार' (Open Door) की नीति तथा चीन की अखण्डता का समर्थन कर।

सम्मेलन बुलाने का एक महत्वपूर्ण कारण चीन और जापान के आपसी विवाद का निपटारा तथा सुदूरपूर्व की अन्य समस्याओ का समाधान करना था। अतः ११ अगस्त १६२१ को अमेरिकन राष्ट्रपति ने ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास, इटली जापान, चीन, बेलजियम, नीदरलण्ड और पुर्तगाल को, ११ नवम्बर १६२१ को वाशिंगटन में एक सम्मेलन में भाग लेने के लिये निमंत्रित किया।[1] रूस को निमंत्रित नहीं किया गया।

नवम्बर १६२१ में वाशिंगटन सम्मेलन शुरू हुआ और ६ फरवरी १६२२ को समाप्त हुआ। सम्मेलन में सात सधियो पर हस्ताक्षर किये गये। दो सधियां नौ शक्ति के निःशस्त्रीकरण से सम्बधित थी और पाच सधियां प्रशान्त तथा सुदूर पूर्व की समस्या से सबधित थी। इसके अतिरिक्त, सम्मेलन के बाहर परन्तु

**वाशिंगटन सम्मेलन के परिणाम** उपस्थित राष्ट्रो के द्वारा दो और सधियो पर हस्ताक्षर किये गये। प्रथम यानुग के सम्बन्ध में थी और दूसरी याप द्वीप के

---

१—बेलजियम, नीदरलैण्ड तथा पुर्तगाल को ३ अक्टूबर को निमन्त्रण भेजा गया था।

सम्बन्ध मे । निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित संधियों का उल्लेख षष्ठ अध्याय में किया जा चुका है।

१३ दिसम्बर १९२१ को, इंगलैण्ड, फ्रांस, जापान और अमेरिका ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसे चार राष्ट्रों की प्रशान्त संधि कहा जाता है। हस्ताक्षर कर्ताओं ने वचन दिया कि प्रशान्त महासागर में स्थित उनके उपनिवेश द्वीपों के सम्बन्ध में वे एक दूसरे के अधिकारों का सम्मान करेंगे। प्रशान्त क्षेत्र में उठने वाले ऐसे

**चार राष्ट्रों की प्रशान्त संधि**

किसी विवाद जिससे उनके अधिकारों पर प्रभाव पड़ने की आशंका हो तो सभी सम्बंधित देशों का एक संयुक्त सम्मेलन किया जायेगा। सम्बंधित देशों के अतिरिक्त किसी अन्य देश द्वारा प्रशान्त क्षेत्र में आक्रमणकारी कार्यवाही करने पर, जिसके कारण उनके अधिकारों पर प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो, तो सभी देश मिलकर विचार करेंगे। संधि की अवधि १० वर्ष रखी गई। इसके साथ ही आंग्ल जापानी संधि (१९११) रद्द कर दी गई। इस संधि के अतिरिक्त चार राष्ट्रों के बीच एक दूसरी संधि भी की गई जिसमे बहुत से शब्दों की व्याख्या मात्र है।

६ फरवरी १९२२ को सम्मेलन में सम्मिलित सभी देशों ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसे 'नौ राष्ट्रों की संधि' (Nine Power Treaty) कहा जाता है। इसका मुख्य ध्येय चीन में उन्मुक्त द्वार की नीति का पालन करना था। हस्ताक्षर कर्ताओं ने वचन दिया कि (१) वे चीन की प्रभुसत्ता, स्वाधीनता, प्रादेशिक तथा प्रशासनिक अखण्डता का आदर करेंगे, (२) चीन में समान व्यापारिक

**नौ राष्ट्रों की संधि**

सुविधाओं के सिद्धान्त को बनाये रखेंगे तथा उसे प्रोत्साहित करेंगे, (३) ऐसा कोई कदम नही उठाना या ऐसी कार्यवाही जिसका ध्येय हित सम्बन्धी क्षेत्रों की स्थापना हो, का समर्थन न करना तथा चीनी भूमि के प्रदत्त भागों में आपसी सुविधाओं की व्यवस्था करना, (४) चीनी रेलवे तथा तटकर के सम्बन्ध में किसी प्रकार के अनुचित भेद भाव को प्रोत्साहित नही करना, (५) भावी युद्ध में यदि चीन तटस्थ रहे तो उसकी तटस्थता के अधिकारों का सम्मान करना और (६) संधि की शर्तों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध मे हस्ताक्षर कर्ताओं के मध्य स्पष्ट पत्र व्यवहार करना।

नौ राष्ट्रों के बीच एक और संधि भी की गई जिसके द्वारा चीन को तटकर बढ़ाने की स्वीकृति दे दी गई तथा विदेशी व्यापार की पूंजी का ५% मुनाफा चीन को दिलवाने की व्यवस्था की गई। इस संधि को 'नौ राष्ट्रों की तटकर संधि' कहा जाता है।

अमेरिकन लोगों की दृष्टि मे नौ राष्ट्रों की संधि, उन्मुक्त द्वार नीति (Open Door Policy) की विजय थी जब कि आशावादियों की दृष्टि में यह संधि 'चीन के लिए मैग्ना चार्टर' (Magna Charter for China) थी। परन्तु इसका

अपनी सीमायें थी। सधि में किसी प्रकार की अनुशास्तियां या समावेश नहीं किया गया था और इसका अस्तित्व मुख्य रूप से सम्बंधित शक्तियों के सद्व्यवहार तथा श्रद्धा पर आधारित था। बुस ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है।[1] कि यह एक आत्म निग्रह का उदघोषणा मात्र थी न कि सामूहिक सुरक्षा के लिये एक सधि थी। क्योंकि यह पूर्ण रूप से श्रद्धा पर निर्भर थी और कोई शक्ति किसी प्रकार की कार्यवाही करने को बाध्य नहीं था। इसी प्रकार अन्य लेखकों ने भी इस सधि की आलोचना की है।

**चीन जापानी सधि**

४ फरवरी १६२२ को सम्मेलन के बाहर चीन और जापान के मध्य एक सधि हुई जिस पर अन्य देशों ने भी हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार जापान ने शातुग प्रदेश का पुन चीन को लौटाना स्वीकार कर लिया परन्तु इस शर्त के साथ कि सिंगताओ स्थित जापानी दूतावास, जापानी स्कूलों तथा मन्दिरों पर जापान का स्वामित्व रहेगा। सिंगताओ सिनान रेलवे की कीमत मिल जाने के बाद जापान रेलवे का भी सौंप देगा। शातुग क्षेत्र से समस्त जापानी सनिकों को हटा लिया जायगा। इस प्रकार शातुग प्रदेश पर चीन का अधिकार हो गया।

**अमेरिका-जापानी सधि**

११ फरवरी १६२२ को याप द्वीप के सम्बन्ध में जापान और अमरिका के मध्य एक सधि की गई। इसके अनुसार याप द्वीप में अमरिका को प्रवेश सम्बन्धी सुविधाएं प्राप्त हो गई तथा उस याप द्वीप का गुआम से जोडने के लिये समुद्री तार की लाइनें तथा आकाशवाणी केन्द्र स्थापित करने का अधिकार मिल गया। इस सधि के परिणाम स्वरूप अमरिका और जापान के मध्य याप द्वीप की समस्या को लेकर जो तनाव उत्पन्न हो गया था, वह समाप्त हो गया जिसका सुदूरपूर्व की शान्ति पर अच्छा प्रभाव पडा।

**वाशिंगटन सम्मेलन का मूल्यांकन**

वाशिंगटन सम्मेलन के निर्णयों का अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया। पूर्वी एशिया के इतिहास मे प्रथम महायुद्ध के उपरान्त यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। पूर्वी एशिया में शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना मे पेरिस शान्ति सम्मेलन असफल रहा था। वाशिंगटन सम्मेलन इस दिशा म सफल रहा और पूर्वी एशिया में शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना हो गई। इसके अतिरिक्त चीन की प्रादेशिक अखण्डता को कायम रखने तथा जापान के अत्यधिक बढते हुए प्रभाव को सीमित करने में भी सम्मेलन सफल रहा। इसके परिणामस्वरूप इगलैण्ड और अमेरिका तथा जापान और अमरिका के मध्य उत्पन्न सन्देह और तनाव का समाप्त करने में भी वाशिंगटन सफल रहा। सधियों से एक बात स्पष्ट हो गई कि यदि भविष्य म जापान ने एशियाई भूमि पर

---

1—Claude A Buss— The Far East

आक्रामक कार्यवाहियां जारी रखी तो इंगलैण्ड केवल एक दर्शक मात्र नहीं रह जायेगा।

सम्मेलन से चीन को बहुत अधिक लाभ हुआ। चीन को अपनी स्थिति सुधारने के लिये एक और अवसर प्रदान किया गया। सम्मेलन से सम्बंधित सदस्य देशों ने चीन को आश्वासन दिया कि वे चीन की स्वतन्त्र कार्यवाहियों में किसी प्रकार का अड़चन डालने की दृष्टि से चीन की तत्कालीन हालतों का लाभ नहीं उठायेंगे। इस प्रकार चीन को एक प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र की हैसियत से विश्व की गतिविधियों में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो गया। श्री विनाके ने लिखा है कि इससे चीन को लाभ ही हुआ क्योंकि चीन जो कुछ पहले खो चुका था उससे और अधिक खोने का भय नहीं रहा।

परन्तु वाशिंगटन सम्मेलन में कुछ कमजोरियां भी थी। वैसे आर्थिक सुअवसर की समानता की नीति का पालन किया गया था और जापानी सद्भावनाओं सहित इसकी वैधानिक परिभाषा भी प्रस्तुत की गई परन्तु फिर भी, अमेरिका और ब्रिटेन ने सतर्कता के साथ अपने विशेष हितों की सुरक्षा की। अर्थात महान शक्तियों ने शताब्दियों पूर्व नाजायज तरीके से की गई सधियों से उपलब्ध विशेषाधिकारों के परित्याग करने की चेष्टा नहीं की। सम्मेलन ने चीन की यथास्थिति को बनाये रखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। चीन के विदेशी शक्तियों द्वारा शासित क्षेत्रों को पुनः चीन को लौटाने के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चर्चा नहीं की गई। सम्मेलन के सभी निर्णय सदस्य राष्ट्रों की सद्भावनाओं पर निर्भर करते थे क्योंकि ऐसा कोई तन्त्र नहीं था, जिसकी ओर से शर्तें लागू की जा सकें और शर्तों का उल्लंघन करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध किसी प्रकार का कदम उठाया जा सके।

कुछ क्षेत्रों में यह विचार प्रगट किया गया कि वाशिंगटन सम्मेलन जापान के लिये एक कूटनीतिक तथा राजनीतिक पराजय था क्योंकि इंगलैण्ड और अमेरिका के दबाव के कारण ही उसे शान्तुग प्रदेश चीन को लौटाना पड़ा और इंगलैण्ड तथा अमेरिका के मुकाबले में कम अनुपात वाली नौ योजना स्वीकार करनी पड़ी। परन्तु यह अतिशयोक्ति पूर्ण है। जापान ने इसे न तो किसी विदेशी दबाव के कारण और न स्वेच्छा से स्वीकार किया था। वास्तविक कारण यह था कि जापानी जनता युद्ध तथा सामरिक वातावरण से उकता चुकी थी और शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की तरफदार बन चुकी थी। हां युद्ध प्रिय लोग अवश्य ही असन्तुष्ट हो गये और वे वाशिंगटन सम्मेलन को घृणा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे थे क्योंकि उनकी धारणा थी कि इससे जापान के सम्मान को ठेस पहुँचाई गई है। चीन में जापानी हितों को समाप्त करने की साजिश की गई है। अन्त में शान्ति एवं उत्सुकता के साथ उस अवसर की प्रतीक्षा करने लगे जबकि सम्मेलन के निर्णयों को ताक पर रखकर जापानी साम्राज्यवाद की नीति को लागू किया जा सके।

फिर भी, सम्मेलन की सफलता से इनकार नहीं किया जा सकता। यह इसी का परिणाम था कि पूर्वी एशिया में आगामी दस वर्षों तक शान्ति कायम रही। एक लेखक ने लिखा है — 'सुदूरपूर्व में यथाहृत विरासत में प्राप्त विरोधी तत्वों के उपरान्त भी इन

सधियों ने उस हद तक शान्ति बनाए रखी जिस हद तक किसी भी लिखित पुर्जे द्वारा सम्भव हो सकती है।" ई० एच० कार ने सम्मेलन के परिणामों की चर्चा करते हुए लिखा है—'यह सम्मेलन अत्यधिक सफल रहा क्योंकि इससे प्रशान्त क्षेत्र में युद्ध पूर्व जैसा सतुलन कायम हो गया।" निशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में सम्मेलन द्वारा किये गये प्रयत्नों का मूल्यांकन षष्ठ अध्याय में किया जा चुका है। इन सब विचारों से परिचित होने के बाद हम यही कह सकते हैं कि इससे चीन की स्थिति में सुधार अवश्य हुआ और यह चीन पर निर्भर था कि वह अपनी स्थिति को सुधारे।

अब हमें यह देखना है कि क्या चीन ने वाशिंगटन सम्मेलन द्वारा प्राप्त अवसर का लाभ उठाया या नहीं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि १९१६ में युआन शी काई की मृत्यु पर ली युआन हुंग चीन का राष्ट्रपति बना था। परन्तु उसे शीघ्र ही इस पद से अलग हो जाना पड़ा क्योंकि उत्तरी चीन के विविध सैनिक गवर्नरों (तुचनों) के मध्य पेकिंग सरकार को अपने अपने प्रभुत्व में लाने के लिये सघर्ष शुरू हो चुका था। उधर कैंटन में डा० सेन की पृथक सरकार की भी स्थापना हो चुकी थी।

**चीन का उत्तरी गृह युद्ध**

पेरिस शान्ति सम्मेलन के निर्णयों का चीन की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा और चीनी जनता का झुकाव कैंटन की कोमिताग सरकार की तरफ बढ़ता गया क्योंकि पेकिंग सरकार ने युद्ध काल में जापान की २१ मांगों को स्वीकार करके अपनी निर्बलता का प्रदर्शन कर दिया था। इन सब घटनाओं के परिणाम स्वरूप चीन में गृह युद्ध शुरू हो गया। मचूरिया के सैनिक नेता चांग त्सोलिन और डा० सेन ने गठबन्धन कर लिया परन्तु इस गठबन्धन को सफलता नहीं मिली। चांग को एक दूसरे सैनिक नेता वू पेई—फू ने पराजित कर दिया और केन्टन पर जनरल चेनचिउगमिग ने अधिकार कर लिया। डा० सेन शंघाई चले गये। वू पेई—फू ने ली युआन हुंग को पुन राष्ट्रपति बनाया। ली शान्ति पूर्ण तथा वैधानिक उपायों से चीन में एकीकरण के पक्ष में था परन्तु उसके समर्थक सैनिक नेता शक्ति के द्वारा ऐसा करना चाहते थे, फलस्वरूप ली को राष्ट्रपति पद छोड़ना पड़ा और एक सैनिक नेता त्साओ कुन को राष्ट्रपति बनाया गया। १९२४ में वू ने शक्ति के सहारे चीन का एकीकरण शुरू किया परन्तु चांगत्सोलिन ने अपनी पिछली पराजय का बदला लेते हुए उसे पराजित कर दिया।

उधर कैंटन सरकार की स्थिति भी बदल गई थी। १९२३ में डा० सेन पुन कैन्टन लौट आये थे। इस बार उनके साथ सोवियत सरकार का सलाहकार माइकेल बोरोडिन भी था। मार्च १९२१ को अपने एक प्रसिद्ध भाषण में डा० सनयात ने अपने दल के तीन प्रमुख सिद्धान्तों की घोषणा की थी। ये सिद्धान्त थे—(१) राष्ट्रवाद विदेशी सुविधाओं, सन्धि के दस्तावेज़ों, प्रभाव क्षेत्रों आदि का अन्त करना तथा चीनियों के द्वारा चीन का शासन। (२) प्रजातन्त्र—जनता की संविधान सभा के सदस्यों का

**कुओमितांग की प्रगति**

चुनने तथा वापस बुलाने (यदि उनका प्रतिनिधि उनकी इच्छाओं का प्रतिनिधित्व न करे) तथा कुछ विषयों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार देना। (३) डा० सेन के तीसरे सिद्धान्त का अभिप्राय सामाजिक न्याय अथवा जनता के भरण पोषण के साधनों का जुटाना था। ये तीनों सिद्धान्त साम्यवादी सिद्धान्तों के काफी निकट थे। यही कारण था कि रूस ने कुओमिंताग दल की सहायता करने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त एक और कारण था—वह यह कि रूसी सहायता के फलस्वरूप राष्ट्रवादी दल (कुओमिंताग) में साम्यवादियों की स्थिति के दृढ़ होने की आशा थी। डा० सेन ने रूसी सहायता इसलिये स्वीकार की थी कि उसे पश्चिमी देशों से सहायता मिलने की सम्भावना नहीं थी।

कुओमिंताग दल शीघ्र ही उन्नति की तरफ अग्रसर होने लगा। १९२४ में वाम्पाओ सैनिक संस्था की स्थापना की गई। इसके द्वारा राष्ट्रवादियों को सैनिक शिक्षा दी जाने लगी। वाम्पाओ संस्था का अधिष्ठता च्याग काई शेक था परन्तु अधिकांश शिक्षक रूसी थे। बाराडीन की सहायता से राष्ट्रवादी दल का भी पुनर्गठन किया गया और सरकार के साथ इसका सम्बन्ध घनिष्ठ कर दिया गया। रूसी प्रचारकों की देख रेख में सम्पूर्ण चीन में राष्ट्रवादी दल का प्रचार किया गया। मास्को में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया जहाँ हजारों चीनी युवक युवतियों को साम्यवादी सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती थी। इन सबके परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी दल एक प्रमुख शक्ति बन गया। १९२५ में डा० सनयात सेन की मृत्यु हो गई। परन्तु रूसी सलाहकारों की सहायता से, डा० सेन के विचारों का आदर की भावना के साथ प्रचार किया गया। हार्डी ने लिखा है 'एक स्थानीय और अनभिज्ञात सरकार के अध्यक्ष की संदिग्ध स्थिति से, वह राष्ट्रीय आकांक्षाओं के लिए जो सारे साम्राज्य में चीनी लोकमत को संगठित करने वाली एक चीज थी संगठन का प्रतीक बन गया।"

राष्ट्रवादी दल के अन्तर्गत साम्यवादी प्रभाव शीघ्र ही स्पष्ट हो गया। फरवरी १९२४ में शंघाई में जापानी मिलों के चीनी श्रमिकों ने हड़ताल कर दी और स्थिति गम्भीर हो गई जिसके साथ हिंसक आन्दोलन, तोड़ फोड़ और हत्या भी हुई। १४ मई को हड़तालियों द्वारा जबरदस्ती मिल में घुसने के प्रयत्न को विफल करने के सम्बन्ध में जापानियों को गोली चलानी पड़ी जिसमें एक व्यक्ति मारा गया। ३० मई को भी ऐसी ही घटना हुई जिसमें १२ दंगाई मारे गये। इस प्रकार की घटना शमीन द्वीप जहां पर ब्रिटेन और फ्रांस को सुविधाएँ प्राप्त थी, में भी हुई जिसमें ३७ चीनी मारे गये। इन घटनाओं ने सम्पूर्ण चीनी लोकमत को उत्तेजित कर दिया और विदेशी लोगों का मुख्य रूप से अंग्रेजी लोगों का बहिष्कार शुरू किया गया तथा चीन से विदेशियों को खदेड़ने की प्रतिज्ञाएँ की गई। इस जोशपूर्ण साम्यवादी आन्दोलन की चर्चा करते हुए श्री गेथोर्न हार्डी ने लिखा है कि "तथ्य यह है कि यह घटना चीनी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक उल्लेखनीय घटना है।"

वास्तव में, डा० सनयात सेन की मृत्यु के उपरान्त चीन का इतिहास प्रायः गृह युद्ध की कहानी है। ऐसी कहानी जिसके पात्र अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की दृष्टि से पक्ष बदलते रहते थे। उत्तरी चीन में सैनिक नेताओं के आपसी झगडों के कारण अराजकता फैली हुई थी। कुओमिनतांग में कुछ समय तक एकता रही और इस काल में सेनापति च्यांगकाई शेक के नेतृत्व में राष्ट्रवादी सेना ने उत्तरी चीन के सेना नायकों के विरुद्ध सफलता पूर्वक युद्ध किया तथा यांगत्सी नदी के दोनों ओर हुपह प्रांत पर अधिकार कर लिया। १९२६ के अन्त तक वृहत्तर हैंको पर भी राष्ट्रवादियों का अधिकार हो गया। १ जनवरी १९२७ को हैंको राष्ट्रवादियों की राजधानी बन गया। इसी समय कुओमिनतांग में मतभेद शुरू हो गया। बोरोडिन के उकसाने पर चीनी लोगों ने हैंको की विदेशी बस्तियों पर आक्रमण कर दिया। इसी प्रकार की घटना क्यूकियांग में भी हुई। च्यांगकाई शेक तथा उसके साथियों को यह नीति पसन्द नहीं आई। अब तनाव बढ़ता गया और राष्ट्रवादी दल दो प्रमुख भागों में विभाजित हो गया। एक भाग साम्यवादियों की तरफ झुका हुआ था और दूसरा च्यांगकाई शेक के साथ था। १९२७-२८ में च्यांगकाई शेक उतार चढ़ाव के झूले में डोलता रहा। १० दिसम्बर १९२७ को उसने राष्ट्रवादी सरकार के वित्त मन्त्री टी० वी० सुंग तथा श्रीमती सनयातसेन की बहन से विवाह कर लिया। इससे उसकी शक्ति काफी बढ़ गई। ६ जुलाई १९२८ को राष्ट्रवादी सेनापतियों ने आपसी झगड़ों को समाप्त करके च्यांगकाई शेक को अपना नेता स्वीकार कर लिया और एक प्रजातान्त्रिक सरकार की स्थापना की गई जिसकी राजधानी नानकिंग रखी गई तथा च्यांग को राष्ट्रपति घोषित किया गया।

**च्यांगकाई शेक का उत्थान**

परन्तु फिर भी, आगामी कुछ वर्षों में चीन की स्थिति बिगड़ने लग गई। क्योंकि राष्ट्रवादियों के गठबन्धन के उपरान्त भी चीन का एकीकरण नहीं हो पाया था। मंचूरिया में चांगत्सोलिन और उसका पुत्र चांगह्स्युहलिंग एक तरह से बिल्कुल स्वतन्त्र थे। कैंटन में साम्यवादियों का जोर था और मई १९३१ में उन्होंने एक प्रतिद्वन्द्वी सरकार की स्थापना भी करदी थी। हैंको तथा आसपास के क्षेत्र भी साम्यवादियों के अधिकार में थे। फिर भी च्यांग की साम्यवादी विरोधी नीति तथा कार्यवाहियों के कारण पश्चिमी राष्ट्रों ने नानकिंग सरकार को मान्यता प्रदान की तथा उसके साथ नई सन्धियाँ की गई और आर्थिक सहायता प्रदान की गई। इस प्रकार की सहायता पाकर च्यांग ने चीन के एकीकरण की योजना को कार्यान्वित करना शुरू किया जिसके परिणाम स्वरूप चीन शीघ्र ही पुनः गृह युद्ध की लपटों में जलने लग गया। ऐसी परिस्थिति में, जापान ने सितम्बर १९३१ में चीन पर आक्रमण कर दिया।

जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण क्यों किया? इस प्रश्न को समझने के लिये उन प्रवृत्तियों को जो जापान को साम्राज्यवादी प्रसार के लिये प्रोत्साहित कर रही थी, समझना आवश्यक हो जाता है। जापान के सामने सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या

**मचूरिया पर जापानी आक्रमण के कारण**

अपनी बढती हुई जन सख्या के भरण पोषण की थी। १८५४ म जब कमाण्डर पैरी जापान आया था तब उसकी जनसख्या ३ करोड मे कुछ कम थी परन्तु १९३१ मे लगभग ७ करोड हो गई और प्रति वष ८ लाख के प्रनुपात से वृद्धि जारी थी। इस विशाल जनसख्या का भरण पोषण एक असाध्य कार्य था। कृषि के द्वारा इस समस्या का समाधान हो नही सकता था क्योकि कृषि योग्य एक इञ्च भूमि भी बेकार नही पडी थी। अत जापान की अपनी भूमि इतने लोगो का बोझ उठाने में असमर्थ थी। उत्प्रवास ( emigration ) के द्वारा भी इस समस्या का हल होना असम्भव था। क्योकि जापान के अपने आधीन प्रदेशो कोरिया, फारमोसा आदि, में उत्प्रवास की गुञ्जायश नही थी और और आस पास के अन्य प्रदेश जो अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के आधीन थे, मे जापानियो को बसने की आज्ञा नही थी। गोरांग सरकारे एशियाई जापानियों के उत्प्रवास के विरुद्ध थी। फिर जापानियो को अपने देश के प्रति इतनी अधिक श्रद्धा थी कि वे जापान से दूरस्थ प्रदेशो में बसने के आकाक्षी भी नही थे। अब जापान के सामने एक ही माग बचा था—पूर्व का कारखाना बन जाना अर्थात् केवल औद्योगीकरण से वह अपनी जनसख्या का पेट भर सकता था। परन्तु इसमें भी बहुत सी कठिनाइयाँ आ खडी हुई। उद्योग धन्धो को चलाने योग्य कोयला और लोहे की दृष्टि से जापान आत्मनिभर नही था और उसे इन वस्तुओं के लिये विदेशो पर निभर रहना पडता था। कच्चे माल के लिये भी उसे विदेशो पर निभर रहना पडता था, जैसे—सूत के लिये अमेरिका और भारत पर, ऊन के लिए आस्ट्रेलिया पर तेल के लिए अमेरिका और डच साम्राज्य पर, केवल रेशम के मामले म वह आत्मनिभर था। इसी प्रकार अपने निर्मित माल के बाजार के लिए भी उसे अमेरिका तथा ब्रिटिश साम्राज्य का मुह देखना पडता था। सक्षेप में, स्थिति नाजुक थी और यदि ब्रिटेन तथा अमेरिका जापान को कच्चा माल देने तथा तैयार माल लेने से इन्कार कर देते तो जापान का सवनाश हो जाता। इसी भय के कारण जापान अपना स्वय का एक विशाल साम्राज्य स्थापित करना चाहता था ताकि उसको कच्चा माल भी मिल जाय और तयार माल के लिये बाजार भी।

दूसरा प्रमुख कारण जापान मे पू जीवाद का विकास था। पश्चिम के सम्पर्क में आने के बाद जापान म औद्योगिक क्राति हुई जिसके परिणाम स्वरूप पू जीवाद का विकास हुआ। पू जीवाद साम्राज्यवाद को जन्म देने का एक प्रधान कारण होता है, और जापान म इस समय पू जीवाद इस सीमा तक विकसित हो चुका था कि देश के राजनीतिक तथा सैनिक नेतागण उसकी गुलामी को अगीकार करके, वहाँ की सरकार को साम्राज्य विस्तार के लिये प्रोत्साहित कर रहे थे। जापान के पू जीपति अपने व्यवसायो और कारोबार की उन्नति के लिये यह आवश्यक मानते थे कि जापानी साम्राज्य का प्रसार हो ताकि उन्हें कच्चा माल तथा तयार माल के लिये बाजार उपलब्ध हो सके।

तीसरा कारण विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का प्रभाव था। जसा कि तीसरे अध्याय में बतलाया जा चुका है कि कुछ कारणों से १६३०-३१ में सम्पूर्ण संसार आर्थिक मन्दी के भवर जाल में उलझ गया था। सर्वत्र बेराजगारी फैल रही थी, कारखाने बन्द हो रहे थे और लोग अपनी आवश्यक वस्तुओं को भी खरीदने में असमर्थ थे। जापान भी इस विश्व व्यापी अर्थ संकट से नहीं बच सका। अमरिकन जनता की क्रयशक्ति के घट जाने से अमेरिका में, जो जापानी रेशम का एक भारी ग्राहक था, जापानी रेशम के व्ययन (disposal) पर घातक प्रभाव पड़ा। अन्य देशों में भी जापानी माल की खपत कम हो गई। चीनियों द्वारा जापानी माल का उत्तरोत्तर बहिष्कार भी, जापानी व्यापार के लिये बहुत घातक प्रमाणित हुआ। इस प्रकार की स्थिति में जापानी कारखाने बन्द होने लग गये और लाखों मजदूर बेकार हो गये। कृषिजन्य वस्तुओं की कीमतें भी गिरने लग गई जिससे किसानों की स्थिति दयनीय हो गई। अधिकांश लोग कर्ज के भारी बोझ से दब गये। जापानी नेताओं को इस प्रकार के आर्थिक संकट से मुक्ति का जो एकमात्र मार्ग दिखलाई पड़ा—वह था, साम्राज्य प्रसार का मार्ग।

चौथा प्रमुख कारण सैनिक नेताओं तथा राजनीतिक नेताओं का आपसी मतभेद था। यहां पर एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि जापानी सेना तथा उसके अधिकारी सम्राट के प्रति उत्तरदायी थे और लोकसभा का उन पर विशिष्ट नियंत्रण नहीं था। सैनिक नेताओं को सीधे सम्राट से सम्पर्क रखने का अधिकार एवं सुविधा प्राप्त थी। वाशिंगटन सम्मेलन में जापानी राजनीतिज्ञों ने अमेरिका और इंगलैण्ड से कम अनुपात में नौ सेना रखना स्वीकार कर लिया था। इससे सैनिक नेता राजनीतिज्ञों से असन्तुष्ट थे। दूसरी बात यह थी कि राजनीतिक नेता लोग पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली बने हुए थे और पूंजीपति जनता का शोषण कर रहे थे। इस कारण भी सैनिक नेता उनसे क्रोधित थे। आर्थिक मन्दी के प्रभाव को कम करने की दृष्टि से राजनीतिज्ञ सेना का विघटन तथा सैनिक व्यय को कम करने का प्रस्ताव रखने की बात कर रहे थे। इससे सैनिक नेता और अधिक क्रोधित हो उठे और उन्होंने सम्राट को विश्वास दिलाया कि जापानी संकट का कारण राजनीतिज्ञों की कमजोर नीति है तथा इस संकट को दूर करने का एकमात्र उपाय—साम्राज्य प्रसार की नीति ही है। चूंकि सैनिक नेताओं का सम्राट पर बहुत प्रभाव था, उनकी योजना स्वीकार कर ली गई। १६३१ में जापान साम्राज्यवाद के मार्ग पर जिस प्रकार तेजी से अग्रसर हुआ, उसका उत्तरदायित्व सैनिक नेताओं पर था।

पाँचवा कारण जापानी लोकमत में विद्यमान राष्ट्रभक्ति की भावना था। वाशिंगटन समझौता की जापानियों ने कटु आलोचना की। उनका विश्वास था कि इस समझौते ने जापान को पंगु बना दिया है। जापान की प्रतिष्ठा को नीचे गिरा दिया है। जापानी लोगों को इस प्रकार का कमजोर विदेश नीति से घृणा उत्पन्न हो गई और परिणाम यह

निकला कि जापानियो में उग्र राष्ट्रीयता की भावना दृढ होती गई । उग्र राष्ट्रीयता साम्राज्य वाद की प्रवृत्ति को जन्म देती हैं । जापान में भी ऐसा ही हुआ । जापानी नवयुवक सामाज्य विस्तार के लिये व्याकुल हो उठे । सम्पूर्ण जापान मे अनेक प्रकार की समितिया स्थापित की गई जिनका उद्देश्य था राष्ट्रीय भावना का परिवद्ध न जिसके मूल में साम्राज्य प्रसार के द्वारा जापान के कल्याण की भावना थी ।

छठा परन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण मचूरिया में जापान का स्वार्थ था । मचूरिया खनिज पदार्थो की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था । कुछ परमवश्यक कच्चे सामान, विशेष-कर सोया बीन के सभरण के आधार के रूप म इसका महत्वपूर्ण स्थान था । कोयला, लोहा और तेल भी प्रचुर मात्रा में था । इसके अतिरिक्त मचूरिया जापान के लिये एक अच्छा बाजार भी था । जापानी लोग काफी सख्या में यहाँ पर बस गये थे और जापानिया ने मचूरिया की रेलवे तथा खनिज पदार्थों की खोज में करोडो रुपये लगा चुके थे । अत जापान मचूरिया पर अपना अधिकार स्थापित करने को लालायित था ।

सातवा कारण मचूरिया की सामरिक स्थिति था । हार्डी ने लिखा है कि "जापान के लिए मचूरिया का प्रतिरक्षा और आक्रमण की दृष्टि से सामारिक महत्व इसकी अवस्थिति के कारण है ।"

अन्तिम कारण तत्कालीन राजनीतिक स्थिति था । मचूरिया के सूबेदार चाग-सोलिन ने नानकिंग सरकार की अाधीनता स्वीकार नही की थी परन्तु उसकी मत्यु के बाद उसके पुत्र हसुएह लिआग ने नानकिंग की कुओमिनाग सरकार को मचूरिया का वास्तविक स्वामी स्वीकार कर लिया । इससे जापान क्रोधित हो गया क्योकि जब तक मचूरिया का सूबेदार स्वतन्त्र था, वह उससे अपनी मागो को सुगमता के साथ मनवा सकता था । चीन सरकार का अग बन जाने स जापान के लिए अब ऐसा करना कठिन हो गया । दूसरी तरफ उत्तरी मचूरिया में रूस का प्रभाव था । अत एक ही प्रान्त म तीन राज्यो चीन, जापान और रूस का शासन अथवा प्रभुत्व सम्भव नही था । चीन और जापान में लिओतु ग प्रायद्वीप तथा दक्षिणी मचूरियन रेलवे के अधिकार को लेकर विवाद उठ खडा हुआ । वास्तव में इन दोनो के पट्टे २५ वर्ष की अवधि के लिये रूस को दिये गये थे । १९०४—५ के रूस-जापान युद्ध के बाद इन पट्टो पर जापान का अधिकार हो गया । १९१५ में जापान और चीन में सन्धि हुई जिसके अनुसार इन पट्टो की अवधि २५ साल से बढा कर ९९ साल कर दी गई थी । राष्ट्रवादी चीन १९१५ की सधि को मान्यता नही दे रहा था क्योकि उसका कहना था कि १९१५ की सन्धि पर जापान ने सनिक शक्ति के द्वारा चीन को हस्ताक्षर करने पर विवश किया था । अत उस सन्धि की कोई कीमत नही । पुरानी सन्धि के अनुसार १९२३ में २५ साल की अवधि समाप्त हो गई थी और चीन चाहता था कि जापान अब लिआओ तु ग से हट जाये तथा दक्षिणी मचूरियन रेलवे का अधिकार भी छोड दे तथा रेलवे क्षेत्र से जापानी सेनाओ का हटा ले । जापान इसके लिये तैयार नही था । इस पर राष्ट्रवादी चीनी सरकार ने मचूरिया में

हजारों चीनियों को बसाना तथा मचूरिया में अपनी रेलवे का निर्माण करना शुरू कर दिया। इससे जापान क्रोधित हो उठा। उधर कुमिन्टांग की सरकार जापान के विरुद्ध धुआंधार प्रचार कर रही थी। उत्तर से सोवियत संघ का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इन सब परिस्थितियों में जापान ने ग्रपने अधीन एक स्वतन्त्र मंचूरिया राज्य की स्थापना करने का निश्चय कर लिया और ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगा जिसकी आड़ में मचूरिया पर आक्रमण किया जा सके। बहुत शीघ्र जापान को ऐसा अवसर मिल गया।

१८ सितम्बर १९३१ की रात्रि में मुकदन नगर के समीप दक्षिणी मचूरियन रेलवे की लाइन पर एक बम का विस्फोट हुआ जिससे रेलवे लाइन को कुछ क्षति अवश्य पहुँची। जापानियों ने इस घटना का दोष समीप में स्थित

मचूरिया पर जापान का अधिकार

चीनी सैनिक छावनी पर डाला और इस घटना से लाभ उठाकर मचूरिया की राजधानी मुकदन पर अधिकार कर लिया। कुछ ही दिनों में क्वांतुंग में स्थित जापानी सेना ने मचूरिया के प्रमुख नगरों पर अधिकार कर लिया। १९३१ के अन्त तक जापान ने सम्पूर्ण मचूरिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। १८ फरवरी १९३२ को जापान ने मचूरिया में एक नूतन स्वतन्त्र राज्य 'मचूको" की स्थापना की। चीन के पदच्युत सम्राट पू यी को मचूरिया का शासक नियुक्त किया गया। मचूको की स्थापना के समय जापान ने घोषणा की थी कि यह प्रान्त चीन का अंग कभी नहीं था अतः एक पृथक एवं स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की गई है। १५ सितम्बर १९३४ को जापान ने मचूको राज्य को मान्यता दी परन्तु वास्तविक शासन जापानी अधिकारियों के हाथ में था। चीन की सरकार जापान की इस कार्यवाही का विरोध नहीं कर सकी।

१९ सितम्बर १९३१ को जेनेवा स्थित चीनी प्रतिनिधि ने प्रतिश्रव के ११ वें अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्र संघ की कौंसिल के सम्मुख मचूरियन स्थिति को रखा। जापानी प्रतिनिधि ने इस सम्बन्ध में कहा कि यह दुर्घटना महत्वहीन है

राष्ट्र सघ और मचूरिया

और इस चीन जापान की प्रत्यक्ष वार्ता के द्वारा सुलझाया जा सकता है। अमरिकन सहयोग के अभाव में (जो कि प्राप्त नहीं हो रहा था) राष्ट्र सघ की कौंसिल जापान के विरुद्ध सख्त कार्यवाही करने में असमर्थ थी। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश प्रतिनिधि भी जापान के विरुद्ध सख्त कदम उठाने के पक्ष में नहीं था। अतः २२ सितम्बर को कौंसिल ने चीन और जापान दोनों को सलाह दी कि फिलहाल वे संघर्ष क्षेत्र से अपनी अपनी सेनाएँ हटा लें। दूसरे दिन अमेरिका ने भी दोनों देशों के पास इसी आशय का सुझाव भेजा परन्तु जापान ने इन सुझावों का पालन नहीं किया और मचूरिया में जापानी आक्रामक कार्यवाहियाँ जारी रहीं।

१३ अक्टूबर को कौसिल की पुन बैठक हुई । इस बार अमेरिका ने कौंसिल से अपन पूर्ण अधिकारो का यथा सम्भव प्रयोग करने का अनुरोध किया था तथा कौंसिल की प्रार्थना पर अमेरिकन प्रतिनिधि का भी कासिल की बठक में भाग लेने को भेजा । जापान न कौंसिल क सामने अपने कदम के औचित्य का सिद्ध करते हुए कहा कि उसकी सनिक गतिविधियाँ का केवल आत्मरक्षा के अतिरिक्त और किसी बात से, किसी प्रकार का सम्बन्ध नहा है । अत उसकी दृष्टि में यह उचित नही हैं कि राष्ट्र सघ इस सम्बन्ध में विचार करे । २४ अक्टूबर को कौसिल ने एक प्रस्ताव पास कर दिया जिसमें जापान स यह कहा गया कि वह १६ नवम्बर १६३१ तक मचूरियन प्रान्तो से अपनी सेनाएँ हटा ले । जापान न इस प्रस्ताव पर अमल नहीं किया ।

१६ नवम्बर का कौसिल की पुन बठक हुई परन्तु इस बार अमेरिका ने अपना निरीक्षक नहीं भेजा । अमेरिका की इस नीति परिवतन से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका सघ को सहयोग देन के दायित्व स बचना चाहता है । १० दिसम्बर का कौंसिल ने इस समस्या के सम्बन्ध म एक आयोग की नियुक्ति की । इस 'लिटन आयोग' कहा जाता है और इसमें ग्रेट ब्रिटेन, इटली, फ्रास, जमनी और अमरिका क प्रतिनिधि शामिल थे । इगलण्ड के अर्ल आफ लिटन आयोग के अध्यक्ष थे ।

७ जनवरी १६३२ को अमेरिका ने घोषणा की कि वह चीन और जापान के बाच किये जाने वाले ऐसे किसी समझौते को उस समय तक स्वीकार नही करगा जब तक कि वह समझौता पेरिस पक्ट के आधार पर नही किया जायेगा । इसका अथ था जापान के प्रति कठोर कदम उठाना । ब्रिटन जापान के प्रति कठोर कदम उठाकर जापान का चुनौती देने के पक्ष में नहीं था क्योंकि सुदूर पूर्व में उसके स्वार्थ अन्य देशो की अपेक्षा अधिक थे। अत उसने अमेरिकन प्रस्ताव को ठुकरा दिया । क्योंकि इस बात की भी आशा नहीं थी कि अमरिका जापान के प्रति की जाने वाली सख्त कार्यवाही में सहयोग देगा । वास्तव में, अमरिका तो जापान के विरुद्ध आर्थिक अनुशास्तियो को लागू करने के पक्ष में भी नहीं था । इसीलिए इगलैण्ड ने अमेरिकन घोषणा का स्वागत नहीं किया । इससे जापान को भी विश्वास हो गया कि उसके विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही नहीं की जा सकेगी । इगलैण्ड और अमेरिका के सहयोग के बिना जापान के विरुद्ध सख्त कदम उठाना राष्ट्रसघ की कौसिल के लिय सभव नही था ।

इस अन्तरिमकाल में लिटन आयोग अपना काय करता रहा परन्तु उसे मचूरिया की सही स्थिति जानने की सम्पूर्ण सुविधाए नही दी गई । २ अक्टूबर १६३२ को लिटन आयोग का प्रतिवेदन (Report) प्रकाशित किया गया । आयोग ने सिफारिश की कि सघ के तत्वाधान में चीन और जापान का सम्मेलन किया जाय तथा मचूरिया में जापानी हितो को मान्यता दी जाय एव चीन की सावभौम सत्ता के अन्तर्गत मचूरिया को स्वायत्त शासन प्रदान किया जाय ।

दिसम्बर १६३२ में राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने इस सम्बन्ध में एक समिति की स्थापना का जिसने चीन को मुक्त कर दिया तथा जापान की सैनिक कार्यवाहियों को आत्मरक्षा के विरुद्ध बतलाया। समिति ने यह सुझाव भी दिया कि राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य देश मचूकों को मान्यता न दे और एक अन्य समिति की स्थापना की जाय जो इस विवाद को हल कर सके। २४ फरवरी १६३३ को साधारण सभा ने भारी बहुमत से समिति के प्रतिवेदन को स्वीकार कर लिया। २७ मार्च १६३३ को जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता से पृथक होने का नोटिस दे दिया।

चीन की राष्ट्रवादी सरकार जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करने में समर्थ नहीं थी परन्तु उसने अन्य उपायों से जापान के प्रति अपना रोष प्रकट किया। जापानी माल के बहिष्कार का आन्दोलन जोर शोर से शुरू हो गया। सितम्बर १६३१ में १,२७,०६,००० येन का जापानी माल चीन में आया था परन्तु

**शंघाई विवाद**

आन्दोलन के परिणामस्वरूप जापानी माल की मात्रा घट गई। दिसम्बर १६३१ में ४२,६६ ००० येन का माल ही चीन में आ सका। इस आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र शंघाई था। जापान पर इस आन्दोलन का बुरा प्रभाव पड़ा। अतः उसने शंघाई की नगरपालिका से माग की, कि शंघाई में स्थित जापानी माल के बहिष्कार से सबंधित स्थापित संस्थाओं तथा समितियों को भंग कर दे। शंघाई नगर पालिका ने जापानी माग स्वीकार करली परन्तु जापान को इससे संतोष नहीं हुआ और जापानी जंगी जहाजों ने शंघाई पर आक्रमण कर दिया तथा एक जापानी सेना ने शंघाई नगर पर भी अधिकार कर लिया। १ फरवरी १६३२ को चीन की राजधानी नानकिंग पर भी बम्ब वर्षा की गई। इस प्रकार चीन और जापान के बीच बाकायदा युद्ध की घोषणा हुए बिना युद्ध चलता रहा और मई १६३२ में आन्दोलन के शिथिल होने पर ही युद्ध का अन्त हो सका।

राष्ट्रसंघ से पृथक होने के उपरान्त जापानी सेना ने आंतरिक मंगोलिया के एक अन्य प्रांत-जेहोल को मंचूको राज्य में मिला लिया। अप्रल के

**युद्ध विराम संधि**

प्रारम्भ में जापानियों ने नये सिरे से आक्रमण शुरू कर दिया और महान दीवार के दक्षिण में स्थित पीपिंग तथा तियेनसीन से कुछ ही दूरी तक जा पहुँचे। चीन सरकार ने यथाशीघ्र पीपिंग को खाली कर दिया। ३१ मई १६३३ को युद्ध विराम संधि की गई जिसके अनुसार दक्षिण पश्चिम में तियन्त्सीन से लेकर पीपिंग की विराम रेखा तक के क्षेत्रों से चीनी सेनाओं को हट जाना पड़ा और जापानी सेनाओं को महान् दीवार के पूर्व तक हट जाना पड़ा।

इसमें कोई सन्देह नहीं था कि यदि पश्चिम की शक्तियाँ मिलकर जापान के विरुद्ध कार्यवाही करती तो जापान को पराजित होना पड़ता और जापान को संधि के दायित्वों

का पालन करने के लिये मजबूर किया जा सकता था तथा उसे मचूरिया से हटने के लिये विवश भी किया जा सकता था परन्तु इस प्रकार का सघष एक ऐसा कीमती सघष हो सकता था जिसमें लाखो व्यक्तियो के बलिदान की आवश्यकता पडती। पश्चिम की जनता, इस समय इतना त्याग करने को तैयार नही थी। आर्थिक अनुशास्तिया को लागू करके भी जापान को विवश किया जा सकता था परन्तु १९३०-३१ में सम्पूर्ण ससार आर्थिक अवसान के भँवरजाल में उलझा हुआ था और ऐसी स्थिति में आर्थिक अनुशास्तियो को लागू करना सरल नही था। इस पर भी यदि राष्ट्र सघ के तत्वाधान में जापान के विरुद्ध कार्यवाही की जाती तो, अमेरिका स, जो कि सघ का सदस्य नही था, ऐसी आशा नही की जा सकती थी कि वह सघ की कार्यवाही का समथन करेगा। यहा तक कि सावियत रूस भी जिसमे कि अपक्षा की जाती थी कि वह इस सम्बन्ध मे दृढ कदम उठायगा, अपने घरेलू कायक्रम म जुटा हुआ था।

**मचूरियन विवाद तथा महान् शक्तियाँ**

परन्तु महान् शक्तियो के द्वारा चीन का सहायता न करने के वास्तविक कारण कुछ दूसरे ही थे। प्रथम महायुद्ध के बाद से ही चीन में यूरोपियन लोगो के विरुद्ध एक जबरदस्त आन्दोलन उठ खडा हुआ था। अत यूरोपियन देश यह चाहते थे कि चीनी जनता का ध्यान जापानी आक्रमण की तरफ उलझा रह ताकि उनके विरुद्ध चल रहा आन्दोलन समाप्त हा जाय और चीन जब उनसे सहायता मागे तब उसको इस सम्बन्ध म भुलाया जा सक। दूसरा प्रमुख कारण साम्यवाद का भय था। जापान साम्यवाद का शत्रु था। अत जापान की शक्ति का कुचलना साम्यवादा रूस की सहायता करना था। तीसरा कारण व्यापारिक था। चीन और जापान दोनो ही पश्चिम के ग्राहक थे। अत यदि मचूरिया चीन के पास रहता है या जापान के अधिकार में चला जाता है तो उनके व्यापार को विशेष नुकसान नही पहुँचता। परन्तु जापान के विरुद्ध युद्ध लडा जाता है तो चीन और जापान, दोनो देशा के व्यापार स हाथ धोना पडता है। अन्तिम कारण यह था कि जापान एक सामुद्रिक शक्ति था। उससे युद्ध करने का अर्थ होता सम्पूर्ण युद्ध का दायित्व ब्रिटेन पर डालना। यह ब्रिटेन को स्वीकार नही था अत जापान का सतुष्ट करना आवश्यक हो गया था।

परन्तु बाद में घटने वाली घटनाओ के प्रकाश में यह स्पष्ट हा गया कि चीन के मामले म सामूहिक सुरक्षा को लागू न करना एक असफलता थी एक महान् भूल थी। क्योकि इस प्रकार के प्रसादन से जापान की भावी योजनाओ में किसी प्रकार की कमी नही आई और उसकी साम्राज्य प्रसार की भूख समाप्त नही हुई। उल्टे इससे ससार का सामूहिक सुरक्षा से विश्वास उठ गया और भावी अधिनायको को अपनी योजनाओ को कार्यान्वित करने का प्रोत्साहन मिला जिसके परिणामस्वरूप ससार को अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सकटो का सामना करना पडा।

१९३३ के बाद जापान ने युद्धपूर्व में अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने का भरसक प्रयत्न किया और इसने घोषणा की कि "पूर्वी एशिया में शान्ति के भवन को स्थिर रखने वाला वह अकेला स्तम्भ है, इसलिये उस सम्पूर्ण शान्ति का सहन करना पड़ रहा है।" इस घोषणा से उसकी नीति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

**चीन में जापानी साम्राज्य का प्रसार**

अप्रैल १९३४ में जापानी विदेश विभाग ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा कि चीन में विस्थापितों को बसाने के सम्बन्ध में राष्ट्र संघ की गतिविधियाँ, अमेरिका द्वारा चीन को दिये जाने वाले ऋण और चीनी सेना के सगठन हेतु विदेशी सैनिक विशेषज्ञों की उपस्थिति आदि बातों का जापानी सरकार अध्ययन कर चुकी है और इस निश्चय पर पहुँची है कि इन सबका अभिप्राय जापान के विरुद्ध चीन की सहायता करना तथा एशिया की शान्ति को नष्ट करना है। जापान इन सब बातों को नजरअन्दाज नहीं कर सकता और यदि इस प्रकार की कार्यवाहियाँ जारी रहीं और शक्ति के साथ इन्हें कार्यान्वित किया जाता रहा तो, जापान को बाध्य होकर शक्ति का सहारा लेना पड़ेगा। जापान की इस घोषणा से यह स्पष्ट हो गया कि जापानी, जापानी सुरक्षा और जापानी आर्थिक प्रसार की दृष्टि से, चीन को नियन्त्रित करने के अपने अधिकारों को बनाये रखने का दृढ़ निश्चय कर चुका था।

१९३५ में जापान ने चीन के विविध पूर्वी प्रान्तों को हड़पने का प्रयत्न शुरू कर दिया। नानकिंग सरकार के सामने जापानी मांगें बढ़ती गईं। इन मांगों के परिणामस्वरूप हापेई (Hopei) और चहर (Chahar) प्रान्तों के राज्यपालों को उनके पद से हटा दिया गया। पूर्वी चीन में राष्ट्रवादी दल की सभी शाखाएँ बन्द करदी गई, चहर में जापान विरोधी संस्थाओं को नष्ट कर दिया गया, हापेई प्रान्त तथा चहर-जेहोल सीमान्त से नानकिंग की राष्ट्रवादी सरकार ने अपने समस्त सैनिकों को हटा लिया और जापान को मान्य, एक नया मेयर, पुलिस कमिश्नर और सैनिक टुकड़ी के कमांडर की तीन्तसिन (Tientsin) में नियुक्ति की गई। नवम्बर १९३५ में असैनिकीकरण क्षेत्र तथा महान् दीवार के आसपास के १८ प्रान्तों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करदी और एक जापान पक्षीय कमिश्नर के अन्तर्गत स्वायत्त शासन राज्य की स्थापना की। दिसम्बर में नानकिंग सरकार ने हापेई तथा चहर क्षेत्रों में जिसमें चीन की प्राचीन राजधानी पीपिंग भी सम्मिलित था, एक अर्द्ध स्वतन्त्र राज्य की स्थापना को स्वीकार कर लिया। नवनिर्मित सरकार के अधिकांश सदस्य जापान के समर्थक थे और १९३६ में यह सरकार गुप्त रूप से पूर्वी चीन में जापानी सामान को भेजने में सहायता पहुँचाती रही।

जापान के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में नानकिंग सरकार असमर्थ थी परन्तु चीनी जनता अन्दर ही अन्दर अपमान की ज्वाला में जल रही थी। सरकार से जनता

की इच्छा छिपी हुई नही थी। अब उसने जापान विरोधी भावनाओ को कुचलने का अथक प्रयत्न किया। फिर भी, चीनी विद्यार्थियो के नेतृत्व मे १६३६ मे जापान विरोधी आन्दोलन उठ खडा हुआ जो शीघ्र ही सम्पूर्ण चीन मे फैल गया। आन्दोलन इतना उग्र था कि केन्टन की अर्द्ध-स्वतत्र सरकार को नानकिंग सरकार से यह कहना पडा कि वह जापानी आक्रमण का डटकर सामना करे। चीन के राष्ट्रवादी नेताओ मे केवल च्यागकाई शेक ही एक ऐसा व्यक्ति था जो इस समय जापान के विरुद्ध सख्त कदम उठाने के विरुद्ध था। वह जापानियो से पूर्व चीन के साम्यवादियो का समाप्त करना चाहता था। दिसम्बर १६३६ मे यह स्पष्ट हो गया कि नानकिंग सरकार जापान विरोधी आन्दोलन का हर हालत मे कुचलना चाहती है क्योकि इस सम्बन्ध मे जापानी सलाहकारो को नियुक्त किया गया तथा चीन के निर्यात करो को भी कम कर दिया गया। इसी महीने मे, जापान के सुझाव पर नानकिंग सरकार ने उत्तरी चीन के १२ प्रातो के राज्यपालो को यह आदेश दिया कि वे पूर्ण शक्ति के साथ चीनी साम्यवादियो को कुचलने का प्रयत्न करे क्योकि इन क्षेत्रो मे उनका प्रभाव दिन प्रतिदिन बढता जा रहा था। स्वय च्यागकाई शेक को शान्सी प्रात मे साम्यवादियो को कुचलने के लिए जाना पडा क्योकि वहाँ का सेनापति चाग ह सुएह लिआग साम्यवादियो के विरुद्ध सख्त कदम नही उठा रहा था।

**चीनी जनता का आन्दोलन**

परन्तु १२ दिसम्बर को एक गुप्त षडयन्त्र के द्वारा च्यागकाई शेक का अपहरण कर दिया गया और उसे चाग ह सुएह लिआग का कैदी बनना पडा। उसने च्यागकाई शेक की मुक्ति के लिये उसके सामने निम्न शर्ते रखी—जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा, खोये हुए प्रातो की वापसी के लिए प्रयत्न और चीनी साम्यवादियो को कुओमिताग दल मे पुन प्रवेशाधिकार प्रदान करना। यद्यपि अपहरण की घटना रहस्यमय ही बनी रही परन्तु दो सप्ताह की कैद के बाद च्यागकाई शेक पुन नानकिंग लौट आया और साथ मे चाग को बन्दी बनाकर भी लाया। फिर भी, जनवरी १६३७ मे सेनापति चाग को क्षमा कर दिया गया और दोनो मे एक समझौता हो गया जिसके परिणामस्वरूप साम्यवादी सेना को शान्सी प्रात के उत्तरी क्षेत्र पर अधिकार कर लेने का अवसर मिल गई। अब साम्यवादी नेताओ ने अपने सामाजिक कार्यक्रम मे सशोधन करने तथा अपनी सेनाओ को च्याग के नेतृत्व मे रखने की इच्छा व्यक्त की थी, यदि राष्ट्रवादी सरकार जापान विरोधी नीति का अनुकरण करने तथा चीन मे पूर्ण प्रजातान्त्रिक शासन लागू करने को तैयार हो।

**च्याग का अपहरण**

च्यागकाई शेक साम्यवादी नेताओ से सुलह नही करता परन्तु इस समय सम्पूर्ण देश मे राष्ट्रीय भावना जागृत हो रही थी, अब नानकिंग सरकार को, अस्थायी तौर पर

ही सही, लोकमत के साथ रहना पड़ा। इसका एक कारण उत्तरी चीन के राजकर्मचारियो पर अच्छा प्रभाव डालना था। १६ जुलाई १६३७ को जापान ने चीनी सरकार के सामने कुछ मांगें रखी जिसे चीन ने ठुकरा दिया। जुलाई के अन्त में, जापान ने चीन को चेतावनी दी और इसके बाद चीन और जापान में युद्ध शुरू हो गया। जापानी सैनिक दस्ता ने उत्तरी चीन के प्रातो की तरफ बढना शुरू कर दिया। कुछ ही दिनो मे हापई प्रात के उत्तरी हिस्से जिसमे तीन्त्सिन और पीपिंग भी सम्मिलित थे पर जापानियों का अधिकार हो गया और यहा पर जापान समथक सरकारें स्थापित की गई। १६३७ के अन्त तक, शान्सी और शान्तुग प्रातो की राजधानियो पर भी जापान का अधिकार हो गया। इस प्रकार पीली नदी के उत्तर मे स्थित चीन के पाँच प्रातो पर जापान का अधिकार हो गया। १४ दिसम्बर को पीपिंग मे एक नूतन जापान समथक सरकार की स्थापना की गई। पीपिंग का नाम भी बदल दिया गया और नया नाम था— पकिंग।

**जापान की चीन मे प्रगति**

चीन जापान युद्ध का सीमा उत्तरी चीन तक ही सीमित नही रही। अगस्त में, प्रसिद्ध व्यापारिक बन्दरगाह तथा नगर शघाई पर आक्रमण हुआ और तीन महान के भयकर सघर्ष के उपरान्त ८ नवम्बर १६३७ को जापानी सेना ने इस पर अधिकार कर लिया। इसके उपरान्त जापानी सेनाएँ यागत्सी नदी की तरफ बढने लगी और दिसम्बर मे चीन की राजधानी नानकिंग पर उसका अधिकार हो गया। भागते हुए चीनी सनिको पर जापानियो ने भयकर गोली वर्षा की जिसके परिणामस्वरूप यागत्सी नदी में एक अमरिकन लडाकू नौका, स्टैंडर्ड आयल कम्पनी के तीन जहाज और ब्रिटेन के चार जहाज डूब गये। एक जहाज के बचे हुए कर्मचारियो ने जब किनारे की तरफ आने का प्रयत्न किया तो उन्हें भी मौत के घाट उतार दिया गया।

जापानी सेना की इस कार्यवाही ने अमेरिका और इगलैण्ड को क्रोधित कर दिया और इन दोनो देशो की सरकारो ने जबरदस्त विरोध प्रगट करते हुए जापान के सामने अपनी माँग रखी। जापान ने कपट नीति का सहारा लेते हुए क्षमा याचना माग ली तथा क्षति पूर्ति देना स्वीकार कर लिया और भविष्य मे ऐसी कार्यवाही न करने का आश्वासन दिया। इससे अमेरिका और इगलण्ड का क्रोध शात हो गया। परतु इससे जापान को पश्चिम की निर्बलता का आभास हो गया और वह निश्चित होकर चीन की विजय को पूरा करने मे लग गया। १६३८ के अन्त तक तीन्त्सिन, पीपिंग, शघाई, नानकिंग, हको और कैंटन आदि प्रमुख नगरो पर उसका अधिकार हो चुका था। च्याग की राष्ट्रवादी सरकार को चीन के अन्तरी भाग में स्थित चुगकिंग में शरण लेनी पडा। जापान की विजय योजना द्वितीय महायुद्ध मे जारी रही और जापानी पराजय तथा युद्ध समाप्ति के साथ ही उसका अन्त हो सका।

इस बीच मे, जैसा कि १६३१ में चीन ने किया था, उसी प्रकार पुन राष्ट्र सघ

से अपील की। सितम्बर १६३७ में राष्ट्र संघ ने साधारण सभा ने चीन की अपील का सुदूर पूर्वी सलाहकार समिति (Far Eastern Advisory Committee) को सौंप दिया। समिति ने सब सम्मति से जापान की भर्त्सना की तथा उस संधि को भंग करने का दोषी करार किया। समिति ने सुझाव दिया कि साधारण सभा वाशिंगटन की नौ राष्ट्रों की संधि के हस्ताक्षर कर्ताओं की बैठक बुलाये और चीन की प्रभुसत्ता, स्वाधीनता तथा प्रादेशिक अखण्डता पर विचार किया जावे। परिणामस्वरूप नवम्बर १६३७ में ब्रूसेल्स स्थान पर १६ देशों के प्रतिनिधियों की बैठक बुलाई गई जिसमें सुदूरपूर्व में शांति स्थापित करने के सम्बन्ध में विचार किया गया। जापान ने इस बैठक में भाग लेने से इनकार कर दिया और यह घोषणा भी की कि संधि की भावना व उत्साह का उल्लंघन जापान नहीं अपितु चीन कर रहा है और युद्ध का सम्पूर्ण दायित्व भी चीन पर है। बैठक में उपस्थित प्रतिनिधियों ने चीन में जापानी कार्यवाहियों को अवैधानिक करार दिया परन्तु चीन के इस सुझाव पर कि जापान को दी जाने वाली आर्थिक तथा सामरिक सहायता पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, कोई ध्यान नहीं दिया गया। नवम्बर के अंत में बैठक को स्थगित करते हुए घोषणा की गई कि मौजूदा स्थिति में, शांति को स्थापित करने के लिए, समिति किसी प्रकार का कदम उठाने में असमर्थ है।

**राष्ट्र संघ और चीन जापान विवाद**

सितम्बर १६३८ में, चीन ने प्रतिश्रव के १७ वें अनुच्छेद के आधार पर, जिसमें एक सदस्य राष्ट्र और गैर सदस्य राष्ट्र के विवादों को निपटाने की व्यवस्था थी, पुनः राष्ट्र संघ से अपील की। कौंसिल ने तय किया कि चीन पर जापानी आक्रमण, पेरिस पैक्ट तथा वाशिंगटन संधि का अतिक्रमण है और जापान के विरुद्ध १६ वें अनुच्छेद के अन्तर्गत अनुशास्तियाँ लागू की जानी चाहिए परन्तु सामूहिक कदम उठाने योग्य परिस्थिति नहीं है। इसका अन्तिम परिणाम यही निकला कि कौंसिल ने सदस्य राष्ट्रों को व्यक्तिगत रूप से चीन की सहायता करने का आदेश दे दिया। इस प्रकार, एक बार पुनः सामूहिक सुरक्षा एक टूटी रीढ़ के समान प्रमाणित हुई। कोई भी राज्य अथवा राज्यों का समूह, चीन को जापान के आक्रमण से बचाने के लिए अपेक्षित जन धन की कीमत चुकाने को तैयार नहीं था। परन्तु फिर भी च्यांगकाई शेक १६४५ के अन्त तक डटा रहा और जापान सम्पूर्ण चीन पर अपना अधिकार स्थापित करने में असफल रहा।

**चीन जापान युद्ध रूसी नीति**

चीन जापान युद्ध के प्रति महान् शक्तियों का क्या रवैया रहा? इंगलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका की नीति का उल्लेख नवें अध्याय में किया जा चुका है अतः उसको पुनः दोहराना ठीक नहीं है। रूस की नीति का उल्लेख अवश्य करना होगा। कोरिया, मंचूरिया और प्रशान्त महासागर की प्रभुत्ता के लिये रूस और जापान की प्रतियोगिता पूर्वी एशिया की राजनीति का प्रमुख लक्षण थी। १६०४—५ में प्रतियोगिता अपने शिखर बिन्दु पर पहुँच गई थी और परिणामस्वरूप रूस और जापान में एक भयंकर युद्ध हुआ जिसमें

रूस पराजित हुआ । प्रथम महायुद्ध के अंतिम समय में रूस मे क्रांति हो गई और उसने जर्मनी के साथ संधि करके युद्ध से पृथक होने की घोषणा कर दी । इसी समय से जापान ने रूसी प्रान्तों को हड़पने की चेष्टा की और महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त जापान ने रूसी प्रान्त साइबेरिया तथा उत्तरी सखालीन द्वीप पर अधिकार कर लिया। इससे रूस काफी क्रोधित हो उठा । १६२२ के अन्त तक जापान को रूस के प्रान्तों से हट जाना पड़ा । १६२५ में जापान और रूस के मध्य पेकिंग की संधि सम्पन्न की गई जिसके अनुसार दोनों देशों ने एक दूसरे को सुरक्षा, व्यापार नागरिकों को समान सुविधाएँ आदि देने का वचन दिया । १६३१ तक दोनों देशों के बीच शांति सम्बंध बने रहे ।

मंचूरिया पर जापानी नियन्त्रण ने रूस के पूर्वी साइबेरिया प्रान्त जिसमें ब्लाडिवास्टक भी सम्मिलित था को एक ऐसे दुर्ग में परिवर्तित कर दिया, जो चारों तरफ से जापान और उसके प्रभाववर्ती क्षेत्रों से खतरनाक ढंग से घिरा हुआ था । इससे रूस की चिन्ता बढ़ गई । रूस की चिंता के बढ़ने का एक कारण यह भी था कि दिसम्बर १६३१ में रूस द्वारा प्रस्तुत अनाक्रमण संधि पर जापान ने हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया था। जापान द्वारा उत्तरी चीन की विजय ने रूस के साइबेरियन सीमान्त को असुरक्षित बना दिया और साइबेरिया के लम्बे सीमान्त को सैनिक कार्यवाहियों का अड्डा बनाया जा सकता था परन्तु सोवियत सरकार अपने इस क्षेत्र की उपेक्षा नहीं कर सकती थी क्योंकि उसने इसकी औद्योगिक उन्नति के लिये बहुत कठिन श्रम किया था।

अतः मंचूरिया तथा उत्तरी चीन के प्रान्तों पर जापान की विजय रूस के लिये प्रत्यक्ष खतरे की घण्टी थी । रूस में यथाशीघ्र इसकी प्रतिक्रिया भी हुई और १६३३ में उसने अमेरिका के साथ दोस्ती का व्यवहार शुरू कर दिया तथा १६३४ में राष्ट्र संघ का सदस्य भी बन गया । १६३२ में उसने राष्ट्रवादी चीन के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये । संक्षेप में चीन में, जापानी प्रसार ने रूस को यूरोप में मित्र ढूँढने तथा मंचूरिया के निकट रूसी सीमा पर अपने सैनिक तैनात करने को मजबूर कर दिया । क्योंकि यह समय काफी सन्देहजनक और तनावपूर्ण था और छोटी छोटी घटनाएँ भी बहुत महत्वपूर्ण रूप ले सकती थीं । रूस ने अनेक बार जापानी सेना के द्वारा रूसी सीमा के अतिक्रमण की शिकायत की । जून में रूसी तट रक्षकों ने कुछ जापानी मछियारों को गोली से उड़ा दिया । इस कारण स्थिति खतरनाक हो गई और जुलाई में जब एक रूसी जहाज ने जापानी समुद्र (क्यूराइल्स के पास) में प्रवेश किया तो जापानियों ने उसे पकड़ लिया । इस प्रकार तनाव बढ़ता गया ।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति से चीन को जापानी आक्रमण से तो मुक्ति मिल गई

परन्तु गृह युद्ध से मुक्ति न मिल सकी। हालांकि, महायुद्ध के समय में चीन के दो प्रमुख परस्पर विरोधी दलों-कुओमिताग तथा साम्यवाद, ने एक दूसरे के साथ सहयोग स्थापित करके जापानियों से टक्कर ली था, परन्तु युद्ध समाप्ति के तुरन्त बाद दोनों में सघर्ष शुरू हो गया जिसमे साम्यवादी दल सफल रहा और कुओमिताग के नेता च्याग को चीन से हट जाना पडा। इस सम्बन्ध मे शूमन ने लिखा है[१] — 'द्वितीय महायुद्ध के विनाश एव सहार ने मित्रो तथा शत्रुओ की मूर्खताओ के साथ मिलकर चीन को साम्यवाद के हाथो में सौप दिया। अमेरिका के अनेक लोगो ने चीन की क्राति को "रूसी षडयन्त्र" अथवा वाशिंगटन मे 'विश्वास घातियो" के एक षडयन्त्र का किसी न किसी रूप मे परिणाम बताया। चीन की लाल विजय बीसवी सदी में रूस की सबसे भारी विजय तथा अमेरिका की सबसे भारी पराजय होते हुए भी, न तो अमेरिका के लोगो का कार्य था और न रूसियो का, वरन् चीनियो का ही कार्य था।"

चीन में साम्यवादी शासन

परन्तु यह सब कुछ कैसे हो गया, इसका यहा पर विस्तार सहित नही समझाया जा सकता परन्तु सक्षेप मे उल्लेख किया जा सकता है। चीनी जनता को साम्यवाद का सन्देश पहुँचाने का सर्व प्रथम सफल प्रयास सुप्रसिद्ध पत्र ' यू चाइना ' जिसका सम्पादक चेन टू स्यू था, के द्वारा प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त किया गया था। इसी सम्पादक ने अपने कुछ साथियो की सहायता से सितम्बर १९२० में साम्यवादी दल की नींव रखी। दल का प्रधान कार्यालय शघाई मे रखा गया था। इसके बाद चीन के प्रमुख नगरो तथा कस्बो मे साम्यवादी दल की शाखाओ को स्थापित किया जाने लगा। जुलाई १९२१ में शघाई में साम्यवादी दल का प्रथम अधिवेशन किया गया जिसमें आधुनिक साम्यवादी चीन के चोटी के नेतागण-माओत्सेतुग, चाऊ एन लाई, चू तह आदि भी उपस्थित थे। चीनी साम्यवादी दल के सिद्धान्त बहुत कुछ अशो मे सोवियत दल से मिलते जुलते थे फिर भी १९२२ से १९२७ तक साम्यवादी दल और कुओमिताग दल में घनिष्ट सहयोग रहा। माओ तथा च्याग मे भी घनिष्ट सम्बन्ध रहा। दोनो दलो के सहयोग के कारण राष्ट्रवादी दल की शक्ति का अद्भुत विकास हुआ और चीन का एकीकरण भी यथार्थ रूप धारण करने लग गया था। परन्तु इसी समय बोरोडिन तथा च्याग में तनाव उत्पन्न हो गया क्योकि दोनो दल अपने व्यक्तिगत हितो की पूर्ति के लिये दूसरे दल को साधन के रूप में काम में लाने की सोचने लग गये। साम्यवादी दल ने च्याग को एक पाखण्डी, क्रान्ति के साथ विश्वासघात करने वाला कहकर उसकी घोर निन्दा की। दूसरी तरफ च्याग ने सैनिक तथा पूँजीपतियो से साठ गाठ करके चीनी साम्यवादियो का सफाया करना शुरू कर दिया। १९३४ में च्यागकाई शेक की सेनाओ ने साम्यवादियो पर निरन्तर आक्रमण किये। यद्यपि राष्ट्रवादी सेनाओ को अधिक सफलता नही मिली फिर

१ शूमैन—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।

भी उन्होने साम्यवादियो को चारा तरफ से घेरने में सफलता प्राप्त कर ली और साम्यवादियो को भी इसका आभास हो गया । अत साम्यवादियो ने जो फिलहाल दक्षिणी चीन के क्याग सी प्रात मे स्थित थे, उत्तर पश्चिमी चीन के शेन्सी प्रात में जाने का निश्चय कर लिया। शेन्सी क्वातुग से लगभग तीन हजार मील दूर था। इस दूरी को साम्यवादियो ने आठ महीने में तय किया। साम्यवादियो का यह पलायन इतिहास में "ऐतिहासिक प्रयाण' (Long March) के नाम से प्रसिद्ध है । इस पलायन का उद्देश्य सोवियत सीमा के समीप तथा राष्ट्रवादियो की पहुँच से बहुत दूर एव चीन के प्रमुख शत्रु जापान द्वारा अधिकृत मचूरिया के निकट पहुँचना था ताकि सोवियत रूस की सहायता उपलब्ध हो सके और जापान तथा राष्ट्रवादी चीन की सरकार दोनो से ही मुकाबला किया जा सके।

इस बीच च्यागकाई साम्यवादियो का सफाया करने की नूतन योजनाएँ बनाता रहा परन्तु उसे सफलता नही मिली। अन्त में, १९३६ में वह स्वय साम्यवादियो के विरुद्ध चल पडा। परन्तु उसका अपहरण कर लिया गया और उसे इस शर्त पर छोडा गया कि वह लाल चीन के साथ समझौता कर लेगा तथा उनके साथ मिलकर जापानी साम्राज्यवाद का मुकाबला करेगा। क्लाड ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि साम्यवादी च्याग की हत्या भी कर सकते थे परन्तु स्टालिन के निर्देशानुसार उन्होंने ऐसा नही किया।[1]

च्याग तथा साम्यवादियो की सुलह तो हो गई परन्तु एक दूसरे के प्रति विश्वास की अब भी कमी थी परन्तु जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करना भी आवश्यक था। अत दोनो ने मिलजुल कर जापानियो का सामना करने की योजना बनाई। साम्यवादियो ने निष्ठापूर्वक अपनी भूमिका अदा की और जापानियो को भारी क्षति पहुँचाई। एक जापानी सेनापति ने उनके सम्बन्ध में कहा था कि "यदि हम इनके विरुद्ध छोटे सैनिक दस्ते भेजते है तो वे कभी वापिस नही लौटते, यदि बडी सेना भेजते हैं तो उन्हे कभी साम्यवादी नही मिलते।' च्याग को साम्यवादियो की सफलता से प्रसन्नता नहीं हुई। उसकी अप्रसन्नता का एक कारण यह भी था कि साम्यवादी दल धीरे धीरे अपनी सदस्य सख्या भी बढा रहा था और प्रभाव क्षेत्र का भी विकास कर रहा था। साम्यवादी दल की यह आश्चर्यजनक प्रगति सोवियत सरकार की सहायता का परिणाम नही थी, परन्तु उसके स्वय के उच्चादर्श तथा जनकल्याणकारी कार्यों का परिणाम थी। १९४० के अन्त तक दोनो दलो के मध्य आपसी सहयोग का स्पष्ट रूप से अन्त हो गया और च्यागकाई शेक ने जापान को कुचलने के स्थान पर अपने ही स्वबन्धुओ को स्वर्गधाम पहुँचाने का फैसला कर लिया और इस दिशा मे अमेरिका तथा ब्रिटेन से मिलने वाली सहायता जो कि वस्तुत जापान के विरुद्ध दी जा रही थी, का खुलकर प्रयोग किया

---

1. क्लाड, बम—दी फार ईस्ट।

परन्तु फिर भी उसे सफलता नहीं मिली। अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस तीनों देशों ने चीन के दोनों दलों में समझौता कराने का अथक प्रयत्न किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक आपसी नोक झोंक जारी रही।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद, सभी देशों को यह विश्वास था कि अब चीन में भी शान्ति स्थापित हो जायेगी। क्योंकि युद्धकाल से ही अमेरिका और रूस चीन के दोनों दलों में समझौता कराने में लगे हुये थे। अगस्त १९४४ तथा फिर अप्रैल १९४५ में मास्को ने च्यागकाई शेक की अध्यक्षता में चीन की एकता के विषय में अमेरिका की नीति का समर्थन करने का वचन दिया था। नवम्बर १९४४ में चीन स्थित अमरिकन राजदूत पट्रिक हर्ले ने चीन में एक मिली जुली सरकार के सम्बन्ध में दोनों दलों से वार्तालाप की परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। १४ अगस्त १९४५ को चीन सोवियत संधि जिसके अनुसार रूस ने चीन की राष्ट्रीय सरकार को सहायता का वचन दिया था, शांति की आशा अधिक बढ गई थी।

१५ अगस्त १९४५ को जापान ने आत्म समर्पण कर दिया। इस समय मंचूरिया और कोरिया में रूसी सेनायें निरन्तर आगे बढ रही थी। यनान की साम्यवादी सरकार उत्तरी चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुकी थी। मित्रराज्यों की सहायता से कुओमिंताग सरकार भी अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर रही थी। इसी समय यह प्रश्न उठ खडा हुआ कि जापान द्वारा खाली किये गये प्रान्तों पर किस सरकार का अधिकार माना जाये क्योंकि चीन में दो सरकारें था—एक कुओमिंताग और दूसरी साम्यवादी। अमेरिका यह नहीं चाहता था कि पूर्वी चीन के जिन प्रान्तों को जापानी अधिकार से मुक्त किया गया उन पर साम्यवादियों का अधिकार हो। अतः उसने च्याग को हर प्रकार की सहायता दी ताकि उसकी सेनाएँ यथाशीघ्र पूर्वी चीन पर अपना अधिकार कर लें। इस पर चीन में गृह युद्ध की ज्वाला भभक उठी। अमेरिका गृह युद्ध के पक्ष में भी नहीं था। अन्त दिसम्बर १९४५ को जनरल मार्शल को दोनों दलों में सुलह करवाने के उद्देश्य से चीन भेजा गया। जनवरी १९४६ में दोनों दलों में अस्थायी समझौता हो गया परन्तु यह अधिक समय तक नहीं चल सका और संघर्ष पुनः शुरू हो गया। नवम्बर १९४६ में च्यागकाई शेक ने सम्पूर्ण देश के लिए एक नूतन संविधान बनाने के लिये एक विशाल राष्ट्रीय महासभा का आयोजन किया। साम्यवादी दल ने इसका बहिष्कार किया। इधर रूस ने मंचूरिया और उत्तरी कोरिया से अपनी सेनाएँ हटाली और इन क्षेत्रों पर साम्यवादियों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अब चीन दो बराबर की सरकारों में विभाजित हो गया जिनका आपसी संघर्ष जारी था। कुओमिंताग को अमरिकन सहायता का भरोसा था और साम्यवादियों को सोवियत सहायता का।

इसके बाद जो युद्ध हुआ, वह चीन के लिये ठीक नहीं हुआ। मार्च १६४७ ई० में च्यांग की सेनाओं ने भारी सफलता प्राप्त की और साम्यवादियों की राजधानी यनान तथा मंचूरिया एवं शातुंग पर राष्ट्रवादी सरकार का अधिकार हो गया परन्तु वर्ष के समाप्त होते होते राष्ट्रवादी सेनाओं को इन प्रान्तों से खदेड़ दिया गया अथवा मौत के घाट उतार दिया गया। इसके बाद साम्यवादी सेना निरन्तर आगे बढ़ती गई। २० अप्रैल १६४६ को नानकिंग तथा २५ मई को शंघाई पर लाल सेनाओं का अधिकार हो गया। २१ सितम्बर १६४६ को, पीपिंग ( पेकिंग ) में 'चीन के जनगणतन्त्र' की स्थापना की गई। १५ अक्टूबर को कैन्टन का पतन हो गया। दिसम्बर १६४६ तक सब कुछ समाप्त हो गया और जनरल च्यांगकाई शेक अपनी अवशिष्ट कुओमिन्तांग सरकार के साथ अमरिका की छत्रछाया में फार्मोसा द्वीप भाग गया। २७ जून १६५० के उपरान्त च्यांग को अमेरिका का सैनिक संरक्षण भी प्राप्त हो गया। तब से आज आज तक वह इस द्वीप में सुरक्षित है और दिखावे के तौर पर संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्यता भी इसी राष्ट्रवादी चीन को प्राप्त है—विशाल लाल चीन को नहीं। चीन की समस्या का अभी अंतिम समाधान नहीं हुआ है। इस कारण पूर्वी एशिया की शान्ति खतरे में ही है।

लाल चीन की वैदेशिक नीति का उल्लेख करते हुए शूमन लिखते हैं कि वह 'अधिकांश रूप में, अमेरिका के विरुद्ध थी, क्योंकि संयुक्तराज्य अमरिका ने नये शासन के शत्रुओं को हथियार दिए थे, उसे मान्यता देने से इनकार कर दिया था निरन्तर उसको उखाड़ने की चेष्टा की थी, फार्मूसा में राष्ट्रीय सरकार का संरक्षण किया था, तथा महाद्वीप के सम्भावित छुटकारे की दृष्टि से च्यांग को नवीन सहायता दी थी। यही कारण था कि पीपिंग की सहानुभूति सोवियत के साथ घनिष्ठ सहयोग तथा इंडो चीन, मलाया तथा अन्यत्र साम्राज्यवाद विरोधी लाल विद्रोहियों की सहायता की ओर ही थी।" आज भी चीन की वैदेशिक नीति इसी दिशा की तरफ अग्रसर है और अमरिकन गुट भी फार्मोसा की सरकार के साथ है परन्तु अन्य देशों के साथ चीन के सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ है। सब प्रथम भारत ने लाल चीन को मान्यता प्रदान की। इसके बाद अनेक एशियाई देशों ने भी लाल चीन को मान्यता प्रदान की। इसका परिणाम अच्छा निकला और इंगलैण्ड तथा कुछ अन्य यूरोपियन देशों ने भी लाल चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये परन्तु स्वतन्त्र देशों की जमात (संयुक्त राष्ट्र संघ) में लाल चीन को अपना यथायोग्य स्थान अभी तक नहीं मिल सका है। लाल चीन साम्यवाद का कट्टर उपासक है। कोरिया के युद्ध में जब संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाएं ३८ वीं अक्षांश रेखा को पार करके उत्तरी कोरिया की सेना को पराजित करती हुई निरन्तर आगे बढ़ती गईं तो लाल चीन के पांच लाख स्वयं सेवकों ने आधुनिक अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित इस विजयवाहिनी को पराजित करके संसार को आश्चर्यचकित

दर दिया। लाल चीन के हस्तक्षेप के कारण ही साम्यवादी उत्तरी कोरिया का अस्तित्व बना रह सका और युद्ध विराम संधि हो सकी। इसी प्रकार का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप करके उसने इंडोचीन में साम्यवादियों के पृथक राज्य की स्थापना में सहयोग दिया। शुरू शुरू में लाल चीन ने भारत के साथ घनिष्ठ मित्रता का परिचय दिया और पंचशील में विश्वास भी व्यक्त किया परन्तु अभी हाल की घटनाओं--तिब्बत पर लाल चीन का पूर्ण अधिकार तथा भारत-चीन सीमा विवाद, से यह स्पष्ट हो गया कि चीन साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की तरफ झुकने लगा है और भारत चीन मैत्री किसी भी क्षण टूट सकती है।

## (२) जापान की विदेश नीति

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अपने महान् पड़ोसी राष्ट्र चीन की भांति जापान भी रमणीय एकान्तवास का उपभोग कर रहा था परन्तु साम्राज्यवादी देशों ने व्यापारिक सुविधाओं का आवरण ओढ कर जापान की दीर्घ कालीन पृथकता का द्वार खटखटाया परन्तु जापान ने सूझ-बूझ से काम लिया और १८५४ ई० में उसने अमेरिका के साथ संधि करली और अपने तीन बन्दरगाहों के द्वार अमेरिकन व्यापार के लिये खोल दिये। इसी प्रकार की संधियां अन्य यूरोपीय देशों के साथ भी की गई।

जापान का जागरण

चीन की भांति, जापान में भी विदेशियों के प्रति तीव्र आन्दोलन उठ खड़ा हुआ परन्तु इस आन्दोलन के परिणाम चीनी आन्दोलन से भिन्न निकले। जापान के सामन्तों के प्रतिनिधि 'सोगान" जो कि शासन का कर्त्ताधर्त्ता माना जाता था, की शक्ति का अवसान हुआ और जापानी सम्राट् (मिकाडो) की शक्ति का विकास हुआ। इससे सामन्तवादी व्यवस्था का पतन हो गया और जापानी समाज का पुनर्निर्माण हुआ जिससे सब साधारण को उन्नति करने का अवसर मिला। इसके अतिरिक्त, जापान ने पाश्चात्य सिद्धान्तों एव प्रादर्शों को यथासंभव प्रायोगिक रूप दिया। फ्रेंच प्रशासन व्यवस्था के आधार पर स्थानीय शासन को प्रधानता दी गई। आंग्ल पद्धति के आधार पर नौ सेना का संगठन तथा विकास किया गया। वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर औद्योगिक उन्नति की नींव रखी गई। परिणामस्वरूप बीस वर्षों के अन्दर ही अन्दर जापान का कायाकल्प हो गया और वह एक शक्तिशाली देश के रूप में रंगमंच पर आ डटा।

चीन में विदेशी साम्राज्य के प्रसार से जापान का जी भी ललचा उठा और उसने भी चीनी प्रान्तों को हड़पने के लिये अपने हाथ-पैर हिलाने शुरू कर दिये। १८७४ में

उसने फार्मोसा पर आक्रमण किया। १८९४–९५ में चीन जापान युद्ध लड़ा गया जिसमें चीन पराजित हुआ और शिमोनेसकी संधि के द्वारा उसे मंचूरिया का प्रांत जापान को देना पड़ा। परन्तु यूरोपियन देशों विशेषकर रूस, जर्मनी तथा फ्रांस को एशियाई देश जापान का उत्कर्ष मान्य नहीं था। अतः उनके दबाव के कारण जापान को मंचूरिया का प्रांत चीन को लौटाना पड़ा। इससे जापान को किसी महान शक्ति की मित्रता की आवश्यकता का अनुभव हो गया और १९०२ में उसने ग्रेट ब्रिटेन से संधि कर ली। इससे जापान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अत्यधिक मजबूत हो गई। १९०४-५ में रूस जापान युद्ध हुआ जिसमें यूरोप का शक्तिशाली देश रूस एशिया के जापान से पराजित हुआ और जापान को चीन में महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुए। १९१४ में प्रथम महायुद्ध का सूत्रपात हुआ और जापान ने मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर जर्मनी तथा आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। युद्धकाल में जापान ने प्रशान्त महासागर में स्थित जर्मन द्वीपों तथा चीन में जर्मनी के प्रभाववर्ती क्षेत्रों पर ही अधिकार नहीं किया बल्कि चीन के सामने "इक्कीस मांगें" रखकर चीन को अपना आर्थिक उपनिवेश बनाने का भी प्रयत्न किया।

**चीन में जापान की प्रगति**

परिस शांति सम्मेलन के समय जापान की विदेश नीति का ध्येय था—(१) चीन में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना तथा (२) जर्मन उपनिवेशों पर अपने अधिकार को स्वीकार करवाना। जापान को अपनी सफलता का पूर्ण विश्वास था क्योंकि युद्धकाल में की गई गुप्त संधियों के अनुसार मित्रराष्ट्रों ने उसके दावों का समर्थन करने का आश्वासन दिया था। यही कारण था कि जब चीनी प्रतिनिधि ने यह प्रार्थना की कि चीन में विदेशी राज्यों को प्राप्त राज्य क्षेत्रातीतता (Extra territoriality) का पुनः अध्ययन किया जाय तथा युद्धकाल में जापान द्वारा अधिकृत चीनी प्रदेशों को पुनः चीन को लौटाया जाय, तो शांति परिषद ने चीनी प्रार्थना को रद्द कर दिया। अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन के विरोध के उपरान्त चीन का शान्तुंग प्रदेश जो पहिले जर्मनी के पास था, जापान को सौंप दिया गया तथा प्रशान्त महासागर के कई जर्मन द्वीपों को भी आदिष्ट प्रथा के अन्तर्गत जापानी प्रशासन के अन्तर्गत रखा गया। फिर भी जापान शांति सम्मेलन के निर्णय से असंतुष्ट ही रहा। इस सम्बन्ध में उसे चीन तथा अमेरिका, दोनों की सहानुभूति से वंचित होना पड़ा। १९१७-१८ में जापान द्वारा किया गया साइबेरिया अभियान भी असफल रहा। इससे इटली की भांति जापान में भी यह भावना व्याप्त होती गई कि उसने युद्ध में जो कुछ जीता था, उसे संधि में खो दिया। परन्तु दूसरे राष्ट्रों विशेषकर अमेरिका का कथन था कि जापान को बहुत अधिक सुविधाएं प्रदान की गई थीं जिसके कारण सुदूर पूर्व में सैनिक शक्ति के सहारे जापान को चुनौती देना किसी राष्ट्र के लिये असम्भव हो गया।

**पेरिस शांति सम्मेलन और जापान**

शांति सम्मेलन से न तो जापान ही संतुष्ट था और न अमेरिका ही परन्तु फिर भी दोनों देशों में आपसी मतभेद बढ़ता गया। आपसी मदभेद के बहुत से कारण थे। जापान की प्रगति की ओर उन्मुख जहाजी शक्ति से अमेरिका काफी भयभीत था। फिर आंग्लो-जापानी संधि भी अमेरिका के सिरदर्द को बढ़ा रही थी। इसके अतिरिक्त अमेरिका सुदूरपूर्व में शक्ति संतुलन बनाये रखने को उत्सुक था। इन सब बातों की पृष्ठभूमि में नवम्बर १९२१ में वाशिंगटन सम्मेलन बुलाया गया जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है।

**वाशिंगटन सम्मेलन के उपरान्त**

वाशिंगटन सम्मेलन के उपरान्त जापान और अमेरिका के सम्बन्ध कुछ समय तक तो अच्छे रहे। १९२३ में अमेरिका ने भूकम्प से पीड़ित जापान को सहायता दी परन्तु १९२४ में जापानी उत्प्रवासियों को अमेरिका में बसने से मना कर दिया। इससे दोनों देशों में पुनः तनाव उत्पन्न हो गया। फिर भी जापान वाशिंगटन सम्मेलन के निर्णयों का पालन करता रहा। १९२३ में उसने चीन को शांतुग वापस लौटा दिया। वास्तविक सत्य तो यह था कि इस समय जापान अकेला पड गया था। आंग्लो जापानी संधि समाप्त हो चुकी थी, जापान और अमेरिका के सम्बन्ध बिगड़ने शुरू हो गये थे और रूस तथा चीन के सम्बन्ध बढ़ रहे थे। ऐसी स्थिति में जापान ने अपनी विदेश नीति में कुछ आवश्यक परिवर्तन करने का निश्चय कर लिया था। १९२२ में उसने साइबेरिया खाली कर दिया और २० जून १९२५ को रूस के साथ संधि भी करली। इस अवधि में उसकी विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य चीन के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखना था। जापान की उदार नीति का श्रेय जापान के विदेश मन्त्री शिदेरा (Shidehara) की उदार नीति को है जो सहयोग की भावना में विश्वास रखता था।

१९३१ ई० तक जापान की विदेश नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन तो नहीं हुआ परन्तु इसके बाद में लागू की जाने वाली साम्राज्यवादी नीति का निर्माण इसी अवधि में हो चुका था। इस साम्राज्यवादी योजना की झलक जनरल बैरन टनाका अथवा तनाका द्वारा

**तनाका मेमोरियल**

१९२७ में जापानी सम्राट् को प्रस्तुत किये गये 'तनाका मेमोरियल" (Tanka Memorial) में दिखलाई पड़ती है, जिसमें स्पष्ट कहा गया कि जापान के राष्ट्रीय अस्तित्व के लिये न केवल मंचूरिया, मंगोलिया और चीन की विजय की ही आवश्यकता है बल्कि सम्पूर्ण पूर्वी एशिया और दक्षिण सागरीय देशों की विजय की भी आवश्यकता है और इसमें यह भी स्वीकार किया गया था कि प्रादेशिक विस्तार की इस योजना के सम्बन्ध में संयुक्तराज्य अमेरिका को भी पराजित करना पड़ेगा। तनाका मेमोरियल की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थी— 'जापान पूर्वी एशिया में कठिनाइयों को उस समय तक दूर नहीं कर सकता जब तक वह 'रक्त तथा लौह' (Blood and Iron) की नीति को स्वीकार नहीं करता। यदि हम चीन पर नियन्त्रण करना चाहते हैं, तो हमें पहले संयुक्तराज्य अमेरिका को

परन्तु चीन को जीतने के लिए, हम पहले मंचूरिया और मंगोलिया को जीतना आवश्यक है। संसार की विजय के लिए, हमें चीन को पहले जीतना चाहिए। चीन के समस्त साधनों को अपने अधिकार में करने के उपरान्त हम भारत, एशिया माइनर, मध्य एशिया तथा यूरोप तक को जीतने के लिए आगे बढ़ेंगे। यदि यामतो जाति अपनी विशिष्टता सिद्ध करना चाहती है, तो मंचूरिया तथा मंगोलिया का नियन्त्रण प्राप्त करना पहला कदम है।"

यद्यपि जापान का मन्त्रिमण्डल इस नीति पर चलने को तैयार नहीं था, परन्तु जापान के सेनानायक घटनाओं के प्रवाह को प्रभावित करने की स्थिति में थे क्योंकि जापान में सेना और नौ सेना विभाग व्यवहारिक रूप में नागरिक अधिकारियों से स्वतन्त्र था और मन्त्रियों की स्वीकृति के बिना सैनिक अधिकारियों को सम्राट से प्रत्यक्ष वार्ता करने का अधिकार था। सैनिक नेताओं के हृदय में लोकतन्त्रात्मक शासन के प्रति बहुत कम सहानुभूति थी। १९३१ के प्रारम्भ में ही वे अपनी नीति को आरोपित करने में सफल हो गए थे और इसके लिए सम्पूर्ण संसार की अवज्ञा करने को भी तैयार थे। सैनिक नेताओं को, अवसर पड़ने पर अपनी नीति को लागू करवाने के लिये उच्चाधिकारियों की हत्या करवाने में भी घृणा नहीं होती थी। यही कारण था कि १४ नवम्बर १९३० को प्रधान मन्त्री हैमागूची की हत्या कर दी गई। इसके बाद नए प्रधान मन्त्री इनुकाई का भी कत्ल कर दिया गया। इसके बाद जापान की राजनीति पर सेनानायकों का प्रभाव स्थापित हो गया।

१८ सितम्बर १९३१ को, जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। इस घटना का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। मंचूरिया विजय के उपरान्त जापान ने चीन के एक अन्य प्रान्त जेहाल पर आक्रमण कर दिया। ४ मार्च १९३३ तक जापान ने जेहाल पर अधिकार कर लिया और इसके बाद एक पखवाड़े में कुछ अधिक समय में जापान ने चीन की दीवार के सब दर्रों पर अधिकार कर लिया।

**मंचूरिया के उपरान्त**

अप्रैल में, जापानियों ने कई स्थानों पर दीवार को पार करके चीनी भूमि पर बढ़ना शुरू कर दिया और पेकिंग के लिए संकट उत्पन्न हो गया जिसके परिणामस्वरूप ३ मई १९३३ को चीन और जापान में सैनिक सुलह हो गई और चीनी सेनाएं महान् दीवार के आस पास के ५००० वर्ग मील क्षेत्र से हट गईं।

अप्रैल १९३४ में जापान की विदेश नीति में एक नया मोड़ आया और उसने अपनी मुनरो विचार धारा (Japanese Monroe Doctrine) जिसे एशिया के लिये नई व्यवस्था (New order for Asia) भी कहा जाता है, संसार के सामने रखा। जापान की नूतन विचारधारा इस प्रकार थी—"खास इस समय, मंचूरिया और शंघाई की घटनाओं के बाद, विदेशी शक्तियों द्वारा चीन को टैकनिकल या वित्तीय सहायता के नाम से की जाने वाली संयुक्त कार्यवाही का राजनीतिक अर्थ अवश्य

**एशिया के लिये नई व्यवस्था**

लगाया जायेगा। यदि ऐसे कार्य जारी रहे तो इनसे उलझनें पैदा होगी इसलिए जापान को सिद्धान्ततः ऐसे कार्यों पर आपत्ति उठानी पड़ेगी। चीन को लड़ाकू विमान देना, चीन मे हवाई अड्डे बनाना, सैनिक शिक्षक, विशेषज्ञ तथा सलाहकार भेजना, या राजनीतिक उपयोग के लिए धन की व्यवस्था करने की दृष्टि से ऋण देना स्पष्ट रूप से, जापान एवं चीन तथा अन्य देशो के मैत्री सम्बन्धो मे तथा पूर्वी एशिया की शान्ति और व्यवस्था में बिगाड़ पैदा करने लगेंगे। जापान ऐसी परियोजनाओं का विरोध करेगा।"

वास्तव मे, जापान की यह घोषणा पश्चिमी देशो को एक चेतावनी थी जिसमें उन्हें चीन से पृथक रहने की धमकी दी गई थी। ब्रिटेन, अमरिका और फ्रांस में शीघ्र ही पत्र व्यवहार हुआ और पश्चिमी देशो की भावी नीति के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण वक्तव्य भी दिये गये परन्तु इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता कि जापान की चिन्ता भी ठोस थी, सकारण था। क्योंकि इस समय चीन विदेशी सहायता के सहारे अपनी शक्ति का विकास करने की योजना बना रहा था। परन्तु दुर्भाग्य से, चीन को अधिक सहायता प्राप्त नही हुई और जो कुछ सहायता मिला, उसका उपयोग उसने साम्यवादियों को कुचलने में किया। अतः चीन और जापान में कुछ समय तक चुप्पी ही रही।

१९३६ मे जापान की विदेश नीति में एक और परिवर्तन हुआ। इस सम्बन्ध में शूमन ने लिखा है—"जब यह बात स्पष्ट हो गई कि साम्यवाद का विरोध, देशभक्ति उभाड़ने तथा पश्चिमी प्रजातन्त्रों को मदोन्मत्त करने के लिए एक

**एंटी कोमिंटर्न पैक्ट** लाभदायक प्रतीक था, तो जापान के नीति निर्माताओं ने २५ नवम्बर सन् १९३६ ई० के एंटी कोमिंटर्न पैक्ट पर हस्ताक्षर करने में नाजी राज्य का साथ दिया, मंचूरिया, तथा मंगोलिया में रूस के विरुद्ध सीमा पर युद्ध किया (जिसमें एक भी सफलता प्राप्त नही हुई), तथा, अन्तिम रूप में, जुलाई सन् १९३७ ई० में चीन को जीतने के लिए अपनी सारी शक्ति लगाकर अपनी समस्या का हल करने की चेष्टा की। वस्तुतः यह जापान का एक नया कदम था। इस कदम से जापान को न केवल जर्मनी और इटली की मित्रता ही प्राप्त हुई बल्कि साम्यवादी विरोधी कार्यों को करने में, अमरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस का मौन समर्थन भी प्राप्त हो गया।

१९३७ में, जापान ने पुनः चीन पर आक्रमण कर दिया। वह घटना जिसके परिणामस्वरूप लड़ाई शुरू हुई और १९३९-४५ के विश्व युद्ध से जा मिली अपने मूल मे, अधिक भयंकर नही थी। घटना इस प्रकार बतलाई जाती है कि ७ जुलाई १९३७ की मध्यरात्रि को, लूकाओचियाओ के पास मार्कोपोलो स्थान पर एक जापानी सैनिक लापता हो गया और उसकी खोज करने वाली जापानी सैनिक टुकड़ी की चीनी सैनिक टुकड़ी से मुठभेड़ हो गई। जापान ने इस घटना की ओट में चीन पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध का अन्त १९४५ में जापान के आत्म समर्पण के साथ ही हुआ।

दो विश्व युद्धो के बीच जापान और अमेरिका इंगलैंड तथा फ्रास के सबंधो की चर्चा नवें अध्याय में की जा चुकी है । मचूरिया पर जापानी अधिकार के समय तक, जापान और रूस के सम्बन्धो की चर्चा भी पिछले पृष्ठो में की जा चुकी है । अब हम मचूरिया की घटना के उपरान्त, रूस और जापान के सम्बन्धो की चर्चा करेंगे । जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि जापान और रूस के मध्य तनाव उत्पन्न हो गया था । इस तनाव का मुख्य कारण चीन की पूर्वी रेलवे थी । इस रेलवे पर

**रूस और जापान के आपसी सम्बन्ध**

१६०४ ५ से पूर्व रूस का पूर्ण नियत्रण था। इसके बाद चागचुन से दक्षिण का हिस्सा जापान को मिल गया और शेष हिस्सा चीन और रूस के सयुक्त नियत्रण में रहा। १६२१ में जापान ने मचूरिया से चीन को खदेड दिया था । अब रूसी कर्मचारियो को जापानी या मचूरियन साथियो के साथ कार्य करना पडा परन्तु उनमें सहानुभूति की भावना कायम न रह सकी जिसके परिणाम स्वरूप तनातनी बढने लगी । लाचार होकर रूस ने, २३ मार्च १६३५ को अपने रेल सम्बन्धी अधिकार मचूको सरकार को १,७०,००,०००,०० येन (जापानी सिक्का) में बेच दिए । जापान ने इस रकम को चुकाने की प्रत्याभूति दी क्योकि मचूको उसका आश्रित अथवा मित्र राज्य था ।

३० जून १६३७ को आमूर नदी में एक दुर्घटना के फलस्वरूप रूस और जापान के मध्य पुन तनाव उत्पन्न हो गया क्योकि इस दुर्घटना में जापानियो ने रूस के दो जहाज डुबो दिये थे । जुलाई १६३८ में चागकू फेंग झगडे के कारण दोना देशो के सम्बन्ध और अधिक बिगड गये । इसके अतिरिक्त जापान द्वारा समर्थित मचूको राज्य और रूस द्वारा समर्थित बाह्य मगोलिया में आपसी नोक झोक होती रहती थी जिससे सम्बन्ध कटु हो गये। विग्रह का एक कारण सखालीन द्वीप भी था । १६३३ ३६ की अवधि में दोनो देशो के बीच शीत युद्ध चलता रहा और दोनो देशो के नेता तथा प्रेस एक दूसरे के विरुद्ध जहर उगलते रहे । फिर भी, रूस और जापान के बीच अनाक्रमण समझौता जारी रहा । रूस इसे सौहार्द्य के नाते नहीं बल्कि अपनी सुरक्षा की दृष्टि से जारी रख रहा था । परन्तु जापान ने परिस्थिति को समझ करके नवम्बर १६३६ में एटी कामिटर्न पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये । इसका प्रत्युत्तर रूस ने २१ अगस्त १६३७ को चीन के साथ अनाक्रमण समझौता करके दिया । इस समझौते के साथ ही रूस ने चीन को और अधिक सहायता देना शुरू कर दिया । सितम्बर १६३७ में जब राष्ट्र सघ में चीनी समस्या विचाराथ रखी गई थी तो रूस ने अपनी पूर्ण शक्ति के साथ चीन का समर्थन किया । नवम्बर १६३७ में ब्रूसेल्स सम्मेलन में भी रूस ने चीन का पक्ष लेते हुए एंग्लो अमेरिकन नीति जिसका उद्देश्य जापान को सतुष्ट करने तथा चीन जापान विवाद में मध्यस्थता करने का था डटकर विरोध किया और उस प्रत्येक सक्रिय कदम जो जापान के विरुद्ध उठाया जाने वाला हो, के समर्थन का वचन दिया । इस पर पश्चिम ने यह प्रस्ताव रखा कि रूस अपनी स्थल और वायु सेना से जापान पर आक्रमण

करे और इगलैण्ड तथा अमेरिका अपनी जलशक्ति का प्रदर्शन करे। रूस ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया क्योंकि पश्चिम के हितों की सुरक्षा के लिये जापान से लड़े जाने वाले युद्ध का प्रमुख भार वह अकेला सहन करने को तैयार नहीं था। जुलाई १९३८ में हासन झील के पश्चिम में जापान और रूस में एक जबरदस्त सैनिक झड़प हो गई जिसमें जापान को काफी क्षति उठानी पड़ी।

अगस्त १९३९ में रूस और जर्मनी के मध्य किये गये अनाक्रमण समझौते ने जापान को आश्चर्यचकित और साथ ही क्रोधित कर दिया। जापान को ऐसा आभास हुआ मानो जर्मनी ने जापान को बेच दिया हो। अतः एक बार पुनः दोनों देशों के साथ नवीन सिरे से व्यापारिक समझौता सम्पन्न किया गया। २७ सितम्बर १९४० को जापान ने "धुरी समझौते" (Axis Pact) पर हस्ताक्षर कर दिये। रूस ने जर्मनी के साथ समझौता कर लिया था परन्तु वह जापान के प्रति अब भी अविश्वास की दृष्टि से देख रहा था और चीन की सहायता दे रहा था। जर्मनी ने जापान को रूस पर आक्रमण करने को कहा था परन्तु जापान इसके लिये तैयार नहीं था। जापान यह चाहता था कि जर्मनी इगलैण्ड और फ्रांस को पराजित करे ताकि इन देशों के एशियाई प्रान्तों को जापान सुगमतापूर्वक हड़प सके। इधर जर्मनी जापान पर यह दबाव डाल रहा था कि वह जर्मनी के पक्ष में ब्रिटेन से युद्ध करे। जापान ने प्रत्युत्तर में यह माँग की कि जर्मनी रूस पर आक्रमण करे या फिर भविष्य में धुरी राष्ट्रों तथा रूस के संघर्ष में जापान की तटस्थता को स्वीकार करे। हिटलर ने अन्तिम माँग को स्वीकार कर लिया।

जापान इस समय दुविधा में फँस गया था क्योंकि यदि जर्मनी रूस पर आक्रमण करता है और जापान ब्रिटेन पर तो उसे ब्रिटेन के मित्र अमेरिका तथा जर्मनी के शत्रु रूस दोनों से युद्ध करना पड़ता है। जापान एक ही समय में दोनों से लड़ने के पक्ष में नहीं था। अतः उसने १३ अप्रैल १९४१ को पाँच वर्ष के लिये सोवियत रूस के साथ अनाक्रमण समझौता कर लिया। इस समझौते के द्वारा दोनों देशों ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दिया। दोनों देशों ने बाह्य मंगोलिया तथा मंचूको की स्वाधीनता एवं सीमान्त सुरक्षा का आश्वासन दिया।

२२ जून १९४१ को जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और उसने जापान को भी रूस पर आक्रमण करने का सुझाव दिया परन्तु जापान अपनी योजना में मशगूल था और उसने आक्रमण नहीं किया। उसने सोचा कि रूस और इगलैण्ड जब तक जर्मनी के साथ उलझे हुये हैं, जापान अमेरिका से निपट लेगा। यही जापान की भूल थी। ७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने अमेरिका के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। ११ दिसम्बर को जर्मनी ने भी जापान का साथ देते हुए अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परन्तु युद्ध के अन्तिम समय तक जापान और रूस, परस्पर विरोधी गुट में होते हुए भी, एक दूसरे के प्रति तटस्थ बने रहे। केवल अन्तिम समय में रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी और मंचूरिया तथा उत्तरी कोरिया पर अधिकार कर लिया था।

# (३) कोरिया

१८६५ ई० तक कोरिया चीन के साम्राज्य का एक भाग था। १८६४६५ ई० में चीन और जापान में भयकर युद्ध हुआ जिसमें चीन को पराजित होना पडा। चानो पराजय के कारण कोरिया में चीनी प्रभुत्व का अन्त हो गया

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि और रूस तथा जापान का प्रभुत्व बढने लगा। ये दोनों देश कोरिया को अपने अपने प्रभाव के अन्तगत लाने को उत्सुक थे। १६०४ ५ में रूस जापान युद्ध में रूस को पराजित होना पडा और इसके साथ ही रूस को कोरिया से हट जाना पडा। कोरिया जापान का सरक्षित राज्य बन गया। १६०५ से लेकर १६४५ तक कोरिया जापानी शासन के अन्तगत ही रहा।

१६१४ १८ के महायुद्ध के अवसर पर ससार के प्राय सभी देशो में राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र शासन की प्रवृत्तियो को बल मिला। कोरिया भी इससे अछूता नहीं रहा। १६१६ म कोरिया के लोगों ने जापानी शासन के विरुद्ध आदोलन शुरू कर दिया। जापानी शासन तथा माल का बहिष्कार किया जाने लगा। शघाई मे स्थित कोरियन लोगो ने "स्वतन्त्र कोरियन सरकार" का सगठन किया और पेरिस शाति अधिवेशन में एकत्र राजनीतिज्ञो से कोरिया की स्वाधीनता को स्थापित करने का अनुरोध भी किया गया परन्तु कोरियन लोगो का आन्दोलन सफल नही हो सका। लोकतन्त्र के समर्थकों की दृष्टि में कोरिया की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नही था या वे जापान को नाराज करने की हिम्मत नही कर सकते थे। जापान ने क्रूरता के साथ इस आन्दोलन को कुचल दिया परन्तु इससे जापान ने भी पाठ सीखा और उसने धीरे धीरे कोरिया स्वराज्य (स्थानीय स्वशासन) की स्थापना करने का प्रयत्न शुरू कर दिया।

द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर कोरियन लोगो ने अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये पुन आदोलन शुरू कर दिया। इस बार स्थिति उनके अनुकूल थी क्योंकि जापान मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध लड रहा था। १ दिसम्बर १६४३ को काहिरा सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के अत से अमेरिका, ब्रिटेन तथा चीन की ओर से एक सयुक्त उद्घोषणा की गई कि महायुद्ध में जापानी पराजय के उपरान्त कोरिया को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायेगी और एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में उसका विकास किया जायेगा। याल्टा और पोटसडम के सम्मेलनो में भी उपरोक्त उद्घोषणा का समर्थन किया गया। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने को योग्य है। वह यह कि मित्रराष्ट्रो ने कोरिया को स्वाधीन करना तो तय कर लिया था परन्तु वे इस बात से परिचित थे कि कोरियन लोग तत्काल ही अपने देश के शासन को सुचारू रूप से नही चला सकेंगे। अत यह सोचा गया कि जब तक कोरियन लोग अपने देश का शासन स्वय सभालने में समर्थ नहीं हो जाते तब तक कोरिया मित्रराज्यो के अधिकार में रखा जाय और स्वराज्य स्थापित किया जाय।

अगस्त १६४५ में रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और

क्वातुग प्रान्त में स्थित शक्तिशाली जापानी सेना को पराजित करके रूसी सेनाओं ने उत्तरी कोरिया पर अपना अधिकार कर लिया। इससे मित्रराष्ट्रों की योजना में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया और कोरिया के सम्बन्ध में की जाने वाली व्यवस्था में रूस को भी सम्मिलित करना पड़ा। मित्र राज्यों ने कोरिया के सम्बन्ध में यह समझौता किया कि ३८ वीं परलल के उत्तर में रूसी सेना अपना अधिकार रखे और ३८ वीं परेलल के दक्षिण में अमेरिकन सेनायें। यह कब्जा अस्थायी हो और दोनों सैनिक टुकड़ियाँ अपने २ क्षेत्र से जापानी प्रभाव को समाप्त करने का काम करें ताकि यथाशीघ्र एक संयुक्त कोरियन राज्य की स्थापना की जा सके।

**कोरिया का विभाजन**

दिसम्बर १९४५ में, कोरिया की भावी व्यवस्था के सम्बन्ध में, मास्को में ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में सम्पूर्ण कोरिया में एक स्वतन्त्र व लोकतन्त्र राज्य की स्थापना पर विचार किया गया परन्तु रूस और अमेरिका के आपसी मतभेद के कारण संयुक्त राज्य की स्थापना की योजना सफल नहीं हो सकी। उसके स्थान पर रूस और अमेरिका का एक संयुक्त आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग को सम्पूर्ण कोरिया में एक सामयिक सरकार के संगठन का काम सौंपा गया। मार्च १९४६ ई० में सिऊल नगर में इस आयोग की प्रथम बैठक हुई। सामयिक सरकार की स्थापना में कौन कौन से राजनीतिक दलों का सहयोग लिया जाय, इस प्रश्न पर रूस और अमेरिका में मतभेद उठ खड़ा हुआ। रूसी लोगों की दृष्टि से साम्यवादी दल सर्वाधिक लोकप्रिय था जब कि अमेरिका की दृष्टि में दक्षिण कोरिया के दक्षिण पक्षी दलों का अत्यधिक महत्व था। अतः रूस चाहता था कि सामयिक सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में साम्यवादी दल को प्रमुख स्थान दिया जाय जबकि अमेरिका दक्षिणी पक्षी दलों को प्रमुख स्थान देना चाहता था। इस स्थिति में आयोग किसी प्रकार की सफलता प्राप्त नहीं कर सका।

आयोग की असफलता के उपरान्त रूस और अमेरिका, दोनों ने ही, अपने अपने अधिकार क्षेत्रों में, अपने अपने आदर्शों के अनुकूल सरकारों का संगठन करने का निश्चय कर लिया। उत्तरी कोरिया में साम्यवादी नेता किम इर सेन के नेतृत्व में सामयिक सरकार का संगठन किया गया। सितम्बर १९४६ में उत्तरी कोरिया की सरकार ने अपने देश के लिये नये शासन विधान का निर्माण कर लिया। इसके आधार पर नवम्बर १९४६ में उत्तरी कोरिया में निर्वाचन किये गये जिसमें साम्यवादी दल को भारी बहुमत प्राप्त हुआ।

दक्षिण कोरिया में सामयिक सरकार का संगठन कुछ विलम्ब के बाद हुआ। शुरू में जनरल मैक आर्थर के अन्तर्गत जनरल जॉन हॉज को दक्षिणी कोरिया की शासन व्यवस्था का दायित्व सौंपा गया जिसने जनवरी १९४६ तक दक्षिणी कोरिया में स्थित जापानी कर्मचारियों के द्वारा ही शासन प्रबन्ध किया। इसके बाद दक्षिण कोरियन लोगों का सहयोग प्राप्त किया गया। फरवरी १९४६ में एक परामर्श समिति नियुक्त की गई

जिसमे दक्षिणपंथी (साम्यवाद विरोधी) लोगों को स्थान दिया गया। इसके बाद एक सामयिक व्यवस्थापिका सभा का संगठन किया गया और नवम्बर १६४६ में निर्वाचन हुआ। यह निर्वाचन एक तमाशा मात्र था क्योंकि यह बालिग मताधिकार पर नहीं किया गया था। चाहे जो भी हो, नवम्बर १६४६ तक, कोरिया में दो सरकारों की स्थापना हो गई थी।

अप्रैल १६४७ में रूस ने प्रस्ताव रखा कि कोरिया के एकीकरण के लिये रूस अमरीकी आयोग फिर से अपना काम शुरू करे। अमेरिका ने इसे स्वीकार कर लिया और २१ मई १६४७ को आयोग ने पुनः अपना कार्य शुरू कर दिया। परन्तु आपसी मतभेदों के कारण आयोग इस बार भी असफल रहा और उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया के दोनों क्षेत्रों में पृथक पृथक सरकारें कायम रहीं।

नवम्बर १६४७ में अमरिका ने कोरिया की समस्या को संयुक्त राष्ट्रसंघ में पेश किया। १४ नवम्बर १६४७ को साधारण सभा ने कोरिया के सम्बन्ध में एक सामयिक आयोग की नियुक्ति का प्रस्ताव पास कर दिया। इस आयोग का कार्य लोकमतानुसार नये निर्वाचन कराना था। रूस ने आयोग की नियुक्ति का विरोध किया। परन्तु उसके विरोध के उपरान्त आयोग को अपना कार्य करने की अनुमति दे दी गई। नतीजा यह हुआ कि उत्तरी कोरिया ने आयोग का बहिष्कार कर दिया और आयोग ने दक्षिणी कोरिया में निर्वाचन कराना तय कर लिया। १० मई १६४८ को दक्षिण कोरिया में निर्वाचन की व्यवस्था की गई और देश का शासन नव निर्मित राष्ट्रीय महासभा को सौंप दिया गया जिसने १२ जुलाई १६४८ तक नया शासन विधान बना लिया। १० मई को निर्वाचित राष्ट्रसभा ने डा० सिंगमन री को कोरिया का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया था। चीन तथा फिलिप्पीन की सरकारों ने दक्षिणी कोरिया की सरकार को मान्यता भी प्रदान कर दी।

दिसम्बर १६४८ को, उत्तरी कोरिया की सरकार की माग पर रूस ने उत्तर कोरिया से अपनी सेनायें हटाली। अमेरिका ने भी दक्षिणी कोरिया से अपनी सेनायें हटाली। इसके बाद, उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की सरकारों में आपसी नोक झोंक का सूत्रपात हो गया और आखरी परिणाम निकला गृह-युद्ध।

**कोरिया का गृह-युद्ध**

जून १६५० में कोरिया की दोनों सरकारों में बाकायदा युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध के लिये उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में कौन उत्तरदायी था, इसका निश्चय करना सुगम नहीं है। इस गृह युद्ध में अमेरिका द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओट में दक्षिणी कोरिया को सैनिक सहायता पहुँचाना, उत्तरी कोरिया की बुरी स्थिति, लाल चीन के स्वयं सेवकों का उत्तरी कोरिया की सहायता करना, भारत आदि देशों द्वारा कोरियन युद्ध को शांत करने का प्रयत्न और युद्ध विराम समझौता आदि बातों का उल्लेख बारहवें अध्याय में किया जा चुका है। अब यहां पर उन बातों का पुनः उल्लेख करना उचित नहीं होगा। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कोरिया का गृह-युद्ध साम्यवाद तथा पूंजीवाद के आपसी संघर्ष की उपज

था। विश्व की दोना महा शक्तियाँ, दूसरे देशा की ओट मे अपनी अपनी शक्ति का मूल्याकन करना चाहती था।

## (४) अन्य देश

दक्षिण-पूर्वी एशिया के उपरोक्त तीन देशों के अतिरिक्त अन्य देशो—इडोनीशिया (हिन्देशिया), इडोचीन (हिन्द चीन), वर्मा (बरमा), मलाया आदि के बारे म भी कुछ कहना आवश्यक है क्योंकि इन देशो ने भी पश्चिम के साम्राज्यवाद का खदेड करके स्वाधीनता प्राप्त की है। द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक इन सभी देशों में विदेशी शासन था। भारत, लका, बरमा, मलाया पर ब्रिटेन का अधिकार था। हिन्देशिया पर हालैण्ड का तथा हिन्द चीन पर फ्रास का अधिकार था। पश्चिम के लिये इन देशो का अत्यधिक महत्व था। इन देशों के आर्थिक शोषण से उन्होने अपने अपने देशों की औद्योगिक उन्नति की थी। इन दशा के सनिको के शौर्य तथा पराक्रम के कारण ही पश्चिम देशो को दोनो महायुद्धो में असाधारण सफलता मिली थी। अत पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तिया एशिया के इन देशों से अपना बोरिया बिस्तर उठाना नही चाहती थी। परन्तु इन देशो की जनता भी अब जाग्रत हो उठी थी और उनमें स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीयता का जोश भर उठा था। सर्व प्रथम अंग्रेजो को भारत से अपना बोरिया बिस्तर समेटना पडा। जाते जाते अग्रेजो ने भारत को दो हिस्सो—पाकिस्तान तथा भारत म विभाजित करके, भारत की शक्ति को कुचल दिया। ४ जनवरी १९४८ को बरमा से भी अग्रेजो को अपना बोरिया बिस्तर समेटना पडा और बरमा भी स्वतन्त्र हो गया। इसी प्रकार ४ फरवरी १९४८ को लका भी अग्रेजो के आधिपत्य से मुक्त हो गया।

हिन्देशिया को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने में कुछ विलम्ब लगा। द्वितीय महायुद्ध के समय जापान ने हिन्देशिया पर अधिकार कर लिया और डच शासन का अन्त हो गया। हिन्देशिया की जनता ने जापानियो के विरुद्ध अपना राष्ट्रीय सघर्ष जारी रखा। जापान की पराजय के उपरान्त, १७ अगस्त १९४५ को हिन्देशिया की जनता ने अपने नेताओं—सुकर्णो तथा हट्टा के नेतृत्व में स्वतन्त्र गणराज्य की घोषणा कर दी परन्तु हालैण्ड ने इसे स्वीकार नही किया और डच लोगों ने हिन्देशिया पर पुन अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न शुरू कर दिया। इस पर भयकर सघर्ष शुरू हो गया। भारत तथा अन्य देशो ने हिन्देशिया की समस्या को सयुक्त राष्ट्र सघ में पेश किया तथा सयुक्त राष्ट्र सघ के बाहर भी हिन्देशिया की स्वाधीनता के लिये अथक प्रयत्न किया जिसके परिणामस्वरूप हालैण्ड को झुकना पडा और २९ दिसम्बर १९४९ को हिन्देशिया की स्वाधीनता स्वीकार कर ली गई।

हिन्देशिया को स्वतन्त्रता तो मिल गई परन्तु महान शक्तियो के स्वार्थों के कारण हिन्देशिया को कई बार आन्तरिक विद्रोहो का सामना करना पडा है और कर रहा है। सच्ची बात तो यह है कि भारत की भाति हिन्देशिया भी एक तटस्थ देश है। परन्तु हिन्देशिया मे साम्यवादी विचारो के फैलने के भय से अमेरिका उसकी राजनीति में टाग

अडाना चाहता है। यह बात हिंदेशिया की तटस्थ सरकार को अच्छी नहीं लगती। अत अमेरिका इस सरकार को उलटना चाहता है और यही कारण है कि हिंदेशिया में यदाकदा सैनिक विद्रोह होते रहते हैं। दूसरी तरफ हिंदेशिया साम्यवादियों के हाथ की कठपुतली बनना भी पसन्द नहीं करता। अत साम्यवादी दल भी इस सरकार के स्थान पर साम्यवादी समर्थक सरकार की स्थापना के पक्ष में है। अत यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि हिंदेशिया के आन्तरिक उपद्रवों को भड़काने का काम कौन कर रहा है ? रूस अथवा अमेरिका ?

हिन्द चीन का फ्रांस के चंगुल से मुक्त होने के लिये काफी संघर्ष करना पड़ा है। वास्तव में हिन्द चीन तीन राज्यों—लाओस कम्बोडिया और वियतनाम की एकता का द्योतक है। २१ जुलाई १९५४ का जेनेवा सम्मेलन के परिणाम स्वरूप हिन्द चीन को फ्रांसीसी साम्राज्यवाद से मुक्ति मिली। परन्तु यथाशीघ्र उसे साम्यवादियों के आक्रमण से उलझना पड़ा और वियतनाम का अधिकांश हिस्सा साम्यवादियों के हाथ लग गया। जहाँ पर साम्यवादियों ने डा० हो ची मिन्ह के नेतृत्व में एक लोकतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी है। लाओस तथा कम्बोडिया पर पश्चिम का प्रभाव है। इस प्रकार हिन्द चीन की स्थिति ठीक नहीं है और किसी भी क्षण सम्पूर्ण देश महायुद्ध की पृष्ठ भूमि बन सकता है।

३१ अगस्त १९५७ को मलाया भी अंग्रेजी आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गया। सिंगापुर भी स्वतन्त्र हो गया है। अब कुछ क्षेत्र बचे हैं जहाँ पर विदेशी शासन स्थापित है। जैसे चीन के हांगकांग पर ब्रिटेन का अधिकार और भारत में गोआ, दमन तथा दीव पर पुर्तगाल का अधिकार। परन्तु इस प्रकार का आधिपत्य अधिक समय तक नहीं टिक सकेगा विदेशियों को बहुत शीघ्र यहाँ से हटना पड़ेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, दक्षिण-पूर्वी एशिया विदेशियों की आधीनता से मुक्त हो गया है परन्तु फिर भी साम्राज्यवादी शक्तियों के चंगुल से उसकी मुक्ति नहीं हो सकी है। भारत, बरमा तथा हिंदेशिया तटस्थ हैं परन्तु जापान आज भी अमेरिका के प्रभाव में है। कोरिया का एकीकरण अभी तक नहीं हो पाया है। फिलिप्पीन, थाइलैण्ड लंका तथा पाकिस्तान पश्चिम के चंगुल में फँसे हुये हैं। उत्तरी कोरिया चीन, वियतनाम साम्यवादी हो चुके हैं। असल में यहाँ पर भी अमेरिका और रूस के हित आपस में गुँथे हुए हैं और अमेरिका हर कीमत पर दक्षिण पूर्वी एशिया में साम्यवाद के शोषण पर तुला हुआ है। इसी दृष्टि से "सीटो" (SEATO) का निर्माण किया गया जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं और यह भी देख चुके हैं कि दक्षिण पूर्वी एशिया की सुरक्षा के निमित्त तैयार की गई इस योजना में दक्षिण-पूर्वी एशिया के केवल तीन देश सम्मिलित हैं बाकि सब दूसरी दुनिया के हैं। एशियाई दुनियाँ से उनका अधिक सम्पर्क नहीं है। रूस और अमेरिका दोनों ही इस क्षेत्र को अपने प्रभाव में लाना चाहते हैं। दुर्भाग्यवश यह क्षेत्र पिछड़ा हुआ है। अत अमेरिका सोचता है कि चाँदी की चमक से

भूखे लोगों को सुगमता के साथ अपने वशीभूत किया जा सकता है और इस सोचता है कि भूखे तथा बेकार लोगो को उकसा कर पूँजीवाद का अन्त तथा साम्यवाद का प्रचार किया जा सकता है। अब तक अलग अलग देशो मे दोनो को ही सफलता मिली है परन्तु कुछ देश ऐसे भी है जिन्होने इन दोनो देशो की नग्न अभिलाषाओं को पहचान लिया है और दोनो को ही दूर रखने का निश्चय कर लिया है। इससे इस बात का सम्भावना बढ रही है कि निकट भविष्य में ही, सम्पूर्ण एशिया, अपने भविष्य का फैसला अपनी इच्छानुसार करने की योग्यता को प्राप्त कर लेगा।

---

# सोलहवाँ अध्याय

## ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल

**प्रस्तावना**—ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य ऐसे स्वतन्त्र राज्य, जो पहले ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित थे, द्वारा सगठित सस्था को ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल कहा जाता है। ये दस राज्य क्रमश ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका सघ, न्यूजीलैड, भारत, पाकिस्तान, लका, घाना एव मलाया हैं। यह सगठन विभिन्न राष्ट्रों के बीच परस्पर सहकारितामय सहयोग का अनूठा उदाहरण उपस्थित करता है। भारत स्वतन्त्र सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य होते हुए भी इस राष्ट्र मण्डल का सदस्य है और पाकिस्तान ने भी भारत का अनुसरण करते हुए सदस्यता स्वीकार की है। इस राष्ट्र मण्डल ने परस्पर सहयोग का ऐसा ज्वलत उदाहरण उपस्थित किया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुत साम्राज्य को ही राष्ट्र मण्डल में परिवर्तित कर लिया है तथा नये विकासमय नवीन परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक सशोधन आदि करते हुए अपना अस्तित्व उसी रूप में अक्षुण्ण रखने में सफलता प्राप्त की है। स्वतन्त्र राज्यों को सदस्य बनाये रखने के लिए सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ भी समाप्त कर दी गई। यही कारण है कि भारत आदि राष्ट्र इस मण्डल में सदस्य बने रहे और इस समय ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक प्रभावपूर्ण सस्था के रूप में विद्यमान है।

**विकास**—उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न उपनिवेशों ने शीघ्र ही स्वतन्त्रता प्राप्त की। उस समय विभिन्न प्रदेशों की सरकारों के अध्यक्षों के सम्मेलन हुआ करते थे और ग्रेट ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री सम्मेलनों का अध्यक्ष होता था। ऐसे सम्मेलन परस्पर विचार विमर्श के हेतु सन् १८८७ से आरम्भ हुए थे। सन् १९०७ में इन्हें साम्राज्यीय सम्मेलनों (Imperial Conferences) की सज्ञा दी गई। सन् १९२३ के ऐसे सम्मेलन में विभिन्न प्रदेशों (Dominance) को विदेशी शक्तियों से पृथक सधियाँ करने का अधिकार दिया गया और ये सधियाँ सम्राट के नाम पर ही की जाती थी। केवल ग्रेट ब्रिटेन का राज्य सचिव (Secretary of State) औपचारिक रूप से सधियों की स्वीकृति के रूप में मोहर लगाता था। इसी प्रकार पृथक रूप से कूटनीतिक प्रतिनिधित्व का अधिकार भी उन्हें दिया गया। इसके पश्चात् ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल में अत्यधिक महत्वपूर्ण विधान सन् १९३१ में पारित हुआ जिसे वेस्टमिन्स्टर विधान (Statute of Westminster, 1931) कहते हैं इस विधान की स्वीकृति

स पूर्व ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल की व्यवस्था औपनिवेशिक नियम औचित्य विधान, १८६५ (Colonial Laws Validity Act, 1865) के अनुसार की जाती थी और उपरोक्त विधान के द्वारा उपनिवेशो पर अनेक वैधानिक प्रतिबन्ध स्वीकार किये गये थे। उदाहरणार्थ उपनिवेशो द्वारा ऐसा प्रत्येक नियम अवैधानिक माना जाता था जो सम्राज्ञीय ससद द्वारा पारित नियमो के विरुद्ध जाता हो, सम्राज्ञीय ससद प्रदशो (Dominance) के लिए नियम बनाने की अधिकारिणी थी, औपनिवेशिक विधान सम्राट द्वारा रद्द किये जा सकते थे, गवनर जनरल अनेक विशेषाधिकारो का प्रयोग करता था आदि आदि। परन्तु वेस्ट मिन्सटर विधान, १९३१ के द्वारा यह स्थिति बहुत सीमा तक परिवर्तित हो गई और लगभग इस समय तक भी वही विधान कार्यान्वित होता है।

**सन् १९३१ का वेस्ट मिन्सटर विधान**—यह ग्रेट ब्रिटेन की ससद द्वारा पारित अधिनियम था। इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के विभिन्न प्रदशो की व्यवस्थापिका शक्तियाँ निर्धारित की गई थी तथा मुख्य रूप से सन् १९२६ एव सन् १९३० के सम्राज्ञीय सम्मेलनो में पारित प्रस्तावो को कार्यान्वित किया गया था। इस विधान की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया गया है कि ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सदस्यो का सम्राट के प्रति स्वामि भक्त रहते हुए स्वतन्त्र व्यवहार होगा तथा यह अंकित किया गया कि स्वीकृत वैधानिक स्थिति के अनुसार किसी भी प्रकार का वैधानिक परिवतन ग्रेट ब्रिटेन की ससद की स्वीकृति से ही हो सकेगा। तथा इस विधान के पश्चात् ग्रेट ब्रिटेन की ससद द्वारा पारित नियम प्रदशो में प्रभावावित नही होगें, जब तक कि वे प्रदश स्वय स्वीकृति देकर अथवा स्वय को प्राथना से अपने लिए मान्य न ठहराऐं।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन इस विधान के द्वारा किये गये। उपरोक्त १८६५ ई० का अधिनियम इस विधान के द्वारा रद्द कर दिया गया और प्रदेशों को अपनी व्यवस्थापिका सभा म पूर्ण सावभौमिक अधिकार प्रदान किये गये। प्रदेशों की ससदो को अन्य कई प्रकार के अधिकार दिये गये। उक्त विधान द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि ग्रेट ब्रिटेन की ससद द्वारा पारित अधिनियम इस अधिनियम के प्रभावावित होने के बाद प्रदेशो में प्रभावशाली नही होगे।

ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सदस्यो की स्थिति द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् पर्याप्त रूप में परिवर्तित हो गई। सदस्य राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से युक्त हो गये और क्रमश स्वायत प्रदेशो के रूप में विकसित हो गये। वेस्ट मिन्सटर विधान के पश्चात् सदस्य राष्ट्र सार्वभौम राज्य माने जाने लगे और वदेशिक सबधो के क्षेत्र में मुक्त स्वतन्त्रता का उपभोग करने लगे। वे स्वतन्त्र रूप से सधियां आदि करने के लिए योग्य समझे जाने लगे। इससे पूर्व ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के प्रधान मन्त्रियो के सम्मलन में यह घोषित किया जाता था कि ये प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वतन्त्र सगठन हैं। इनकी प्रतिष्ठा एक दूसरे के समान है और सम्राट के प्रति स्वामिभक्त रहते हुए भी विदेशी सबधो एव गृहकार्यों के सबध में य एक दूसर के आधीन नही है। परन्तु फिर भी

यह कहा जा सकता है कि औपचारिक दृष्टि से भारत एवं पाकिस्तान को छोड़ कर अन्य सभी सदस्य राष्ट्र ब्रिटिश सम्राट के प्रति स्वामिभक्त हैं तथा उसी को अपना राज्य का अध्यक्ष मानते हैं।

इस समय ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सभी प्रदेश (Dominions) पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से युक्त हैं, सार्वभौम सत्ता के बाह्य गुणों से युक्त हैं तथा युद्ध की घोषणा करने के योग्य भी हैं। सम्राट केवल राष्ट्र मन्त्रीय सरकार के परामर्श का अनुसरण करते हैं, तो भी यह कहा जा सकता है कि सन् १९३० के सम्राज्ञीय सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित एवं स्वीकृत सिद्धान्तों द्वारा यह आवश्यक है कि परस्पर प्रत्येक महत्व पूर्ण विषय के सबंध में विचार विमर्श किया जाय परन्तु यह उनकी स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार कानूनी मर्यादा नहीं बन सकती। विभिन्न प्रदेश जो इस समय ब्रिटिश राष्ट्र मंडल में सम्मिलित हैं वे निम्न लिखित हैं —

(१) कनाडा प्रदेश (Dominion of Canada
(२) आस्ट्रेलिया राष्ट्र मण्डल (Common Wealth of Australia)
(३) दक्षिण अफ्रीका संघ (Union of South Africa)
(४) न्यूजीलैंड (Newzealand)
(५) घाना (Ghana)
(आयर गणराज्य सन् १९४९ में राष्ट्रमंडल का सदस्य नहीं रहा।)

## (एशिया में राष्ट्रमण्डल)

(६) भारत
(७) पाकिस्तान
(८) लंका
(बर्मा —सन् १९४८ से यह ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का सदस्य नहीं रहा।)
(९) मलाया (सन् १९५७ से स्वतन्त्र होने पर यह ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का सदस्य बना।)
(१०) इङ्गलैण्ड (United Kingdom)

इस प्रकार उपरोक्त दस सदस्य राष्ट्रों द्वारा वर्तमान ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का संगठन बना हुआ है।

*वर्तमान स्थिति* —इस संगठन के सम्बन्ध में विद्वान अनेक प्रकार के विचार प्रस्तुत करते हैं। यह ऐसे बिखरे हुए राष्ट्रों का संग्रह है जिनके बीच में कोई सामान्य बंधन नहीं है, विश्व के क्षेत्र में कार्य करने का कोई एक निश्चित ध्येय नहीं है और जिनके बीच में परस्पर कोई एकता नहीं ऐसा राष्ट्र मण्डल है। राष्ट्र मण्डल के सदस्य राष्ट्रों की जनसंख्या ५५०,०००,००० मानी जाती है परन्तु फिर भी इस संस्था का न कोई

विधान है और न अधिनियम न कोई संधि या समझौता है। इसकी सदस्यता द्वारा न कोई बंधन उपस्थिति होते हैं न कोई विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। इस संगठन की कोई महत्वपूर्ण केंद्रीय संस्था भी नहीं है न इसकी सेना है, न पारस्परिक सहायता करने के लिए संधि है और न युद्ध के समय एक दूसरे का साथ देने का कर्तव्य ही स्वीकार किया गया है। निकट भविष्य में इस संगठन में सबसे बड़ा परिवर्तन भारत, पाकिस्तान, लंका एवम् बर्मा की स्वतन्त्रता के कारण हुआ। ब्रिटिश सम्राट की उपाधि में से "भारत सम्राट" का शब्द हटा दिया गया और उसके पश्चात् भारत को पुन सदस्य बनाये रखना चाहा। सन् १६४६ में भारत गणराज्य को सम्मिलित करने के लिया नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। तदनुसार भारत तथा अन्य सदस्यों ने भी ब्रिटिश सम्राट को स्वतंत्र सदस्य राष्ट्रों के इस मुक्त संगठन का प्रतीक स्वीकार किया और इस रूप में राष्ट्र मण्डल को अध्यक्ष माना तथा शांति, स्वतन्त्रता और उन्नति के लिए स्वतंत्र और समान सदस्यों की भांति राष्ट्र मण्डल म संगठित रहते हुए उन्मुक्त सहकारिता की ओर बढ़ने के लिए सहमत हुए। सन् १६५० में विख्यात कोलम्बो सम्मेलन हुआ और दक्षिण पूर्वी ऐशिया के विकास के लिए कोलम्बो योजना का सृजन हुआ सन् १६५२ म डोलर समस्या सुलझाने के लिए पुन इस प्रकार का सम्मेलन हुआ और सन् १६५५ में इसकी सफलता स्पष्ट प्रदर्शित हुई। इस प्रकार इस राष्ट्र मण्डल में लगभग ६०% व्यक्ति पूर्णरूप से स्वतंत्र हैं तथा लगभग ७० ऐसे भाग मे हे जो स्वतंत्र होने वाले हे। इस राष्ट्र मण्डल में दूर दूर के देश सम्मिलित हैं जिनकी संस्कृति एवं भाषाएँ अलग अलग हैं किन्तु फिर भी किसी न किसी प्रकार से ऐतिहासिक संबंध होने के कारण परस्पर सहयोग एक दूसरे के लिए लाभदायक ही हो सकते हैं। यह राष्ट्र मण्डल प्रभावपूर्ण ढंग से अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।

**राष्ट्र मण्डल के उद्देश्य**—यद्यपि राष्ट्र मण्डल म विभिन्न प्रकार के लोग हैं और इसके उद्देश्य एवं लक्ष्य कहीं निर्धारित नहीं किये गये हैं तथापि यह निर्धारित किया जा सकता है कि फिर भी कुछ ऐसे सामान्य विषय हे जिनके लिए समस्त सदस्य सदैव ही सहमत हो सकते हे। निम्न सिद्धान्त अथवा आदर्श राष्ट्र मण्डल के उद्देश्य माने जा सकते हे—

(१) प्रजातंत्र का आदर्श, आत्मशासन तथा मौलिक मानव अधिकारों की प्राप्ति का उद्देश्य सभी सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकार किया जाता है। प्रजातंत्र का स्वरूप एवं प्रकार भिन्न हो सकता है किन्तु फिर भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध मे सब सदस्य एकमत हैं।

(२) बाहरी आतंक के विरुद्ध सामान्य सुरक्षा का उद्देश्य भी स्वीकार किया जाता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि एक ही विषय के संबंध में विभिन्न सदस्य पृथक विचार एवं व्यवहार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ मिश्र के संबंध में ब्रिटेन ने आक्रमण किया। कुछ सदस्य जैसे—आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड ब्रिटेन के पक्ष में रहे, कुछ सदस्य जैसे

कनाडा और पाकिस्तान मध्यस्थ रहे तथा कुछ सदस्य जैसे भारत और लंका पूर्णरूप से विरुद्ध रहे किन्तु फिर भी किसी प्रकार की गलत फहमी उत्पन्न न करते हुए परस्पर सहयोग करने के लिए प्रयत्न जारी रहे।

(३) आर्थिक कल्याण अथवा सामान्य हित के लिए अग्रसर होते रहना सब सदस्यों का संयुक्त उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए (Common investment policies) सामान्य धन लगाने की नीतियों के अनुसार योजनाएँ बनाई गई हैं।

वास्तव में यह स्पष्ट रूप से निर्धारित करना कठिन है कि इस संगठन के क्या क्या उद्देश्य है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह संगठन कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा दक्षिण अफ्रीका के लिए अधिक उपयोगी एवं भारत लंका, घाना, मलाया अथवा पाकिस्तान के लिए अपेक्षाकृत कम उपयोगी है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह केवल कुछ पारिवारिक मदयुक्त परिवार ही नहीं है किन्तु एक ऐसा संगठन है जिसके परस्पर संबंध, भावना एवं प्राथमिकताओं के आधार पर अधिकांश कार्य होते हैं और इस राष्ट्र मण्डल की सदस्यता के कारण प्रत्येक राष्ट्र कुछ महत्व पा जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में कुछ प्रभावशाली बन जाता है। और सदस्य राष्ट्रों की वाणी अधिक प्रभावशाली हो जाती है। देश का मानवीय जीवन स्तर आगे बढ़ाना सरल हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के उपरोक्त प्रत्यक्ष फल मिलना स्वाभाविक है।

**राष्ट्र मण्डलीय सम्बन्ध एवं विभिन्न अंग**—यद्यपि राष्ट्र मण्डल का कोई विधान नहीं है और न कोई केन्द्रीय संगठन अथवा प्रशासनिक अंग है। क्योंकि राष्ट्रमण्डल के सदस्य स्वतन्त्र एवं समान सार्वभौमिक राज्य है, जो अपनी नीति राष्ट्रीय हित, राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं तो भी परस्पर विचार विमर्श एवम् सहयोग के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्नशील रहते हैं। ब्रिटेन व कनाडा अटलांटिक समझौते के सदस्य है। भारत एशिया के देशों की ओर अधिक झुका हुआ है। पाकिस्तान सीटो का सदस्य है तथा बगदाद समझौते में सम्मिलित है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र मण्डलीय सम्बन्ध स्वतन्त्र राष्ट्रों पर किसी प्रकार बंधन नहीं है। एक सदस्य दूसरे सदस्य पर कोई दबाव नहीं डाल सकता। राष्ट्रमण्डल के निर्णय केवल सब सम्मति से होते हैं और इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि उन निर्णयों का पालन पूर्ण रूप से स्वेच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार भारत और पाकिस्तान के गणराज्यों के अतिरिक्त शेष सभी सदस्यों के मध्य में औपचारिक सम्बन्ध केवल मुकुट (Crown) के द्वारा विद्यमान है। सर आलीवर फ्रैंक्स जो वाशिंगटन में ब्रिटिश राजदूत थे। सन् १९५४ के डी० बी० सी० रीथ भाषणों में बहुत सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं कि राष्ट्र मण्डलीय प्रदेशों में सम्राट् की स्थिति विशेष महत्व की होती है। (In Canada the Princess was a Canadian) इस प्रकार यह औपचारिक सम्बन्ध प्रचलित है।

उपर्युक्त शिष्टाचार के अतिरिक्त दूसरे सम्बन्ध लगभग लुप्त हो गये। प्रिवी कौंसिल अब समस्त राष्ट्र मण्डल के लिए न्याय का अन्तिम न्यायालय नहीं है। राष्ट्रमण्डलीय राज्यों के नागरिकों के लिए अब सामान्य नागरिकता का सिद्धान्त अब नहीं के समान है परन्तु परस्पर विचार विमर्श के लिए कुछ संस्थाऐं अवश्य हैं। ये संस्थाऐं तदथ (ad hoc) अनियमित तथा विधान विहीन है। प्रधान मंत्रियों का सम्मेलन जो साधारणतया हुआ करता है सुरक्षा एवं विदेशी सम्बन्धों के विचार करने के हेतु कार्य करता है। यदा कदा विदेश मन्त्रियों और अन्य मन्त्रियों के सम्मेलन भी होते हैं। कृषि, जहाजरानी तथा तार सवाद आदि के क्षेत्रों के लिए स्थायी समितियाँ हैं। परन्तु ये समितियाँ किसी भी अर्थ में सदस्य राज्यों के लिए नियम निर्माण नहीं करती। इस समय तक राष्ट्र मण्डल का कोई सचिवालय, कर्मचारीवृत अथवा सुरक्षा सगठन नहीं है। केवल सूचनाओं का आदान प्रदान अथवा एक दूसरे राष्ट्र के कर्मचारियों का आदान प्रदान होता है। एवं सामान्यहित के लिए निरन्तर गुप्त सूचनाएँ ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय मण्डलीय सम्बन्धों के कार्यालय द्वारा संचालित होते हैं। (U K Office of Inter-Common Wealth Relations) इसके अतिरिक्त राष्ट्र मण्डलीय राजदूतों की सभाएँ न्यूनाधिक रूप से नियमित चलती रहती हैं। सर ओलीवर के मतानुसार राष्ट्रमण्डल एक सयुक्त सगठन है जहां प्रत्येक विषय विचारार्थ प्रस्तुत होता है और परस्पर सदस्यों के बीच के विरोधी प्रश्न (जैसे भारत और पाकिस्तान के बीच काश्मीर समस्या) भी आवेशरहित ढंग से मनन किये जाते हैं। सब राष्ट्र प्रत्येक प्रश्न पर एक ही ढंग से विचार करते हैं तथा सब के सामान्य स्तर स्वीकृत हैं।[१] इस प्रकार सम्पूर्ण पद्धति सहकारिता के आधार पर स्थापित है। प० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में राष्ट्रमण्डल की सदस्यता की तुलना सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता से की जा सकती है अर्थात् राष्ट्रमण्डल की सदस्यता किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता को सीमित नहीं बनाती। राष्ट्रमण्डल के सदस्यों के व्यवहार, विचार के ढंग तथा आदर्श भिन्न भिन्न है, (जैसे भारत एवं पाकिस्तान, भारत एवं दक्षिण अफ्रीका तथा नेहरू और चर्चिल आदि) किन्तु फिर भी भ्रातृत्व एकता विद्यमान है। यही कारण है कि ब्रिटेन केवल विशेष स्थिति का उपभोग करता है सर्वोच्च स्थिति का नहीं और इसीलिए ब्रिटेन ने सहर्ष इस सगठन का नाम ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के स्थान पर केवल राष्ट्र मण्डल स्वीकार किया। सन् १९४७ में ब्रह्मा की सरकार ने यही माग की थी कि यदि इस सगठन का नाम सयुक्त राष्ट्र मण्डल रखा जाय तो ब्रह्मा सदस्य बना रहेगा परन्तु प्रारम्भ में प्राचीन प्रदेशों ने आपत्ति की और बाद में जब परिवर्तन किया गया तब ब्रह्मा का निर्णय हो चुका था। इस प्रकार वर्तमान समय में ब्रिटेन राष्ट्र मण्डल में कोई विशेष प्राधान्य का उपभोग नहीं करता केवल विशेष स्थान प्राप्त किये हुए है। यह प्रश्न साधारणतया

---

(१) B B C Reith Lectures P 17

किया जाता है कि विरोधी विचार होने पर राष्ट्रमण्डल किस प्रकार न्याय करता है। ऐसे अवसर पर जब कोई प्रश्न सर्व सम्मति से निर्णीत न हो पुन विचार के लिए प्रस्तुत किया जाता है । इसलिए अफ्रीका का जातीय भेद अथवा लका मे भारत वासियो के साथ भेद नीति अथवा भारत एव पाकिस्तान की काश्मीर समस्या के लिए राष्ट्रमण्डलीय हल सभव हो सकता था किन्तु सयुक्त राष्ट्र सघ के हस्त क्षेप के कारण यह काय राष्ट्रमण्डल नही कर सका।

**राष्ट्र मण्डल की सफलता** —राष्ट्र मण्डल एक ऐसी सस्था है जिसे हम वैधानिक अ ग अथवा सयुक्त प्रशासनीक सस्था अथवा आर्थिक एव भौगोलिक सगठन नही कह सकते न स्वावलम्बी अथवा सनिक ईकाई ही कह सकते हैं किन्तु फिर भी यह एक प्रभावशाली सगठन है यद्यपि सनिक शक्ति और भौतिक दृष्टि से राष्ट्रमण्डल निर्बल हो गया है किन्तु फिर भी अपने सदस्यो की परस्पर सहयोगी सिद्धान्तो के स्वीकार कर लेने एव आदर्शात्मक एकता के कारण इस सगठन को नवीन शक्ति प्राप्त हुई है। सहिष्णुता के सिद्धात, स्वतत्रता का सम्मान एव प्रगतिशील प्रजातत्र इस सगठन के प्रमुख सिद्धान्त है। सह अस्तित्व का भाव समस्त सदस्य राष्ट्रो द्वारा स्वीकार किया जाना एक अद्भुत सफलता ही है क्योंकि जातियता, राष्ट्रीयता धर्म, भाषा, विकास, राजनतिक स्थिति आदि का भेद सदस्य राष्ट्रो में बहुत स्पष्ट हैं। आज विश्व की राज नीति में यह सगठन अपना महत्वपूर्ण सबध बनाये हुए है। विभिन्न प्रदेशो एव गणराज्यो का प्रभाव ब्रिटेन की विदेश नीति पर और उसके द्वारा सयुक्त राज्य अमरिका की विदेश नीति पर निश्चित रूप स होता है। कोरिया के सबध में ब्रिटिश नीति चीन तथा स्वेज सबध म ब्रिटन का व्यवहार राष्ट्रमण्डलीय विचारो स बहुत प्रभावित हुआ है।कोलम्बो योजना इस दृष्टि स राष्ट्रमण्डलीय कायवाही का बहुत स्पष्ट प्रमाण है।

राष्ट्रमण्डल के सम्बध में एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि यह साम्राज्य विरोधी सगठन है या नही। यद्यपि यह सच है कि राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्य साम्य वादी विचार धारा को स्वीकार नही करते परन्तु अभी तक ऐसी स्थिति भी पदा नही हुई कि किसी साम्यवादी राष्ट्र ने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के लिए प्रयत्न किया हो और राष्ट्र मण्डल न ऐसी प्रार्थना अस्वीकार कर दी हो। यह अवश्य होता है कि राष्ट्रमण्डल के सम्मेलन आदि की कायवाहिया पर्याप्त रूप से गोपनीय होती है और सभवत यही इस सगठन की सफलता और निरतर प्रगति का सूत्र भी है।

**कोलम्बो योजना** —ऐसा प्रतीत होता है कि इस योजना की रूपरेखा श्री पनिक्कर ने जब चीन में गृह-युद्ध (सन् १९४७ ४८) आरम्भ हुआ तब श्री पनिक्कर जो उस समय चीन में भारतीय राजदूत के प॰ पर आसीन थे, उन्होंने दक्षिण पूर्वी ऐशिया की समस्याओ पर विचार किया, अपने 'राजदूत के सस्मरण" म उन्होंने लिखा है कि इस क्षेत्र म आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक सगठन मजबूत बनाने के लिए एक सामान्य नीति बनाने की आवश्यकता है और इसलिए ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया का

सहयोग आवश्यक है। यही विचार वास्तव में कोलम्बो योजना का आधार बन गया। जनवरी सन् १६५० में आस्ट्रेलिया, कनाडा, लंका, भारत, पाकिस्तान, न्यूजीलैंड और ग्रेट ब्रिटेन के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन कोलम्बो में हुआ और दक्षिण तथा दक्षिण पूर्वी ऐशिया की निर्धन जनता की समस्याओं पर विचार किया गया। इस सबंध में सब लोग एकदम सहमत हो गये कि इस भाग का आर्थिक विकास राजनतिक स्थायित्व को बनाये रखने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस क्षेत्र की विकास योजनाओं पर विस्तारपूर्वक विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त कर दी गई जिसका नाम "परामर्श समीति' (Consultative Committee on Cooperative Economic Development in South and South East Asia) रखा इस समिति की बैठक १५ से १६ मई तक (सन् १६५०) सिडनी में हुई जिसमें आस्ट्रेलिया, लंका, कनाडा, भारत, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान एवं मलाया एवं ब्रिटिश बोरनियो सहित ग्रेट ब्रिटेन के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इस समीति ने इस क्षेत्र के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये —

(१) जुलाई सन् १६५१ से प्रारम्भ होकर षट्वर्षिय योजना के अन्तर्गत क्रमिक ढंग से विकास आरम्भ हो।

(२) सबंधित देशों के विस्तृत योजनाएँ प्रस्तुत होना इस कार्य की सफलता के लिए आवश्यक है।

(३) राष्ट्र मण्डलीय तकनीकि सहायता योजना का आरम्भ होना अनिवार्य है।

(४) इस सम्बन्ध में अराष्ट्रमण्डलीय देशों का भी विचार विमर्श में आमन्त्रित करना चाहिए।

इस प्रकार राष्ट्रमण्डलीय देशों का सहकारिता प्रयास अराष्ट्रमण्डलीय देशों का सहयोग तकनीकि सहायता पर बल विभिन्न देशों की पृथक योजनाएँ तथा क्रमिक औद्योगीकरण के लिए कृषि उत्पादन पर बल देना आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किये गये थे। इसके पश्चात् ६ से २५ सितम्बर (१६५० ई०) लन्दन में परामर्श समिति की बैठक हुई और उपरोक्त प्रस्तावों पर विचार किया गया। तत्पश्चात् अक्टूबर मास में योजना को अंतिम रूप दिया और २८ नवम्बर को कोलम्बो योजना के नाम से यह कार्यक्रम प्रसारित कर दिया गया। श्री ह्यू गेट्स केल का मत है कि विश्व एक बहुत बड़े क्षेत्र में राष्ट्रमण्डलीय देशों ने सहकारी विकास की एक क्रांतिकारी धारणा को क्रमशः वास्तविक रूप दे दिया। १ जोलाई सन् १६५१ को यह षट्वर्षिक योजना नियमित रूप से कार्यान्वित हुई।

कोलम्बो योजना में आधारभूत आर्थिक विकास के साथ कृषि, सिंचाई, विद्युत, संचार, रेलवे, सड़कें, बन्दरगाह आदि का विकास भी सम्मिलित था। सामाजिक सेवा के क्षेत्र में स्वास्थ्य, मकान एवं शिक्षा सम्बन्धी विषय भी स्वीकार किए गए थे। सम्पूर्ण योजना में कुल २,४४६ करोड़ रुपया लगाना था। इसमें से भारत का १८०० करोड़, पाकिस्तान का ३७० करोड़, मलाया एवं ब्रिटिश बोर्नियो को १४१ करोड़ तथा लंका का १३६ करोड़ रुपया स्वीकार हुआ था। इसके पश्चात् कोलम्बो योजना का अवधि बढ़ाकर, भारत की द्वितीय पंच वर्षीय योजना से साम्य रखने के लिए, १९६१ तक कर दी गई है। मई सन् १९५५ में परामर्श समिति की बैठक शिमला में हुई। इस बैठक में यह निर्णय लिया गया कि विदेशी सहायता का वितरण करने के लिए कोई माध्यमिक प्रादेशिक संगठन की स्थापना नहीं की जाय। स्थायी सचिवालय की स्थापना भी नहीं की जाय। द्विदलीय आधार पर विदेशी सहायता प्रसारित रखी जाय और आगे भी बढ़ादी जाय। इस बैठक में कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, जापान, लाओस, नेपाल, पाकिस्तान, फिलिपाइन्स, थाईलैण्ड, वियतनाम, मलाया, सिंगापुर, उत्तर बोर्नियो, सारावाक तथा भारत के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। कोलम्बो योजना के सम्बन्ध में परामर्श समिति (Consultative Committee) एक प्रकार से सम्बन्धित राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का वार्षिक सम्मेलन है, जो वर्ष भर में की हुई प्रगति पर विचार करती है, कठिनाइयों का विश्लेषण, तथा समस्याओं का हल प्रस्तुत करती है, और बाहरी सहायता की सम्भावनाओं का भविष्य निर्धारित करती है। यह समिति विभिन्न देशों के लिए साकार योजनाओं का सृजन करने एवं तदनुसार विकास कार्य को अग्रसर करने में सफल हुई है। विभिन्न राष्ट्रों द्वारा परस्पर अनुभव का आदान प्रदान करने एवं सहायता देने के लिए एक स्वीकृत मंच सा बन गया है। इसीलिए इस समिति की बैठक प्रतिवर्ष विभिन्न देशों की राजधानियों में होती है। तकनीकि सहयोग परिषद Council for Technical Cooperation' तथा सूचना विभाग की स्थापना कोलम्बो में ही की गई है।

**योजना की सफलता**—सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो योजना की सफलता स्वीकार करने में कोई रुकावट नहीं है। सम्बन्धी क्षेत्रों में इस योजना के कार्यान्वित होने के पश्चात् खाद्यान्न की उपज में वृद्धि हुई है। चाय और रबर की उपज उच्चतर सीमा पर पहुँच गई। आय का औसत भी पर्याप्त रूप में उन्नत हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, संयुक्त राष्ट्र संघ तथा फोर्ड फाउण्डेशन आदि संस्थाओं से भी सदस्य राष्ट्रों को बहुत सहायता प्राप्त हुई है। विनियोग, छात्रवृत्तियाँ, ऋण तथा अन्य औद्योगिक सामग्री बहुत बड़ी मात्रा में योजना क्षेत्र के देशों को प्राप्य हुई है। सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि इस योजना द्वारा पारस्परिक सहायता वृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला। इसी के अन्तर्गत भारत ने नेपाल आदि को सहायता देना स्वीकार किया है। वर्तमान परिस्थितियों में विश्व में ऐसी विचार धाराएँ एवं योजनाएँ बहुत आवश्यक हैं।

इस प्रकार राष्ट्र मण्डलीय सम्बन्ध समस्त सदस्य राष्ट्रो के लिए तो हितवद्ध क है ही किन्तु दूरदर्शिता से देखने पर यह भी सिद्ध होता है कि विश्व शांति को स्थापित रखने मे तथा परस्पर विभिन्न प्रकार के पृथक् पृथक् देशो मे भी सद्भावना का विकास करने के लिए यह सगठन बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया है और सफलता पूर्वक अपना काय सपादित कर रहा है। श्री एटली के शब्दो मे "अब इस राष्ट्र मण्डल की मुख्य विशेषता सबको सम्मिलित करना है अलग रखना नही, क्योंकि अब तो अफ्रीका के लोग भी यूरोप तथा एशिया वासियो के साथ मिलकर आगे बढने मे सहयोग लेने लगे हैं।" अत राष्ट्र मण्डल विश्व-राजनीति मे एक महत्त्वपूर्ण सस्था है।

---

# नवजागृत अफ्रीका

अफ्रीका विश्व में काला महाद्वीप (Black Continent) के नाम से प्रचलित है। अंग्रेजी के ब्लेक (Black) शब्द के दो अभिप्राय हैं। एक तो यह कि यहाँ के निवासी रंग से काले हैं तथा दूसरा यहाँ की सम्पत्ति तथा जनशक्ति अभी तक अन्धेरे में है। जाज एस० डी० किम्बल के शब्दों मे "हमारी अज्ञानता ही अफ्रीका के सम्बन्ध मे अधिक अन्धकार का प्रतीक है।"[1]

(The darkest thing about Africa has always been our ignorance of it)

संसार के इस द्वितीय महाद्वीप का क्षेत्रफल 9,96,00,000 वर्ग मील है। जिसमे भारत, चीन, पश्चिमी यूरोप, अमेरिका एक साथ समा सकते हैं। इसकी उत्तर से दक्षिण की लम्बाई 5000 मील तथा पूर्व से पश्चिम तक 4600 मील है। इसके उत्तर में भूमध्य सागर, पूर्व मे हिन्दमहासागर, पश्चिम में अटलांटिक महासागर और दक्षिण मे अन्टार्टिक का पानी इस तरह चारो ओर से यह पानी से घिरा हुआ है।

अफ्रीका महाद्वीप की आकृति एक चपटे शंख की तरह है। यह तीन महाद्वीपों (अमेरिका, एशिया, और यूरोप) को मिलाने वाला विश्व का सबसे बडा पुल है।

इसकी जनसंख्या लगभग 220,000,000 है। जनसंख्या का घनत्व अधिक नही है। लगभग 15 से 20 आदमी प्रति वर्ग मील रहता है। इसमे तीन तरह की प्रमुख जातियाँ (हमोइटम, निग्रो तथा बान्टू) रहती हैं। इसमे लगभग 6 लाख भारतीय रहते हैं जो विशेष तौर पर दक्षिणी व पूर्वी अफ्रीका में निवास करते हैं। इसी तरह यूरोपीयन की जनसंख्या लगभग 50 लाख है, जिसमें से करीब आधे लोग द० अफ्रीका में रहते हैं। नाइजिरिया की जनसंख्या सबसे अधिक है जो लगभग 3 करोड है।

अफ्रीका अमूल्य खनिजों का भण्डार है। विश्व के कुल हीरो में से 98% अफ्रीका में उत्पन्न होते हैं। कुल स्वर्ण का 55%, कुल तॉबे का 22% इसी महाद्वीप से मिलता है। सामरिक महत्व के महत्त्वपूर्ण खनिज यूरेनियम क्रोनियम व अभ्रक यहाँ उत्पन्न होते हैं। विश्व की कुल कोका की पूर्ति का दो तिहाई भाग अफ्रीका पूरा करता है। इसी प्रकार संसार भर में ताड के तेल का 60% भाग अफ्रीका से मिलता है। इतने अच्छे प्राकृतिक साधन होते हुए भी अफ्रीका एक गरीब देश है। यहाँ के लोगों की प्रति व्यक्ति आय विश्व में सबसे कम है जो 14

1 Africa today the lifting darkness, The Reporter May 19, 1951

डालर से 28 डालर के बीच प्रतिवर्ष है। लाखों की तादाद में अफ्रीकी गुलाम के रूप में काम करते हैं। गरीबी के परिणाम स्वरूप सबसे अधिक बीमा रियाँ पाई जाती हैं।

धार्मिक दृष्टि से अफ्रीका में तीन धर्म, मुख्यतया (मुस्लिम, ईसाई, व पेगनस) पाये जाते हैं। संख्या की दृष्टि से लगभग 6 करोड़ मुसलमान, 2 करोड़ ईसाई और शेष पेगनस् हैं। रहन-सहन की दृष्टि से अफ्रीकी बहुत पिछड़े हुए हैं। प्राय लोग धर्म आडम्बरों, धार्मिक कुरीतियों, प्राचीन परम्पराओं व रीति रिवाजों के शिकार हैं। उसमें लगभग 700 भाषाओं का प्रयोग होता है। इनमें एम्हारिक, तामचेक, बायून और बाई भाषा प्रमुख हैं।

राजनैतिक दृष्टि से सम्पूर्ण अफ्रीका विभिन्न राजनैतिक ढाँचों का स्वरूप है। कुछ स्वतन्त्र राष्ट्र हैं, कुछ आंशिक स्वतन्त्र हैं, कुछ उपनिवेश हैं, और कुछ देश स्वतन्त्र हो गये हैं। अफ्रीकन जागृति के कुछ पूर्व के वर्षों में इस पर खास तौर पर पाँच यूरोपीयन राष्ट्रों का हस्तक्षेप रहा है। और आज भी फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम, स्पेन, पुर्तगाल बहुत कुछ प्रभावशाली हैं। 20 वीं शती के प्रारम्भ में इन पाँच राष्ट्रों का अफ्रीका में आधिपत्य निम्न प्रकार से था।

1 ग्रेट ब्रिटेन—मिश्र, सूडान, पूर्वी अफ्रीका, रोडेशिया, बेचुआना लैण्ड, सोमाली लैंड, तथा दक्षिणी अफ्रीका का संघ (कुल क्षेत्र 33 लाख वर्ग मील)

2 फ्रांस—सहारा, अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, सोमाली लैंड, मेडागास्कर द्वीप, तथा भूमध्य रेखावर्ती फ्रांसीसी अफ्रीका (कुल क्षेत्र 42 लाख वर्ग मील)

3 बेल्जियम—बेल्जियम कांगो (9 लाख वर्ग मील)

4 पुर्तगाल—अंगोला, मोजाम्बिक (8 लाख वर्ग मील)

5 स्पेन—स्पेनिश मोरक्को तथा स्पेनिश पश्चिमी अफ्रीका (75 हजार वर्ग मील)

6 इसके अतिरिक्त कुछ प्रदेशों पर इटली व जर्मनी का आधिपत्य रहा है। जर्मनी के अधिकार वाले क्षेत्र का कुल क्षेत्र 11 लाख वर्ग मील था। इनमें केमरून, जर्मन द० प० अफ्रीका आदि थे। और इसी तरह इटली के अधिकार वाले प्रदेश लिबिया इरीटरिया सोमाली लैण्ड जिनका कुल क्षेत्र 6 लाख वर्ग मील था।[2]

**अफ्रीका में जाग्रति—**

समय के परिवर्तन के साथ अफ्रीका में भी परिवर्तन व चेतनता आयी। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अबीसिनिया के विजय से अफ्रीकी

२ जेम्स एण्ड वड जीथेप्सी—यूरोपियन पर्सपेक्टिव, ४७६

स्वतन्त्रता आन्दोलन बलवान बना। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् यह गति और तेज हुई और सन् 1958 मे अफ्रीकी जनता ने एक प्रस्ताव पास किया कि सन् 1963 तक समस्त अफ्रीका महाद्वीप स्वाधीन हो जाना चाहिए। अफ्रीका के लगभग 35 राष्ट्र स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके हैं और यह आन्दोलन जारी है। प्रगतिशील अफ्रीका मे निम्न प्रमुख मोड दिखाई पडते हैं—

(१) सम्पूर्ण अफ्रीक मे एशिया की भांति राष्ट्रीयता की लहर बल पा रही है। विशेष तौर पर मिश्र, फ्रांस पू० अफ्रीका, ब्रिटिश प० अफ्रीका में यह बहुत तेज है। कीनिया के माओ, माओ आन्दोलन तथा द० अफ्रीका के रग भेद आन्दोलन के परिणामस्वरूप यह राष्ट्रीयता कही कही हिंसात्मक प्रवृत्ति मे भी बदल गई है।

(२) सारे अफ्रीका मे उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन है। सभी साम्राज्यवादियो की शक्ति का प्रभाव धीरे धीरे कम हो रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के पूव अफ्रीका की १/५ जनसख्या और १/१० कुल क्षेत्र का भाग यूरोपियन देशो के अधीन था और अब लगभग आधे से कही ज्यादा जनसख्या और ४० प्रतिशत क्षेत्र स्वतन्त्र हो गया है।

(३) राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद विरोधी तत्वो के परिणामस्वरूप अफ्रीका में जागृति की ज्योति जल रही है। सम्पूर्ण गुलामी के इतिहास को समाप्त कर जाग्रत अफ्रीका का साहित्य लिखा जाने लगा। इस जागृति मे एशिया का अफ्रीका पर बहुत प्रभाव पडा है।

(४) इस अफ्रीकन जागृति के दौरान मे सबसे तेज आन्दोलन रग भेद की नीति की ओर है। इनके नेताओ का कथन है कि हमे बहुजातीय समाज की अपेक्षा जातिविहीन समाज का निर्माण करना है। द० रोडेशिया, द० अफ्रीका, कीनिया, जहाँ यूरोप निवासी बस गये हैं वहाँ यह समस्या भयकर बन गई है। धीरे धीरे अफ्रीकी इस भावना का फलाने म काफी सफल हो रह है कि आने वाले वर्षों म विदेशी आधिपत्य और रग भेद समाप्त ही नही होगा बल्कि उनका जीवन सुलभ बन जायगा। अदिसअबाबा और केसलब्लक के सम्मेलनो मे उन्होने अपने निश्चय को बराबर दोहराया है कि विदेशी सताओ का समथन करने वाले देशो से शेष अफ्रीका के देश कोई व्यापारिक सम्बन्ध नहीं रख सकेंगे। राष्ट्र मण्डल व सयुक्त राष्ट्रसघ मे भी बराबर प्रस्तावो द्वारा रग भेद नीति के विपरीत लोकमत निर्माण मे काफी प्रस्ताव पास हो रहे हैं।

(५) अफ्रीका के देश एक परिवतन काल की स्थिति मे हैं। उनमें प्राचीन व्यवस्था रीति रिवाजों के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया है। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उसमे एक नवीन नेतृत्व सामने आ रहा है जो पश्चिम व एशिया की आधुनिक भावनाओ से ओतप्रोत है। कहीं-कहीं यह प्रतिक्रिया रक्त क्रान्तियों मे भी बदल गई है।

क्रांतिकारी संघों का निर्माण हो रहा है। इससे राजनैतिक स्थायित्व को भी धक्का लगा है एक ओर द्रुत आर्थिक विकास की तीव्र इच्छा तथा राजनैतिक अस्थिरता ने सामाजिक जीवन को अस्त व्यस्त कर दिया है। कुछ भी हो अज्ञानता धर्मान्धता, रूढ़िवादिता के प्रति आन्दोलन प्रगतिशील है। दूसरी ओर अच्छा खाना और अच्छे स्वास्थ्य पर अधिक जोर डाला जा रहा है। इस परिवर्तन मे प्राचीन सामाजिक व्यवस्थाएँ, जातीयता एव कुछ कठिन समस्याएँ हैं। सांस्कृतिक मूल्यो मे मतभेद काफी विद्यमान है। इन सीमाओ के बावजूद भी औद्योगीकरण, शहरीकरण व आधुनिकीकरण की ओर प्रवृत्ति विकासमान है।

(६) अफ्रीका के सभी प्रदेश विश्व राष्ट्रो के साथ सम्बन्ध बढ़ाना चाहते हैं वे साम्यवाद के देशो की अपेक्षा पश्चिमी देशो के प्रति अधिक झुकाव रखते हैं। इसका एक कारण इसके नेताओ म अमरीकी शिक्षा का प्रभाव है। एशियाई राष्ट्रो के साथ वे घट जोडा बनाना चाहते हैं। एशियाई राष्ट्रो के सहयोग से ये सयुक्त राष्ट्र सघ मे भी एक शक्ति के रूप मे बढ रहे हैं।

(७) एशियाई राष्ट्रो के अफ्रीका पर सबसे अधिक प्रभाव भारत का पड़ा है। महात्मा गांधी के सत्याग्रही आन्दोलन ने उन्हे बहुत प्रभावित किया है। कीनिया, टागानिका और यूगान्डा मे भारतीय व्यापारी काफी पाये जाते है। भारत की तटस्थता की नीति ने भी अफ्रीकी राष्ट्रो को प्रभावित किया है। भारत की भांति ये दोनो गुटो से प्रथक् रहना चाहते हैं। भारत व अफ्रीकन राष्ट्रों मे कीच कुछ क्षेत्रो मे मतभेद होने पर भी शैक्षिणिक, आर्थिक व व्यापारिक लेन देन बहुत अधिक है।

अफ्रीका के कुछ नवीन स्वतन्त्र राष्ट्रो के बारे मे सक्षिप्त जानकारी—यद्यपि अफ्रीका मे राष्ट्रीय आन्दोलन औद्योगीकरण, शिक्षा प्रसार तथा एशिया के घनिष्ठ सम्बन्ध व सहयोग के कारण स्वतन्त्रता फलती जा रही है तथापि लगभग १/३ भाग अब भी ऐसा है जो या तो विदेशी शक्तियो के सीधा हाथ मे है अथवा उनके बहुत अधिक प्रभाव मे है। इन अधीनस्थ भागो की स्वाधीनता के लिए आन्दोलन चला रहे हैं। जो राष्ट्र स्वतन्त्र हो गये हैं अथवा जो अब भी परतन्त्र हैं इनकी निम्न सूची दी गई है—

### अफ्रीका के देश

| स न | देश का नाम | स्वतन्त्रता वर्ष |
|---|---|---|
| 1 | मोरक्को | मार्च, 1956 |
| 2 | स्पेनी सहारा | — |
| 3 | मारितेनिया | नवम्बर, 1960 |
| 4. | अल्जीरिया | सितम्बर, 1962 |

| क्र स | देश का नाम | स्वतन्त्रता वर्ष |
|---|---|---|
| 5 | ट्यूनिशिया | मार्च, 1956 |
| 6 | लिबिया | दिसम्बर 1951 |
| 7 | संयुक्त अरब गणराज्य | दिसम्बर, 1959 |
| 8 | सूडान | जनवरी, 1956 |
| 9 | छाद | अगस्त, 1960 |
| 10 | नाइजर | अगस्त, 1960 |
| 11–12 | माली संघ | जुलाई, 1960 |
| 13 | पुर्तगाली गिनी | — |
| 14 | गिनी | अक्तूबर, 1958 |
| 15 | सियरा लियोन | अप्रल, 1961 |
| 16 | लाइबेरिया | 1847 |
| 17 | आइवरी कोस्ट | अगस्त, 1960 |
| 18 | वोल्टाई गणराज्य | अगस्त 1960 |
| 19 | घाना | मार्च, 1957 |
| 20 | टोगो | अप्रल 1960 |
| 21 | दहोमी | अगस्त, 1960 |
| 22 | नाइजीरिया | अक्तूबर, 1960 |
| 23 | कमरून | (ब्रिटन) |
| 24 | कमरून | जनवरी, 1960 |
| 25 | स्पेनी गिनी | — |
| 26 | गबन | अगस्त, 1960 |
| 27 | कांगो गणराज्य | अगस्त, 1960 |
| 28 | मध्यवर्ती अफ्रीका | अगस्त, 1960 |
| 29 | कांगोली गणराज्य | जुलाई 1960 |
| 30 | यूगांडा | अक्तूबर, 1962 |
| 31 | इथियोपिया | 1941 |
| 32 | इरिट्रिया | सितम्बर, 1952 |
| 33 | फ्रांसीसी सोमाली खण्ड | — |
| 34–35 | सोमालिया | जुलाई 1960 |
| 36 | कनिया | दिसम्बर, 1963 |
| 37 | रुआण्डा उरांडी | दिसम्बर, 1963 |

| क्र स | देश का नाम | स्वतन्त्रता वर्ष |
|---|---|---|
| 38 | तांगानिका | दिसम्बर, 1962 |
| 39 | मोजाम्बिक | — |
| 40 | न्यासालण्ड | अक्तूबर, 1964 |
| 41 | उत्तरी रोडेशिया | जुलाई, 1964 |
| 42 | स्वाजी लैण्ड | — |
| 43 | अगोला | — |
| 44 | द० प० अफ्रीका | — |
| 45 | बेचुआना लण्ड | — (11 नवम्बर 1966 |
| 46 | द० रोडेशिया | एक तरफा स्वतन्त्रता घोषणा) |
| 47 | बासूतोलैण्ड | — |
| 48 | दक्षिणी अफ्रीका सघ | — |
| 49 | मालागासी गणराज्य | जुलाई, 1960 |
| 50 | मोराक्को | माच, 1960 |
| 51 | मोरीशाल | माच, 1968 |
| 52 | बारबाडोल | नवम्बर, 1966 |
| 53 | बो सवाना | सितम्बर, 1966 |
| 54 | गुआना | सितम्बर, 1966 |
| 55 | मलावी | दिसम्बर, 1964 |
| 56 | जजीबार | दिसम्बर, 1963 |
| 57 | जेम्बिया | दिसम्बर, 1964 |
| 58 | गेम्बिया | दिसम्बर, 1965 |

उक्त सूची से स्पष्ट है कि अफ्रीका के बहुत से देश अभी तक स्वतन्त्र नही हो पाये हैं। पुतगाल के अधीन अगोला मोजम्बिक गिनी, मेडोरा टापू, फ्रासीसियो के अधीन सोमालीलण्ड स्पेन के अधीन स्पेनिश गिनी, स्पेनिशसहारा, तथा ब्रिटेन के अधीन स्वाजीलैण्ड, द० प० अफ्रीका अभी तक स्वतन्त्र नही हो पाए हैं।

## अफ्रीकी एकता आन्दोलन व एशियाई सम्बन्ध
## ( African Cooperation & Afro-Asian Unity )

नव जाग्रत अफ्रीका मे यह महसूस होने लगा है कि वे अपनी समस्याओं का तभी समाधान कर सकते हैं जब उनमे एकता कायम रहे। एकता की प्रवृति इसलिए अफ्रीकी राष्ट्रो में धीरे-धीरे बल पकड रही है। इस सम्बन्ध मे अप्रैल 1958 को अफ्रीका के स्वतन्त्र राष्ट्रों का अक्कारा मे सम्मेलन हुआ। यह स्वतन्त्र अफ्रीकी राष्ट्रो का पहला सम्मेलन था, जिसको घाना के प्रधान मन्त्री डाक्टर एनक्रूमा ने आमन्त्रित किया था। इसमें भाग लेने वाले प्रमुख राष्ट्र अरब गणराज्य अबीसीनिया घाना, लिबिया, लाइबेरिया, मोरक्को, सूडान, ट्यूनिशिया आदि थे। इस सम्मेलन मे सामान्य हित के प्रश्न जैसे अफ्रीका के परतन्त्र राष्ट्रो को स्वतन्त्र कराना, स्वतन्त्र राष्ट्रो की स्वतन्त्रता की रक्षा करना व सुदृढ बनाना, विश्वशांति के मार्ग को प्रशस्त करना रग भेद को समाप्त करना आदि पर विचार विमर्श हुए। यह भी निश्चय हुआ कि प्रतिवर्ष 15 अप्रैल को अफ्रीकी स्वतन्त्रता दिवस मनाया जायगा।

दिसम्बर 1958 मे अखिल अफ्रीकी जन सम्मेलन फिर घाना की राजधानी अक्कारा मे हुआ। इसमे विभिन्न राजनैतिक दलो, ट्रेड यूनियनों व संस्थाओं के प्रतिनिधि एकत्रित हुए। इसमे यह निश्चित किया गया कि परतन्त्र राष्ट्रो को आजाद कराने के लिए अहिंसात्मक तरीको का सहारा लिया जाय।

संयुक्त राष्ट्रसंघ को साम्राज्यवादी राष्ट्रो को अफ्रीका से हटाने के लिए अनुरोध किया जाय। रंगभेद बरतने वाली द० अफ्रीका सरकार से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड लिए जाएँ। सम्पूर्ण अफ्रीकी राष्ट्रो को पाच समूह मे बाटा जाय तथा स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक राष्ट्र मण्डल (Common wealth) बनाया जाय।

अफ्रीकी एकता का तीसरा सम्मेलन जनवरी 1962 मे नाइजीरिया की राजधानी लागोस मे हुआ। इस सम्मेलन मे बीस अफ्रीकी राष्ट्रो ने भाग लिया। इस सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य अफ्रीकी देशो की आर्थिक स्थिति को सुलझाना था। इस सम्मेलन मे यह निश्चय किया गया कि अफ्रीका के सम्मेलन में भाग लेने वाले बीस राष्ट्रों के बीच आर्थिक व सामाजिक बंधन को मजबूत किया जाय दूसरा आने वाले वर्षों में अफ्रीका म एक अखण्ड आर्थिक व्यवस्था हो, तीसरा, आर्थिक उन्नति के लिए राष्ट्रो के बीच राजनैतिक मामलो म भी समन्वय किया जाय चौथा, अफ्रीकी राष्ट्र स्वास्थ्य व शिक्षा के विकास मे सहयोग दें और पाँचवा अफ्रीकी राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लिए एक ऐसी संस्था का निर्माण किया जाय जिसे अफ्रीकी कॉमन मार्केट कहा जा सके और जिसका उद्देश्य विभिन्न देशो के बीच व्यापारिक व्याप्त सीमाओं को हटाना है।

अफ्रीकी एकता का एक बहुत बडा सम्मेलन 1966 मे यूथोपिया की राजधानी अदिसअबाबा मे हुआ। इस सम्मेलन मे अफ्रीका के 32 स्वतन्त्र राष्ट्रो के राज्याधिपति सम्मिलित हुए।

अफ्रीकी एकता का यह बहुत ही महत्वपूर्ण सम्मेलन था। इसके निम्न निश्चय थे।

(1) अफ्रीका से प्रजातिवाद और उपनिवेशवाद को समाप्त किया जाय।

(2) परतन्त्र देशो को आजाद कराने के लिए जो धन खर्च हो उसके लिए एक स्वतन्त्रता मद बनाया जाय।

(3) अफ्रीका के सभी स्वतन्त्र राष्ट्र द० अफ्रीका व पुर्तगाल सरकारो के साथ अपने कूटनीतिक व आर्थिक सम्बन्ध तोड लें और उसके जहाजों को अफ्रीकी बन्दरगाहो पर सुविधा न दी जाय और जो देश इनसे सम्पर्क रखेगा वह शेष अफ्रीका का विरोधी माना जायेगा।

(4) सम्मेलन ने अफ्रीकी एकता चार्टर का निर्माण किया, जिसकी 36 धाराएँ थी। चार्टर के प्रारूप के अनुसार एक सभा होगी और उसमे अफ्रीकी राष्ट्रो के अध्यक्षो का प्रतिनिधित्व होगा। इसके अनुसार एक विदेश मन्त्रियो की काउन्सिल भी रखी गई जो वर्ष मे दो बार मिलेगी। इसका एक सचिवालय होगा। जिसका अध्यक्ष महासचिव कहलायेगा। इस अफ्रीकी सगठन मे आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक सुरक्षा विज्ञान तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी कई आयोग होगे। आपसी झगडों का निपटारा करने के लिए पच निर्णयो की व्यवस्था भी की गई। इस सगठन के प्रमुख उद्देश्य अफ्रीकी एकता परतन्त्र राष्ट्रो को स्वतन्त्रता दिलाना, विवादो का शान्ति पूर्ण निर्णय, आन्तरिक मामलो मे निरस्तक्षेप की नीति, प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान तथा असलग्नता व तटस्थता की नीति का पालन करना।

अफ्रीकी एशियाई सगठन—एक ओर अफ्रीकी राष्ट्र आपसी सम्बन्धो पर जोर डाल रहे है दूसरी ओर एशियाई राष्ट्रो के साथ सहयोग व सम्पर्क करने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह प्रयत्न अफ्रीकी देशो के अतिरिक्त एशियाई राष्ट्रो ने अधिक किए हैं। इस सम्बन्ध म कई सम्मेलन हुए। मार्च अप्रैल 1947 मे 28 प्रतिनिधि देशो का दिल्ली मे सम्मेलन हुआ। इसम राजनैतिक स्वतन्त्रता, आर्थिक विकास रगभेद समाप्ति आदि पर विचार विमर्श हुए। दूसरा सम्मेलन 20 से 23 जनवरी 1949 को दिल्ली म हुआ। इस सम्मेलन म डच आक्रमण के परिणाम स्वरूप उत्पन्न इन्डोनेशिया की स्थिति पर विचार किया गया। तीसरा सम्मेलन 28-29 दिसम्बर 1954 को इन्डोनेशिया के एक नगर बोगोर मे हुआ। इसमें एशिया व अफ्रीका के देशो के बीच सद्‌भावना व सहयोग करने के लिए प्रस्ताव पारित हुए। चौथा सम्मेलन 18 अप्रेल 1955 में इन्डोनेशिया के नगर बाडुग मे प्रारम्भ हुआ।

इस सम्मेलन का उद्घाटन इण्डोनेशिया के भूतपूर्व राष्ट्रपति सुकार्णो ने किया। यह एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन था। इस सम्मेलन की निम्न सिफारिशें थी।

(1) सम्मेलन ने एक अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति की स्थापना की मांग की।

(2) एशिया व अफ्रीका के आर्थिक विकास के लिए बहुपक्षीय व्यापार तथा आदान प्रदान पर जोर दिया।

(3) सम्मेलन का यह तीसरा प्रस्ताव पेलेस्टाइन मे अरबो का समर्थन वेस्ट इरियन पर इण्डोनेशिया का समर्थन तथा राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या मे वृद्धि एवं निशस्त्रीकरण आदि पर पारित हुआ।

(4) एशिया व अफ्रीकी राष्ट्रों की एकता पर जोर दिया गया।

अफ्रीकी एशियाई एकता सम्मेलन 1957 में मिस्र की राजधानी काहिरा में हुआ। इस सम्मेलन में सोवियत संघ के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में रंगभेद उपनिवेशवाद व अफ्रीका के राष्ट्रो की स्वतन्त्रता की माग की। 1958 की दिसम्बर मे अफ्रीकी एशियाई राष्ट्रो के विकास के सम्बन्ध मे काहिरा मे दूसरा सम्मेलन हुआ। उसका प्रमुख उद्देश्य व्यापारिक विकास, आर्थिक सहयोग थे। इसके पश्चात् सितम्बर 1961 मे एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रो का सम्मेलन युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड मे हुआ। इसम जर्मनी के प्रश्न पर, निशस्त्रीकरण, अणु परीक्षण, शीत युद्ध आदि समस्याओ पर विचार विमर्श हुए। इस सम्मेलन मे भी उपनिवेशवाद प्रजातीयवाद की कटु निन्दा की गई। 5 अक्तूबर 1964 को एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रो का पांचवा सम्मेलन काहिरा मे हुआ। इस सम्मेलन मे निःस्त्रीकरण, झगडो का शांतिपूर्ण निर्णय, रंगभेद बरतने वाले देशो के साथ कूटनीतिक सबध तोडने पर प्रस्ताव पारित हुए। इसके अतिरिक्त द० रोडेशिया मे एक तरफा स्वतन्त्रता की भावी घोषणा, कम्बोडिया तथा वियतनाम मे विदेशी हस्तक्षेप का विरोध हुआ। सम्मेलन मे सयुक्त राष्ट्रसंघ मे साम्यवादी चीन को प्रवेश प्राप्त करने के लिए प्रस्ताव पारित किया गया। एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रों का सम्मेलन जून 1965 में अल्जीरियस मे होना निश्चय हुआ। परन्तु अल्जीरिया मे सैनिक विद्रोह के कारण सम्मेलन स्थगित कर दिया। इस प्रकार एशिया व अफ्रीका आपसी सहयोग के लिए बराबर प्रयत्नशील है।

---

## बेल्जियन कांगो व दक्षिणी रोडेशिया का प्रश्न

शताब्दियो तक कागों के मैदान का महत्व नही समझा गया था, किन्तु अचानक बीसवी सदी के प्रारम्भ मे विश्व का ध्यान इस ओर गया। सन् 1903 मे यहा के रबर के व्यापार से सम्बन्धित रोजर केसमेन्ट की रिपोट प्रकाशित हुई। इसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध के समय कांगो से ताबा, हीरे, रबर, कपास तथा यूरेनियम आदि महत्वपूर्ण युद्ध सामग्री के योगदान के कारण इसका महत्व बढ गया। साथ ही इसके प्रशासक बेल्जियम का स्थान भी ऊँचा हो गया।

बेल्जियम के सम्राट लियोपोल्ड द्वितीय ने योरोप के प्रसिद्ध पयटक हेनरी स्टेनली की सेवाओ का बहुत उपयोग किया था। स्टेनली की सहायता से कांगो में व्यापार और सभ्यता का प्रसार सभव हुआ। सडकें बनाना, व्यापार करना और अन्त मे जनता को लडाका रहने के बजाय श्रमजीवी बना देना, उसी के परिश्रम का फल था। इन्ही के नाम पर वहाँ नगरो के नाम रक्खे गए हैं। स्टेनली ने स्वय पेड काटकर गिराना और खानो से पत्थर तोड कर निकालना सिखाया था। प्रत्येक कदम पर वहाँ घनाजगल था जहाँ जगली जातियो और जगली जानवरोकी प्रचुरता थी। टिसिस्सी नामक मक्खी होती थी जिसके काटने से गाय, घोडे आदि तुरन्त मर जाते थे। ऐसी स्थिति में भी स्टेनली ने कागो मे 1400 मील लम्बी लाईन बनाकर एक बहुत बडा कार्य सम्पन्न किया। प्रारम्भ म कागो पर सम्राट का आधिपत्य था। उस समय बेल्जियम के अधिकारियो द्वारा वहा की जनता का बहुत शोषण किया जाता था। यदि कांगो निवासी पर्याप्त रबर और ताड का तेल पर्याप्त मात्रा मे नही लाते थे तो उनके हाथ काट दिये जाते थे और उनकी स्त्रिया और बच्चे छीनकर दासता के रूप मे रख लिये जाते थे। इस प्रकार वे दण्ड और पीडा के भय से निरन्तर आतकित रहते थे।

सन् 1908 मे बेल्जियम की जनता ने जब सम्राट से शासन भार सँभाला, तब वहा की दशा कुछ सुधरी। किन्तु फिर भी कागो निवासियो को समानता का स्तर नही मिल सका। वहाँ के शासकों को वहा की भाषा मे ट्रेनिंग देकर वहा भेजा जाता था और उस प्रदेश मे निरन्तर भ्रमण करते रहने का आदेश दिया जाता था। कांगों के नवयुवको को केवल ऐसी शिक्षा दी जाती थी कि अपने बेल्जियम के अधिकारियो के लिए उपयोगी हो सकें। इस प्रकार कागो की सम्पत्ति तांबा, हीरे, सोना और यूरेनियम का अत्यधिक उपयोग बेल्जियम द्वारा किया गया।

सन् 1940 मे जब नाजी लोगों ने बेल्जियम जीत लिया तब कांगो में रहने वाले बेल्जियन्स को बडा जोश आया और वे अग्रेजो के साथ मिलकर बड़ी सहायता

करने लगे। अब आणविक युग में यूरेनियम और कोबाल्ट का महत्व और भी बढ गया। बेल्जियम ने अब इसके आँकडे प्रकाशित करना भी बन्द कर दिया। किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के समय संयुक्त राज्य अमेरिका में आणविक विस्फोट के प्रयोगो के लिए आवश्यक यूरेनियम कांगो से ही भिजवाया गया था।

कांगो का क्षेत्रफल लगभग 10 लाख वर्गमील है। किन्तु समुद्री किनारा बहुत थोडा है। यहाँ की राजधानी लियोपोल्डविले है। यहाँ से सभी प्रदेशो को वायु मार्ग जाते हैं। सडको और रेल मार्गों का भी अच्छा विकास हो चुका है। आवागमन के साधनो के विकास के साथ ही यहाँ के मूल निवासी जाग्रत हो गए। उन्हें यह विश्वास भी हो गया कि वे अपने पडौसी रोडेशिया निवासियो से अच्छे हैं किन्तु फिर भी घाना की भाति पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही हैं।

स्वतन्त्रता का उदय—जब से बेल्जियम ने (सन् 1879) कांगो पर आधिपत्य जमाया तब से ही कांगो निवासी अपनी स्वतन्त्रता के लिए चिंतित थे। सन् 1952 मे कांगो के गवर्नर-जनरल ने यह स्वीकार किया था कि अब कांगो की आजादी का विचार करने का समय आ गया है, किन्तु फिर भी 'स्वातन्त्र्य' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1954 मे उस समय किया गया जब बेल्जियम मे उग्रवादी संयुक्त सरकार स्थापित हुई। जनता की ओर से भी सर्वप्रथम मांग सन् 1956 की जुलाई और अगस्त मे "अफीकी आत्मा" तथा "अबाको" की घोषणाओं मे व्यक्त हुई थी। इस समय यह अनुमान किया जाता था कि लगभग तीस वर्ष मे सन् 1986 तक कांगो स्वतन्त्र हो सकेगा। और यह घोषणा भी सर्वत्र बडी भयावह प्रतीत हुई थी। बेल्जियम सरकार द्वारा इसकी कोई सुनवाई नही की गई। अत कांगो निवासियों ने सोचा कि यह शासन अभी कम से कम एक सौ वर्ष और चलेगा कांगो की जनता का यह विचार बहुत अधिक निराशावादी था, क्योंकि इस समय तक फ्रांस ने अपने अफ्रीका के प्रदेशो को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी थी और सूडान तथा घाना भी स्वतन्त्र हो चुका था। इसलिए सन् 1956 का वर्ष ही कांगो मे महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

सन् 1956 मे जनता की घोषणा और स्वतन्त्रता की माँग का कोई उत्तर नही मिला। इसी वर्ष अमेरिका के साथ कांगो मे भी आर्थिक शिथिलता आई और फलस्वरूप सामाजिक विकास के कार्य भी स्थगित कर दिये गए और शासन का प्रभाव कम होने लगा। सन् 1958 मे बेल्जियम के निर्वाचन हुए और समाजवादी ईसाई सरकार स्थापित हो गई। इस सरकार के गवर्नर जनरल एम० पटीलॉन ने उपनिवेश का विभाग लेकर इसका, नाम बदल दिया और उपनिवेशों को स्वतन्त्र बनाने की नीति भी ( Policy of Decolonization ) तय की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने एक संसदीय आयोग भी नियुक्त किया। इस प्रकार कांगो का बेल्जियम के सुपुर्द हो गया।

किन्तु जनवरी सन् 1959 मे लियोपोल्डविले मे राजनैतिक आन्दोलन ने धीरे धीरे बढकर दगो का रूप धारण कर लिया। इसके 9 दिन, बाद 13 जनवरी सन् 1959 को बेल्जियम सरकार ने अपना निर्णय घोषित कर दिया। केवल "अबाको के अतिरिक्त अन्य सभी राजनैतिक दलो ने यह निर्णय स्वीकार कर लिया था किन्तु बाद मे आठों प्रमुख राजनैतिक दलो ने "आठों का स्मरण पत्र" देकर अस्वीकार कर दिया और सन् 1961 में ही स्वतन्त्रता प्राप्त करने की माग की। इसके तुरन्त बाद ही पेट्रिस लुमुम्बा के राष्ट्रीय आन्दोलन ( Movement National Congoleis ) द्वारा जून सन् 1960 मे ही स्वतन्त्रता की माग प्रस्तुत की गई।

समझौता करने की दृष्टि से बेल्जियम सरकार ने जनवरी फरवरी सन् 1960 मे एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जिसमें कांगो के 45 राजनैतिक नेता एव तीन प्राचीन राजनैतिक दल सम्मिलित हुए और यह निर्णय लिया गया कि 30 जून सन् 1960 को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जावे।

स्वतन्त्र कागो—स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय नए प्रधान मत्री पेट्रिस लुमुम्बा और राष्ट्रपति कासाबुबू ने कागो की बागडोर सँभाली, किन्तु इन नेताओं को राजनतिक अनुभव और प्रशासकीय रीति-रिवाजो से पूरा परिचय नही था। आर्थिक अभाव भी बहुत था। इसलिए स्वतन्त्र होते ही कठिनाइया सामने आने लगीं। लियोपोल्डविले म 30 जून 1960 को राष्ट्रीय झण्डा फहराने के तुरन्त बाद ही विद्रोह सा हो गया। सेना के मूल निवासियो ने अपने श्वेत अधिकारियो का विरोध किया और नियम तथा शासन अपने हाथ मे ले लिया। अभी तक की दबी हुई भावना कि बेल्जियम ने कांगो का शोषण किया है, भडक उठी और सभी यूरोप निवासियों का विरोध होने लगा। क्रुद्ध भीड ने श्वेत नागरिको और अधिकारियो के मकान लूट लिये और बहुतों को मार भी डाला। भविष्य अन्धकारमय बन गया। कुछ लोग नावों से कागो नदी पार कर ब्राजविले जाने लगे और अन्य लोग वायुयानों द्वारा बच बच कर भागने के लिए दौडे।

सयुक्त राष्ट्रसघ की सहायता—प्रधान मन्त्री लुमुम्बा ने यह स्वीकार किया कि वे अपने देशवासियो को नियन्त्रित नही कर सके और सयुक्त राष्ट्रसघ से सहायता के लिए प्रार्थना की। जब राष्ट्रसघ की सेनाएँ सहायतार्थ पहुँची तो प्रधान मन्त्री को भय हुआ कि ये सेनाएँ उनका विरोध करेंगी इसलिए उन्होंने कहा कि इन्हें वापस ले जाया जावे। किन्तु इस समय कांगो की दशा दयनीय थी, वहाँ न तो कोई डाक्टर था और न कोई व्यवस्थित अस्पताल। सयुक्त राष्ट्रसघ ने यह व्यवस्था की। भारत की मेडिकल यूनिट इस सम्बन्ध मे कागो गई थी। इस समय न तो पाठशालाओं में कोई अध्यापक थे, न कारखानों मे कोई मजदूर। दूकानें खाली थीं और पट्रोल पम्प सूखे। डाकखानो से पत्र नहीं बाटे जाते थे और सडकों पर सफाई नहीं होती

थी। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कांगो की दशा बिगड़ गई। कृषि में विघ्न पड़ गए और चारों तरफ अकाल सा पड़ गया। राष्ट्रसंघ के सैनिक नगरों में घूमने लगे। इस समय विद्रोही सेनानायक कर्नल मोबुटू ने सत्ता प्राप्त करने की कोशिश की। इस प्रकार पांच माह तक गड़बड़ स्थिति चलती रहने पर लुमुम्बा ने राजधानी से भाग कर अपनी जाति की शरण में जाना चाहा परन्तु कर्नल मोबुटू के सैनिकों ने उसे पकड़कर कैद में डाल दिया। राष्ट्रपति कासावुबू ने व्यवस्था जमानी चाही किन्तु फिर भी विभिन्न भागों में संघर्ष छिड़ गया।

**कांगो विग्रह की ओर—** इस बीच कांगो के खनिज सम्पन्न प्रदेश कटंगा के राजनैतिक नेताओं ने अपना पृथक राज्य स्थापित करने का निर्णय कर लिया। यह कांगो की एकता को गहरी और गंभीर चोट लगी, क्योंकि कांगो के आर्थिक जीवन का प्राण ही कटंगा का खनिज है। वास्तव में इस विग्रह के दो प्रमुख कारण थे। प्रथम, लुमुम्बा की केन्द्र को अत्यधिक शक्तिशाली बनाने की भावना से शोम्बे (कटंगा को स्वतन्त्र बनाने के समर्थक नेता) बहुत असंतुष्ट हो गए और यहाँ तक कि दोनों नेताओं के पारस्परिक सम्बन्ध भी बिगड़ गए। दूसरा, कटंगा के खानों संबंधी स्वार्थों की पूर्ति भी कांगो से अलग रहने पर ही भली प्रकार होती थी। प्रशासन भी इसी पक्ष में था। इस पक्ष में बेल्जियम, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के साथ ही संयुक्त-राज्य अमरीका भी सम्मिलित था।

इस स्थिति में संयुक्त-राष्ट्रसंघ ने कांगो के शेष भाग (कटंगा के अतिरिक्त) से तो बेल्जियम की सेनाएँ आदि शांतिपूर्वक हटा दी किन्तु कटंगा की स्थिति भिन्न ही बनी रही। वहाँ पर शोम्बे ने अपना आधिपत्य जमाना चाहा। उनकी सहायता के लिये लगभग ४०० बेल्जियम सैनिक अधिकारी, वायुयान और हेलीकोप्टर आदि भी लगे रहे। तब सं० रा० संघ के महासचिव श्री हेमरशोल्ड ने अगस्त सन् १९६० में सुरक्षा परिषद् से नवीन आज्ञाएँ और आदेश प्राप्त किये और प्रथम २०० संयुक्त राष्ट्र सैनिकों के साथ स्वयं एलिजाबेथविले जाने का कार्य अपने ऊपर लिया। इस बीच (८ जुलाई से ११ अगस्त सन् १९६०) में शोम्बे ने अपनी अल्पमत वाली पार्टी को शक्तिसम्पन्न बना लिया था। शोम्बे ने अपनी पार्टी के अतिरिक्त अन्य पार्टियों (बालूबकात आदि) के प्रमुख सदस्यों को बन्दी बना लिया जिनकी संख्या लगभग ११०० थी। इस प्रकार एक पुलिस राज्य की स्थापना कर ली गई। इस प्रशासन की शक्ति के तीन मुख्य आधार थे। प्रथम ३००० सुसज्जित सैनिक जिनका नेतृत्व भी विदेशी अफसर करते थे और जिनके पास सब प्रकार के आधुनिक शस्त्रास्त्र थे। दूसरा, आर्थिक स्वार्थ जिनका स्रोत वहां के खनिज थे। इनके कारण खानों की समस्त आमदनी केन्द्र को जाने के बजाय लगभग ५०० लाख डालर प्रतिवर्ष शोम्बे सरकार प्राप्त होने लगा। और तीसरा आधार ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्त राज्य

अमरीका से प्राप्त सहायता थी जिसमे पडोसी राष्ट्र रोडेशिया के प्रधान सर रॉय वेलेन्सकी की सहानुभूति भी सम्मलित थी।

इस परिस्थिति मे जब लुमुम्बा सरकार ने देखा कि उसके आमदनी के साधन रुक गये और एलिजाबेथविले मे शोम्बे का पूरा नियन्त्रण होता जा रहा है, तब उन्होंने सयुक्त राष्ट्रसघ से यह प्रार्थना की कि कटगा के इस व्यवहार को सैनिक बल द्वारा समाप्त करने की कार्यवाही की जावे। किन्तु यह कार्य चार्टर की परिधि से बाहर था। अत स्वीकार नही किया गया। तब लुमुम्बा ने क्रोधित होकर अपनी ही सेनाओ को कटगा पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया और इस समय उन्हे सोवियत रूस से अप्रत्याशित सहायता प्राप्त हुई। किन्तु राष्ट्रपति कसावूबू लुमुम्बा के इस कार्य से अप्रसन्न हो गये और उन्होंने लुमुम्बा को पदच्युत कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप लुमुम्बा ने राष्ट्रपति कसावूबू को पदच्युत कर दिया। ऐसी सकट की स्थिति मे सयुक्त राष्ट्रसघ ने समस्त वायुयान उड्डयन स्थल बन्द कर दिये जिससे रूस के यानो का आवागमन भी रुक गया और कटगा का आक्रमण भी स्थगित हो गया।

इसके पश्चात् अक्टूबर सन् १९६० मे परिस्थितियाँ बदली बालूबा जाति के लोगो ने अपने नेताओ को बन्दी होते हुए भी मध्य एव उत्तरी कटगा मे शोम्बे नेताओ को हरा दिया जिससे शोम्बे की सरकार डगमगाने लगी। तब शोम्बे ने भी इज्जत बचाने की दृष्टि से सयुक्त राष्ट्र सघ से ही सहायता के लिये प्रार्थना की। इस प्रकार स० रा० सघ की सेना के नियन्त्रण मे एक तटस्थ प्रदेश की स्थापना हो गई। तब विद्रोह प्रदेश ने अपना नामकरण "लुआलाबा राज्य"—करके सतोष किया। इस स्थिति मे स० रा० सघ को पुन सारा प्रश्न समस्त कागो को ध्यान रखकर सोचने और हल करने का अवसर मिल गया। किन्तु कांगो की स्थिति बडी विचित्र बन गई थी। केन्द्र का शासन निदल इलियो सरकार के हाथ में था और राज्य के अन्दर अनेक गुट बन गये थे जसे कीवू में ओरियन्टले लुमुम्बा के पक्ष में थी और उसकी हत्या के पश्चात् गिजेन्जा के पक्ष मे। दूसरे, उत्तरी कटगा से बालुबा वर्ग सविधान सभा के पक्ष मे था। तीसरे, दक्षिणी कटगा अब भी शोम्बे के नियन्त्रण में था। चौथे, कालोजी ने अपनी अलग ही एक स्वतन्त्र राज्य की घोषणा कर दी और बाद मे यह दक्षिण कसाई का राज्य कहलाने लगा, और इस प्रकार कई वर्ग बन गए। ये समस्त वर्ग मुख्य तौर पर जातीय सम्बन्धों पर आधारित थे। किन्तु स० रा० सघ ने अपनी सेनाए इस प्रकार तैनात की थी कि जिससे इन विभिन्न वर्गों में सघर्ष सम्भव न हो। यह वास्तव में एक बहुत ही सफल प्रयत्न था जहाँ सयुक्त राष्ट्रसघ कांगो की गृह-कलह के समय शान्ति और युद्ध तथा व्यवस्था और अव्यवस्था के मध्य में अडिग रहा।

अन्त मे स० रा० सघ के अधिकारियो के प्रयत्नों के फलस्वरूप जुलाई सन् १९६१ में विभिन्न वर्गों के प्रतियोगी नेताओं के बीच यह समझौता हो गया कि मि० एडूल (४० वर्षीय साम्यवाद विरोधी व्यक्ति) के नेतृत्व मे सरकार की स्थापना कर दी जाय। स० रा० सघ ने भी अपने समस्त साधन उसकी सहायता के लिये सौंप दिये। ऐसे समय मे जब कांगो मे सवत्र व्यवस्था लाई जा रही थी, कटगा फिर भी अलग रहा। स० रा० सघ के सब स्थानों से विदेशी सेनायें हटाना शुरू कर दिया था। माच सन् १९६१ मे कटगा से भी सेनायें हटाई गई। वहाँ मुख्यतया बेल्जियम की सेनायें थी। बेल्जियम की नई सरकार ने महासचिव हेमरशोल्ड की प्रायना पर अपनी सेनायें तुरन्त हटा ली। अब शोम्बे ने सोचा कि यह स्थिति उसके प्रदेश के लिये घातक हो जायेगी, इसीलिये किसी भी तरह एक प्रयत्न और करना चाहिये। इस उद्देश्य से उसने कुछ सेना और कुछ रिटायड फ्रासीसी अफसरो से, जो अल्जीरिया से निकाल दिये गये थे, बातचीतकी और उन्हें नौकर रख लिया। किन्तु यह जम नही पाये थे कि स० रा० सघ की सेना ने इन्हे एलिजाबेथविले मे बन्दी बना लिया। इससे यहा सितम्बर सन् १९६१ मे पुन विग्रह आरम्भ हो गया। शोम्बे तो यह चाहता ही था। परन्तु स० रा० सघ इसकी आशका भी नही करता था। इस सकट को टालने के लिये महासचिव हेमरशोल्ड ने स्वय जाकर शोम्बे से मिलकर इस अनावश्यक उपद्रव को रोकने का निश्चय किया। किन्तु इस प्रयत्न मे (सितम्बर १८, सन् १९६१) वायुयान दुघटना के कारण उनका आकस्मिक देहावसान हो गया। किन्तु स० रा० सघ ने अपना प्रयत्न जारी रक्खा।

कटगा का कागो से पृथक रहने का प्रयत्न बराबर जारी रहा और इसीलिये गिजेन्गा लियोपोल्डविले छोडकर स्टेनलीविले आ गये। नवम्बर सन् १९६१ में सुरक्षा परिषद् की फिर बैठक हुई। उसमे यह प्रस्ताव पास किया गया कि कटगा का भविष्य समस्त कागो के साथ ही सलग्न है। इसलिये हर तरह कटगा के पृथक्करण का विरोध करना चाहिये। शोम्बेने भी एकबार फिर स०रा० सघ विरोधी प्रचार डटकर किया। २८ नवम्बर सन् १९६१ की रात्रि को पुन कटगा के लोगो ने आक्रमण आरम्भ कर दिया। इस बार दो सयुक्त राष्ट्रसघ अधिकारियो को जबदस्ती अपने कमरो मे बाहर खींच लिया गया दो अन्य अधिकारियों को पीटा गया, एक अधिकारी को उडा दिया गया। इनकी सुरक्षा और छुटकारे के लिये स० रा० सघ के सैनिक दल भेजे गये जिनमे भारतीय अफसर मेजर रणजीतसिंह और उनके गोरखा ड्राइवर भी थे। इन्हें भी जाल में फँसाकर गोली मार दी गई और नेतृत्व विहीन सेना को बुरी तरह परेशान किया, कुछ को मारा और बन्दी बना लिया। एलिजाबेथविले, जहा स० रा० सघ का मुख्य कार्यालय था, पर भी आक्रमण कर दिया। मुख्य मुख्य मार्गों को रोकने और वायुयान उड्डयन स्थलो पर अधिकार करने के भी प्रयत्न किये गये। जब कई प्रकार की चेतावनियो के बाद भी कटगा के लोग नहीं माने,

तब स० रा० सघ की सेनाग्रो को ग्रात्म रक्षा ग्रौर व्यवस्था स्थापित करने के पूएा ग्रधिकार दे दिये गए ग्रौर भयकर स्थिति बन गई। बालूवा क्षेत्र मे सबसे ग्रधिक विकृत उपद्रव हुग्रा। वहाँ नागरिको के वेश मे, मकानो की खिडकी ग्रौर दरवाजो से, रेडकास के बैज लगाकर तथा एम्बूलेंस गाडियो मे चढकर भी वे लोग गोलियाँ चलाते थे। इसका फल यह हुग्रा कि निरपराध व्यक्तियो को ग्रधिक हानि हुई। ग्रन्त मे स० रा० सघ की सेनाग्रो ने पूरा निय न्त्रएा पा लिया ग्रौर एलिजाबेथविले के ताबे के कारखाने पर ग्रधिकार हो जाने के बाद सारा विरोध शात हो गया ग्रौर जब यह विश्वास हो गया कि सब ग्रावागमन के साधनो पर ग्रब स० रा० सघ का पूएा निय न्त्रएा हो गया है, स्थानाप न महासचिव श्री यू० थाट ने गोली चलाना ब द करने का ग्रादेश दे दिया।

इस विजय के क्षएा मे स० रा० सघ ने पुन बल प्रयोग के स्थान पर कूटनीति ग्रौर वार्तालाप के साधन ग्रपनाने का निश्चय किया। फलस्वरूप शोम्बे तुरन्त किनोता में ग्रड्ला से मिलने के लिये तैयार हो गया ग्रौर मतभेद दूर करने के प्रयत्न शुरू हो गये। सिद्धान्त रूप मे कटगा ने यह स्वीकार कर लिया कि कागो की एकता श्रेयस्कर है।

**कांगो एकता की ग्रोर**—जुलाई सन् १९६२ मे मि० ग्रड्ला ने कागो के लिये एक नये सघीय सविधान की रूपरेखा प्रस्तुत की ग्रौर सयुक्त राष्ट्रसघ के विधि विशेषज्ञों से उसे ग्रन्तिम रूप देने की प्रायना की। इस विधान मे यह प्रावधान रक्खा गया है कि प्रत्येक प्रदेश स्थानीय प्रशासन का ग्रधिकारी रहे, ग्रपने ग्रार्थिक प्रब ध स्वय करे ग्रौर ग्रपनी प्रादेशिक शान्ति व्यवस्था के लिये भी उत्तरदायी हो। के द्रीय सरकार केवल वदेशिक सम्ब ध, सुरक्षा जकात, विदेशी व्यापार, सिक्का, ग्रावागमन ग्रौर सचार ग्रादि की व्यवस्था करे। उ होने यह भी प्रस्ताव रक्खा कि यह काय शीघ्र किया जाय तथा सम्भवत इन विशेषज्ञों में एक ग्रफ्रीका-निवासी भी हो।

मि० थाट ने १९ सदस्यीय कागो परामश समिति से इस विषय पर विचार विमश किया ग्रौर (९ ग्रगस्त १९६२) चार विशेषज्ञो को चुना गया, जो इस प्रकार हैं —

(१) मि० बी० मलिक (भारत) प्रयाग उच्च यायालय के भूतपूव मुख्य यायाधीश।

(२) चाफ एच० ग्रॉ० डेवीज क्यू० सी० (नाइजीरिया) लेखक ग्रौर संवधानिक परामशदाता।

(३) मि० जीन बीज, प्रोफेसर ग्रॉफ कॉन्स्टीट्यूशनल लॉ, माट्रियल विश्वविद्यालय।

(४) मि० डिचरिच शिडलर, प्रोफेसर ग्रॉफ कान्स्टीट्यूशनल एण्ड_इंटर नेशनल लॉ, ज्यूरिख विश्वविद्यालय ।

इसके पश्चात् १६ अक्टूबर सन् १९६२ को कागों और कटगा के नेताओं ने विराम संधि के प्रस्ताव पर औपचारिक रूप से हस्ताक्षर किये और यह तय किया कि पूर्ण एकीकरण होने तक वस्तुस्थिति बनी रहे ।

नया विधान —नये सघीय सविधान में २१२ धारायें हैं और प्रादेशिक सरकारो को अधिक स्वतन्त्र रखने का प्रयत्न किया गया है । इसमे दो सभाओ वाली ससद् तथा एक सघीय राष्ट्रपति के लिये प्रावधान है, जो छ वर्ष की अवधि के लिये एक निर्वाचक मण्डल तथा राष्ट्रीय ससद् द्वारा निर्वाचित किया जायगा और केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारो के अधिकार प्रस्ताव के अनुसार ही रखे गये हैं ।

दक्षिणी रोडेशिया का प्रश्न—दिसम्बर 31, सन् 1963 को रोडेशिया और न्यासालैण्ड का सघ जो उत्तरी रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया और न्यासालैण्ड से मिलकर बना था उत्तरी रोडेशिया और न्यासालण्ड के प्रयत्न स्वरूप समाप्त हुआ । उत्तरी रोडेशिया 2 जुलाई को स्वतन्त्र हुआ और न्यासालैण्ड 24 अक्टूबर को । दूसरी ओर द० रोडेशिया जिसमें कुल जनसख्या के 1/3 भाग अर्थात् 10 लाख यूरोपियन जनसख्या भी स्वतन्त्रता की माग करने लगी । यूरोपियन जनसख्या बहुत कम है । किन्तु रग भेद के प्रभाव के कारण यह अपनी सरकार बनाने के लिए आवाज कर रहे थे । दूसरी ओर ब्रिटेन का यह कथन था कि द० रोडेशिया को तभी स्वतन्त्र करेगा जब वहां अफ्रीकी निवासियो का सब मताधिकार दिया जाय और श्वेत व्यक्तियो के लिए मौजूदा सभी विशेष व्यवस्थाएँ समाप्त कर दी जायें ।

ब्रिटेन की उक्त शर्तों का वहाँ की श्वेत अल्प सख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और 11 नवम्बर 1966 को ब्रिटेन का विरोध करते हुए ब्रिटेन के खिलाफ आन्दोलन द०रोडेशिया के नेता इवा स्मिथ ने द०रोडेशिया की एक तरफा स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी । ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री विलसन के सभी प्रयत्न उक्त समस्या को सुलझाने में असफल रहे और इवा स्मिथ ने मध्य अफ्रीका की बस्ती को ब्रिटेन से मुक्ति की घोषणा कर दी । 1968 मे ब्रिटेन के द्वारा बनाये गये सविधान को विघटित कर दिया और नवीन व्यवस्था मे श्वेत अल्प सख्यकों को पुन विशेष अधिकार दे दिये गये । रोडेशिया की एक तरफा स्वतन्त्रता की घोषणा के परिणाम स्वरूप ब्रिटेन के गवनर हम्फी गिब्स ने स्मिथ सरकार को तुरन्त पदच्युत करने की घोषणा कर दी । सारे विश्व में इवा स्मिथ द्वारा उठाये गये कदम का विरोध हुआ । और अमेरिका द्वारा इवा स्मिथ की सरकार पर आर्थिक व अन्य प्रकार की लगाई गई किन्तु इसका उस पर कोई प्रभाव न पड़ा । दिसम्बर 1966 में

स्मिथ और विलसन के बीच जिब्राल्टर मे इस विषय पर बातचीत हुई किन्तु कोई परिणाम नही निकला। इसके पश्चात सयुक्त राष्ट्रसघ की सुरक्षा परिषद् मे द० रोडेशिया के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध का प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें 12 मुख्य वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। मार्च 1968 मे रोडेशिया का प्रश्न पुन जाग्रत हुआ। जब सात मार्च को वहाँ की सरकार ने तीन राष्ट्रवादी अफ्रीकीयों को फासी की सजा दी। 23 अप्रैल 1968 और 30 मई 1968 को सुरक्षा परिषद् रोडेशिया के विरुद्ध नाकेबन्दी के सम्बन्ध मे कुछ प्रस्ताव पारित किए हैं किन्तु समस्या का कोई हल नही मिला है।

अफ्रीका का भविष्य—अफ्रीका के नवजागरण ने विश्व राजनीति को यद्यपि प्रभावित किया है किन्तु इसके सामाजिक व राजनतिक परिवतन कई समस्याओं से युक्त हैं। प्रथम अफ्रीका की आर्थिक व सामाजिक प्रगति ने सामाजिक विकेन्द्रीकरण को जन्म दिया है। जब तक अफ्रीकी जनता मे शिक्षा, तकनीकी विकास तथा स्वास्थ्य विकास नही होता तब तक अफ्रीका का भविष्य पूर्ण सुरक्षित नहीं है। अफ्रीका की दूसरी समस्या राजनतिक स्थिरता की है। वहाँ अभी तक भी ऐसा नेतृत्व नहीं पनप पाया है जो शासन को स्थायित्व दे सके। सरकार का तख्ता इतना जल्दी बदलता है कि कोई नीति स्थायी रूप से देश मे लागू नही की जा सकती। इसके परिणाम स्वरूप विदेशो की दिलचस्पी भी इसके विकास मे कम हो जाती है। नेतृत्व के साथ साथ उनके राजनतिक विकास के लिए आवश्यक है कि सविधान का निर्माण करें तथा सुगठित राजनतिक सघों व दलो की भी स्थापना करें। कुछ ऐसे नियम बनाएँ जिससे एक राज्य व दूसरे अन्तराज्य के साथ लेन देन बढ सके। छोटे राष्ट्र मिलकर एक सघात्मक राज्य को जन्म दें। तीसरी समस्या अफ्रीका विकास मे रग भेद या जाति भेद की है। अफ्रीका अपने विकास के लिए विदेशियों का निष्कासन करे यह आवश्यक नही है। यदि अफ्रीकी जनता और विदेशी सरकारें व जनता आपस मे सहयोग का दृष्टिकोण अपना कर आन्तरिक समस्याओ को सुलझाने पर जोर दें तो अफ्रीका की जागरण ज्योति उसे विश्व शक्ति के रूप मे शीघ्र परिवर्तित कर देगी।

---

# चीन-रूस विवाद (Sino-Soviet Conflict)

"एक विशाल ज्वालामुखी की तरह विरोध और संघर्ष की चिनगारियां, जो अब तक मैत्री एवं सद्भावना के झूठे आवरण से आच्छादित थीं पूर्ण सक्रिय होकर चमक उठी जिनके शान्त होने की सम्भावना निकट भविष्य में दिखाई नहीं देती।" [1]

मिल्टन कोवनर

"संघर्ष केवल पूंजीवादी राष्ट्रों में ही नही वरन् साम्यवादी राष्ट्रों में भी हो सकता है। यह अन्तर्विरोध की कहानी एक रोज अवश्य सत्य सिद्ध होगी।"

एम एन राय

वर्तमान विश्व व्यवस्था के अन्तरंग में कई प्रश्न महत्वपूर्ण रूप से विश्व राजनीति को प्रभावित किये हुए हैं। इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न रूस-चीन विवाद के रूप मे उद्भूत होता है। 1949 मे चीन में साम्यवादियों ने राष्ट्रवादियों को मुख्य भूमि चीन से खदेड कर सत्ता प्राप्त की। उस समय विश्व रंगमंच पर रूस एक विशाल शक्तिशाली साम्यवादी राष्ट्र था। सो० रूस को चीन मे साम्यवादी सत्ता विस्थापित हो जाने से, साम्यवादी व्यवस्था के प्रसार में एक बहुत बडा आधार स्तम्भ उपलब्ध हुआ। साथ ही रूस को यह आशा भी हो चली थी कि चीन साम्यवाद के प्रसार मे सहायता भी करेगा। 1950 मे संधि के द्वारा रूस ने चीन को आर्थिक, सैनिक व राजनैतिक सभी तरह की सहायता देने का आश्वासन भी दिया। सोवियत संघ के साथ मैत्री चीन की विदेश नीति की प्रमुख विशेषता रही। इसके कारण चीन को सुरक्षा, आर्थिक एवं सैनिक सहायता तथा अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सुधारने का अवसर प्राप्त हुआ। दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक समानता होने के कारण प्रारम्भ में सम्बन्ध बड़े घनिष्ट थे किन्तु सन् 1956 के बाद दोनों के बीच शक्ति के लिए संघर्ष छिड जाने के कारण दोनों के राष्ट्रीयहितों मे क्लेश पैदा हो गया। सन् 1954 मे जब ख्रुश्चेव तथा अन्य सोवियत नेता चीन गये तो संयुक्त विज्ञप्ति में सोवियत संघ ने चीन को एक स्वतन्त्र तथा समान दर्जे का राज्य स्वीकार किया और यह माना गया कि दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध समानता पारस्परिक लाभ, राष्ट्रीय प्रभुसत्ता एवं मौलिक अखण्डता के पारस्परिक आदर के सिद्धान्त पर आधारित हैं।

यह एक आश्चर्य की बात है कि जिस रशियन समाजवादी क्रांति से प्रभावित होकर चीन ने अपनी विदेश नीति निर्धारित की थी, वह उस पर अभी तक ठीक

1 Milton Kovner "Sino-Soviet Dialogue in Current History" Sept 1963, P 120

उसी प्रकार से चलता आ रहा है, जबकि उसकी नीति के निर्धारण मे विद्यमान रहे आदश रूप साम्यवादी रशिया की नीति और विचारधारा मे अब हम एक दम से एक नया परिवतन देखते ही दोनो देशो की मित्रता अधिक समय तक न रह सकी और चीन ने सोवियत रूस के राजनतिक व्यहार, विचारधारा तथा अन्य नीतियो का अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। शीघ्र ही दोनो देशों के बीच कटुता की गहरी खाई बन गई। 1949 के उपरान्त चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रगमच को एक ऐसा रग दिया जो अपने आप मे एक विशेषता रखता था। चीन के अभ्युदय के साथ उसकी विशाल जनशक्ति को देखते हुए उसमे एक विशाल बहुत बडी महत्वाकाक्षा का अभ्युदय होना भी अत्यन्त ही स्वाभाविक था और यही हुआ। आज चीन रशिया द्वारा उस पर किये गये तमाम उपकारो को भुलाकर खुले रूप मे रशियन विचार धारा को एजिल्स, लेनिन, मार्क्स तथा स्टालिन विरोधी बताता हुआ उसे कोसने में तनिक भी नही हिचकिचा रहा है। अल्बानिया, अस्तालिनीकरण, नेतृत्व, युद्ध शान्ति, तटस्थता, पश्चिमी साम्राज्यवाद, नि शस्त्रीकरण, क्रांति का वितरित किया जाना, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व आदि प्रश्नो को लेकर दोनों साम्यवादी देशों मे अत्यधिक दूरता व्याप्त होने लगी। रूसी साम्यवादी दल की 1961 मे हुई 22 वी कांग्रेस से ये मत भेद अत्यधिक स्पष्ट रूप मे सामने आये। आज तो दोनो मे हर अन्तर्राष्ट्रीय मामले का लेकर खुले विरोध चल रहे हैं।

श्री रॉबर्ट ए० एकेलिथिनों के शब्दो मे —

"The relation between China and Soviet Union have been marked by increasing tension in recent years and at the moment are in a state of crisis, they are real and serious"

विचारधारा सम्बन्धी मत-भेद एव पारस्परिक हितो के आपस मे टकराने के कारण दोनों देशों के सौहार्द्रता पूर्ण सम्बन्धों में अब पूर्णत व्याघात प्रत्युत्पन्न हो गया है। अब सामन्जस्य की कोई समावना प्रतीत नही हो रही है। अक्टूबर १९६४ में जब रूस मे कोसीजन की नवीन सरकार गठित हुई तो कुछ कूटनीतिज्ञों का यह विचार हुआ कि कदाचित रूसी-चीनी शीतयुद्ध मे तनाव कुछ कम हो जायगा, परन्तु दोनों देशो के बीच मत भेद के कारण इतने ठोस हैं कि सम्बन्ध सुधरने की बजाय और भी बिगड़ते प्रतीत हो रहे हैं।

कारण —

चीन-सोवियत रूस के भ्रातृत्वमय स्नेह के विघटन के कई कारण भिन्न भिन्न रूप से उदत होते हैं साथ ही विभिन्न विद्वानों ने अलग अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं।

राबट ए० स्केलिपनों (Robert A Scalpino) के मतानुसार यह सघप तीन कारणो का परिणाम है —

(1) सगठन, निणय प्रणाली एव साम्यवादी गुट का नेतृत्व,

(ii) क्रान्तिकारी तरीके एव २० वी शताब्दी के मध्य की विश्व राजनीति और

(iii) अन्तगुट सम्बन्ध तथा पारस्परिक सहायता का रूप [1]

चीन व रूस के सैद्धान्तिक मत वैभिन्यता की तस्वीर उस रोज स्पष्ट उद्धत होती है। जिस दिन चीन की कम्यूनिष्ट पार्टी ने (14 June 1963) 60 साठ हजार शब्दों मे 25 बातों पर मत भेद प्रकट किया था। प्रमुख तक थे —

(1) शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व,
(2) अमरीका के साथ रूस के बढते हुए सम्बन्ध,
(3) कम विकसित देशो मे क्रातिकारी आन्दोलन,
(4) पू जीवाद के साथ शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता,
(5) नि शस्त्रीकरण,
(6) सवहारावग की अधिनायकता,
(7) व्यक्तिगत पूजा आदि।

सोवियत सघ और जनवादी चीन मे बढते हुए मतभेदो के लिए निम्न कारण ही मुख्यतया जिम्मेदार कहे जा सकते हैं —

(1) चीन की नीति का वतमान सोवियत नीति से मेल न रखना — (सशोधन वाद का आरोप) चीन यह समझता है कि आज की रशियन नीति स्टालिन विरोध होने के कारण लाभप्रद नही रही। उसका यह भी कहना है कि रशिया की नीति आज उस साम्यवादी विचारधारा के अनुरूप नही रही जिसका उद्गम एंजिल्स, मार्क्स एव लेनिन की विचारधारा रही है। चीन आज रशिया को सशोधन वादी कह कर उसकी कटु आलोचना करता है। परन्तु ठीक यही आरोप रशिया द्वारा चीन पर भी लगाये जा रहे हैं।

(२) साम्यवादी जगत एव विश्व नेतृत्व की भावना —स्टालिन की मृत्यु परान्त साम्यवादी जगत् के नेतृत्व के सम्बन्ध मे भी दोनो म मतभेद उद्धत होने लगे। स्टालिन का व्यक्तित्व अत्याधिक प्रभावशाली था। परन्तु उसके मरणोपरान्त क्रेमलिन एसा व्यक्तित्व तथा प्रभावशाली नेता प्रदान न कर सका अत चीनी

1 "The Sino Soviet Conflict in Perspective'
The Annuals, Jan 1964, P 1

साम्यवादियों ने सोचा कि माम्रो को ही अब साम्यवादी जगत का नेतृत्व प्राप्त होना चाहिए। चीन जनसख्या तथा क्षेत्र की दृष्टि से विशाल देश है साथ ही उसकी प्राचीन मान्यताम्रों ने इसे साम्यवादी जगत मे अद्भुत स्थान प्रदान किया है। क्रेमेलिन मे सत्ता सघर्ष ने मास्को को कमजोर बना दिया। स्टालिन की मृत्यु के बाद पूर्वी यूरोप में हगरी व पोलेण्ड मे परिस्थितियो ने जो खतरनाक रूप धारण किया। मास्को कुशलता पूर्वक हल न कर सका। इन घटनाम्रो ने मास्को के प्रभाव को शीतल कर दिया। इसी कारण चीनी साम्यवादियो का यह विचार दृढ हो गया कि माम्रो ही साम्यवादी जगत का नेतृत्व ग्रहण कर सकता है। रूस इस बात को मानने के लिए कदापि तयार नही था।

म्राज दोनों ही साम्यवादी देशो मे विश्व नेतृत्व की भावना म्रत्यधिक प्रबल हो गई है। चीन म्रब म्रधिक दिनों तक यह सहन नही करना चाहता कि उसकी इतनी बड़ी जनशक्ति के रहते हुए वह एक छोटी सी म्राबादी वाले देश रशिया का सदव ही पिछलग्गू बना रहे म्रौर उसकी हर हाँ मे हाँ मिलाने भर मे म्रपने कर्तव्य की इति श्री समझ बठे। म्राज चीन यह महसूस करता है कि उसके पास इतनी बड़ी शक्ति है कि वह म्रासानी से म्रन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के चलने वाले चक्र को म्रपने ही केन्द्र बिन्दु पर केन्द्रित कर सके म्रौर उसकी इसी महत्वाकाक्षा की बहुत ऊंची उड़ान ने म्राज उसे रशिया से बहुत दूर कर दिया है।

(3) रशिया द्वारा "सह-म्रस्तित्व" तथा "जिम्रो और जीने दो" की नीति म्रपना लेना—चीन म्रौर रशिया मे बढते हुए मतभेदों के लिए एक बहुत बडी सीमा तक यह बात भी जिम्मेदार रही है कि म्राज रशिया ने यह स्वीकार कर लिया है कि विश्व में एक साथ दो विभिन्न विचार-प्रणालियाँ स्वतन्त्र रूप से म्रपना काय कर सकती हैं। पहले रशिया की भी यही मान्यता थी कि विश्व मे एक साथ दो विचार धाराए कदापि जीवित नही रह सकती परन्तु म्राज समय के थपड़ों म्रौर झोंको ने उसे यह मानने को विवश कर दिया है। म्राज रशिया ने "सह-म्रस्तित्व" के सिद्धान्त में म्रपनी पूर्ण म्रास्था घोषित कर म्रपने म्रापको शान्ति के एक बहुत बड़े दूत की सज्ञा में ला बिठाया है।

चीन की भी प्रारम्भिक नीति "सैकडों फूलो को खिलने दो" की थी लेकिन माम्रो ने म्रपने इस मन्तव्य को तिरस्कृत किया तथा सास्कृतिक क्रान्ति के नाम से स्वदेश में ही भयावह रक्तपात हो रहा है। म्रब चीन सिर्फ एक ही विचार-धारा का पुष्ठ पोषक है म्रौर वह है—कट्टर साम्यवादी पर्यावरण।

(4) युद्ध व शान्ति मन्तव्य मे भेद—युद्ध व शान्ति के प्रश्न पर मतभेद भी विचार धारा की विभिन्नता का ही परिणाम है। ख्रुश्चव के समय रूस शक्ति शाली हो गया था। ख्रुश्चव के लिए म्राणविक युद्ध का म्रथ विश्व का विनाश था,

उसका कहना था कि—युद्ध अवश्यम्भावी नही है। युद्ध टाला जा सकता है। कोरिया, स्वेज, कांगो, बर्लिन आदि प्रश्नो पर इसी नीति का परिचय दिया।

इसके विपरीत माओ की नीति स्पष्ट थी कि राजनीतिक सत्ता बन्दूकों की नाली से निकलती है। उसका कहना था कि पूंजीवाद के विनाश के लिये युद्ध आवश्यक है—उसमे साम्यवाद की विजय निश्चित है। चीन मे आर्थिक स्थिति बडी असंतोष जनक थी। माओ की नीति आन्तरिक मामलो से जनता का ध्यान हटाकर किसी विदेशो के साथ युद्ध मे आकर्षित करने की थी। अत उसका यह प्रयत्न था कि रूस अमरीका के साथ युद्ध मे उलझ पडे। यही कारण था कि क्यूबा से ख्रुश्चैव द्वारा सैनिक हटा लेने पर चीन ने रूस की भर्त्सना की। परन्तु रूस युद्ध की नीति नही अपनाना चाहता था अत उसने पश्चिम के साथ उदारवादी नीति का परिचय दिया।

(5) साम्यवादी जगत मे विकेन्द्रवाद (Polycentrism) का अभ्युदय—चीन मे साम्यवाद की स्थापना के पूर्व विश्व में कई छोटे छोटे राष्ट्रों में साम्यवादी सरकारें स्थापित हो चुकी थी। जिनका सोवियत रूस मुख्य केन्द्र था। रूस ही पूरे साम्यवादी गुट के लिये नीति का निर्धारण करता था, क्योंकि छोटे छोटे राष्ट्र आर्थिक व सैनिक दृष्टि से रूस पर ही निर्भर थे। जब चीन जैसे बडे राष्ट्र मे 1949 मे साम्यवाद की स्थापना हुई थी तब माओ ने कहा था कि साम्यवादी जगत का एक मुखिया होना चाहिए, जो सभी के लिए नीति निर्धारित करे। सभी साम्यवादी राष्ट्रो ने रूस को उनका नेता या मुख्य केन्द्र माना। किन्तु माओ का मत था कि रूस जो भी नीति निर्धारित करे, उसके लिये अन्य साम्यवादी राष्ट्रो से भी परामर्श लें। यदि रूस ऐसा नही करता तो उसके निर्णयों को नही माना जा सकता। इस प्रकार साम्यवादी जगत के लिये नीति निर्धारित करने की दृष्टि से रूस चीन म मतभेद बढने लगा। चीनी इस बात को स्वीकार करने के लिये कभी तैयार नही थे कि चीन जैसे बडे देश के लिए रूस नीति निर्धारित करे। अत साम्यवादी जगत में (Poly Centrism) की भावना का अभ्युदय हुआ। चीन ने इस प्रकार साम्यवादी जगत मे निर्णय लेने की रूस की एकाधिकार की शक्ति को चुनौती दी। माओ ने सभी देशो के साम्यवादी दलों को महत्व देने की अपील की। निर्णय म सभी को समान महत्व दिया जाय। परन्तु 1958 के बाद रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी ने ऐसे निर्णय लेन प्रारम्भ किये जो चीन के हितो के प्रतिकूल थे। माओ ने इसे स्वीकार नही किया।

(6) राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रिय हितो की विभिन्नता—चीन कई वर्षों तक साम्राज्यवाद के परो म कुचला गया। अत क्रातिकारी भावना चीन में रूस से अधिक थी। वह साम्राज्यवादियो के साथ किसी भी कीमत पर समझौता करने का

तयार न था। इससे चीन मे उग्र राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। परन्तु रूस मे वह क्रांतिकारी भावना न थी। वह प्रारम्भ से ही 'यथास्थिति' मे विश्वास करता है। उसका राष्ट्रवाद उतना उग्र नही जितना चीन का था। जहा तक सन्निय हित का प्रश्न है, चीन की सीमा स्पष्ट नही है। विशेषकर भारत व रूस के साथ सीमा विवाद है। रूस के साथ सिक्यांग में स्थिति स्पष्ट नही है। सीमा विवाद भी मतभेदो का एक कारण है। चीन के सामने वर्मा, कोरिया, मगोलिया, नेपाल आदि राज्यो के साथ सीमा की अस्पष्टता का प्रश्न था—पर यह समस्या रूस के समक्ष न थी। जहाँ तक वज्ञानिक हित की बात है रूस ने चीन को आर्थिक व वज्ञानिक सहायता की। पर रूस ने जानबूझ कर आणविक शक्ति की गुप्त बात चीन को नही बताई। चीन आणविक राष्ट्र बनना चाहता था पर रूस इस बात के लिए तयार नही था। रूस का तक यह था कि रूस चीन को आवश्यक समय पर आणविक सहायता प्रदान करेगा, पर चीन इस तक से सहमत नही था। जहा तक प्रभाव क्षेत्र का प्रश्न है चीन चाहता था कि उसकी सुरक्षा की दृष्टि से दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेश चीन के प्रभाव मे रहे। वह रूस को एशियाई शक्ति मानने को तैयार न था। पर इस मामला मे रूस चीन के बीच मतभेद खुले रूप से सामने आये तो रूस ने चीन को आर्थिक एव तकनीकी सहायता देना भी बन्द कर दिया। माओ एक राष्ट्रवादी नेता है, जिसकी यह दृढ धारणा है कि चीन मे राष्ट्रवाद को सुदृढ करके उसके राष्ट्रीय हितो की पूर्ति की जाये।

(7) शक्ति सघर्ष—दोनो ही देश क्षेत्रफल जनसख्या एव साधनो की दृष्टि से विशाल राष्ट्र हैं। आज राष्ट्र राज्यो का युग है, जहा राष्ट्रीय राज्य है वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की महत्वपूर्ण विशेषता उनमे चलने वाला शक्ति सघर्ष है। दोनो ही देश विभिन्न माध्यमो से शक्ति सचय कर रहे हैं। चीन भी अपने आप को एक महान् शक्ति के रूप मे विश्व राजनीति के रगमच पर उद्धृत करना चाहता है। इसी होड मे शक्ति सघर्ष एक सक्रिय तथ्य के रूप मे उद्धृत हो रहा है।

(8) चीन सोवियत सीमांत सघर्ष—चीन और रूस का महत्वपूर्ण सघर्ष का कारण 4000 मील लम्बे सामान्य सीमा (मचूरिया, मगोलिया तथा सिक्याग) रेखा पर है। समय समय पर सीमा क्षेत्रो मे छुट पुट घटनायें होती रहती हैं। सोवियत रूस ने भी सीमाओ की सुरक्षार्थ सुदृढ व्यवस्था कार्यान्वित कर रखी है। चीन रूस पर यह आरोप लगाता है कि जारकालीन शासन मे रूस ने अधिकृत चीनी भूमि पर अधिकार कर लिया था—अत सोवियत रूस को चाहिए कि वह उन्हे पुन लौटा दे। सोवियत रूस इस तथ्य को स्वीकार करने को सहमत नही।

(9) रूस द्वारा भारत तथा असाम्यवादी देशो को अधिक आर्थिक व तकनीकी सहायता, चीन को स्वीकार नही—चीन व रूस के मतान्तरो का एक

कारण यह भी है कि रूस भारत तथा गैर साम्यवादी देशों के साथ नम्र रुख अपनाये हुए है। चीन भारत संघर्ष में भी चीन यह मानता है कि रूस ने भारत का ही समर्थन किया तथा मौन धारण कर चीन—जो कि एक साम्यवादी भाई था, को नीचा दिखाने की कोशिश की। चीन यह भी दावा करता है कि रूस ने भारत को तथा अन्य असाम्यवादी देशों को—साम्यवादी भाईयों की अपेक्षा अधिकृत रूप से आर्थिक तथा तकनीकी सहायता प्रदान की। साथ ही पूंजीवादी राष्ट्रों (अमरीका, ब्रिटेन, etc) के प्रति सोवियत रूस की परिवर्तित नीति से भी चीन सहमत नहीं है। चीन नही चाहता है कि सो० रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, भारत आदि बुर्जुआ देशों से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करे। चीन इन्हें अपना नम्बर एक शत्रु मानता है।

उपर्युक्त कारणों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सोवियत चीन सम्बन्धों के पराभव की कहानी अब एक विशिष्ट रूप ले चुकी है। चीन सोवियत रूस की किसी भी नीति से सहमत नही। प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर दोनों के भिन्न भिन्न रुख तथा मत उद्धृत होते हैं। सोवियत रूस की वीयतनाम के संदर्भ में निहित नीति की भी चीन कटु आलोचना करता है। चीन नही चाहता है कि सोवियत रूस हर क्षेत्र मे मेरा नेतृत्व करे। अतः इन विभिन्न सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक पारस्परिक हितों ने दोनों साम्यवादी शक्तियों को दो भिन्न ध्रुवों की ओर प्रेषित किया है।

## अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव —

चीन-सोवियत सम्बन्धो के पराभव की कहानी ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक विशिष्ट परिवर्तन ला उपस्थित किया है। जहां विश्व व्यवस्था के अन्तरङ्ग में दो ही स्वरूप—पूंजीवादी तथा साम्यवादी राष्ट्र—विद्यमान थे तथा दोनों का अवश्यम्भावी संघर्ष—विश्व के राजनीतिज्ञो को बेचैन किए हुए था— वहां इस नवीन स्थिति के प्रत्युत्पन्न हो जाने से—विश्व रंगमंच पर एक नवीन चित्रावली का आविर्भाव हुआ है—तथा समस्त दर्शकों का ध्यान इसी विघटित चित्रावली की ओर है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की निहित समस्याओं ने एक नवीन रूप धारण किया है, जो इस प्रकार है—

(1) वर्षों से चले आ रहे शीत युद्ध की समाप्ति प्राय,

(2) सोवियत रूस व अमेरिका के सम्बन्धो में सुधार एवं सन्निकटता,

(3) निःशस्त्रीकरण की समस्या के अनेक पक्षों का हल तथा आणविक शस्त्रो के परिक्षण को रोकने के लिए टेस्टबान सन्धि (1963) एवं चीन द्वारा विरोध व सन्धि पर हस्ताक्षर न करना।

(4) असलग्न राष्ट्रों के प्रति सोवियत रूस में भी परिवर्तन—इस संघर्ष ने उपस्थित किया है। जहाँ सोवियत रूस—असलग्न राष्ट्रों को "बिना पेंदे के लोटे" समझता था—वहा आज सोवियत रूस असलग्न राष्ट्रो की नीति की सराहना कर उन्हे विभिन्न आर्थिक तथा तकनीकी सहायता प्रदान कर प्रोत्साहित करता है। चीन इस नीति का कट्टर विरोधी है।

(5) सोवियत रूस जहा पहले साम्यवादी राष्ट्रो के एक विशिष्ट प्रतिनिधि के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार करता था—तथा प्रत्येक अन्तराष्ट्रीय स्थिति पर—पूजीवादी राष्ट्रो की नीति से भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता था—वहा इस विवाद के कारण—सोवियत रूस अब राष्ट्रीय हित तथा शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व तथा सहयोग की नीति अपनाता जा रहा है। प्रत्येक विश्व समस्या को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से देखता है तथा अमेरीका आदि पश्चिमी राष्ट्रो के साथ अनेक विषयों पर सहयोगात्मक कदम रखता है।

(6) इसी विग्रह के कारण अमेरीका की वीयतनाम के सन्दर्भ में सन्निहित नीति मे भी परिवर्तन उपस्थित हुआ है। अमेरीका रूस से अधिक न उलझ—वियतनाम समस्या का उचित समाधान चाहता है। इसी कारण अमेरीका ने नम्र रुख अपनाया।

इस प्रकार सोवियत चीन मनोमालिन्यता से विश्व राजनीति मे अनेक परिवर्तन उपस्थित हुए। जहा अमेरीका व रूस एक दूसरे को अच्छी निगाहों तक से नही देखते थे वहा ये दोनों अधिक से अधिक निकट आते जा रह हैं तथा विभिन्न विश्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के शान्तिपूर्ण व उचित समाधान की ओर आगे बढ रहे हैं। विश्व राजनीति मे इस नवीन देन के लिए—चीन रूस विवाद ही अधिकृत रूप से उत्तरदायी है।

चीन-रूस सम्बन्धों का भविष्य—चीन-रूस विवाद वस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय राज नीति मे महत्वपूर्ण तथ्य है। इससे विश्वशाति का हल दूरतम प्रतीत होता है। जहा एक ओर वैज्ञानिक एव तकनीकी प्रगति का दम्भ है वहाँ दूसरी ओर विशालतम जनसख्या का दम्भ है। दोनो के मध्य संघर्ष शान्ति व्यवस्था में बाधा। चीन का नेतृत्व वर्ग अपनी हठधर्मिता के पीछे तथा लकीर के फकीर बन जिसके कधों पर खडे हुए थे–उसी बडे भाई को तिरस्कृत किये हुए हैं तथा एक अमानवीय राह की ओर अग्रसर हैं। अत निकट भविष्य मे दोनो के सन्निकटता की रेखा कल्पनातीत है। न जाने किस हवा की लहर मे आज चीन का नेतृत्व वर्ग बह जा रहा है—सम्पूर्ण विश्व एक ओर है तथा उसकी धांधली एक ओर। आशातीत परिवर्तन निम्न परिस्थितियों मे ही सम्भव है —

(1) या तो चीन के नेतृत्व वर्ग में परिवर्तन आये और फिर अपने कृत्यों का प्रायश्चित कर सोवियत रूस के साथ पुन सम्बन्धो को सुधार।

(2) या फिर रूस तथा अमेरीका दोनो मिलकर चीन को सही रास्ते पर आने के लिए बाध्य करें।

(3) या फिर चीन भी एक अणु शक्ति सम्पन्न रूस व अमेरीका के समकक्ष बन अपने आपको एक महानतम् राष्ट्र के रूप मे विश्व जनमत के समक्ष उपस्थित हो। प्रो० विद्याधर दत्त (Dutt) China in Foreign policy म चीन रूस सम्बन्धो का भविष्य तीन सूत्रो म निहित किया है।

(1) आपसी सम्बन्धो को सुधार लें,

(2) खुले युद्ध की स्थिति मे आ जायें,

( ) वर्तमान में प्रचलित वीभत्स सम्बन्ध चलते ही रहें।

समस्त अवलोकनोपरान्त निष्कर्ष के रूप मे हम यह कह सकते हैं कि चीन व रूस विवाद की जड़ें गहरी जम चुकी हैं। विभिन्न प्रयास जो कि समय-समय पर दोनों के सम्बन्धो में सुधार लाने के लिए किये गये समस्त चीनी महत्वाकांक्षियो के समक्ष निष्फल रहे। अत दोनों के सुमधुर सम्बन्ध कल्पनातीत हैं। साथ ही चीन खुले सघर्ष की स्थिति म आने को भी तैयार नही–इसका तात्पर्य होता है–साम्यवादी व्यवस्था का पतन। स्वय रूस भी अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के प्रतिकूल इस बात को मानता है। अब सिर्फ एक ही विकल्प अवशिष्ट रहता है कि जब तक चीन मे इन महत्वाकांक्षियो का बोलबाला है–ये वीभत्स सम्बन्ध यथास्थिति मे बने रहेंगे तथा यह नवीन शीत युद्ध की प्रज्वलित अग्नि समय समय पर दोनो को दहकाती रहेगी। अत दोनो के सम्बन्धो का भविष्य अकल्पित तथा अस्पष्ट है।

# पश्चिमी एशिया-अरब-ईजराइल संघर्ष

"मध्यपूर्व या पश्चिम एशिया तीन महाद्वीपों एशिया, अफ्रीका और यूरोप का सगम स्थल होने से इतिहास के उषाकाल से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की दृष्टि से यह क्षेत्र बडा महत्वपूर्ण रहा है। यही वह क्षेत्र है—जहां विश्व के तीन बडे धर्मों का उदय हुआ (यहूदी मत, ईसाई मत व ईस्लाम) और आज विश्व के नेतृत्व के लिये यही धर्म आधार स्तम्भ है।"

"मध्यपूर्व या पश्चिमी एशिया एक अस्थिर ज्वालामुखी के सदृश है, जो प्रत्येक दस साल के बाद फूटता रहता है तथा विश्व शाति के स्वप्न को भग करता रहता है—यदि विश्व के सजग राजनीतिज्ञो ने समयोचित समाधान नहीं किया तो यह ज्वालामुखी एक दिन विश्व-शाति के लिए गत सिद्ध होगा—जिसमे शाति की आशा रूपी किरण को सदा सदा के लिए दफना दी जायगी—तथा विश्व मे मानवता नाम की वस्तु मूलत विनष्ट हो जायगी।"

अत्यन्त प्राचीन काल से ही पश्चिमी एशिया विश्व व्यवस्था के सदर्भ में—महत्वपूर्ण तथ्य के रूप मे उद्घृत होता रहा है। प्राचीन संस्कृति, धर्मों का प्रेरणा स्थल, खनिज तथा पेट्रोलियम एव राष्ट्रीयता तथा जातीयता इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण विशेषतायें रहीं—तथा इन्ही तथ्यो ने इस क्षेत्र को विश्व राजनीति के अतरग मे ला बठाया। इन्ही तथ्यों ने जहाँ एक ओर इस क्षेत्र की गौरव गाथा को अक्षुण्ण बनाया वही दूसरी ओर सघर्ष के कारण भी बने। मध्यपूर्व एशिया का वर्तमान सघर्ष विश्व की उन कुछ प्रमुख समस्याओ मे से एक है जो कि अपनी वस्तुस्थिति और सम्भाव नाओ के कारण विश्व शाति के लिए ऐसी चुनौती बन गये हैं जिनका जबाव ढूढ़े बिना मानव सभ्यता आगे बढ़ने की जोखिम नही ले सकती। गत कुछ दिनों मे पश्चिमी एशिया के रगस्थल पर जो युद्ध की आधी आई थी—उसकी जिम्मेदारी युद्ध-रत राष्ट्रों के समान ही समस्त ससार तथा बडी शक्तियो पर भी है, जिन्होने इन राष्ट्रों को हथियारो से सुसज्जित किया था। इस सघर्ष में धार्मिक तत्व को एक प्रमुख कारण के रूप मे माना जाता है। वर्तमान इजराइल राज्य के निवासी यहूदी धर्म के अनुयायी हैं। ये लोग पेलेस्टाइन को अपनी धर्म भूमि मानते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद टर्की का यह क्षेत्र ग्रेट ब्रिटेन को मिला। प्रथम विश्व युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की थी कि यहाँ पर यहूदियो का राष्ट्रीय गृह (National Home) बना दिया जायगा और पृथक् यहूदी राज्य की स्थापना कर दी जायगी। इस प्रदेश में उस समय अरब जनसख्या अधिक थी और ये निवासी इसे अपनी मातृ भूमि मानते थे।

संघर्ष का बीजारोपण नये राज्य का जन्म संघर्ष के कारण—पूर्व निर्धारित योजना रूप-ब्रिटिश परम्परागत कूटनीति के अनुरूप—"फूट डालो और राज्य करो" की नीति के अनुसार—इन्होंने अपनी मेन्डेट व्यवस्था समाप्त करने की घोषणा की। ब्रिटिश मेन्डेट काल में ही अरबों व यहूदियों के मध्य संघर्ष का सूत्रपात हो चुका था। 15 मई 1948 को ग्रेट ब्रिटेन ने U N O में मेण्डेट की अवधि समाप्त करने की घोषणा करने का निश्चय हुआ। 14 मई 1948 को मेण्डेट की समाप्ति पर, यहां पेलेस्टाइन में इसी दिन यहूदियों द्वारा बेनगुरियां तथा चेमवीजमन की अध्यक्षता में नवीन इजराइल राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी गई। संयुक्त राज्य अमेरीका ने इस नये राज्य को तत्काल मान्यता प्रदान की। अरब राज्यों द्वारा इस राज्य की स्थापना का हर प्रकार से विरोध किया गया। अरब अपनी मातृभूमि पर किसी अन्य विदेशियों के राज्य की स्थापना नहीं होने देना चाहते थे। दूसरी ओर यहूदी इस बात पर अड़े थे कि—वे अपनी धर्म भूमि पर राज्य स्थापित करके रहेंगे। इन विरोधी आकांक्षाओं के बीच हिंसात्मक संघर्ष और गृह युद्ध का होना अवश्यम्भावी था। एक पक्ष अपनी मातृभूमि को विभाजित होने से रोकने के लिए जान न्यौछावर करने को तत्पर था तो दूसरी ओर दूसरा पक्ष धर्म के नाम पर प्राणों की बाजी लगाने को तैयार था। इसी तथ्य को लेकर हिंसात्मक उपद्रव आदि का बोलबाला हो गया।

इजराइल के जन्म होते ही—अरब राष्ट्रों द्वारा नवजात इजराईल को चारों ओर से घेर लिया तथा आक्रमण कर दिया। कई दिनों तक भारी संघर्ष चलता रहा। अरबों की सेनाओं को मुँह की खानी पड़ी—कई दिनों तक U N O में मसला चलता रहा—अन्त में 18 जुलाई 1948 को युद्ध विराम कर दिया गया। पर फिर भी समय समय पर छुट पुट घटनायें विघटित होती रहीं। समस्या का कोई स्थायी समाधान करने में संयुक्त राष्ट्र संघ पूर्णतः असफल रहा। ईजराइल की जड़ें मजबूत जम गई। पश्चिमी राष्ट्रों ने खुलकर इजराइल को उकसाया तथा मदद की। महा शक्तियों के इस प्रकार के भिन्न भिन्न रुख के कारण ही समस्या का स्थायी हल नहीं हो पाया।

1956 में पुनः ज्वालामुखी विस्फोट हुआ। स्वेज की समस्या को लेकर—ब्रिटेन तथा फ्रांस ने इजराइल को विभिन्न प्रकार की मदद कर—मिश्र या अरब राष्ट्रों पर आक्रमण करने के लिए उकसाया—तथा इस समय भी दोनों में भारी संघर्ष हुआ एवं अन्त में अरब राष्ट्रों को मुँह की खानी पड़ी—पर इस बार पश्चिमी राष्ट्रों की अमानवीयता स्पष्ट सिद्ध हो गई थी।

26 जुलाई 1956 को जब राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की तो दोनों देशों के बीच की स्थिति और भी तनावपूर्ण हो गई। व फ्रांस दोनों ही स्वेज के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध थे। इजराइल के हितों पर

भी इससे सकट आता था। अत इजराइल, ब्रिटेन व फ्रास ने सामूहिक रूप से मिश्र पर आक्रमण कर दिया। इससे दूसरी बार दोनों देशों के बीच तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो गई। परन्तु स० रा० सघ, रूस और भारत के शान्ति प्रयत्नो से यह सकट टल गया। उस समय स० रा० अमेरीका तथा सो० रूस दोनो ही मिश्र के पक्ष मे थे— अत आक्रमणकारियो के पैर नही टिक सके और यह सकट टल गया।

मध्यपूर्व का यह सकट कई कारणो से स्थायी बना हुआ है। आपसी सघर्ष के मूल भूत कारण निम्न हैं —

(1) सीमा विवाद
(2) शस्त्रो की होड व सुरक्षा को खतरा
(3) शरणार्थियो की समस्या
(4) जोडन नदी के जल का उपयोग
(5) जेरूसलाम का प्रश्न
(6) तेल की कूटनीति (Oil Diplomacy)
(7) विभिन्न शक्तियो का निहित स्वार्थ शक्ति सघर्ष

वर्तमान सघर्ष—पश्चिमी एशिया के अरब इजराइल सघर्ष मे 10 वर्ष के छोटे से समय में अरब राष्ट्रो ने तीन बार अपने को हराया है। 1956 के स्वेज सकट के बाद दोनों देशो के मध्य शीत-युद्ध चलता रहा। यह शीत युद्ध अपनी चरम सीमा पर पहुचकर 5 जून 1967 को वास्तविक युद्ध मे परिणित हो गया। विश्व चकित हो गया, क्योंकि यह अब तक के सघर्षो मे सबसे भयानक सघर्ष था। इसके परिणाम स्वरूप—असख्य सनिको और नागरिको को अपने प्राणो से हाथ धोना पडा।

नवम्बर 1966 मे सीरिया व मिश्र ने एक सामूहिक सुरक्षा अधिनियम (Mutual Defence Pact) पर हस्ताक्षर किए और एक सामूहिक सनिक कमाण्ड की स्थापना की। मिश्र ने इजरायल पर यह आरोप लगाया कि इजरायल अपने सैनिको को सीरिया पर आक्रमण करने का आदेश देने वाला है। इस पर अरब राष्ट्रों ने अपनी सैनिक शक्ति बढानी शुरू कर दी। 26 मई 1967 को मिश्र ने विशालकाय टैंक तथा बख्तरबन्द गाडियाँ और अन्य हथियारों से लेस सनिको को उत्तरी किनारे पर भेजा तथा सिनाई रेगिस्तान मे इजरायल की सीमा के निकट सैनिक शिविर स्थापित किए। मिश्र ने U N O से अपील की कि वह सिनाई व गाजापट्टी मे तनात सुरक्षा सेना को हटालें। दमिश्क रेडियो ने अरब राष्ट्रो को इजरायल के विरुद्ध एक होने का आह्वान किया। स० रा० सघ की सुरक्षा सेना ने 19 मई को यह क्षेत्र खाली कर दिया। इसके 4 दिन उपरान्त स० अरब गणराज्य ने अकाबा की खाडी को इजराइल के लिए बन्द कर दिया। 30 मई को जोडन और मिश्र ने 5 साल की सुरक्षा सधि पर हस्ताक्षर किए। इसी समय सभी अरब

देशों ने घोषणा कर ली कि वे इजराइल के विरुद्ध लड़े जाने वाले पवित्र युद्ध में तैयार हैं। यही नही अल्जीरिया, सूडान और ईराक ने तो अपनी सेनाएं भी U A R की रक्षा हेतु भेज दी। 31 मई को रूस भी इस बात पर राजी हो गया कि यदि इजराइल के विरुद्ध लड़ाई में सीरिया व मिश्र को शस्त्रो आदि की जरूरत हुई तो वह उनकी पूरी मदद करेगा। अरब राष्ट्रों का मनोबल बढ़ाने के लिए 10 युद्ध पोतो को भूमध्य सागर मे भेजा, जबकि अमेरीका का छठा बेड़ा वहाँ पहले से ही मौजूद था। स० रा० संघ के महासचिव 'ऊथांट' निजी तौर पर काहिरा गये और कर्नल नासिर से कहा कि वे पश्चिमी एशिया में युद्ध की स्थिति पैदा न करे। परन्तु उनकी सलाह का कोई प्रभाव नही पड़ा। सुरक्षा परिषद मे भी पश्चिमी एशिया की शांति के लिए दोनो देशों को शस्त्र युद्ध न करने की आवाज उठाई गई, परन्तु उसकी आवाज को अरब राष्ट्रों व रूस द्वारा निदयता से दबा दिया गया तथा 27 मई को राष्ट्रपति नासिर ने यह घोषणा कर ली कि उनका प्रमुख लक्ष्य इजराइल के अस्तित्व को समाप्त करना है। इसीलिए अरब शक्तियां पिछले 11 वर्षों से तयारियाँ करती आ रही हैं। इस प्रकार नासिर ने इजराइल के प्रति अरब राष्ट्रो की घृणा प्रकट की। अत युद्ध का होना अवश्यम्भावी था, जो फिर होकर ही रहा।

घृणा का उत्कट विस्फोट 5 जून, 1967 को युद्ध के रूप में हुआ। इजरायल ने मिश्र, जोर्डन व सीरिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध के दूसरे दिन ही इजराइल ने सम्पूर्ण गाजा पट्टी' अपने अधिकार मे ले ली। 7 जून को इजराइल ने 'सिनाई' का क्षेत्र अपने कब्जे में कर लिया। बाद में उन्होंने 'शमउश्शेख' पर अधिकार करके अकाबा की खाड़ी को खोल दिया। जोर्डन का बहुत बड़ा भाग भी उनके अधिकार में आ गया। सिनाई क्षेत्र मे अरब सेनाएं पीछे हट गई। सोवियत संघ ने इजराइल को यह चेतावनी दी कि यदि उसने युद्ध बन्द न किया तो उसके साथ राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिये जायेंगे। 7 जून को सुरक्षा-परिषद ने युद्ध विराम लागू किया। जोर्डन इसके लिए तैयार हो गया, परन्तु अरब लोग तैयार नहीं हुई और उन्होंने युद्ध विराम अस्वीकार कर दिया। जब 8 जून का इजराइली सेना सिनाई को पार करती हुई स्वेज के पूर्वी किनारे पर पहुँची और यह स्पष्ट हो गया कि इजराइली सेनाए 'पोर्टसईद' को ध्वस्त कर, काहिरा व सिकन्दरिया को बर्बाद कर सकती हैं तो U A R ने भी युद्ध मंजूर कर लिया। इस प्रकार यह युद्ध जितनी तीव्रता से शुरू हुआ, उतनी ही तीव्रता से समाप्त हो गया।

सिर्फ चार दिनों के युद्ध में इजरायल ने बड़े भारी क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। नासिर यह स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे कि उनका शत्रु इजरायल तीसरी बार भी मात दे जायगा। सभी अरब राष्ट्रों ने युद्ध काल में—अमेरिका

व इगलैंड से सम्बन्ध विच्छेद कर लिए। 22 हजार अरब सैनिक मारे गये तथा तीन हजार वर्गमील भूमि उनके हाथ से निकल गई।

संघर्ष की स्थिति—युद्ध की ज्वालाएँ अभी ठंडी नहीं हुई हैं। दोनों पक्षो के मन मे घृणा की भावना और भी तीव्र हो गई है। अरबो को इतनी क्षति उठानी पड़ी है फिर भी उनकी इजराईल को समाप्त करने की हठ अभी तक बनी हुई है। वे स्वेज को सभी के लिए खुली नही रखना चाहते हैं। स्वेज के बंद हो जाने से मिश्र को प्रति सप्ताह 20 लाख पौण्ड की क्षति होती रही। युद्ध के बन्द होने के बाद भी वहां शांति नही है। आए दिन गोलीबारी जारी है। यह गोलीबारी कभी भी फिर से व्यापक युद्ध का रूप धारण कर सकती है।

यह सत्य है कि अरब व इजराइल के बीच ऐसी बहुत सी समस्या हैं जिनका समाधान तुरन्त आवश्यक है। इनके बिना हल हुए किसी भी प्रकार की शान्ति वार्ता सम्भव नही है। अरब तथा इजराइल इस संघर्ष के बाद अपनी निम्न बातों को रखना चाहते हैं तथा वे इसी मे समस्या का हल मानते हैं—

अरब राष्ट्र चाहते हैं कि —

(1) इजराईल द्वारा अधिकृत प्रदेशों को खाली किया जाय तथा इजराईली सेना 5 जून के पूर्व की स्थिति पर पहुचे।

(2) अकाबा की खाडी पर स० अ० गणराज्य U A R की सम्प्रभुता स्थापित हो।

(3) जनमत द्वारा शरणार्थी समस्या का हल हो।

(4) पूर्ण क्षेत्र मे स्थायी शान्ति स्थापित की जाय, और

(5) जोर्डन नदी के पानी का विवाद समाप्त हो।

दूसरी ओर इजराईल चाहता है कि —

(1) अरब राष्ट्र उसे राजनयिक मान्यता प्रदान करे।

(2) स्वेज नहर तथा अकाबा की खाडी मे अन्तर्राष्ट्रीय जलभाग की तरह इजराईल को भी जहाजरानी के अधिकार मिलें।

(3) जेरुसलम पूर्णत इनके अधिकार मे हो।

(4) जोर्डन नदी का पश्चिमी इलाका फिलिस्तीन के विस्थापितो के लिए अलग कर दिया जाय।

(5) मिश्र, सीरिया तथा जोर्डन से अलग २ सुरक्षा का आश्वासन दिया जाय।

(6) शरणार्थी समस्या का हल हो।

(7) जोर्डन नदी के पानी की इजराईल को भी सुविधा हो।

**समस्या के समाधानार्थ संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर व बाहर किये गये विभिन्न प्रयत्न**—एशिया के जिन दो राष्ट्रों के संघर्ष से पश्चिमी एशिया में महान संकट पैदा हो गया है उनके बीच मे मध्यस्थता द्वारा शान्ति के प्रयत्नों से संकट को दूर करने में स० रा० संघ व विश्व के अन्य देशो द्वारा समय२ पर निरन्तर प्रयत्न हो रहे हैं। इनमें मुख्य प्रयत्न सोवियत संघ, अमेरिका, ब्रिटेन व भारत आदि का है।

**संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत समस्या पर विचार**—स० रा० संघ की महासभा का रूस की पहल पर आपातकालीन अधिवेशन इस समस्या पर बुलाया गया। रूस ने महासभा से आग्रह किया कि वह इजराईली आक्रमण के फलस्वरूप पश्चिमी एशिया मे पैदा हुई परिस्थिति पर विचार करे और आक्रमण के कारणों का उन्मूलन करने तथा इजराईली फौजो का तुरन्त युद्ध बंदी रेखा के पीछे हटा लिए जाने का निर्णय करे। इजराईल द्वारा 5 जून को सीरिया, जोर्डन व मिश्र के खिलाफ जो युद्ध छेड़ा गया वह U N U के घोषणा पत्र व अन्तर्राष्ट्रीय कानून का खुला उल्लंघन था।

6 जून को सुरक्षा परिषद् ने यह प्रस्ताव पास किया कि शांति स्थापना की दिशा में पहल के रूप मे सभी तरह की शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियां समाप्त करली जाए पर इजराईल ने इन्हें और भी बढ़ा दिया। 7 जून को शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियां समाप्त करने के लिए सुरक्षा परिषद् ने समय भी निश्चित कर दिया, परन्तु इजराईली सेनाओ ने हमले जारी रखे और इजराईली विमानो ने अरब नगरो तथा गावों पर बमबारी की। 9 जून को इजराईल ने सुरक्षा परिषद् की युद्ध विराम की मांग को ठुकरा दिया तथा सीरियाई सेना पर हमला इसलिये तेज कर दिया ताकि वे राजधानी 'दमिश्क' तक पहुंच जाय। सुरक्षा परिषद् ने एक अन्य निर्णय लिया जिससे अन्य राष्ट्रों ने इजराईल से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिए तथा युद्ध बन्द न करने की दशा मे सामूहिक नाकेबन्दी की चेतावनी दी। जोर्डन ने सुरक्षा परिषद् की युद्ध विराम की बात को उसी दिन 7 जून को स्वीकार करली। इसके दूसरे दिन U A R ने और आखिर मे 10 जून को युद्ध की समाप्ति हेतु सीरिया व इजराईल ने भी युद्ध विराम की घोषणा करदी। इस प्रकार 4 दिनों के युद्ध के बाद सुरक्षा परिषद् के हस्तक्षेप से युध्द विराम लागू हुआ।

पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधानार्थ सुरक्षा परिषद् में विभिन्न देशों ने अपने अपने प्रस्ताव भी रखे। 10 जून को भारत ने पश्चिमी एशिया की शांति के लिए एक चार सूत्री प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् मे रखा। सोवियत संघ ने भी एक चार सूत्री प्रस्ताव महासभा मे रखा। लेकिन 20 जून को पश्चिमी एशिया में युद्ध के लिए इजराइल की निन्दा करने और उसे दण्ड देने के सम्बन्ध मे रूस द्वारा प्रेषित

प्रस्ताव को अमेरीका ने अस्वीकार कर दिया और शाति के लिए एक पाच सूत्री प्रस्ताव रखा। अमरीकी प्रस्ताव मे भी अधिक वजन नहीं था। इसके बाद तटस्थ राष्ट्रो के प्रयत्न भी सराहनीय रहे। 28 जून को U N O मे महासचिव 'ऊथाट' ने भी अपनी रिपोट पेश की व इजराईल के आरोपो का खडन किया।

8 जुलाई को स्वेज नहर क्षेत्र मे फिर से इजराइल और मिश्र के बीच लडाई छिड जाने के कारण युध्दविराम उल्लघन का प्रश्न 9 जुलाई को सुरक्षा-परिषद् मे उठाया गया। उसी दिन 'ऊथाट' ने एक 'सयुक्त राष्ट्रीय प्रेक्षक दल' भेजने की घोषणा भी की जिसे दूसरे ही दिन अरब राष्ट्रो ने स्वीकार कर लिया। U N O. के नार्वेजियम कमाण्डर जनरल 'ओडवुल' 4 प्रेक्षकों सहित 5 July को काहिरा पहुच गए। दूसरे दिन से प्रेक्षको ने स्वेज नहर क्षेत्र में इस बात के लिए जाच शुरू कर दी की मिश्री और इजरायली सैनिको के बीच विभाजन रेखा कहा खीची जाय। इजरायलियो ने जनरल 'वुल' के सामने यह प्रस्ताव रखा कि विभाजन रेखा 100 मील लम्बे जल मार्गों के बीचों बीच होनी चाहिए, क्योंकि जिससे दोनो ओर की सेनाओं का एक एक तट पर नियत्रण हो।

29 जुलाई शाम को U N महासभा ने पश्चिमी समस्या पर सवसम्मत कोई भी हल निकालने मे अपनी असमथता स्वीकार करली और इस मामले को, सुरक्षा-परिषद् को सौंपने का विचार किया है। अरब राष्ट्रो ने महासभा की आलोचना करते हुए कहा है कि वह न केवल इजरायली सेनाओं को अरब क्षेत्रो से हटाने में असमथ रही है अपितु इजरायली कायवाही का विरोध करने मे भी असफल रही है।

स० रा० सघ में सघष को हल करने के नवीन प्रयास —

19 सितम्बर 67 को महासभा का २२ वा अधिवेशन प्रारम्भ हुआ—तथा इस समस्या पर महत्वपूर्ण रूप से विचार किया गया। 7 नवम्बर को सभा में अमरीका ने समस्या के समाधानाथ प्रस्ताव रखा। 10 नवम्बर को सुरक्षा परिषद में भारतीय प्रस्ताव भी प्रस्तुत हुआ और 29 नवम्बर को सोवियत रूस ने भी अपना प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् मे रखा—पर राष्ट्रो के पारस्परिक नोक झोक के कारण कोई भी प्रस्ताव पारित न हुआ।

23 नवम्बर 1967 को पश्चिमी एशिया के सकट पर ब्रिटेन द्वारा प्रस्तावित समझौता प्रस्ताव को सव सम्मति से स० रा० सघ की महासभा मे स्वीकार कर लिया गया। यह प्रस्ताव निम्न प्रकार से हैं —

(1) ईजरायल ने जिन अरब देशों को अभी हाल ही में अपने अधिकार मे लिया है—उनको खाली करेगा।

(2) पश्चिमी एशिया में उचित तथा स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए युध्द की स्थिति को समाप्त किया जाय एव एक दूसरे की सम्प्रभुता, क्षेत्रीय अखडता, राजनीतिक स्वतन्त्रता आदि को स्वीकार किया जाय।

(3) सीमाओं की स्थिति 5 जून के पहले की हो जानी चाहिए। इसके अनुसार इजराईल को समस्त सिनाई क्षेत्र, गाजा-पट्टी, यरूशलम का पुराना नगर, जोर्डन नदी के पश्चिमी भाग और सीरियाई भूमि से हट जाना पड़ेगा।

इजराईल के विदेश मन्त्री अब्बरायन ने कहा कि पश्चिमा एशिया में शान्ति सुरक्षा से नहीं, आपसी समझौते से सम्भव होगी। लेकिन U A R के कनल नासिर ने कहा कि उनका देश इजराईल को मान्यता नहीं देगा और नहीं उसके साथ वार्तालाप की नीति अपनायेगा। खारतुम मे शिखर सम्मेलन हुआ, उसमे स्वीकृत प्रस्ताव मे ये दोनों बातें करने को तैयार नहीं है।

सं० रा० सघ की सुरक्षा परिषद ने पश्चिमी एशिया सम्बन्धी प्रस्ताव सर्व सम्मति से अवश्य पास किया लेकिन वह कोरा सैद्धान्तिक ही है। सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्यों की यह धारणा है कि प्रस्ताव न्यायोचित और विवेकपूर्ण है। इजरायली सेनाओं का विजित अरब क्षेत्रों से हटना भले ही दूर की बात हो लेकिन पश्चिमी एशिया के सकट को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। U N O के सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के बाद अरब देश एक शिखर सम्मेलन का आयोजन करने में लगे थे। जिससे इजराईल के प्रति उदार नरम नीति का प्रयोग करने की सम्भावना है।

**वर्तमान सघर्ष के प्रति महाशक्तियों का रुख**—वर्तमान सघर्ष में ससार की राजनीतिक शक्तिया हमारा ध्यान भूतकालीन गुटबन्दी और तनाव की ओर आकर्षित करती हैं। सम्पूर्ण पूर्वी देश अरब राष्ट्रों का समथन करते हैं–जिसमें भारत, पाकिस्तान तथा रूस भी सम्मिलित है। पश्चिमी गुट प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दृष्टि से विभिन्न सहायता इजराईल को कर रहा है। दोनों गुटो मे-अमेरीका व रूस में-आज की *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति निहित है। परन्तु ये खुले रूप से सामने नहीं आते हैं,* वरन् छोटे राष्ट्रों को अपनी राजनीतिक तथा स्वार्थपूर्ती के साधन शतरज के मोहरे बनाते हैं। रूस ने इस सघर्ष में खुले रूप से भाग लिया है। इजरायल को धमकी भी दी है तथा U A R को शस्त्रास्त्र भी। रूस ने इजरायल से राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिए हैं। रूस का मुख्य उद्देश्य इजरायली सेनाओं को उन क्षेत्रों से हटाना, जिन पर कि उसने युध्द मे कब्जा जमा लिया था। इसके लिए वह U N O में भी प्रयत्न कर रहा था। रूस इजराईल पर इतना प्रभाव इसलिये डाल रहा है अरब हमेशा के लिए उसके भक्त बने रहें।

इस सघष के दौरान अमेरीका व ब्रिटेन इजराईल की पीठ को ठोकने मे थे। वास्तव मे इजराईल द्वारा युद्ध की पहल का कारण इन दोनो शक्तियो का उसके साथ होना था। फलस्वरूप U A R ने U S A से राजनीतिक सम्बन्ध तोड लिये तथा U S A ने भी U A R को तकनीकी सहायता देना बन्द कर दिया। इस प्रकार इस सघष के पीछे दोनो महाशक्तियों की कूटनीति क्रियाशील थी, जिसने कि अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु दोनों देशो को अपनी मोहर बना दिया।

**पश्चिमी एशिया के वर्तमान सघष के प्रति भारत का दृष्टिकोण**—भारत के तत्कालीन विदेश मन्त्री श्री छागला ने कहा कि इजराईल ही पश्चिमी एशिया मे सघष का कारण है। भारत ने 1957 में अकाबा की खाडी को बन्द समुद्र मानकर अरबो के हितों का समथन किया था। 10 वष बाद भी श्रीमती गाधी ने यह कह कर फिर से वही नीति अपनाई है। हल निकालकर शाति स्थापित की जानी चाहिए, परन्तु वे इससे भी आगे बढ़ गई और उन्होने इजराईल को आक्रमणकारी घोषित करके अरब देशो का खुला समथन किया है साथ ही भारत ने U A R के पहले ही अनुरोध मे गाजापट्टी से अपने 1000 सैनिको को हटा लिया। भारत ने अरब देशों के साथ अत्यधिक पक्षपात पूण रवया अपनाया है। यद्यपि यहा भी भारत शाति स्थापक की भूमिका का कुशलता पूवक निर्वाह कर सकता था, परन्तु इन्दिरा गांधी के अनुसार भारत अरब मैत्री लाभदायक होने से यह रवया अपनाया गया।

**स्थायी समाधान वांछनीय**—यह सघष मदानों मे समाप्त हुआ है, दिलों और दिमाग में नही। वस्तुत इसके लिए दोनों शक्ति शिविर ही उत्तरदायी हैं। दोनों की मध्यस्थता से शान्ति सम्भव हो सकती है। इजराईल विजेता है। 10 वर्षों मे यह तीसरी बार का युद्ध है जिसमे इजराईल विजेता रहा है। अरबो की हमेशा यही तमन्ना रही है कि वे इजराईल के अस्तित्व को जड़-मूल से नेस्तनाबूद करदें परन्तु अरबो को यह समझ लेना चाहिए कि वे इजराईल को अब पूणतया समाप्त नही कर [illegible] समझौता कर शाति स्थापना मे योग देना चाहिए। समस्या का हल इसी बात मे सम्भव है कि दोनों पक्ष अपनी हठधर्मिता को छोड़ सामान्य रुख अपनायें तथा विश्वशाति को प्रश्रय दें। इस समस्या को हल करने मे दोनो महाशक्तियों को भी अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए तथा अपने पूर्ण प्रयत्नों से शांति स्थापित करना चाहिए।

---

## वियतनाम का प्रश्न

वियतनाम की समस्या वर्तमान विश्व की प्रमुख समस्या है। पिछले वर्षों में समाचार पत्रों, रेडियो आदि में कोई दिन ऐसा रहा हो जब वियतनाम की चर्चा नही रही हो। आज की ज्वलत समस्याओ मे सबसे अधिक जटिल और दुरुह समस्या वीयतनाम की है जो अन्तराष्ट्रीय शान्ति के लिये एक चुनौती बनी हुई है। वियतनाम कई पिछले वर्षों से युद्धका अखाडा बना हुआ और विभिन्न प्रयत्नो के बावजूदभी कोई समझौते के आसार दिखाई नही पडते। कई क्षेत्रों से यह भय उत्पन्न हो गया कि इस समस्या के नही सुलझने पर विश्व युद्ध का खतरा हो सकता है। कभी भी चीन व अमेरीका जैसी शक्तियाँ इसे भयात्मक स्वरूप मे बदल सकती हैं। इस समस्या को विस्तार से समझने के लिये वियतनाम के भौगोलिक स्वरूप तथा ऐतिहासिक स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है।

**क्षेत्रीय परिचय** –(भौगोलिक, आर्थिक, व्यापारिक, वग-जाति एव समस्याए) वियतनाम, दक्षिणी चीन सागर के पश्चिम मे जगलों और घाटियों से घिरा हुआ एक देश है जिसकी लम्बाई लगभग 1600 कि० मी० और चौडाई सामायत 64 कि० मी० है। यह दो भागो मे बटा हुआ है। उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम के बीच 17 उत्तरी अक्षातर सीमा मानी गई है। वतमान में यहा की जनसख्या ३ कराड के आस पास है। यहा चीनी और मलय सस्कृति है। बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव है उत्तरी वियतनाम खनिज पदार्थों मे समृध्द है और दक्षिणी भाग मे चावल और रबर की खेती होती है।

*हिन्द चीन (एक ऐतिहासिक अवलोकन)* —'हिन्द चीन' मलाया प्रायद्वीप के उत्तर तथा थाईलैंड के दक्षिण मे स्थित एक दक्षिणी-पूर्वी एशियाई प्रदेश है। इसम कोचीन चीन, कम्बोडिया, अनाम, लाओस तथा टोंगकिंग प्रदेश हैं। १७ वी शताब्दी से ही इस क्षेत्र पर आँख रखने वाले फ्रास ने 19 वी शताब्दी के अन्त तक इस क्षेत्र पर अपना प्रभाव पूर्ण नियन्त्रण भी स्थापित कर लिया। पूरे प्रायद्वीप को पैरिस की फ्रांसीसी सरकार के प्रति उत्तरदायी एक गवनर जनरल के प्रशासन म रखा गया। फ्रास यहा की भाषा, सस्कृति, रीति रिवाज एव अन्य सामाजिक माध्यमो से पूर्णत जनता में प्रभाव जमाने लगा। राष्ट्रवादी महत्वाकांक्षाओं को फ्रांसीसी निरन्तर दबाते रहे फिर भी यहां की जनता धीरे धीरे विदेशी प्रभुत्व से घृणा करने लगी।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी के फ्रांस द्वारा परास्त होने पर फ्रांस स्थापित जमन समर्थक विशी सरकार से समझौता कर 1945 तक जापान ने

अपना अधिकार इस क्षेत्र मे जमा लिया । जब अगस्त, 1945 म जापान ने आत्म-समर्पण किया तो वियतनामवासियो को जापानी नियन्त्रण से छुटकारा मिला और सितम्बर मे उन्होंने फ्रास से अपनी स्वतन्त्रता घोषित करके 'वियतनाम गणतन्त्र' का उद्घाटन किया ।

**फ्रांस की पुन प्रतिक्रिया-फ्रास तथा वियतकांग मे लडाई —**

जनरल डिगॉल ने फिर से अपना हस्तक्षेप इधर करना चाहा । 'पोट्स्डेम सम्मेलन' ने 16 वी समानान्तर रेखा के उत्तरी भाग पर फ्रास व चीन की सेनाओ को कब्जा करने तथा उसके दक्षिणी भाग पर ब्रिटेन व फ्रास का सेनाओ को कब्जा करने का आदेश दे दिया । शीघ्र ही हिन्द चीन म ब्रिटिश, फ्रासीसी तथा चीनी सेनाओ का एक विशाल दल आ पहुचा । लेकिन 28 फरवरी, 1946 के चीनी फ्रासीसी समझौते के उपरान्त चीनी सेनाए वापस लौट गई । मार्च, 1946 मे फ्रास तथा 'वियतनाम गणतन्त्र' की सरकारों के बीच भी एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार 'गणतन्त्र' को हिन्द चीन सघ व फ्रासीसी सघ, दोनो का अग बनाकर स्वतन्त्र राज्य के रूप मे मान्यता प्रदान कर दी गई । जून, 1946 मे हिन्द चीन सघ के सदस्य के स्तर पर कोचीन चीन का फ्रास ने 'स्वाधीनता' प्रदान की तथा वियतनाम गणतन्त्र के साथ इसके सम्बन्धो का विनिश्चय करने के लिए जनमत सग्रह की व्यवस्था की गई ।

लेकिन कोचीन चीन के भविष्य को लेकर 'वियतनाम गणतन्त्र व फ्रास मे कटुता पैदा हो गई । वियतनाम इस राज्य को अपने मे विलीन करना चाहता था, किन्तु कोचीन चीन के सैनिक व आर्थिक महत्व के कारण फ्रास इसको वियतनाम से पृथक ही रखना चाहता था । आपस म तनातनी प्रारम्भ हुई-सीमा के प्रश्न को लेकर फ्रास ने 23 नवम्बर 1949 को हनोई पर बम वर्षा की जिससे वियतनामी सहस्त्रो की सख्या मे मारे गये । 19 दिसम्बर 1949 को बदला लिया गया व कई फ्रासीसीयों को हनोई मे मौत के घाट उतार दिया । इन घटनाओ से हो ची मिन्ह के वियतनाम गणराज्य तथा फ्रांस के बीच एक गृह युद्ध सा आरम्भ हो गया ।

डा० हो को स्थानीय साम्यवादियो, कुछ असाम्यवादियो व बाद मे चीनी साम्यवादियों की सहायता प्राप्त हो गई । उसके अनुयायियो ने देश मे आतक, लूट, छापामार-युद्ध तथा विध्वस का वातावरण पैदा कर दिया तथा फ्रास के लिए देश मे व्यवस्था पैदा करना असम्भव बना दिया । सैनिक साधनो की असफलता के बाद फ्रांस ने राजनतिक साधनों की शरण ली । इसने बाओदाई को अपनी अलग सरकार बनाने के लिए उकसाया । कुछ समझौतो के बाद 1949 मार्च म वियतनाम 'फ्रासीसी सघ का एक उपराज्य' बना लिया गया और उसके विदेशी मामलो व सेनाओ पर फ्रास का नियन्त्रण स्थापित हो गया । 30 Dec 1949 को बाओदाई ने सगोन म स्वय को 'राज्याध्यक्ष' घोषित कर दिया ।

'शीत युद्ध' के फलस्वरूप हिन्द चीन की स्थिति का बिगड़ना—शीघ्र ही उपरोक्त गृह युद्ध ने अमरीकी डालरो, शस्त्रास्त्रों, टैंकों, वायुयानो तथा बमो से सुसज्जित 150,000 फ्रांसीसी सैनिको व साम्यवादी चीन की सहायता पर लड रही 'हो' की सेनाओं के बीच एक राष्ट्र व्यापी युद्ध का रूप धारण कर लिया। स्थिति तब और भी गम्भीर हो गई जब सन् 1950 मे अमरीका तथा रूस 'शीत युद्ध' को भी हिन्द चीन के द्वार तक खीच लाए। वियतनाम तथा वियतमिन्ह सरकारों को दोनों गुटों ने कूटनीतिक मान्यता अलग अलग प्रदान की। फ्रांस के नाम से पूरा अमरीका इस क्षेत्र मे आ डटा। इसी तरह दिखाव के लिए साम्यवादी चीन, किन्तु वस्तु स्थिति में रूस 'वियतमिन्ह सरकार' को यथा सम्भव हर प्रकार की सहायता प्रदान कर रहा था। वह युद्ध, जो 'उपनिवेशवादी शासकों' तथा 'उपनिवेशी शासितों' के बीच छिड़ा था अब 'स्वतन्त्र विश्व' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद' के मध्य एक विश्व व्यापी संघर्ष मे परिणित हो गया।

7 मई 1954 को 'वियतमिन्ह' सेनाओ ने फ्रांसीसी सेनाओ को बुरी तरह पराजित किया, फ्रांस के 15,000 सैनिक बन्दी बना लिए गए और दायन बियेन फू नामक फ्रांसीसी गढ पर बम वर्षा की। किन्तु राष्ट्रपति आइजन हॉवर ने इस भय से कि कहीं युद्ध विश्व व्यापी न बन जाए, समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान का निश्चय किया।

जेनेवा सम्मेलन वियतनाम का प्रादुर्भाव—26 अप्रेल से 21 जुलाई 1954 तक अमरीका, इंगलैण्ड, रूस, फ्रांस, चीनी गणतन्त्र (साम्यवादी चीन), वियतनाम, वियतमिन्ह, लाओस तथा कम्बोडिया के विदेश मन्त्रीगण—जेनेवा मे थाईलैण्ड के वदेश मन्त्री राजकुमार वानवैथयाकौन की अध्यक्षता मे एकत्रित हुए तथा उन्होंने कुछ समझौते किए—जिनमें प्रमुख निम्न थे—

1—वियतनाम (हिन्द चीन का सबसे बड़ा राज्य) दो भागो मे विभाजित किया गया। 17वीं समानान्तर रेखा के दक्षिण का भाग 'दक्षिणी वियतनाम' तथा उत्तर का भाग, जो वियतमिन्ह के नियन्त्रण मे था, 'उत्तरी वियतनाम' कहलाया। यह व्यवस्था की गई कि दक्षिणी क्षेत्र से साम्यवादी सेनाएँ तथा उत्तरी क्षेत्र से फ्रांसीसी सेनाएँ 21 जुलाई 1954 के उपरान्त 300 दिनो के अन्दर-अन्दर हटा ली जायेंगी।

2—20 अगस्त 1954 तक युद्ध बन्दियों के रिहा किए जाने तथा उनके आदान-प्रदान की भी व्यवस्था की गई।

3—देश की भावी सरकार का विनिश्चय करने के लिए कनाडा, भारत तथा पोलैण्ड के प्रतिनिधियों को मिलाकर एक 'अन्तर्राष्ट्रीय आयोग' की व्यवस्था की गई। इसमें दो वर्ष बाद अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए देश में एक 'राष्ट्रीय चुनाव' कराने का अधिकार प्रदान किया गया।

लाम्रोस तथा कम्बोडिया को कुछ समझौतो के साथ स्वाधीनता प्राप्त हो गई। दोनो देशो मे साम्यवाद विरोधी सरकारो की स्थापना हुई। पर इन दोनो ने हिन्द चीन सघष म तटस्थता का अनुसरण किया।

## वर्तमान सकट का आरम्भ

जेनेवा के युद्ध-विराम समझौते से भी हिन्द-चीन मे शान्ति स्थापना सम्भव न हो सकी। इस प्रदेश को फ्रांसीसी साम्राज्यवाद से तो अवश्य चैन मिला पर यह शीघ्र ही आन्तरिक सघष मे लिप्त हो गया और स्थिति 'शीत-युद्ध' के कुछ प्रभाव के कारण और भी बिगड गई। दक्षिणी वियतनाम मे कई सारी आन्तरिक समस्याएँ उठ खडी हुई थी। साम्यवादी अत्याचारो से बचने के लिए हजारो की सख्या मे लोग—मुख्यत रोमन कैथोलिक लोग—उत्तरी वियतनाम से भागकर दक्षिणी वियतनाम मे आने लगे।

सैगोन का शासन (द० वियतनाम) डायम जिसे बाम्रो-दाई ने सन् 1954 मे प्रधान मन्त्री नियुक्त किया था, द्वारा ही सचालित किया जा रहा था। अमरीकी प्रोत्साहन तथा आर्थिक एव अन्य प्रकार की सहायता से दायम ने 26 अक्टूबर 1955 को बाम्रो दाई से 'राज्याध्यक्ष' का पद छीन कर स्वय को नवोदित गणतन्त्र का राष्ट्रपति तथा प्रधान मन्त्री घोषित कर दिया। 4 मार्च 1956 के एक चुनाव के परिणाम स्वरूप उसे जनता का 'पूर्ण समथन' प्राप्त हुआ। उसने देश मे सन् 1956 मे एक 'अर्ध-लोकतन्त्रीय' तथा 'अध अधिनायकवादी' शासन स्थापित करके व्यवस्था पदा की। जुलाई 1956 म जेनेवा मे एकीकरण के लिए होने वाला चुनाव आयोजित न हो सका, क्योकि डायम ने उत्तरी वियतनाम की साम्यवादी सरकार से किसी प्रकार का सम्पक स्थापित करने से स्पष्ट इनकार कर दिया। दक्षिणी वियतनाम अधिक से अधिक अमरीकी प्रभाव तथा सरक्षण मे आता चला गया।

उत्तरी वियतनाम की स्थिति भी सन्तोष जनक नही थी। राष्ट्रपति हो ची मिन्ह भूमि सुधारों तथा जन-कल्याण की अन्य योजनाम्रो द्वारा अव्यवस्था को दूर करने का प्रयत्न कर रहा था। हनोई मे जिस सरकार की स्थापना की गई थी उसका प्रशासन गुरेला योद्धाम्रो के हाथ मे था।

जेनेवा के शान्ति समझौते के बाद भी उत्तरी वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम के सम्बन्ध अच्छे नही हुए। जुलाई, 1956 मे दोनो खण्डो के पुन एकीकरण के दृष्टिकोण से किये जाने वाले आम चुनाव सम्बन्धी अनुच्छेद को लागू नही किया जा सका, क्योकि दक्षिणी वियतनाम की सरकार ने समझौतो का अपने प्रति बन्धन स्वीकार करने मे इन्कार कर दिया था, उ० वियतनाम की सरकार द्वारा 1955 स 58 तक के समय मे प्रस्तुत किए गए निर्वाचन की व्यवस्था सम्बन्धी बात चीत के सभी प्रस्तावो को रद्द कर दिया। द० वियतनाम सरकार कि यह

धारणा थी कि द० वियतनाम मे वास्तविक रूप से स्वतन्त्र चुनाव करना सम्भव नही है। अत दोनों सरकारों म तनाव बढ़ता ही गया। सगौन और हनोई एक दूसरे पर सशस्त्र सेना की वृद्धि का आरोप लगाते ही गए। डा० हो की सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध विराम निरीक्षण आयोग से शिकायत की कि अमेरीका द० वियतनाम को हथियार दे रहा है और डायम की सरकार ने हनोई पर आरोप लगाया कि वह उसकी सरकार का तख्ता उलटने के लिए साम्यवादियों की सहायता ले रहा है।

इसी बीच 30 अगस्त 1959 को दक्षिणी वियतनाम मे आम चुनाव हुए और राष्ट्रपति डायम की सरकार को भारी बहुमत मिला। इसी प्रकार 15 जुलाई 1960 का उत्तरी वियतनाम ने भी सत्तर वर्षीय डा० हो को राज्याध्यक्ष चुन लिया। दोनो नेता सत्ता से चिपटे रहे और एक दूसरे पर शान्ति समझौता भग करने का दोष लगाते रहे।

1960 61 के दौरान साम्यवादी वियतकाग (साम्यवादियों ने 'राष्ट्रीय मुक्ति सेना' की स्थापना 1960 मे की थी इसे सरकारी बयानो में वियतकाग कहा जाता था) गुरेलो ने अपनी कारवाई देश के बहुत से भागों मे अत्यधिक बढ़ा दी। 1961 के अन्त तक लगभग बीस हजार गुरेले सारे देश में जहा तहा आतक पूर्ण कृत्य करने लगे थे और दक्षिणी वियतनाम के राष्ट्रपति ने 19 अक्टूबर 1961 को सारे दक्षिणी

---

यह प्रश्न बडा विवादास्पद है कि वीएटकाँग (Vietcong) कौन है। अमरीकी तथा दक्षिणी वियतनामियो के अनुसार यह ऐसे व्यक्तियों का सगठन है जिसे उत्तरी वियतनाम द्वारा भेजा गया है ये लोग साम्यवादी हैं। इनको शस्त्र तथा समथन भी उत्तरी वियतनाम द्वारा मिलता है। कुछ असन्तुष्ट एव स्वार्थी दक्षिणी, वियतनामी तत्त्व ही इसके सदस्य हैं। बाकी जनता से इस सगठन को कोई समर्थन नही प्राप्त है। उत्तरी वियतनाम के नेताओ का कहना है कि वीनकाँग या नेशनल लिबरेशन फ्रन्ट (Vietcong या National Liberation Front) एक ऐसा सगठन है जो राष्ट्रीयता का जनक है, विदेशियों का अपने देश म हस्तक्षेप करने से रोकना चाहता है। यह जनता द्वारा समथन प्राप्त किये हुये हैं। किन्तु असल मे दोनों, ही विचार अतिवादी हैं। वीएटकाग को उत्तरी वियतनाम से शस्त्र दिये जाते हैं और शक्ति के द्वारा दक्षिणी वियतनाम का तख्ता उलटना उनका उद्देश्य हैं।

अमरीकी और दक्षिणी वियतनामियों का कहना है कि वियतनाम म गृहयुद्ध नही हो रहा है, उस पर साम्यवादी वियतनाम द्वारा आक्रमण किया गया है। घुसपैठिय भेजे गये हैं, अत वह विदेशी आक्रमण के विरुद्ध लड रहा है किन्तु साम्यवादी इसे गृह युद्ध से सम्बोधित कर रहे हैं, वहाँ का राष्ट्रवादी तत्व कठपुतली सरकार से छुटकारा ने के लिये लालायित हो रहा है।

वियतनाम मे आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी। मई, 1961 मे अमरीकी उप राष्ट्रपति लिण्डन बी० जानसन सैगोन के दौरे पर गये और उन्होंने दक्षिणी वियतनाम को अमरीकी सहायता मे वृद्धि करने व उसकी गति बढाने के उपाय करने की सिफारिश की।

इसी वर्ष 10 दिसम्बर 1961 को अमरीकी राज्यविभाग ने 'शान्ति को खतरा' के नाम से दो भागो मे एक श्वेत-पत्र' निकाला और आरोप लगाया कि वियतकाँग 'मुक्ति आन्दोलन' का निर्देशन व सचालन उत्तर से होता है और साम्यवादियों द्वारा द० वियतनाम को विजित कर लिये जाने का स्पष्ट रूप से खतरा उपस्थित है। यदि यह सम्भव हो गया तो अन्य एशियाई देशो की प्रगति रुक जायगी। अत 4 जनवरी 1962 को स० रा० अमेरीका ने द० वियतनाम को आर्थिक व सैनिक सहायता देने की योजनाए घोषित की। इसी समय द० वियतनाम ने अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग ICC से शिकायत की कि उत्तरी वियतनाम घुस पैठ और विनाश की कार्यवाहिया कर रहा है।

सोवियत रूस द्वारा दक्षिणी वियतनाम के आन्तरिक मामलो मे अमरीका के समुचित हस्तक्षेप की निन्दा की गई और फरवरी 1962 म चीन सरकार ने भी आरोप लगाया कि अमरीका द्वारा दक्षिणी वियतनाम मे सैनिक कमान, दक्षिण वियतनामी जनता के 'नो दिन्ह डायम गठजोड' के विरुद्ध न्यायोचित व देशभक्ति पूर्ण सघर्ष का दमन करने के लिए स्थापित की गई है। रूस ने अमरीका को दक्षिणी वीयतनाम मे युद्ध सामग्री ले जाने से मना किया। 2 जून 1962 को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग के भारतीय और केनेडियन सदस्यों ने निर्णय दिया कि उत्तरी वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम दोनों ने ही जेनेवा समझौते की अवहेलना की है। उत्तरी वीयतनाम ने दक्षिणी वियतनाम मे शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियों को प्रोत्साहन व समथन देकर और दूसरे ने सैनिक सहायता लेकर व अमेरिका से एक वास्तविक सैनिक गठबन्धन करके। दोनों वियतनामों के भविष्य मे सम्बन्धो का प्रश्न 'शीत-युद्ध' मे उलझकर रह गया और आरोपो व प्रत्यारोपों की बौछारें होने लगी। रूस व साम्यवादी चीन उत्तरी वियतनाम का पक्ष ले रहे थे और इगलैण्ड दक्षिणी वियतनाम मे अमरीका की स्थिति का समथन कर रहा था।

**वियतनाम सघर्ष एक जटिल विश्व समस्या के रूप मे —**

उपयुक्त स्थिति के कारण अमरीकी प्रतिरक्षा मन्त्री राबर्ट मेकनमारा आदि ने सैगोन का दौरा कर यह घोषणा की कि—"द० वियतनाम को जब तक आवश्यकता होगी—अमरीकी सैनिक सहायता दी जायेगी।' इस घोषणापरान्त वियतकाग की आतकपूर्ण कार्यवाहियो की मात्रा व भयानकता म वृद्धि होती गई।

अमरीकी राजनीतिज्ञों को साम्यवादी खतरे से विशेषतया दक्षिणी वियतनाम और सामान्यतया सारे द० पूर्वी एशिया की गम्भीर चिन्ता सताने लगी। २३ जून

1964 को जॉनसन ने संयुक्त सेनाध्यक्षों के प्रधान व अमरीकी वरिष्ठ सैन्य अधिकारी मेक्सवेल डी० टेलर को दक्षिणी वियतनाम में राजदूत नियुक्त किया। उत्तरी वियतनाम से 17 वीं अक्षांश रेखा पर दबाव निरन्तर बढ़ता गया। चीनी साम्यवादी सेना चीन की दक्षिणी सीमा पर बड़ी मात्रा में लगा दी गई और कुल चीनी सेना तो उत्तरी वियतनाम के भीतर जमकर बैठ गई। 7 अगस्त 1964 को द० वियतनाम के राष्ट्रपति जनरल न्यूयन खान्ह ने आपातकालीन स्थिति की घोषणा की और कहा कि वियतकाग गुरेलो को उत्तरी वियतनाम से निरन्तर शस्त्रास्त्र इत्यादि युद्ध सामग्री मिल रही है। अमरीका ने और दक्षिण वियतनाम को सैनिक व आर्थिक सहायता में वृद्धि की घोषणा की। रूस ने इसे अनुचित कहा और कहा कि यदि उसने उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण किया तो वह (रूस) उत्तरी वियतनाम को सहायता देगा। पीकिंग सरकार ने भी आलोचना की।

संयुक्त राष्ट्र संघ के महा सचिव ऊथांट ने 8 जुलाई 1964 को अपील की कि, *वियतनाम समस्या को बातचीत के राजनीतिक व राजनयिक प्रसाधनों द्वारा सुलझाया* जाना चाहिए और जेनेवा सम्मेलन पुन बुलाया जाना चाहिए। किन्तु दक्षिणी वियतनाम की सरकार ने इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। अमरीकी अधिकारियों ने द० वियतनाम सरकार को असीम सैनिक सहायता देने की नीति का अनुसरण किया।

1965 के आरम्भ में द० वियतनाम में बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अमरीकी विरोध प्रदर्शन किये, पर दबा दिये गये। अमरीका ने द० वियतनाम में अमरीकी सेना पर वियतकाग आक्रमण प्रतिशोध-स्वरूप 7 फरवरी को उत्तरी वियतनाम पर हवाई हमले प्रारम्भ किये। मार्च में व उसके पश्चात् इन आक्रमणों की मात्रा अधिक हो गई और ये अधिकतर सैनिक ठिकानों पर [illegible] जाने लगे। इस प्रकार की भयावह तथा विश्व शांति की आशा का मिटने की स्थिति देख भारत-फ्रांस व रूसी सरकारों ने कोई समझौता करने के लिए पुन जेनेवा सम्मेलन बुलाए जाने की अपील की। महामन्त्री ऊथांट ने सम्बन्धित दशा के बीच बातचीत का प्रस्ताव किया और 17 तटस्थ राष्ट्रों ने युद्ध बन्द करने की अपील की।

अप्रैल के प्रारम्भ में डा० हो ने एक चार सूत्रीय प्रस्ताव रखा, जिसमें और बातों के अतिरिक्त द० वियतनाम से अमरीकी सेनाओं को पूर्णत हटाये जाने और संगोन में वियतकाग के राजनीतिक कार्यक्रम के अनुसार निपटारा किए जाने की माँग की गई थी। 7 अप्रैल, 1965 को जॉनसन ने घोषणा की कि यदि द० वियतनाम को स्वतन्त्र रहने दिया जाय और अमरीकी सेना वहीं रहे तो अमरीकी सरकार 'बिना शर्त वार्ता' करने को तैयार है। वियतनामियों ने इस प्रस्ताव को रद्द कर । सोवियत संघ और चीन ने उत्तरी वियतनाम के इस दृष्टिकोण का समर्थन

किया। रूस ने हनोई के निकट वायुयान भेदी प्रक्षेपणास्त्रो के अड्डे बनाने प्रारम्भ किए और चीन ने रूसी सामान को उत्तरी वियतनाम मे ले जाने की सुविधाए प्रदान की। अमरीका ने द० वियतनाम मे अपनी सेना की शक्ति और बढा दी। कांग्रेस ने मई 1965 में एक विधेयक पास करके युद्ध कार्यों के लिए सत्तर करोड डालर की अतिरिक्त निधि पारित की। जून, 1965 मे लन्दन में हुए 12 राष्ट्र मण्डलीय प्रधानमत्री सम्मेलन में एक वियतनाम-विषयक शान्ति आयोग स्थापित किया गया जिसे यह युद्ध समाप्त कराने का काम सौंपा गया। अमरीका तथा द० वीयतनाम ने राष्ट्र मण्डलीय मध्यस्थता स्वीकार की पर रूस, चीन व वीयतनाम ने इसका बहिष्कार किया।

जुलाई मे यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो और भारतके प्रधान मत्री श्री शास्त्री ने वियतनामी सघर्ष के शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए एक सयुक्त अपील जारी की, किन्तु चीन के सरकारी पत्र (Peoples Daily) ने इस अपील की कटु आलोचना की और टीटो व शास्त्री को 'अमरीकी साम्राज्यवाद के एजेन्ट' कह कर पुकारा। 30 अगस्त को चीन ने रूस की भी वियतनाम सम्बन्धी नीति के लिए उसकी आलोचना की। 11 नवम्बर 1965 को चीनी साम्यवादी दल के समाचार पत्रों ने आरोप लगाया कि अमरीका और रूस मिलकर सारे ससार पर प्रभुत्व स्थापित करने की योजना पर चल रहे हैं।

1965 के दौरान वियतनाम युद्ध की सैनिक स्थिति में पर्याप्त उन्नति हुई, जबकि 1964 मे वियतकाग की प्रमुख शक्ति 30,000 व्यक्तियों की थी, 1965 में यह 80,000 तक हो गई। इसमे उत्तरी वियतनाम के 'वियतमिन्ह' नामक दो डिवीजन और मिल गए। तीन डिवीजन सेना दक्षिणी वियतनामी व अमरीकी सेनाओ के समान ही उत्तम शस्त्रास्त्रो से लैस थी। कहा जाता है कि इनमे से अधिकतर शस्त्र चीन व रूस से प्राप्त किये गए थे। अमरीकी सैन्यबल' 55,000 तक जा पहुचा। उत्तरी वियतनाम के राष्ट्रपति हो ने अमरीकी सरकार पर युद्ध को विस्तृत बनाने व 'नृशसतापूवक' लडने का आरोप लगाया। अमरीकी अधिकारियों ने आरोप लगाया कि चीन पहले सारे वियतनाम पर फिर लाओस व कम्बोडिया पर, फिर थाइलण्ड व वर्मा पर और अन्तत सारे एशिया पर अधिकार जमाने की योजना बना रहा है।

**अमरीका और वियतनाम**–आज अमेरीका वियतनाम युद्धमे इतना उलभा दिखलायी पडताहै उतना शायदही कोई अन्य दूसरोंके लिए उलभा हो। चारो ओरसे आलोचना के उपरान्त भी वियतनाम प्रश्न 'अमरीकी प्रतिष्ठा' का प्रश्न बन गया है। ऐसा लगता है कि युद्ध उत्तरी वियतनाम और अमरीका के बीच हो रहा है। अमरीका वियतनाम की सहायता के लिए क्यो आया ? अमरीका द्वारा पाच लाख से भी अधिक

सैनिक, करोडो डालर की आर्थिक सहायता देना, और जगह जगह दक्षिणी वियतनाम की ओर से वकालत करना क्यों स्वीकार किया है ? बिना राष्ट्रीय हित के कोई भी देश चाहे बडा हो या छोटा, झगडा करना नही चाहेगा। यह बात सवविदित है कि आर्थिक दृष्टि से अमरीका को वीयतनाम मे कोई स्वाथ हल होता नही दिखलायी देता। सतत युद्ध के कारण, अमरीकी अर्थ व्यवस्था ही अस्त व्यस्त हो गयी है। राजनतिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि चीन के साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए वियतनाम प्रथम व्यूह है।* अमरीका यह मानता रहा है कि यदि दक्षिण पूर्वी एशिया में चीन के प्रभाव को नहीं रोका गया तो यह क्षेत्र साम्यवादी हो जायगा। अत कम्यूनिस्टो की चालबाजियो और आक्रामक कार्यवाहियो से द० वियतनाम का शासन प्रजातान्त्रिक प्रणाली से चले, साम्यवादी शासन नही थोपा जाये। विभिन्न विचार, जो समय समय पर प्रसारित किये गये, अमरीका के वियतनाम मे निम्न उद्देश्यो को प्रकट करते हैं—

1 अमरीका चाहता है कि वियतनाम की समस्या को जेनेवा समझौते के अनुसार हल किया जायें।

2 अमरीका द० वियतनाम की स्वतन्त्रता तथा आक्रमण से रक्षा चाहता है।

3 द० वियतनाम की जनता द्वारा ही यह निश्चय किया जा सकता है कि वे एकीकरण चाहते हैं या नही।

4 अमरीका द० वियतनाम को आर्थिक सहायता देकर उसका रहन सहन, जीवन पद्धति सुधारना चाहता है।

अमरीका ने वियटनाम को प्रारम्भ से ही सहायता की है। सवप्रथम 1945 में रूजवेल्ट प्रशासन ने हो ची मिन्ह को सहायता दी। 1950-54 तक अमरीका ने फ्रांस को हिन्द चीन के विकास के लिए सहायता दी। 1954 को 'सीएटो सन्धि मे वीयतनाम को 'प्रोटोकल क्षेत्र' के नाम से माना गया और यदि वीयतनाम सहायता के लिये प्रार्थना करेगा तो सहायता देना सन्धि के राष्ट्र अपना कतव्य समझेंगे।

विलियम बन्डी का विचार है कि जेनेवा समझौते के 'एकीकरण सम्बन्धी चुनाव क्लॉज' का तात्पय 'जनमत' (Plebicite) से है। यदि जनमत चाहेगा तो एकीकरण होगा अन्यथा नहीं। साम्यवादियो ने आक्रमण करके, उत्तरी वियतनाम मे भयकर राजनीतिक हत्याओं द्वारा, इस क्लॉज का महत्व घटा दिया। राष्ट्रपति नेडी, जब सेनेटर थे उन्होंने स्पष्ट कहा था कि चुनाव सम्बन्धी परिस्थितियाँ ही

---

* American interest in the affairs of South Vietnam streams from U S policy to restrain China from spreading its influence in the region.

—Current Affairs Act, 1965,

वियतनाम में नहीं रही । अमरीका ने दक्षिण वीयतनाम की ओर से उत्तर पर बमबारी की, जिसका समूचे विश्व जनमत द्वारा प्रतिरोध किया गया । भूतपूव सेनेटर रोबट केनेडी,जानसन की वीयतनाम नीति के कटु आलोचक थे। लाखो की तादाद मे सनिक, आधुनिक शस्त्र आदि का उपयोग करने के उपरान्त भी अमरीका वियतनाम को सैनिक बल पर नही जीत सका अत १ अप्रैल १९६८ को राष्ट्रपति जानसन ने शान्ति के लिए वार्ता हेतु उ० वियतनाम के कुछ क्षेत्रो पर बमबारी बद करने का आदेश दिया ।

अन्य देशों की वियतनाम नीति—चीन और रूस उत्तर वियतनाम को सहायता दे रहे हैं ताकि साम्यवादी देश की विजय हो। यह बड़ी विचित्र राजनीति है कि रूस चीन में मतभेद होते हुए भी दोनो ही सहायता के लिए कटिबद्ध हैं । यद्यपि ख्रुश्चेव ने कुछ दिनो के लिये उत्तर वियतनाम को सहायता देने मे चुप्पी साध ली थी तथापि कोसीजन भरपूर सहायता दे रहे हैं । शस्त्रो, दवाईयो, वायुयानो आदिकी सहायता के बावजूद रूस अमरीकी साम्राज्यवादी नीति की आलोचना कर रहा है । चीन ने भी जहा तक एक ओर उत्तर वियतनाम के साहस और धैय को ऊँचा उठाया है वहाँ आर्थिक सहायता भी दी है । कुछ कम्युनिस्ट देश जसे चेकोस्लोवाकिया आदि ने भी सहायता दी है। भारत अमरीकी बमबारी का घोर विरोधी रहा है । अन्य देशो का जनमत अमरीकी वियतनाम नीति के प्रतिकूल है । किन्तु आस्ट्रेलिया, जापान, थाईलण्ड, फिलिपाइन्स आदि अमरीका की हाँ मे हाँ मिला रहे हैं । एक बात अवश्य है कि रूस वियतनाम प्रश्न पर विरोध मे खुले तौर पर सामने नही आया है । जितना कि मध्य एशिया के प्रश्न पर । अन्य पडौसी राज्यो मे कम्बोडिया और लाओस तटस्थ होते हुए भी चीनी नीति से प्रभावित हैं ।

वियतनाम मे शांति के लिए प्रयास—वियतनाम की गुत्थी का हल शान्ति स्थापना के उपरान्त ही हो सकता है, शान्ति के लिए प्रयत्न नही किये गये हो, ऐसी बात नही हैं फिर भी इस समस्या का सम्बन्ध राष्ट्रीय इज्जत से जोड दिया गया है अत यह जटिल से जटिलतर बन गयी , सयुक्त राष्ट्र सघ के महा सचिव ऊ थान्ट ने कहा था कि समस्या उलझी रहेगी क्योंकि दोनों पक्षो को सैनिक विजय मे विश्वास है । किन्तु यह बात सब विदित है कि तीन वर्षों के इस लम्बे युद्ध ने जन, धन का विनाश कर समूचे वियतनाम की आन्तरिक शांति को विघटित कर दिया है ।

अमरीकी राजनयनों का यह कथन है कि वे वियतनाम मे स्थायी शान्ति चाहते हैं और इसलिए उन्होंने 1965 मे मई महिने में 5 दिन और 20 घण्टों के लिये बमबारी बन्द करदी तथा हनोई से शांति वार्ता के लिए पहल करने को कहा किन्तु उनको प्रस्ताव का प्रत्युत्तर खाली कागज पर हनोई द्वारा भेजा गया । इसी प्रकार 1965 के दिसम्बर व 66 के जनवरी में 36 दिन, 15 घटे के लिये, फरवरी 1967 मे 5 दिन 18 घटे के लिये बमबारी बद कर दी । किन्तु हनोई ने इसका

उत्तर पोप के द्वारा अव्यवहारिक ढंग से दिया जिसमे कहा गया कि अमरीका को अपनी आक्रामक कार्यवाहियाँ बंद कर, इस क्षेत्र से प्रस्थान कर देना चाहिये तभी स्थायी शांति स्थापित की जा सकती है। अमरीका का विचार है कि यदि द० वियतनाम की स्वतंत्रता को मान लिया जाये, यदि हनोई सब प्रकार की आक्रामक कार्यवाही बंद करदे तो शांति के लिये सफल वार्ता हो सकती है।

इसके विपरीत उत्तरी वियतनाम ने अपने चार सूत्रों का शांति स्थापना के लिये रामबाण औषधि के रूप से उनकी बार बार वकालत की है—वे इस प्रकार हैं—

1 स० राज्य अमरीका का पूर्ण प्रस्थान। अमरीकी सेना हटाली जायें।

2 द० वियतनाम के भविष्य का निर्धारण वीतकांग संगठन की नीतियों के अनुसार हो।

3 जेनेवा समझौते को मान्यता दी जाये तथा,

4 वियतनाम के दोनो खण्डो का शान्तिपूर्ण एकीकरण हो।

दोनो ओर के विचार एक दूसरे के विरोधी हैं, दोनों जेनेवा समझौते की भिन्न भिन्न व्याख्यायें करते हैं। इनमें सामजस्य स्थापित करवाने हेतु 1967 में पोप ने राष्ट्रपति 'हो' से वार्ता की किन्तु व्यर्थ। इधर द० वियतनाम का कहना है कि वह जेनेवा समझौता मानने के लिए बाध्य नही है क्योंकि उसने इसे स्वीकार ही नही किया था, यह कानूनी सन्धि नही है।

किन्तु परिस्थितियाँ राजनीति की करवटें बदल देती हैं। दिसम्बर 1967 से पहले वीएटकांग तथा साम्यवादियों ने अमरीकी सेना के छक्के छुड़ा दिये। स्वयं अमरीका में जानसन प्रशासन के विरुद्ध आवाजें उठने लगी। अमरीकी राष्ट्रपति का चुनाव भी निकट आने लगा। विश्व जनमत अमरीका के विरुद्ध था ही, ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति जानॅसन ने 1 अप्रेल 1968 को चमत्कारिक घोषणा करते हुए कहा कि 'शान्ति की खोज में वियतनाम में तत्काल बमबारी बंद की जाती है।' इसे उन्होंने शान्ति की दशा मे पहला कदम कहा। हनोई ने भी कुछ समय बाद 'हाँ ना' करते हुये सकारात्मक कदम उठाये। पेरिस को शान्ति वार्ता का स्थान चुना गया।

पेरिस वार्ता—10 मई 1968 से पेरिस वार्ता शुरू होना निश्चय हुआ। 9 मई को ही दोनों दलो के प्रतिनिधि पेरिस पहुँच गये। द० वियतनाम की ओर से अमरीका वार्ता मे भाग ले रहा है। अमरीकी दल के नेता एवरील हेरीमैन हैं तथा उ० वियतनामी दल के नेता मि० थुई हैं। तब से लेकर आज तक (15 अगस्त 68 तक) कई बार वार्ता हुई, एक दूसरे दल को कोसा गया प्रत्येक ने एक दूसरे को साम्राज्यवादी, प्रतिक्रियावादी कहा, तथापि वार्ता का क्रम चल रहा है, कोई चमत्कारिक निर्णय नही लिया गया। यह बड़ा विचित्र दिखलायी दे रहा है कि दोनो ओर के सैनिक भी लड़ रहे हैं और कूटनीतिज्ञ भी। यदि कूटनीतिज्ञ सफल हो गये तो युद्ध का कोई हल निकल आयेगा।

## वियतनाम युद्ध—नये परिणाम

वियतनाम युद्ध दक्षिणी पूर्वी एशिया के लिए नही अपितु सम्पूर्ण एशिया मे एक नया आयाम लायेगा। यदि अमरीका वियतनाम से हटता है तो इस क्षेत्र मे 'शक्ति शून्य' (Power Yaccum) हो जायेगा, चीन का प्रभाव बढ़ेगा, इस क्षेत्र के छोटे छोटे राज्य भयभीत होकर क्या रास्ता अपनायें, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इससे एशिया में अमरीकी प्रभाव को जबरदस्त धक्का लगेगा। उत्तरी वियतनाम की वीरता का अनूठा पाठ दुनिया के भयभीत राष्ट्रों को सीखना चाहिये। अमरीका वियतनाम में जहाँ एक ओर साम्यवादियों से लड रहा है वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रवादियों से। उनके लिये हानि की बात यही है कि ये एक विदेशी हैं। चाहे कुछ भी हो किन्तु सिंगापुर के प्रधानमन्त्री के इन विचारो मे सत्यता अवश्य है—'दक्षिणी एशिया, दक्षिणी पूर्वी एशिया यहाँ तक की एशिया का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि आने वाले वर्षों में वियतनाम की गुत्थी का क्या हल निकलता है ?'

### समस्या का समाधान कैसे ?

वियतनाम समस्या दिन ब दिन उलझती जा रही है और ऐसा लगता है कि अपने समाधान से कोसो दूर है। आखिर क्या कारण है कि विश्व जनमत के नही चाहते हुए भी वियतनाम युद्ध की होली खेल रहा है ?

सयुक्त राष्ट्र सघ, राष्ट्रमण्डल, तटस्थ गुट या अन्य कोई सस्था एक कारगर कदम उठाने में असफल है ? क्यों व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से किये गये शान्ति के प्रयासो का अनसुना कर उनका मजाक उडाया जा रहा है। इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि जो इस समस्या को उलझाये हुए हैं वो विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रो में से हैं और अपने स्वार्थों की आहूति नैतिकता अथवा मानवीयता के नाम पर देना उनके शब्द कोष से शायद उपयुक्त नही। शक्ति और सामर्थ्य ने उनके मस्तिष्क विकृत कर दिये हैं।

वियतनाम एक राजनीतिक समस्या है अत उसका हल सैनिक शक्ति से न तो सभव है, न न्यायोचित ही। विश्व के सभी युद्धप्रिय देश यह समझलें कि वो स्थिति बदल रहे हैं जब किसी की कमजोरी से व अपनी सामर्थ्य से नाजायज फायदा उठाया जा सकता था। अपनी शक्ति का वास्ता देकर, डरा धमकाकर या अन्य दबाव डालकर अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धी की जा सकती थी। वे लोग अब नहीं रहे, वे धारणायें, विचारधाराएँ नहीं रही। परिस्थितियों मे आमूल चूल परिवर्तन हो चुका है। आत्म स्वाभिमान राष्ट्रों की नसों मे खून बनकर दौड रहा है। एशिया व अफ्रीका का अभ्युदय हो रहा है और ये महाद्वीप अब किसी भी सूरत मे विदेशी शक्तियो को चाहे वो कोई भी हो, हाथो की कठपुतली बन कर नही रह सकते। अत वियतनाम समस्या का हल धैय व शाति से निकालना ही होगा।

# भारत की विदेश नीति

स्वतन्त्रता के पूर्व —भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति के पूर्व भारत की कोई विदेश नीति नहीं थी। उस समय प्रत्येक दूसरे राष्ट्र से भारत के सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित किये जाते थे। यद्यपि स्वतन्त्रता संग्राम के प्रारम्भ होने के बाद ब्रिटिश सरकार के निर्णयों के प्रति भारत की प्रतिक्रिया अवश्य प्रारम्भ हो गई थी जो समय समय पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा पारित प्रस्तावों द्वारा अभिव्यक्त होती थी। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् कांग्रेस का ध्यान विदेश नीति की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ और भारत को राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त होने पर वह विदेशी सम्बन्धों के क्षेत्रों में क्रियाशील होने लगा। 1919 के पेरिस सम्मेलन में भारतीय सदस्य ने भाग भी लिया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की कार्यकारिणी में सन् 1931 में अतुलचन्द्र चटर्जी स्थायी समिति के अध्यक्ष चुने गये थे। राष्ट्र संघ के अन्य कार्यों में भी भारत अत्यधिक सक्रिय रहा। सन् 1920 से लेकर 27 तक भारतीय कांग्रेस ने अनेक प्रस्ताव पास किये थे जिनसे भारत की विदेश नीति की रूप रेखा प्रस्तुत हो जाती थी। उदाहरणार्थ—भारत सभी देशों के साथ और विशेषकर पड़ोसी राष्ट्रों के साथ सदा सहकारिता का व्यवहार करेगा, पराधीन देशों के स्वाधीनता एवं समानता आन्दोलनों का सदैव समर्थन करेगा, जातीय भेद नीति का विरोध करेगा, साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के प्रत्येक रूप का विरोध करेगा। शांति स्थापना एवं साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध करेगा शांति स्थापना एवं साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध में सदा तैयार रहेगा आदि प्रस्ताव पारित किए गये थे।[1] 1930 से आगे वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर भारत ने अपने मत व्यक्त किए थे। नाजीवाद, फासीवाद आदि अधिकनायकवादियों के आक्रमण के समय भारत उनकी घोर निन्दा करता था। सन् 1937–38 में जापान द्वारा चीन पर आक्रमण करने पर भारत ने आक्रमणकारी की, केवल निन्दा ही नहीं की वरन् सहानुभूति के रूप में चीन में स्वास्थ्य मिशन भेजने का निर्णय भी किया। इस प्रकार कांग्रेस ने प्रान्तीय स्वतन्त्रता के समय विदेश नीति के सम्बन्ध में एक अलग विभाग स्थापित कर दिया था तथा पंडित जवाहर लाल नेहरू उसके अध्यक्ष बने थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय कांग्रेस नाजियों के विरुद्ध ब्रिटिश सरकार का सहयोग करने के लिए प्रस्तुत थी, किन्तु ब्रिटिश सरकार अपने ढंग से सहायता चाहती थी, इसलिए फिर कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों ने पद त्याग दिये और अपनी स्वतन्त्र नीति की रक्षा की। सुभाष चन्द्र बोस द्वारा संस्थापित (I N A) भारत की

1 Nehru, 'The Discovery of India" P 423,

राष्ट्रीय सेना भी स्वतन्त्र थी, जापानियो के प्रभाव मे नही थी। इसके अतिरिक्त अटलांटिक चार्टर एव चार स्वतन्त्रताओं के प्रति भी भारत का व्यवहार सहानुभूति पूर्ण रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर जब जापान के युद्ध बन्दियो पर अभियोग चलाया गया, उस समय अभियोग के लिए टोकियो स्थित भारत के प्रतिनिधि श्री राधाविनोदपाल को अपना विरोधी निर्णय दिया। यह भारत का विश्व सहकारिता के प्रति झुकाव होने का प्रमाण है। स्वतन्त्रता होते ही भारत ने शीघ्र ही विश्व के अधिकाधिक देशो से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

**स्वतंत्रता प्राप्ति पर विदेश नीति का दृष्टिकोण**—2 सितम्बर 1946 को जब अन्तरिम सरकार का निर्माण किया गया उसके 5 दिन पश्चात् पण्डित नेहरू ने भारत की विदेश नीति के सम्बन्ध मे अपनी घोषणा की। "हम दूसरे देशो से निकट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं और विश्व शांति व स्वतन्त्रता को अग्रसर करने मे हम उनके सहयोगी हैं। हम जहाँ तक सम्भव हो सके शक्ति राजनीति ब्लाक राजनीति से पृथक रहना चाहते हैं। हम उपनिवेशो की स्वतंत्रता में अत्यधिक इच्छुक हैं और उन्हें साम्राज्यवादी चगुल से मुक्त कराने मे सहायक होना चाहते हैं।"[2]

8 मार्च 1948 को लोक सभा मे विदेश नीति पर प्रकाश डालते हुए पडित नेहरू ने कहा था कि बडे राष्ट्रो की पारस्परिक विरोधी गुटबन्दियों से पृथक् रहना तथा प्रत्येक राष्ट्र से मित्रता, बिना सधि सामरिक, अथवा असामरिक जो कि हमे किसी लड़ाई की ओर ले जाये—से सम्बन्ध न रखना ही हमारी विदेश नीति का मूल आधार है। नेहरू ने लिखा हमारी विदेश नीति दोनो बडी बडी महाशक्तियो के साथ मित्रता रखते हुए भी उनसे पृथक् रहने के पक्ष में है। यद्यपि यह एक कठिन मार्ग है क्योंकि समय समय पर इधर-उधर झुकना सदेहात्मक समझा जा सकता है किन्तु स्वतन्त्र नीति मे इससे छुटकारा भी नही पाया जा सकता[3] इसलिए भारत ने निर्गुट नीति (Policy of non alignment) का निर्माण किया।

**भारत के विदेश नीति के आधार**—विदेश नीति के वास्तविक तत्वो का विवेचन करने से पूर्व यह अनिवार्य है कि उसके आधारभूत तत्त्वों का उचित मूल्यांकन कर लिया जाय। साधारणतया विदेश नीति अनेक तत्वों के आधार पर विकसित होती है। ये तत्त्व प्रधान रूप से भौगोलिक, ऐतिहासिक एव आर्थिक होते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति इन तत्त्वों से प्रभावित होती है। भारत के भूतपूर्व प्रधान मंत्री को तटस्थता अथवा पडोसी राज्यों के प्रति जैसे ईरान, इराक, अफगानिस्तान, नेपाल,

2 Broadcast from New Delhi Sept 7, 1946, (Publication Division,) P 13

3, K. P, S, Menon Many worlds P, P, 229–230,

प० नेहरू ने भी अपने 15 मार्च सन् 1950 के भाषण में संसद के सामने यह विचार रखा था कि हम एशिया के ऐसे महत्वपूर्ण भाग में स्थित हैं जहाँ हिंद महासागर का मध्य है, पश्चिमी एशिया के प्राचीन और अर्वाचीन सम्बन्ध हमारे साथ हैं। इसलिए भारत की स्थिति प्रत्येक रूप में महत्वपूर्ण है। अपने प्राचीन सम्बन्धों के कारण ग्रेट ब्रिटेन आदि से गहरे सम्बन्ध हैं। भौगोलिक तत्वों के आधार पर भारत ब्रह्मा, लंका, मलाया, हिंद चीन, स्याम, नीदरलैण्ड आदि के प्रति मैत्री भाव अपनाना अनिवार्य हो जाता है। इसी के साथ इन देशों से प्राप्त तेल की प्राप्ति, वहाँ रहने वाले भारतीयों की हित की रक्षा तथा हिंद महासागर में व्यापार आदि की सुरक्षा के कारण भारत की विदेश नीति प्रभावित होती है।

विदेश नीति के निर्धारण में ऐतिहासिक परम्पराएँ भी महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उदाहरणार्थ भारत का इङ्गलैण्ड से सम्बन्ध, सामान्य संसदीय प्रणाली, अंग्रेजी भाषा का उपयोग आदि चीजें दोनों देशों को मित्र बना देती हैं। राष्ट्र मण्डल के द्वारा ये सम्बन्ध और भी गम्भीर हो जाते हैं। इसी प्रकार भारत व चीन के सम्बन्ध ऐतिहासिक हैं। हजारों वर्ष पूर्व चीन और भारत में मैत्री स्थापित हुई थी वही आज एशिया के इतिहास का मुख्य आधार बन गया है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन समय से ही भारतवर्ष शांति प्रिय रहा है और उपनिवेशवाद विरोधी नीति भी भारत ने आरम्भ से ही अपनाई है। ये सभी ऐतिहासिक तत्व भारत की विदेश नीति का सुदृढ़ आधार है।

दार्शनिक आधार भी विदेश नीति के लिए महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से भारत के पास "महाभारत" एवं 'अर्थशास्त्र के वृहद ग्रन्थ' विद्यमान हैं। सैकड़ों वर्षों के पश्चात् भी आज हमारी वर्तमान समस्याओं का हल इस साहित्य की सहायता से ही सुन्दर रूप में मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार आज भी ऐसे लोक राज्य का सिद्धान्त विकसित हुआ है जो शक्ति पर आधारित है। विदेश नीति में भी हमारा प्राचीन दर्शन पथ प्रदर्शन का कार्य करता है परन्तु वह दर्शन पूर्ण रूप से नहीं अपनाया जा सकता। उदाहरणार्थ—बौद्ध धर्म के सिद्धान्त विदेश नीति में नहीं अपनाये जा सकते, अहिंसा का सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। इसलिए भारत की विदेश नीतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह पूज्य बापू के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित है। परन्तु वास्तव में जो सिद्धान्त आधारभूत माने गये हैं वे कुछ और ही हैं। साम्राज्यवाद का विरोध विदेशी गठबन्धन से दूर रहना तथा शांति का समर्थन करना आदि सिद्धान्त आधार माने जा सकते हैं। साम्यवाद एवं साम्प्रदायिकता का विरोध करने के लिए अथवा काश्मीर आदि समस्याओं का हल करने के लिए भारत ने अहिंसा को नहीं अपनाया। इस प्रकार आन्तरिक एवं बाह्य क्षेत्रों में भारतवर्ष अपनी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करता है।

वतमान मार्क्सवादी दशन के अनुसार पूजीवादी उपनिवेशवाद आदि का विरोध किया जाता है तथा स्वतन्त्रता वाद, विधानवाद, आदि के सहयोग ने नीति का निर्धारण किया जाता है। भारत के आदश के अनुसार किसी देश विशेष से कोई राग द्वेष नही माना जाता, इसलिए सोवियत पद्धति की प्रशसा के साथ साथ उनके अनुचित साधनो की निन्दा भी की जाती है। जिसके फलस्वरूप भारत का व्यवहार स्वत तटस्थ हो जाता है। इस प्रकार दार्शनिक तत्वो का प्रभाव भारत की विदेश नीति पर स्पष्ट रूप से है।

भारत की विदेश नीति के निर्माण मे आर्थिक तत्वो का विशेष स्थान है। हमारे भारत की कृषि तथा उद्योग का विकसित होना, विदेशी सहायता की आवश्यकता बहुत महत्वपूण है। इसलिए भारत ने ऐसी नीति अपनाई है जिससे इङ्गलैण्ड, अमेरिका रूस, जमनी, जापान आदि सब देशो से सहायता मिल सके। इसलिए तटस्थता और शाति की नीति अनिवाय है। इसके अतिरिक्त हमारी विभिन्न योजनाओ के अन्तगत पूण प्रयत्न के साथ हमारा निरन्तर आर्थिक विकास होता रहे, राष्ट्रीय हित सुरक्षित रहे, ऐसी नीति अपनाई गई है। इसलिए कभी हमारी नीति अमेरिका साम्यवादी तो कभी सोवियत रूस को पूजीवादी प्रतीत होती है। भारत का अधिकाश व्यापार राष्ट्र मण्डल तथा अमेरिका से है परन्तु साम्राज्यवादी देशो की आर्थिक सहायता भी पूणरूप से प्राप्त हो रही है। इसलिए भारत की विदेश नीति आर्थिक साधनों द्वारा भी प्रभावित निर्धारित हुई है।

भारत की विदेश नीति मे कुछ व्यक्तिगत तत्व भी प्रधान रहे है। श्री कटाके के कथनानुसार यह सही है कि "पश्चिम की शक्तियो के प्रति हमारा व्यवहार भले नेहरू की व्यक्तिगत धारणाओ के अनुसार निर्धारित हुआ है तथा उन धारणाओ को क्रियान्वित करना ही हमारी विदेश नीति बन गई।"[5] सन् 1947 म जब इण्डोनेशिया का प्रश्न अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी के सम्मुख आया तो सरदार पटेल ने कहा—"इण्डोनेशिया कहाँ है और इस पर हमारा क्या रुख है यह नेहरू का विषय है और वे ही केवल मात्र इस पर अपना मत दे सकते है।' यह उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि नेहरू के व्यक्तित्व का भारत की विदेश नीति के निर्माण मे अत्यधिक प्रभाव था। किन्तु इस आधार पर यह दोष लगाना भी अनुचित होगा कि भारत की विदेश नीति नेहरू नीति है। पण्डित नेहरू ने यह स्पष्ट किया था कि यह नीति मैंने उत्पन्न नही की भारत की परिस्थितियो के फलस्वरूप इसका निर्माण हुआ है मेरे स्थान पर यदि अन्य कोई व्यक्ति होता या दूसरा दल होता तो भी विदेश नीति इससे अधिक भिन्न नही हो सकती थी।"[6]

5 D F Karaka "Nehru the losus Eater from Kashmır P 20

6 Lok Sabha Debates Dec 9,1958 Vol XXIII P 3961

इसी भांति गांधी के व्यक्तित्व तथा विचारों पर विदेश नीति का प्रभाव पडा है। महात्मा गाधी का दृष्टिकोण उच्च साध्य व उच्च साधन भारत की विदेश नीति के आधार रहे हैं। महात्माजी का कथन था कि "राजनीति के अन्तर्गत भी ऐसे कार्यों को सदैव पृथक रखा जाय जो नैतिक कानून के विपरीत हो।" गाधीजी विश्व शांति पर बहुत अधिक जोर डालते थे और राष्ट्रीय विषयो के प्रति उनका अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण था इस प्रकार गाधी के प्रभाव के कारण हमारी विदेश नीति पर नैतिकता का तत्व बहुत जुडा हुआ है।

उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त कूटनीतिक सेवा जिसका निर्माण हमारे देश मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात हुआ है तथा राष्ट्रीय हित भारत के विदेश नीति के मूल आधार हैं। साधारणतया यह कहा जाता है कि भारत विदेश नीति प्रतियोगिक हितो एवं प्रभावो का दर्पण है उचित ही जान पडता है। एशिया व अफ्रीका का विश्व में प्राधान्य बढता जा रहा है और भारत को रूस व अमेरिका के प्रति दृष्टिकोण इन दो प्रायद्वीपो के सहज प्रवृतियो से सम्बन्धित हैं।

असलग्नता की नीति—

असलग्नता नीति भारत ने साध्य व साधन दानो रूप मे इसे का प्रयोग किया है। देश विदेशो मे भारत की विदेश नीति के उद्देश्य के रूप मे इस नीति का प्रयोग किया गया है। असलग्नता की नीति का अभिप्राय है कि भारत किसी भी राजनैतिक शक्ति गुट मे सम्मिलित नही होगा। इसके अन्तर्गत भारत किसी देश विदेश से कोई प्रतिज्ञाएं नही करता जिसके कारण वह एक देश का मित्र व दूसरे देश का शत्रु बन जाय।

नेहरू के शब्दो मे—"यदि हम किसी भी गुट मे सम्मिलित हों तो कुछ लाभ हो सकते हैं किन्तु मुझे इसमे कोई सन्देह नही कि गुट में मिलने से भारत ही नहीं बल्कि विश्व शांति की दृष्टि से अहित कर सिद्ध होगी।"

स्वर्गीय पण्डित नेहरू जब रूस मे एक भोज पर आमन्त्रित किये गये तो तात्कालिक प्रधान मन्त्री जी श्री बुलगानीन ने कहा था कि "प्रधान मन्त्री जी अगर हम मित्र हैं तो जीवनोपरान्त मित्र हैं और अगर शत्रु हैं तो कट्टर शत्रु। भारत के प्रधान मन्त्री नेहरू ने जवाब में कहा मि० प्राइमिनिस्टर हमारा कोई दुश्मन नहीं है।" निर्गुट नीति का दूसरा अभिप्राय स्वतन्त्र मन्तव्य का अधिकार अर्थात् भारत अन्तर्राष्ट्रीय मसलो पर स्वतन्त्र मत प्रकट करने के पक्ष मे है। नेहरू ने कहा कि यदि हम गुट मे सम्मिलित हो जाए तो हम स्वतन्त्र मत प्रकट नही कर सकते।"

7 Mahatma Gandhi—'Young India' P 364

8 Speech in the Constituent Assembly, March 8, 1949 P 2134

इसी लिए भारत निशस्त्रीकरण जातीय भेद नीति, उपनिवेशवाद, कोरिया हिन्द चीन आदि मसलो पर स्वतत्र मत व्यक्त करता है। इसका तीसरा अभिप्राय शातिवाद का समथन करना है। इसी लिए भारत सयुक्तराष्ट्र सघ के अतिरिक्त सभी विश्व शाति से सम्बन्धित सस्थाओ का सक्रिय सदस्य बना रहा है। इसका चौथा अभिप्राय विश्व मसलों पर भारत का निष्पक्ष व विशुद्ध मत जो वस्तु स्थिति पर निर्भर कर देना है। इसका यह तात्पय नही कि भारत विश्व मे तीसरा गुट या शक्ति बनाना चाहता है और न मुनरो अथवा आइजनहावर के सिद्धान्त की भाति किसी प्रकार नेहरू सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। यह अवश्य है कि इस नीति द्वारा विश्व में ऐसा क्षेत्र प्रस्तुत किया जा सकता है जहाँ युद्ध की निन्दा व शाति की प्रशसा की जाती हो तथा सहकारिता मे अटूट विश्वास किया जाता हो इस प्रकार विश्व के तनाव को कम कर शाति का क्षेत्र व्यापक बनाना भारत की नीति का एक मात्र उद्देश्य कहा जा सकता है।

कुछ भ्रमात्मक प्रश्न—पण्डित नेहरू ने समय समय पर अपने भाषणो द्वारा हमारी विदेश नीति के सम्बन्ध मे तीन प्रकार के भ्रामात्मक मतो का खण्डन किया और उसका शुद्ध रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया। 8 माच 1949 का उन्होने बताया कि हमारी असलग्नता की नीति का उद्देश्य विश्व राष्ट्रो से सहयोग मे कमी करना नहीं है।

दूसरा असलग्नता की नीति का उद्देश्य तटस्थता नही है। उन्होने बताया कि शाति काल मे तटस्थता की नीति का कोई महत्व नही होता यद्यपि शीत युद्ध से भारत पृथक रहना चाहता है किन्तु तटस्थता के पारम्परिक अथ से यह दृष्टिकोण भिन्न है। 22 नवम्बर 1960 को लोकसभा म दिय गये भाषण मे तटस्थता व निगुट नीति विच्छेद उन्होने स्पष्ट किया।

तीसरा, पण्डित नेहरू ने बताया कि असलग्नता की नीति का यह भी अभिप्राय नही है कि जब विश्व युद्ध हो तो भारत तटस्थ रहेगा। अथात् विश्व के प्रमुख मसलों पर भारत की विदेश नीति हमे निष्क्रियता की ओर नही ले जाती।

पचशील का सिद्धान्त—1954 मे भारत की विदेश नीति का फिर इसका विस्तार व स्पष्टीकरण किया गया। इसके 5 प्रमुख दृष्टिकोण स्पष्ट किये गय और पचशील के नाम से ये प्रचलित हुए। पचशील का सिद्धान्त साधारणतया अशोक लेख एव बुद्ध के सिद्धान्तो का स्मरण कराते हैं। वसे भी पचपरमेश्वर आदि के रूप मे तथा मुसलमाना के यहाँ पाँच रिवाजों का महत्व प्राचीन काल से चला आता है उसी के आधार पर 28 अप्रेल, 1954 को तिब्बत के सम्बन्ध मे भारत चोन समझौते के साथ निम्न पाँच सिद्धान्तो को स्वीकार कर पचशील की नीति अपनाई गई—

(1) पारस्पारिक भौगोलिक एकता एव सावभौमिकता के प्रति सम्मान रखना।

(2) आक्रमण का विरोध करना।

(3) पारस्परिक गृह कार्यो मे हस्तक्षेप न करना।

(4) समानता तथा परस्पर लाभ पहुँचाना।

(5) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना।

उपरोक्त पाँच सिद्धान्त 23 सितम्बर, सन् 1954 को हिन्देशिया के प्रधान मन्त्री के सम्मान में भाषण देते हुए प० नेहरू ने पचशील के नाम से पुकारे। तत्पश्चात् 17 अक्टूबर 1954 को वियतनाम के राष्ट्रपति डॉ० होचिमीन्ह ने भी स्वीकार किये। तत्पश्चात् यूगोस्लोवाकिया, ब्रह्मा, चीन, लाओस, नेपाल तथा कम्बोडिया ने भी नियमित रूप से अपनी स्वीकृतिया दी और 10 अप्रैल-1955 को नई दिल्ली मे चौदह देशो से 200 प्रतिनिधियो ने जो एशिया सम्मेलन मे भाग ले रहे थे, पचशील का समथन करने का प्रस्ताव पारित किया। तत्पश्चात् अफगानिस्तान, सीरिया, सऊदी, अरब आदि ने भी इस सिद्धान्तो की प्रशसा की। अप्रैल 1955 मे बाडुग सम्मेलन मे एशिया और अफ्रीका के 29 देशों ने पुन इन सिद्धान्तो के समथन एव पालन करने के लिए विचार किया। इसी समय पचशील मे मानव के मौलिक अधिकारो एव सम्मत अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को शान्तिमय ढग से निपटाने के दो विचार और जोडे गये। आस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया पोलैण्ड, आदि देशो मे पचशील की प्रशसा की। इस प्रकार पचशील विभिन्न देशो की, समानता तथा परस्पर एक दूसरे को लाभ पहुँचाने का समथन करता है। शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व इस नीति का प्राण है।

1962 के चीनी आक्रमण और 1965 के पाकिस्तान द्वारा आक्रमण किये जाने पर भारत की विदेश नीति के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया हुई। क्या पचशील भारत की विदेश नीति का आधार बना रहेगा और क्या विमुख परिस्थितियो मे भारत असलग्नता की नीति का परित्याग नही करेगा? इस सम्बन्ध मे प० नेहरू ने चीनी आक्रमण के पश्चात् फिर एक बार यह स्पष्ट किया कि भारत विपरीत परिस्थितियों के बावजूद भी असलग्नता नीति का परित्याग नही करेगा। किन्तु यह सब विदित है कि दो आक्रमणो ने सुरक्षा के प्रश्न को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है और इसके दौरान में यह प्रश्न उठने लगा है कि भारत शक्ति गुट मे सम्मिलित हो अणु बम बनाए और सैन्य शक्ति पर बल दे। किन्तु जसा कि 1962 और उसके पश्चात् की घटनाओ से स्पष्ट है कि भारत ने असलग्न नीति का परित्याग नहीं किया यद्यपि देश की विदेश नीति को राष्ट्र हित तथा सुरक्षा के दृष्टिकोण व अन्तर्हित सक्रिय बनाने के लिए अग्रसर किया जा रहा है। इस प्रकार सुरक्षा और राष्ट्र हित के प्रश्न

1962 के बाद असलग्नता की नीति के प्रमुख आधार बने। प० नेहरू की मृत्यु के पश्चात् इन दो प्रश्नों को हल प्रदान करने के हेतु यथार्थता की दृष्टि से पड़ोसी राष्ट्र सम्बन्धो पर ( Good neighbour Policy ) जोर दिया और इसके फलस्वरूप भारत सरकार ने पूर्ण सक्रियता के साथ पड़ोसी राष्ट्रो से सम्बन्ध बढाने के हेतु सक्रिय कदम उठाये जिनका विवरण हम विस्तार से आगे करेंगे।

## भारत और महाशक्तियाँ

भारत व रूस—यद्यपि भारत और रूस मे पृथक् पृथक् सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक प्रणालियाँ हैं किन्तु फिर भी दोनो मे राष्ट्र हित व अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से दोना में परस्पर सहयोग रहा है। इसके कई कारण हैं। भारत के नेता सोवियत रूस की आर्थिक प्रगति से बहुत प्रभावित रह हैं। रूस जैसे कमजोर राष्ट्र ने एक सीमित समय मे प्रगति की है और नाजीवाद व पूजीवाद के विपरीत महाशक्ति बन पाया है। भारत के जन मानस को बहुत प्रभावित किया है। भारत व एशिया दक्षिणी एशिया के सभी राष्ट्र ऐसा मानते हैं कि रूस से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। रूस द्वारा सचालित नियोजन व्यवस्था ने भारत को विशेष तौर पर प्रभावित किया है। भारत व रूस के बीच मे कुछ और समानताएँ हैं। दोनों देशो म विभिन्न जाति धम, भाषा, सस्कृति की समस्याएँ हैं।

दोना देश लम्बे समय तक साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के शिकार रहे हैं। 1947 मे भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद दोनो देश कई वर्षों के बाद एक दूसरे के निकट आए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के वर्षों के बाद रूस व भारत के बीच मत्री सम्बन्ध बढते चले गये। 1647 मे एशियन रिलेशन कॉन्फरेंस मे सोवियत प्रतिनिधि ने भाग लिया, 1949 मे रूस द्वारा भारत को गेहूँ का निर्यात और भारत द्वारा जूट व चाय का निर्यात सम्बन्धी समझौता हुआ। 1954 के समझौते के बाद भारत से रूस का व्यापार पन्द्रह गुना बढ गया। 1955 मे प० जवाहर लाल नेहरू की रूस यात्रा के पश्चात् भारत रूस के सदियों पुराने सम्बन्ध अधिकाधिक दृढ हो गये। 12 फरवरी 1960 मे दोनों देशो के बीच सास्कृतिक, वज्ञानिक, तथा शिल्पिक सहयोग पर हस्ताक्षर हुए। इस समझौते के पश्चात् रूस व भारत के बीच विभिन्न प्रकार की वज्ञानिक शैक्षणिक, शिल्पिक, कृषि सम्बन्धी व स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध मे आदान प्रदान बढाना रहा। राजनतिक दृष्टि से रूस ने भारत के कश्मीर प्रश्न का सयुक्त राष्ट्र के भीतर व बाहर समथन किया। उसने भारत चीन सघष के पश्चात् शस्त्र सहायता भी प्रदान की। रूसी नेताओ ने भारत की असलग्न नीति का समयन किया और भारत भी रूस को अल्जीरिया मे होने वाले असलग्न राष्ट्रों के सम्मेलन मे चीन का विरोध होते हुए भी आमत्रण करवाने म सफल रहा। दोनों ही देश उपनिवेशवाद, वियतनाम युद्ध, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व विकासशील देशो के बीच आर्थिक सहयोग

आदि मामलो मे समान दृष्टिकोण रखते हैं। सन् 1967 व 68 और 69 का सातवा भारत-रूस सास्कृतिक व वैज्ञानिक आदान प्रदान कायक्रम अन्तिम रूप से शीघ्र ही मास्को मे तैयार किया जायगा। यह दोनों देशो के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढाने में महत्व पूर्ण कडी होगी। 9 अक्टूबर 1967 को भारत स्थित रूसी राजदूत एम एन पेगोव ने कहा कि भारत तथा रूस की बढती हुई मैत्री श्री शास्त्री का सबसे बडा स्मारक है। रूस के प्रधान मन्त्री कोसीजीन ने भारत की कई बार यात्रा की है और दोनों के प्रधान मन्त्रियों के बीच मैत्री सम्बन्धो को दोहराया गया है। ताशकन्द समझौता भी भारत का रूस के प्रति सम्मान का प्रतीक है।

कुछ विषयो पर भारत व रूस के बीच मतमतान्तर रहे। हगरी के प्रश्न पर भारत ने रूस का विरोध किया। अभी हाल ही की दो घटनाओ ने भारत रूस मैत्री सम्बन्ध को कम कर दिया है। ये दो घटनाएँ रूस द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण तथा रूस द्वारा पाकिस्तान को शस्त्र सहायता ने भारत को रूसी दृष्टिकोण की आलोचना करने के लिए बाध्य कर दिया है।

अणुशक्ति निर्माण के सम्बन्ध मे भी 1961 म भारत ने सोवियत रूस के अणु प्रयोग का विरोध किया था। किन्तु 1963 में होने वाली अणु प्रयोग प्रति बन्धक सधि पर रूस और भारत ने हस्ताक्षर किये। इस प्रकार सोवियत रूस के साथ भारत के सम्बन्धो से उतार चढाव आता रहा है।

भारत व अमेरिका—भारत और अमेरिका के सम्बन्धों पर भाषण करते हुए 1949 में नेहरू ने अमेरिकी कांग्रेस को कहा "हम दोनो ने ही क्रांति द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की है, हम दोनों ही सधात्मक गणराज्य हैं, हम दोनो ही समानता, स्वतन्त्रता आदि मानवीय अधिकारो के समथक हैं, हम दोना ही जनतन्त्र और प्रजाशक्ति मे भरोसा करते हैं।"[1] अमेरिका और भारत का राजनतिक आर्थिक, सामाजिक, शक्षणिक सभी क्षेत्रो म सम्बन्ध बढ़ता रहा है। राजनतिक दृष्टि से राजनैतिक मसले जसे द० अफ्रीका मे भारतीय, इन्डोनेशिया की स्वतन्त्रता, उत्तरी कोरिया द्वारा द० कोरिया पर आक्रमण, ब्रिटेन, फ्रास द्वारा मिश्र पर आक्रमण आदि विषयो पर दोनों देशो के समान दृष्टिकोण रहे हैं अमरिका ने आर्थिक दृष्टि से भारत को सबसे अधिक सहायता प्रदान की है। चीनी आक्रमण के दौरान में अमेरिका ने भारत को शस्त्र सहायता की। अमरिका के राष्ट्रपति आइजन हावर और राष्ट्रपति केनेडी की पत्नी ने भारत की यात्रा की। इसी प्रकार भारत के राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री व उपप्रधान मन्त्री आदि ने भी अमेरिका की यात्रा की है। निःसन्देह रूप से दोनों ही देश जनतन्त्र और मैत्री सहयोग मे भरोसा रखते हैं।

---

[1] Nehru India's foreign Policy P 590

कुछ कारणो से भारत और अमेरिका के बीच मत भेद भी बना रहा है। अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, द० पश्चिमी अफ्रीका आदि मसलो पर कायक्रम विधि व समय सीमा को लेकर दोनो देशो मे मत विरोध रहे हैं। (1) भारत ने अमेरिका द्वारा निर्मित प्रादेशिक सगठनो का समथन नही किया है। हम शान्ति से सुरक्षा लाना चाहते हैं न कि सुरक्षा से शान्ति। (2) अमेरिका ने कश्मीर मसले पर भारतीय दृष्टिकोण का समथन नही किया और न हमारे द्वारा प्रस्तावित लाल चीन के सयुक्त राष्ट्र के विषय पर। (3) अमेरिका द्वारा दी गई पाकिस्तान को सैनिक सहायता और उसका 1965 में प्रयोग ने भारतीयो के मन मे अमेरिका के प्रति शका उत्पन्न कर दी।

दूसरी ओर भारत अमेरिका का वियतनाम तथा इजराईल के प्रति दृष्टिकोण का समथन नही करता। किन्तु मत मतान्तर के बावजूद भी भारत के अमेरिका के साथ सम्बन्ध–सुगठित हैं। अन्ततोगत्वा दोनो देशो स्वतन्त्रता, गणतन्त्र, आर्थिक विकास, पिछडे राष्ट्रो का विकास, चीनी अधिनायकवाद पर रोक आदि विषयों पर समान मत का प्रतिपादन करते हैं।

## भारत व पश्चिमी जमनी

भारत और पश्चिमी जमनी के बीच सास्कृतिक सम्बन्धो का इतिहास बहुत पुराना है। भारत के कृषि विकास मे प० जमनी की विशेष रुचि प्रारम्भ से ही रही है। प० जमनी भारत को आर्थिक सहायता भी देता रहा है। निर्यात के क्षेत्र मे प० जमनी ने भारत को विशेष सुविधाएँ प्रदान की हैं। पश्चिमी जमनी के प्रधान मत्री डा० किसी गर 20 नवम्बर 1967 को भारत की यात्रा पर पधारे और उन्होने जवाहरलाल नेहरू के नतृत्व की अत्यधिक सराहना की। उनकी यात्रा से दोनो देशों म अधिकाधिक सहयोग की मात्रा बढी। वज्ञानिक प्रगति की दृष्टिकोण से जमनी बडी उदारता से हमे सहायता देता रहा है। भारत के उप प्रधान मत्री मोरारजी देसाई ने प० जमनी की यात्रा के दौरान मे एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। ये भारत की विदेशा मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के सम्बन्ध मे था। यद्यपि कश्मीर के मसले पर प०जमनी का रुख तटस्थ है। अणुबम विरोधक भारत की नीति की जमनी पूण समथन नही करता किन्तु आर्थिक, सामाजिक, राजनतिक सभी मसलों पर भारत व जमनी अधिकाशतया सहयोगी रहे हैं।

## भारत व पूर्वी यूरोप

भारत और यूगोस्लाविया सबसे अधिक मत्री राष्ट्र रहे हैं। गत वर्षों मे यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो की भारत यात्राएँ तथा श्रीमती गाधी की बेलग्रेड म यात्रा तथा दोनो ही नेताओ द्वारा एक दूसरे की नीति की सराहना सुदृढ नीति

का प्रतीक है । दोनों ही देश असलग्नता की नीति मे भरोसा करते हैं । आगे दोनों ही इजराइली आक्रमण का विरोध करते हैं । अन्य पूर्वी यूरोप के देशो मे भारत का सम्बन्ध बल्गेरिया से काफी निकट है 13 अक्टूबर 1967 को श्रीमति गांधी बल्गेरिया पहुँची और औद्योगिक सहयोग पर कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लिए । 16 अक्टुम्बर को भारत की प्रधान मंत्री रूमानिया पहुँची और वहा भारत और रूमानिया के बीच आपसी सम्बन्ध बढाने के बारे मे बातचीत हुई । इसी प्रकार भारत ने चेकोस्लोवाकिया के प्रति भी सहयोग का दृष्टिकोण ही अपनाया है ।

## भारत व पश्चिमी एशिया

भारत की प० एशिया सम्बन्धी विदेश नीति भारतीय प्रेस विज्ञप्तियो मे एक मत विरोध का विषय बनी रही है । अरब-इजराइल संघर्ष के सम्बन्ध मे भारत सरकार और भारतीय जनता का मत पृथक पृथक रहा है । भारत सरकार इजराइल के विपरीत अरब राष्ट्रोका समर्थन कर रही है । भारतने अरब राष्ट्रों पर आक्रमणकारी इजराइल की घोर निन्दा की है और निरन्तर इस बात पर जोर देती रही है कि इजराइल की फौजें विजित प्रदेश से वापस हो जाए । भारत ने इजराइल को अभी तक कूटनीतिक मान्यता नहीं प्रदान की है । भारत ने अरब राष्ट्रो का समर्थन कई दृष्टियों से आवश्यक समझा है । इसका मुस्लिम राष्ट्र होने के नाते पाकिस्तान की दृष्टि से हमे उसका समर्थन करना आवश्यक है । तीसरा भारत और अरब के बीच पुराने ऐतिहासिक, राजनतिक सम्बन्ध रहें हैं । 1956 में स्वेज नहर घटना पर ही हमने मिश्र का ही समर्थन किया था । यद्यपि भारत के विरोधी राजनैतिक दलो ने भारत के इजराइल के प्रति दृष्टिकोण का समर्थन नही किया हैं । किन्तु भारत सरकार इस विषय पर अपने को स्पष्ट और बाधित मानती है ।

## भारत व पडौसी राष्ट्र

भारत व पाकिस्तान –पाकिस्तान भारत का सबसे नजदीक पडौसी राष्ट्र है । भारत व पाकिस्तान की जनता मे ऐतिहासिक, सास्कृतिक व आर्थिक सबंध है । दोनों देशो का पृथक्करण दोनो देशों के नेताओ की स्वीकृति से हुआ है । फिर भी दोनों के बीच राजनतिक कटुता के दो प्रमुख कारण रहे हैं-एक तो पाकिस्तान का निर्माण जल्दी मे हुआ जिसके परिणामस्वरूप कुछ समस्याएँ जसे सीमावर्ती इलाका का प्रश्न, पानी के बँटवारे की समस्या आदि पर विचार नही हो सका । दूसरा पाकिस्तान का निर्माण साम्प्रदायिक आधार पर किया गया कि हिन्दू व मुसलमान पृथक पृथक राष्ट्र हैं । जबकि यह सब विदित है कि पाकिस्तान व इण्डोनेशिया को छोड़कर सबसे अधिक मुसलमान भारत मे ही रहता है । इस प्रकार 'द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त' के आधार पर पाकिस्तान का निर्माण बड़ा घातक सिद्ध हो रहा है । 'कश्मीर समस्या ' उलझन का प्रमुख कारण यह द्वि राष्ट्र सिद्धान्त ही है ।

स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् भारत व पाकिस्तान में निम्न विषयों पर मतभेद उत्पन्न हुआ—

(1) जल विवाद
(2) सीमा विवाद
(3) कश्मीर विवाद

किन्तु इन तीनों के पीछे जो कारण छुपे हुए हैं वे साम्प्रदायिक अधिक नहीं है वरन् महाशक्तियो की राजनीति, पाकिस्तान मे सुरक्षा का प्रश्न तथा कश्मीर विवाद को जनमानस की प्रतिष्ठा का विषय बनाना है। कश्मीर विवाद को खास तौर पर लेकर पाकिस्तान को विदेशी शक्तियो से सम्पक स्थापित करना पडा और उन्होने समस्या को अति गम्भीर बना दिया। यदि कश्मीर समस्या जन मानस प्रतिष्ठा का विषय न बनती तो भी उसे सुगमता से सुलझाया जा सकता था किन्तु इससे भी कहीं अधिक पाकिस्तान ने किसी भी राजनैतिक प्रश्न को हल करने के पूव कश्मीर को हल की प्रथम शत के रूप मे सम्मुख रखा। पाकिस्तान ने 'सुरक्षा' के प्रश्न पर सदैव जोर डालता रहा कि भारत से उसे खतरा है और दोनो के बीच निरतर 'शीत युद्ध' बना हुआ है और इसलिये उसे विदेशी सहायता की अत्यधिक आवश्यकता है। इस आवश्यक्ता के प्रश्न को लेकर व अमेरिका, लाल, चीन तथा रूस से शस्त्रों के संबध में साँठ-गाँठ करता रहा है और बडी शक्तियो ने उचित स्थिति का लाभ उठा कर दोनो के बीच सघष की खाडी को और भी मजबूत कर दिया—यहाँ तक कि 1965 मे युद्ध भी लडना पडा। इस विषय को विस्तार से समझने की दृष्टि से हम दोनों राष्ट्रो के बीच उपर्युक्त तीन मसलो का विस्तार से स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

1 जल विवाद (Water disput)—भारत व पाकिस्तान के बीच एक प्रमुख विवाद इन्डस् नदी के जल बँटवारे का रहा है। यह विवाद विश्व बैंक के अध्यक्ष श्री 'यूजीनी ब्लैक' की सहायता से सुलझा दिया गया है। इस सबध मे दोनो राष्ट्रो के बीच 19 सितम्बर, 1960 को सधि हुई जिसके अनुसार जल के बँटवारे पद्धति निश्चित हुई तथा एक स्थायी इन्डस कमीशन की नियुक्ति की गई।

2 सीमा विवाद—जसा कि विदित है कि पाकिस्तान के दो हिस्से हैं-पूर्वी पाकिस्तान व पश्चिमी पाकिस्तान और उसकी सीमा भारत से कई जगह पर लगी हुई है। पाकिस्तान जसा कि गत वर्षों के इतिहास से स्पष्ट है—'कश्मीर समस्या को लेकर' विदेशी सहायता प्राप्त कर किसी न किसी कारण से इन सीमाओं का उल्लघन करता रहा है। इन सीमा विवादो मे 'कच्छ रन' का विवाद प्रमुख है। कच्छ की खाडी का क्षेत्रफल 8400 वगमील है। 1965 की माच में पाकिस्तान ने इस क्षेत्र पर अपना दावा किया और उसका समर्थन करते हुए कहा कि 1962 मे सिंध के

राजा ने कच्छ पर आक्रमण किया और 1964 की संधि के अनुसार कच्छ-सिंध सीमा धमशाला पर स्थित की और वह कच्छ की खाडी के मध्य मे है। कच्छ का रन या तो थल से अवतरित समुद्र है अथवा यह सीमा की एक झील है। अन्तर्राष्ट्रीय सीमा इसके बीच मे ही होनी चाहिये।

भारत ने इस सबध मे जो उत्तर प्रस्तुत किये उनमे प्रथम था कि इसका कोई प्रमाण नही मिलेगा कि सिंध के राजा ने कही आक्रमण भी किया था। दूसरा, अग्रेजों ने कच्छ के रन को हमेशा कच्छ के अधिकार क्षेत्र मे माना और 1960 में यह निर्णय लिया था कि, कच्छ का रन एक दलदली प्रदेश है इसलिये अतर्राष्ट्रीय कानून व्यवस्था का यहाँ कोई प्रश्न नही उठता। तीसरा, भारत विभाजन के समय, कच्छ के रन का उत्तरी भाग कच्छ के राजा के अधिकार क्षेत्र मे था। कच्छ सिंध के किनारे ब्रिटिश प्रांत सिंध व देशी शासत कच्छ के बीच सीमा निर्धारित करता था। 1948 के पूव के नक्शे भी इसके प्रमाण है।

पाकिस्तान ने कच्छ सीमा पर 24 माच 1965 में आक्रमण किया और 25 अप्रेल तक दोनो के बीच युद्ध जारी रहा। पाकिस्तान ने 'सरकार बिगकोट और 'छाडबेट' पर बमबारी की। भारत ने इस आक्रमण का मुकाबला करते हुये भी शान्ति समझौते के लिये कई प्रस्ताव प्रस्तुत किये। 30 जून 1965 को दोनों देशों के बीच युद्ध विराम हुआ। यह निश्चय किया गया कि पाकिस्तान अपनी सेना अतराष्ट्रीय सीमा के उत्तर मे ले जाय और डिंग सूरज कजरकोट पर दोनो देश अपने पुलिस दस्ते रख सकेंगे। पाकिस्तान को अपनी सेनायें बियारबेट और बिगकोट से हटानी पड़ी और अतिम निर्णय के लिये यह विचार एक अतर्राष्ट्रीय आयोग को सौंपा गया। 'आयोग का निर्णय' भारत के पक्ष मे न होने पर भी भारत ने इसी लिये स्वीकार किया की हम उत्तम फैसले के लिये वायदा कर चुके थे यद्यपि हमे इसमे कुछ भूमि का नुकसान हुआ और साथ मे सभी विरोधी दलो ने भारत सरकार के दूसरे स्वीकृति को देश पर कुठाराघात के रूप में आलोचना की।

कश्मीर विवाद—भारत व पाकिस्तान के बीच सबसे अधिक उलझा हुआ विवाद कश्मीर समस्या है। कश्मीर समस्या भारत व पाक के बीच मतभेद की प्रमुख खाडी है। पाकिस्तान जैसा कि ऊपर कहा गया, कश्मीर को लेकर बराबर भारत विरोधी प्रचार कर रहा है और विदेशो से शस्त्र सामग्री प्राप्त करता रहता है। पाकिस्तान ने कितने ही बार घुसपैठियो का भेजा और गुप्तचरों द्वारा कश्मीर की आतरिक शाति को भग करता रहा है। पाकिस्तान के कश्मीर पर अपने अधिकार दावा प्रमुख आधार है—(1) इसमे 77% मुसलमान रहते हैं (2) कश्मीर में जनमत सग्रह में पाकिस्तान के पक्ष में होगा (3) कश्मीर पाक विकास का आवश्यक ग है चूकि पाकिस्तान की भी कश्मीर से समवर्ती सीमा 902 मील की है। जबकि

भारत की एक मात्र 307 मील (4) भारत ने कश्मीर मे जनमत सग्रह का वायदा किया है।[1]

उपर्युक्त विवादके प्रतिकूल भारतने जो विवाद प्रस्तुत किये हैं वे इस प्रकारहैं। कश्मीर के महाराजा जन प्रतिनिधिप्रभुताके अधिकारी हैं। उन्होने स्वेच्छा से स्वतत्रता उपरान्त भारत मे मिलने के लिये हस्ताक्षर किये। दूसरा पाकिस्तान ने 1947 मे कश्मीर मे अपनी सेनायें भेजी और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिनिधि (ओवन डिक्सन) ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विघटन बतलाया है। तीसरा, पाकिस्तान ने सयुक्त राष्ट्र सघ चाटर का उल्लघन कर आक्रमक रहा है। चौथा, जनमत सग्रह तब तक समव नही है जब तक कि पाकिस्तान यह स्वीकार न कर ले कि वह आक्रामक रहा है। पाचवा भारत–पाकिस्तान का साम्प्रदायिक आधार कभी स्वीकार नही कर सकता है कि वहाँ मुसलमान बहुमत मे हैं, यदि यह सही है तो पाकिस्तान पूर्वी पाकिस्तान मे जन मत सग्रह क्यो नही स्वीकार करता और पख्तूनीस्तान को स्वतत्र क्यो नही करता। भारत सरकार ने इस समस्या को सुलझाने के लिए कानूनी मानवीय व राजनैतिक सभी आधारो का सहारा लिया है और बराबर समझौते के लिये प्रयत्नशील रहा है।

इसी दौरान मे पाकिस्तान ने चीनी आक्रमण के पश्चात् 21 दिसम्बर, 1962 को यह घोषणा की उसने चीन के साथ सैद्धान्तिक रूप से सिकियाग और आजाद कश्मीर के बीच सीमा निर्धारित के बारे मे समझौता कर लिया है। इस समझौते के अनुसार पाकिस्तान ने कश्मीर का 2000 वर्गमील क्षेत्र चीन को सौंप दिया। भारत ने पाकिस्तान को शातिपूर्ण वार्ता से हल करने के लिए उसके पश्चात् 6 बार वार्तायें की किन्तु पाकिस्तान की हठधर्मी मे कोई परिवर्तन नही आया।

1965 की मार्च मे पाकिस्तान ने कच्छ के रन की समस्या को लेकर आक्रमण किया और 5 अगस्त को कश्मीर मे लगभग पांच हजार तक घुसपठिये भेजकर विद्रोह की तयारी की। 1 सितम्बर 1965 को छम्ब के इलाके मे पाकिस्तान ने पाकिस्तानी फौजो ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार की और बाइस दिन के युद्ध के पश्चात् 23 सितम्बर 1965 मे सयुक्त राष्ट्र की सहायता से युद्ध विराम हुआ।

ताशकन्द समझौता—युद्ध विराम के तत्पश्चात् रूस सरकार के प्रयत्नस्वरूप दोनों देशो के बीच ताशकन्द मे बातचीत प्रारम्भ हुयी जिसमे अयूब खा व लालबहादुर शास्त्री दोनो मौजूद थे। प्रधानमन्त्री कोसीजन ने इस सयुक्त विचार विमर्श में सक्रिय मध्यस्थ का कार्य किया। 10 जनवरी को ताशकद समझौते पर हस्ताक्षर हुये जिसके अनुसार—

1 Ishtiaque Hussain Quereshi, Pakistan—The foreign policy in a world of change p p 473 474,

(1) दोनों देश एक दूसरे से पड़ोसी राष्ट्र की भांति व्यवहार करेंगे और शान्तिपूर्ण तरीके से विवाद पर निर्णय लेंगे,

(2) दोनो ही देश 5 अगस्त की पूर्व स्थिति पर लौट जायेंगे और 25 जनवरी तक यह कार्य पूरा हो जायगा।

(3) दोनो ही एक दूसरे के आंतरिक मसलों मे हस्तक्षेप नही करेंगे।

(4) दोना में कूटनीतिक संबध पुन स्थापित किये जायेंगे।

(5) दोनों ही युद्ध बंदियों को रिहा करेंगे।

(6) दोनों मे व्यापारिक संबध पुन स्थापित होंगे।

(7) दोनो एक दूसरे की संपत्ति को लौटा देंगे।

(8) दोनो एक दूसरे के प्रति गंदा प्रचार बंद करेंगे।

(9) दोनों ही देश मिलकर एक संयुक्त आयोग की नियुक्ति करेंगे।

(10) दोनो देश अपनी समस्या के हल के लिए 'शिखर सम्मेलन बुलाते रहेंगे।

भारत व पाकिस्तान दोनो ही देशों में इस समझौते की भिन्न भिन्न प्रतिक्रियायें हुयी।

भारत मे विरोधी दलो ने इस समझौते का कटु विरोध किया। किन्तु इसके दो प्रमुख उद्देश्य–फौजी अलगाव व दोनो देशो के बीच आपसी संबध का दोनों देशों में स्वागत हुआ। 21 जनवरी को पाकिस्तानी सेना के कमाण्डर जनरल मूसा सैनी वार्ता के लिए भारत में आये। 25 जनवरी से दोनों ही पक्षों ने अपने अपने स्थान पर पहुंचने के लिये कई स्थानों को खाली कर दिये। संपत्ति को लौटाने के लिए भी बराबर प्रयत्न प्रारम्भ हुये।

ताशकंद समझौता की प्रतिक्रिया पाकिस्तान में कश्मीर प्रश्न को लेकर हुयी और भारत में हमारे द्वारा विजयी प्रदेशों के लौटाने पर। कुछ दलों के मत में यह समझौता भारत के लिये अपमान जनक था। किन्तु भारत ने पाकिस्तान से भावी संबध बनाने की दृष्टि से इसका स्वागत किया। ताशकंद समझौते के उपरान्त कुछ कदम आशावाद के प्रतीत रहे किन्तु कश्मीर समस्या का प्रश्न अभी तक वैसे ही बना हुआ है। पाकिस्तान ने अमरिका से शस्त्र को पुन देने के लिये दबाव डालता है। वह पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों से शस्त्र ले रहा है और अभी हाल ही में रूस ने भी उसे शस्त्र देने के लिए स्वीकृति दे दी है। महाशक्ति द्वारा उसे शस्त्र देना भारत के लिए अहितकर सिद्ध होगा। पाकिस्तान भारत की सभी भावनाओं का परित्याग कर, भारत की शक्ति का ध्यान न देकर वह भारत के साथ हर मामले में समझौता का कर रहा है।

## भारत व साम्यवादी चीन

भारत की विदेश नीति की कार्यान्वितता तथा उसकी सीमायें भारत चीन सम्बन्ध से स्पष्ट होती है। 30 दिसम्बर, 1949 से जोलाई 1958 तक भारत व साम्यवादी चीन के बीच सम्बन्ध अच्छे रहे। यद्यपि इस दौरान मे चीन ने अक्टूबर 1950 में लासा मे अपनी सेनायें भी भेजी और 12000 वग मील पर अपना कब्जा भी कर लिया। भारत सरकार ने चीन सम्बन्ध बनाये रखने की दृष्टि से 1954 में चीन की प्रभुता तिब्बत पर स्वीकार कर ली। इसके बावजूद भी भारत चीन के बीच सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक व व्यापारिक सबधों को उन्नत करने के लिये प्रयत्न जारी रहे। भारत-चीन की सयुक्त राष्ट्र मे प्रवेश प्राप्ति के लिये भी प्रयत्नशील रहा।

जोलाई 1958 से साम्यवादी चीन व भारत के बीच मतभेद की रेखा बढने लगी। 9 सितम्बर, 1959 मे चीन के प्रधान मन्त्री चाऊ एन-लाई ने घोषणा की भारत के जो प्रदेश चीन के नक्शे मे चीन मे दिखाए गये हैं वे चीन के ही हैं। उन्होंने तिब्बत के दलाई लामा को भारत द्वारा शरण दी जाने पर कटु विरोध किया। 23 जनवरी, 1959 के पत्र मे चीनी सरकार ने बताया कि भारत व चीन के बीच कभी भी सीमाओं का वर्गीकरण नही हुआ है। 5 जनवरी, 1960 को दोनो देशो के प्रतिनिधियो के बीच दिल्ली मे वार्तालाप प्रारम्भ हुयी किन्तु बीस घटो की बात चीत के बावजूद भी कोई परिणाम न निकल पाया। भारत ने चीन द्वारा प्रस्तुत 245 प्रमाण की अपेक्षा 630 प्रमाण प्रस्तुत किये। 20 अक्टूबर को खुले तौर पर चीन ने सशस्त्र भारत पर आक्रमण किया और थागला रिज को अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को पार किया।

साम्यवादी चीन ने भारत पर आक्रमण क्यो किया इसके सबध में कई राजनीतिज्ञों ने विभिन्न कारण प्रस्तुत किये हैं। मलेशिया के टकू अब्दुल रहमान ने एशिया मे किसी भी प्रतिद्वन्द्वी शक्ति को समाप्त करना, विजयलक्ष्मी पण्डित ने भारत की आर्थिक प्रगति के प्रति रोष आदि बतलाया है। वस्तुत चीन के उद्देश्य अनेक थे। प्रथम, चीन विश्व को अपनी शक्ति का विशाल प्रदर्शन करना चाहता था। दूसरा, चीन विश्व का ध्यान उसके आन्तरिक सकटो की उपेक्षा करे प्रयत्न कर रहा था। तीसरा, युद्ध के द्वारा वह अपने देश की आन्तरिक समस्याओं का सुलझाना चाहता था। चौथा, वह भारत की असलग्न नीति का अट्टहास चाहता था। पांचवा, वह क्यूबा मे रूस अमरीकी स्थिति का लाभ उठाना चाहता था। छठा, वह भारत की नेतृत्व शक्ति को जानना चाहता था। सातवा, वह शनैं शनैं समय-समय पर आक्रमण द्वारा आन्तरिक प्रवेश की नीति अपना रहा था। आठवां, युद्ध चीन की राजनीतिक नीति की एक चाल है और वह भारत को एशिया की राजनीति से पृथक् करने में

प्रयत्नशील रहा है। उसने भारत के सभी पडोसी राष्ट्रो को मैत्री, डरा धमका कर इस उद्देश्य की पूर्ति करनी चाही है।

**कोलम्बो प्रस्ताव**—21 नवम्बर, 1962 को चीन ने एकागी युद्ध विराम की घोषणा की, यह उसके विभिन्न उद्देश्या की प्रतीक है। युद्ध विराम के पश्चात् 'कोलम्बो प्रस्ताव' जो लका की प्रधानमन्त्री श्रीमती भडारनायके की अध्यक्षता मे हुये सम्मेलन का परिणाम थे। कोलम्बो प्रस्ताव के अनुसार (1) दोनो देश अपनी सैनिक चौकीयो से 20 किलोमीटर पीछे हट जायेंगे, (2) दोनो ही देश अपनी वतमान सनिक स्थिति मे परिवतन न लाये, (3) जब तक दोनों देशों के बीच सीमा नियन्त्रण पर समझौता न हो, तब तक वतमान सीमा निर्धारण रेखा को वास्तविक 'युद्ध विराम रेखा' बना दी जावे। (4) चीन द्वारा खाली की गई चौकियो को 'गैर सैनिक' चौकियो का करार दिया जाये (5) दोनो देश विवाद को शान्ति माग द्वारा सुलझाने का प्रयत्न करेंगे किन्तु कोलम्बो प्रस्ताव से कोई लाभप्रद परिणाम नही निकले।

**युद्ध का भारत की नीति पर प्रभाव**—चीनी युद्ध के पश्चात् भारत की नीति मे कुछ मोड आया यद्यपि भारत ने अपनी असलग्नता की नीति का परित्याग नही किया। भारत के लिये यह आवश्यक होगा कि वह (i) चीन द्वारा हडपी गई भूमि को वापिस प्राप्त करे (ii) भारत की 2500 वग मील सीमा पर सुरक्षा की व्यवस्था करे (iii) वह अपने दश का अधिकाश बजट सेना सुरक्षा पर लगावे (iv) भारत की नीति का आधार सुरक्षा व राष्ट्र हित हो (v) सिक्किम के पास सामरिक महत्व के निर्मित चीनी स्थानो के विपरीत व्यवस्था करे। (vi) चीन व भारत का यह विवाद एक लम्बे अर्से तक चलने वाला मानकर नीति की कार्यान्वितता मे मोड लावे। चीन भारत को किसी न किसी विषय को लेकर चुनौती देता रहा है। 17 सितम्बर, 1965 को चीन ने इस आधार पर भारत को चुनौती दी कि उसने 800 भेडें तथा कुछ याक चुरा लिये हैं। 1 सितम्बर, 1967 को चीनी सेनायें नाथूला के पास सिक्किम क्षेत्र मे घुस आयी। चीन से भारतीय दूतवास के सदस्यो के साथ अपमान का व्यवहार किया गया। दोनो देशो मे आपसी फौजी टक्कर तथा कडा पत्र-व्यवहार आदि स्थिति सदव बनी रहती है। चीनी पाक समझौता भी इसी का परिणाम है। दूसरी ओर भारत में चीन की भांति अणुबम बनाने पर विरोधी दल सत्तारूढ पर जोर डाल रही है।

## भारत-नेपाल व लका

भारत व नेपाल के बीच भौगोलिक ऐतिहासिक व सास्कृतिक सबध हैं। पण्डित नेहरू के शब्दो मे 'एक बालक भी यह समझता है कि भारत से गुजरे बिना कोई व्यक्ति नेपाल नही जा सकता है।' दोनों देशो के प्रतिनिधियों में आपसी यात्रा-

विनिमय बराबर बना रहा है। भारत के भूतपूव राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० राधा कृष्णन्, प्रधान मन्त्री नेहरू तथा शास्त्री आदि ने नेपाल की यात्रा की और इसी भाँति महाराजा महेन्द्र सद्भावना यात्रा पर कई बार भारत मे आए हैं। 22 अक्टूबर, 1967 को भारत के उप प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई नेपाल गये और उन्होंने आपसी आर्थिक सहयोग की वहाँ चर्चा की। किन्तु हमारे इन सबधो के बीच चीन फिर एक दीवार बनने का प्रयत्न कर रहा है। चीन तिब्बत के पतन के पश्चात् चीन व भारत के बीच नेपाल को मध्य राष्ट्र (Buffer State) मानता है और अपना प्रभाव वहाँ जमाने मे प्रयत्नशील है।

भारत व लका के बीच नेपाल की भाँति आर्थिक, सामाजिक व सास्कृतिक सबध हैं। दोनों देश समान रूप से राष्ट्र मण्डल के सदस्य हैं और कोलम्बो योजना में सयुक्त रूप से सहयोगी रहे। लका व भारत के बीच लगभग 943,?04 भारतीयो को नागरिकता देनें का प्रश्न जटिल रूप से बना हुआ है। लका की सरकार इन भारतीयो को लका निवासीयों के आर्थिक विकास मे भी बाधा मानती है। इस विषय पर दोनो सरकारो के बीच वार्तालाप चलती रही है किन्तु अभी तक कोई स्थायी परिणाम नही निकल पाया है।

भारत ने वियतनाम समस्या, अरब इजराइल समस्या पर व्यापक दृष्टिकोण से पृथक रूप से व्याख्या की है जो अलग अलग अध्यायों मे मिल जायगी।

भारत व सयुक्त राष्ट्र सघ—भारत राष्ट्र सघ व सयुक्त राष्ट्र सघ दोनों मे सक्रिय सदस्य रहा है। दोनों ही अन्तराष्ट्रीय सघों के निर्माण काल मे भारत ने सक्रिय भाग लिया। भारत सयुक्त राष्ट्र सघ के सभी एजेन्सीज जैसे PAO, WHO, UNESCO मे लगभग सदस्य रहा है। वह सुरक्षा परिषद् का दो बार अस्थायी सदस्य के रूप मे रहा है। भारत की प्रतिनिधि श्रीमती विजयी लक्ष्मी पडित ने सयुक्त राष्ट्र सघ की साधारण सभा की 22 वष तक अध्यक्षता की। पिछडे राष्ट्र के विकास हेतु विषयों के सम्बन्ध में भारत ने एशिया अफ्रीकाई राष्ट्रो के सहयोग से कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव रक्खे हैं। उदाहरणाय, 1946 मे भारत ने प्रस्ताव रक्खा कि शासकीय शक्ति पिछडे प्रदेशों मे उनकी आवश्यकताओ तथा हितों को सामने रखकर शासन करेंगे। भारत ने कुछ अफ्रीकी प्रदेशों को तुरन्त आजाद कराने की पैरवी की। अफ्रीका मे व्याप्त 'रगभेद' का भारत ने डटकर विरोध किया। पिछडे राष्ट्रो के आर्थिक विकास के लिये भारत ने SUNFED के निर्माण पर जोर दिया।

राजनीतिक दृष्टि से भारत ने कोरिया समस्या को सुलझाने मे सक्रिय भाग लिया। वियतनाम के सम्बन्ध मे भारत का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट रहा है। अब इजराइल सघष, स्वेज नहर समस्या आदि के विषयो मे भारत का निजी दृष्टिकोण, उसके प्रस्तावो से स्पष्ट है। भारत जनतन्त्र, समाजवाद, विश्व सहयोग का समथन

करते हुये उन सभी देशों का संयुक्त राष्ट्र संघ मे समर्थन करता है जो इनका अनुशीलन करते हैं। संसद द्वारा प्रस्तावित तीन सैक्रेट्री जनरल का भारत ने विरोध किया किन्तु साथ साथ वह साम्यवादी चीन की सदस्यता के लिये सदैव प्रयत्नशील रहा है। इङ्गलण्ड के प्रतिनिधि लार्ड वड हुड, संयुक्त राष्ट्र संघ के सचिव डाग हैमर शोल्ड आदि ने भारत की यू एन ओ मे क्रियाशीलता की बड़ी प्रशंसा की है।

आलोचना (Evaluation)—भारत की विदेश नीति की तीन दृष्टिकोणों पर आलोचना की गई है। प्रथम, भारत की विदेश नीति यथार्थ मे असंलग्न या निर्गुट नीति नही है। दूसरा, यह नीति भारत के राष्ट्रीय हित की रक्षा नहीं कर सकी है। तीसरा, भारत की इस नीति ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म निरन्तर व्याप्त शक्ति संघर्ष की अवहेलना की है।

असंलग्नता—भारत की विदेश नीति के व्यवहारिक स्वरूप को जब ध्यान मे लाते हैं तो विदेशियो के मन मे यह संदेह उत्पन्न करती है कि कभी हम अमेरिका की ओर कभी रूस की ओर संलग्न दिखाई पडते हैं। सैलिग हैरिसन ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि जाज मैनी ने एक बार कहा कि "नेहरू रूस के ऐजेन्ट दिखायी पड़ते हैं और मैं उनको व्यक्तिगत रूप से यह कहना चाहता हूँ।"[1] हंगरी के मसले पर भारत की विलम्बित आलोचना भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करती है। भारत ने शस्त्रो की प्राप्ति मे रूस का समर्थन प्राप्त किया है। लालबहादुर शास्त्री के समय मे "ताशकंद समझौता" भारत की रूस के प्रति श्रद्धा को जाहिर करता है। किन्तु ऐसा ही भ्रम भारत का अमेरिका के बारे मे भी होने लगता है, चीनी आक्रमण के समय अमेरिका द्वारा प्रेषित युद्ध सामग्री तथा अन्य प्रकार की आर्थिक सहायता प्राप्ति पर विरोधी नेताओ को हमारा अमेरिकी गुट मे सम्मिलित होने का भ्रम पैदा हुआ। इस भ्रमात्मक स्थिति का यह भी परिणाम निकला है कि विश्व राष्ट्रों मे भारत का कौन मित्र है और कौन शत्रु स्पष्ट नही है। यह अवश्य है कि विदेश नीति मे हमारा निष्पक्ष, निर्गुट व असंलग्न स्वरूप व्यवहृत नही हो पाया है। भारत सरकार का पूर्वीय जर्मनी को स्वीकृति (Recognition) न देने में, इजरायल के विपरीत अरब राष्ट्रों का खुला समर्थन, आदि ऐसे उदाहरण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि भारत की नीति असंलग्न नहीं कहलाई जा सकती। राष्ट्र हित (National interest) आलोचकों का मत है कि यद्यपि भारत ने इस नीति की सहायता से भारत का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान अवश्य वर्धित किया है किन्तु भारत के राष्ट्र हित की दृष्टि से इसे कोई लाभ नही हुआ। उदाहरणार्थ कश्मीर समस्या वर्षों से उलझी पड़ी हुई है, उत्तरी पश्चिमी सीमा पर चीन का आधिपत्य बना हुआ है, तिब्बत को

1 Quoted by Salig Harrison, "Nehru's visit of the Retrospect 1956 p 8

चीन ने पूर्णतया हड़प लिया है और भारत ने उस पर चुप्पी डाल रक्खी है तथा हमारे पाकिस्तान से सबधो मे सुधार नही हो पाया है। लका मे स्थित भारतीयो के सम्बन्ध म कुछ सुलझाहट नही हो पायी है तथा हमारे दक्षिणी अफ्रीका से सबध उन्नत नही हो पाये। इस आलोचना ने भारत की विदेश नीति मे व्याप्त खोखलापन को स्पष्ट कर दिया है। यह स्पष्ट है कि कोई भी नीति एक लम्बे अर्से तक 'राष्ट्र हित' का परित्याग नही कर सकती क्योंकि खाली आदशवाद आज के मानव को संतुष्ट नहीं कर सकता है। एक ओर बडी से बडी शक्तिया 'राष्ट्रहित' की रक्षा तथा विकास में तीव्र गति से अग्रसर हैं और दूसरी ओर भारत इसकी प्राप्ति मे निष्क्रिय हो रहा है।

शक्ति अवहेलना—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रतिष्ठित विद्वान् प्रो मार्गेन्थो ने अपनी पुस्तक मे "विश्व राजनीति को शक्ति सघष माना है।"[1] भारत की विदेशी नीति इस शक्ति सघष को स्वीकार न कर नैतिक आचरण पर अत्यधिक विश्वास करती है जो निराधार है और राजनतिक यर्थार्थता से कोसो दूर है। शक्ति तत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे प्रमुख होता है और उसकी अवहेलना राष्ट्र नीति की रक्षा म घातक हो सकता है। चीनी व पाकिस्तानी आक्रमणो ने भारत का शक्ति निर्माण के लिये बाध्य कर दिया है। आधुनिक भारत म 'अणुबम निर्माण' की समस्या को एक विवादास्पद विषय बना दिया है। चीनी की बढती हुयी शक्ति और पाकिस्तान द्वारा विदेशों से शस्त्र प्राप्ति ने भारतीय शक्ति मे शका उत्पन्न करदी है। भारत 'अणुबम विरोधी' क्लब बनाने मे सफल नही हो पाया है और न वह बडी शक्तियो से अणु सुरक्षा छत्र (Nuclear Umbrella) मे ही प्राप्त करने मे समथ हो पाया है।

इसके अतिरिक्त जनसघ, प्रजा समाजवादी-दलो ने भारत की विदेशनीति की बडी कटु आलोचना की है। हमारी पाकनीति, कश्मीर पर प्रयत्न, विदशी ऋण, अरब राष्ट्र पक्षीय दृष्टिकोण, चैकोस्लोवाकिया पर हुये आक्रमण पर हमारा मत, रूस द्वारा पाकिस्तान को शस्त्र सहायता तथा कच्छ फसला आदि विषयो मे सभी विपक्षी दलो ने मत विरोध प्रकट किया है।

इन सब दोषो के होते हुये भी, इन असफलताओ के बावजूद भी भारत की विदेशनीति को विश्व मे सम्मान मिला है। भारत ने इस नवीन नीति का निर्माण कर विदेशनीति के क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस नीति के निमाण के समय भारत अकेला राष्ट्र था और आज विश्व के बासठ से की कही अधिक राष्ट्र इसके अनुयायी है और भारत ने अफ्रीकी देशों को इस ओर नेतृत्व प्रदान किया है। 1956 में राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने इस नीति की सराहना की और चतुरता की नीति घोषित किया। इसी भाति 20 वी पार्टी सम्मेलन मे रूस ने हमारी नीति का भारी समथन किया। लाल चीन जसा देश जो असलग्नता को पथभ्रष्टता मानता

1 Hans J Morgenthau Politics among Nations, P 4

था आज अपने का असलग्न राष्ट्र कह कर गौरवान्वित करना चाहता है । असलग्न राष्ट्रो के बाडुग, वेलग्रेड तथा अल्जीरिया सम्मेलन इसके महत्व के प्रतीक हैं । भारत विपरीत व निकट परिस्थितियो के बावजूद भी इस नीति पर अटल रहा है जो इसकी सफलता का उदाहरण है ।

यद्यपि यह आलोचना सही है कि भारत की विदेश नीति राष्ट्रहित की रक्षा नही कर सकी किन्तु कौनसा राष्ट्र यह दावा कर सकता है कि उसकी नीति उसके सम्पूर्ण राष्ट्र हित की रक्षा करने मे सफल हो पायी है । यदि भारत की असलग्नता के प्रति राष्ट्रो के बीच म भ्रमात्मक दृष्टिकोण है तो उससे इस नीति की सैद्धान्तिक पक्ष के महत्व मे कमी नहीं कही आ सकती । भारत ने रूस व अमेरिका से सम्पूर्ण सहायता लेते हुये भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को गुट रजित नही किया । हमारा वियतनाम के प्रति दृष्टिकोण तथा चकोस्लोवाकिया के मसले मे रूस का विरोध इसके सजग उदाहरण हैं ।

भारत किसी भी शक्ति गुट मे न मिलकर शक्ति तत्व का तिरस्कार नही करता । शक्ति का अर्थ केवल बम बनाने से नही । अणुबम का निर्माण भारत को सशक्त नही बना सकती । यदि हम अणुबम का निर्माण करें तो इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि हम चीन को अपना नेता मानकर उसकी नीति का अनुसरण कर रहे हैं । 'वियतनाम' के लम्बे युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बडी से बडी शक्ति भी शक्ति के बल पर दमन नही कर सकती । भारत किसी भी शक्ति गुट मे सम्मिलित हो कर भी अपने राष्ट्रहित की रक्षा नहीं कर सकता । चीनी आक्रमण पर यदि वह अमेरिकी गुट मे मिले तो पाकिस्तान के आक्रमण पर रूसी गुट मे । यह भारतीय सार्वभौमिकता, स्वतन्त्रता तथा स्वाभिमान के विपरीत होगा ।

भारत की विदेश नीति की असफलता का कारण विदेश नीति नही वरन् कूटनीति है । इसकी असफलता में भारत का राजनतिक स्वरूप (Political System) भी जिम्मेदार है । भारत एक जनतन्त्र देश है और जनतन्त्र के विपरीत तानाशाही में विदेश नीति की व्यवहारिक सफलता अधिक सुलभ होती है ।

यह सब विदित ही है कि भारत को इस विदेश नीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान मिला है । उसने विश्व राष्ट्रो के बीच तनाव कम करने म सहायता की है । कोरिया वियतनाम और सयुक्त राष्ट्रसघ की कई समितियों का भारत चेयरमैन रहा है । अरबराष्ट्रों का भारत द्वारा समर्थन सफल कूटनीति का एक उदाहरण माना भी जा सकता है । भारत की विदेश नीति मे परिवर्तन विश्व सतुलन को कम करता है अब बडे राष्ट्र भी इसका समर्थन करने लगे हैं ।

## साम्यवादी चीन की विदेश नीति

परिचय—बहुत पहले नेपोलियन बोनापार्ट ने कहा था कि चीन एक दत्य है, उसे पडा सोने दो, यदि यह जाग गया तो विश्व को झकझोर डालेगा। भविष्यवाणी आज सही उतर रही है। समूचा विश्व चीन के कार्य कलापो, प्रवृत्तियो, आयामो और व्यायामों की ओर आज चिन्ता भरी दृष्टि से देख रहा है। चीन का एक शक्ति-शाली राष्ट्र के रूप मे उत्थान न केवल चीनवासियो के लिये गौरव का विषय है अपितु इस उत्थान ने समूची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को ही चुनौती दे डाली है। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व दो खेमो–(पूंजीवादी और साम्यवादी गुट) मे विभक्त था—एक का नेता सोवियत रूस और दूसरे का नेता अमरीका था। दोनो शक्तियो को (Super Powers) की सज्ञा से जाना जाता था। किन्तु विगत कुछ वर्षों म चीन ने शक्ति सघर्ष की इस दौड मे अपने आपको भी एक तीसरी शक्ति के रूप म सिद्ध कर दिया है। स्वीडन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने अभी कुछ समय पूर्व कहा था कि 'चीन का उद्देश्य शक्ति की चरमोत्कर्ष सीमा को प्राप्त करना है। उसकी विदेश नीति के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व को इ गित करता है। चीन का जो वर्तमान रूप है, उस तक पहुँचने मे इस राष्ट्र को कई आयाम पार करने पडे हैं। प्राचीन समय मे चीन का बडा महत्त्व था। सभ्यता और सस्कृति की प्रगति मे उसकी देन अभूतपूर्व है। उसका प्रभाव दक्षिणी और पूर्वी एशिया के देशो पर प्राचीन काल से ही रहा है। 1949 की क्रान्ति से पूर्व वहाँ च्यांग काई शेक की सरकार काम कर रही थी, जिस पर अमरीकी प्रभाव की छाप थी। साम्यवादियों ने राष्ट्रवादियो के प्रति विद्रोह चला रखा था और अन्त में माओत्सेतुग के नेतृत्व मे उनकी विजय हुई, साम्यवादी सरकार की स्थापना की गयी च्याग काई ने फारमोसा नामक टापू मे शरण ली और आज वह वहाँ का शासक बना हुआ है।

चीन, दुनिया मे जनसख्या की दृष्टि से सबसे बडा राष्ट्र है। आज उसने परमाणु अस्त्र भी बना लिये हैं। उसकी विचारधारा भी बडी सशक्त है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे जो तत्त्व शक्ति (Power) का निर्माण करते हैं वे सभी आज के चीन मे मौजूद हैं। भौगोलिक दृष्टि से उसकी अधिकाश सीमा रूस से छूती है। दूसरी ओर उसके पडौसी भारत, बर्मा, नेपाल, भूटान, सिक्किम, मगोलिया, कोरिया, वियतनाम, लाओस आदि राष्ट्र है। जापान के पतन के पश्चात एशिया महाद्वीप मे चीन ही एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप मे उदय हुआ है। एशिया मे आज चीन का वही महत्त्व है जो यूरोप मे जर्मनी, रशिया तथा अमरीकी महाद्वीप मे सयुक्त राज्य का है।

### चीन की विदेश नीति का अध्ययन क्यो आवश्यक है ?

चीन की विदेश नीति को समझे बिना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए चरण समझना अत्यन्त कठिन है। चीनी विदेश नीति कुछ नवीन प्रवृत्तियो, तरीको,

कूटनीतिक आयामा और साधनो को राजनीति मे प्रस्तुत करती हैं अत उसका अध्ययन आवश्यक है। द्वितीय, एशिया मे चीन एक समस्या बन गया है। सिंगापुर के प्रधान मन्त्री, मलेशिया, आस्ट्रेलिया, भारत आदि के नेता चीन के उदय से चिंतित हैं, ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिये चीनी विदेश नीति को समझना आवश्यक है, अन्यथा इस गम्भीर समस्या का समाधान कठिन है। तृतीय, जितनी विरोधी प्रवृत्तिया, मिश्रित एव विपरीत तत्व चीनी विदेश नीति के निर्धारक हैं, उतने अन्य किसी राष्ट्र की विदेश नीति मे नही। चतुर्थ, चीन आज दुनिया को चुनौती देते हुये, विश्व सघ से दूर, एकागी होते हुए अपनी विदेश नीति का सफलतापूर्वक सचालन कर रहा है—अत जटिल प्रश्न यह है कि क्या उसे विश्व सघ का सदस्य बनाया जा सकता है या नही, क्या अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये चीन का एकागी रहना उचित है या अनुचित। आदि प्रश्नों का समाधान चीनी विदेश नीति को समझे बिना उसी प्रकार लगता है जिस प्रकार घोड़े के आगे गाड़ी रखना।

चीनी विदेश नीति के उद्देश्य—किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय हित (National Interest) की रक्षा करना है। राष्ट्रीय हित दो तरह के होते हैं—1 Vital Interest याने मुख्य हित तथा 2 Second Interest सहायक हित राष्ट्र का मुख्य हित है—सुरक्षा और सहायक हित समय और परिस्थितियों के अनुसार परिचालित और निर्धारित होते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें Object and aims उद्देश्य और लक्ष्य भी कह सकते हैं। चीन की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्य एव लक्ष्य इस प्रकार हैं—

1 चीन को विश्व में एक महत्वपूर्ण शक्तिशाली राष्ट्र के रूप मे प्रस्थापित करना।

2, एशिया मे चीन की दुन्दुभी उसी प्रकार बजे जिस प्रकार पूर्वी यूरोप में रूस की और पश्चिमी यूरोप मे अमरीका की धुन बजती है।

3 उसकी विचारधारा जिसे साम्यवादी विचारधारा के नाम से जाना जाता है की अधिक से अधिक राष्ट्रो मे प्रस्थापना हो।

4 कम से कम एशिया मे शीघ्र ही साम्यवाद की स्थापना हो।

5 साम्यवादी गुट का नेतृत्व शन शन रूस के हाथ से छीनकर ससार मे साम्यवाद का एक छत्र नेता बनना।

6 प्राचीन समय मे जो क्षेत्र चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत थे उन्हे पुन प्राप्त करना।

## चीनी विदेश नीति के साधन

चीनी विदेश नीति के उपयुक्त उद्देश्यो को पूरा करने के लिये चीनी नेताओ ने सशक्त साधनों को आधार बनाया है। फिर भी यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वे विभिन्न देशो के साथ, परिस्थितियो और समय के अनुसार भिन्न भिन्न साधनों का प्रयोग करते हैं। मुख्य मुख्य साधन इस प्रकार हैं—

(1) शक्ति के अनुसार छोटे छोटे राज्यो को अपने प्रभाव क्षेत्र मे लेना। माओ ने कहा था कि 'शक्ति की प्राप्ति बन्दूक की नाली मे से ही होती है।'

(2) हिंसा, विद्रोह, तोड-फोड और विध्वसात्मक उपायों की अवलम्बन। कुछ वर्षों पूव इण्डोनेशिया मे इसी तरीके का प्रयोग किया गया था।

(3) सहअस्तित्व का नारा बुलन्द करना—बर्मा, नेपाल आदि देशो से सीमा सम्बन्धी झगडो का हल करना जिससे उन देशो में चीन के प्रति आदर उत्पन्न हो और जब उन्हें बेखबर और आरक्षित पायेगा तो अपने नियन्त्रण में लेने की कोशिश करेगा।

(4) सास्कृतिक कूटनीति—लेटिन अमेरिका, अफ्रीका आदि क्षेत्रों मे अपना प्रभाव क्षेत्र बढाने के लिये चीन सास्कृतिक दल, कलाकारो, साहित्यकारो आदि का आदान-प्रदान कर रहा है। पाकिस्तान मे भी इसी साधन का महत्व दिया है।

(5) सम्मेलन—एशिया और अफ्रीका के देशों के सम्मेलनो में चीन विशेष रुचि से भाग लेता है। यहाँ उसके प्रतिनिधि इस क्षेत्र के नेताओं को प्रभावित करते हैं, चीन आने का निमन्त्रण देता है। चीन अब धीरे धीरे विश्व शक्ति के रूप में आविर्भाव कर रहा है उसके विश्व राष्ट्रो के साथ सबधो का वर्णन निम्न किया गया है—

### चीन–रूस सबध

रूस और चीन के सम्बन्ध प्रारम्भ से ही बडे घनिष्ठ रहे हैं। यद्यपि रूस के स्टालिन ने चीनी साम्यवादियो को 1949 ई० की क्रान्ति मे सहायता नही दी थी तथापि अनुकूल विचारधारा ही उनकी मैत्री का आधार बन गया। चीन मे माओ की सफलता के पश्चात् रूस ने शीघ्र ही मान्यता प्रदान कर दी। 1950 मे दोनो ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये जो पारस्परिक सहायता, सद्भावना और मत्री का प्रतीक थी। रूस ने चीन का 3 अरब डॉलर की सहायता दी। इसके अतिरिक्त रूसी वैज्ञानिक, इजीनियर, प्रशिक्षक आदि चीन पहुँचे और चीन की प्रगति के लिये प्रयत्न करने लगे। ऐसा महसूस किया जाने लगा कि साम्यवादी गुट मजबूत हो गया है, किन्तु धीरे-धीरे यह मित्रता बर्फ की तरह पिघलने लगी।

आज समाचार पत्रा मे सर्वाधिक चर्चा का विषय चीन रूस का मतभेद (Sino-Sovietrift) हैं। 1956 के बाद घटना चत्र इस तरह बदला कि दोनो देश

एक दूसरे से दूर जाने लगे। डोनाल्ड जमोरिया ने अपनी पुस्तक मे स्पष्ट लिखा है कि चीन और रूस का मतभेद वस्तुत आपसी हितो के टकराव का फल है। विद्याप्रकाश दत्त इस मतभेद का प्रमुख कारण चीन और रूस की विचारधाराओ की भिन्नता मानते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि इन मतभेदो के कारण ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा तात्कालिक हैं। चीन किसी भी राष्ट्र का पिछलग्गू नही बनना चाहता है। उसका अपना इतिहास रहा है, अपनी संस्कृति रही है जो एक समय महान थी। माओ उसी महान चीन के स्वप्न देख रहे हैं। वे अपने आपको साम्यवादी गुट का एक मात्र नेता भी मानना चाहते हैं। ऐसी स्थिति मे चीन और रूस का मतभेद स्वाभाविक था। ख्रुश्चेव ने 1956 की साम्यवादी पार्टियो की कान्फ्रेंस मे स्तालिन व लेनिन की निन्दा की। संशोधनवादी नीति की ओर अग्रसर होना ही उसके भाषण का सार प्रतीत होता है। दूसरी ओर चीन स्टालिन को अपनी नीति का आधार मानता है। चीन, ख्रुश्चेव द्वारा बतलाये हुए शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful coexistance) के सिद्धान्त को अव्यवहारिक मानता है। रूस शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व मे विश्वास करता है और माओ कहते हैं कि राजनतिक शक्ति बन्दूक की दुनाली से प्राप्त की जा सकती है। अत यह मतभेद विचारो का मतभेद है, आपसी हितो का मतभेद है, साम्यवादी जगत का सर्वमान नेता बनने का मतभेद है। उस समय यह मतभेद स्पष्ट दिखलायी पडता था जब चीन ने रूस को एशियाई देशो की कान्फ्रेंस मे साफ इन्कार कर दिया था। चीन जानता है कि यदि रूस एशिया मे अपना प्रभाव फैलाने लगा तो उसके हितों को गहरी चोट लगेगी।

सन् 1964 मे ख्रुश्चेव के हटने का एक कारण यह भी माना जाता था कि उसने चीन से फालतू ही झगडा मोल लिया है। कोसीजिन ने सम्बन्ध सुधारने के प्रयास किये हैं किन्तु चीनियो ने कहा कि नये नेता तो ख्रुश्चेव से भी अधिक साम्राज्यवादी हैं। आज भी दोनो देशो के सम्बन्ध बिगडे हुये हैं। जहाँ तक भविष्य का सवाल है यही कहा जा सकता है कि दोनो ही साम्यवादी विचारधारा मे विश्वास करते हैं अत भाई-भाई का झगडा है, कभी भी ठीक हो सकता है। यदि चीन के नेतृत्व मे परिवर्तन आया तो सम्भावनाएँ अधिक हैं। किन्तु इस मतभेद से दो लाभ हुये हैं। प्रथम तो इसने छोटे छोटे साम्यवादी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियो को स्वतन्त्र कार्य करने से सहायता दी है और दूसरा, इससे पश्चिमी देशो और रूस के शीत युद्ध मे कमी आती जा रही है।

**चीन और अमेरिका**—विश्व की दूसरी महानतम शक्ति स० रा० अमरीका से भी चीन के सम्बन्ध पिछडे हुये हैं। चीन जितना रूस से रुष्ट है, उससे कहीं अधिक अमरीका से भी। 1949 ई० की क्रान्ति से पूर्व च्यांग काई शेक की कोमिताग

V P Dutt—"China s Foreign Policy

पार्टी चीन मे शासन कर रही थी। अमरीकी डालर पानी की तरह इस पार्टी की सहायता के लिए बहाया गया। जब साम्यवादियो और राष्ट्रवादियो मे गृह युद्ध चल रहा था तो अमरीका ने स्पष्ट रूप से च्याग की सहायना की। किन्तु च्याग की हार हुई जो अमरीकी शक्ति की करारी पराजय थी, च्यांग ने फारमूसा टापू मे शरणली और वहाँ अपनी सरकार स्थापित की किन्तु केवल अमरीका के कन्धो पर ही सब कुछ हो रहा है। साम्यवादी माओ और पार्टी अमरीका के हस्तक्षेप से परेशान हैं। वे फारमोसा को साम्यवादी चीन का अभिन्न अ ग मानते हैं। किन्तु अमरीका ने फारमोसा की रक्षा की जिम्मेदारी अपने हाथ मे ले ली है। अत फारमोसा दोनों देशो के सम्बन्धो के बीच 'चीन की दीवार' बना हुआ है। 1950 मे कोरिया मे युद्ध हुआ। उत्तरी कोरिया को चीनी स्वय सेवको ने मदद दी, दक्षिणी कोरिया की ओर से अमरीका स० राष्ट्र सघ के तत्वाधान मे लडा—अत असली रूप मे यह युद्ध चीन अमरीकी युद्ध हो गया। इससे भी दोनो देशो के बीच सम्बन्धो का बिगडना स्वाभाविक था।

दोनो देशो की विचारधाराओं मे भी अन्तर है। अमरीकी विचारधारा 'पूँजीवादी' विचारधारा के नाम से जानी जाती है और चीन साम्यवाद का अनुयायी। अत यह सम्बन्ध या विवाद विचारधाराओ की लडाई है। यह झगडा साम्यवादी या पू जीवादी विश्व का झगडा है।

चीन एशिया मे और विशेषकर दक्षिणी पूर्वी एशिया मे अपनी दुन्दुभी बजाना चाहता है। यहाँ भी अमरीका ने 1954 मे सीटो बनाकर उसका माग अवरूद्ध कर दिया है। आज दक्षिणी पूर्वी एशिया मे चीन और अमरीका मे होड मची हुई है। वियतनाम का युद्ध सही तौर मे दोनो पक्षो द्वारा लडा जा रहा है। चीन भरपूर सहायता, शस्त्र ही नही अपितु उत्साह और साहस भी उत्तरी वियतनाम को दिला रहा है। चीन इस बात मे उत्सुक है कि अमरीका जल्दी ही इस क्षेत्र से विदा ले और फिर वह अपना नग्न नत्य प्रारम्भ करे। दूसरी ओर अमरीका चाहता है कि एशिया के देशों म चीनी साम्यवाद का प्रसार कम से कम हो। अत एशिया आज दोनो देशो के बीच विवाद का कारण बना हुआ है।

चीन आज तक स० राष्ट्र सघ का सदस्य नही बन पाया है। अमरीका यहाँ भी अपनी टाँग अडाता है। जब भी अवसर आया अमरीका ने चीन की सदस्यता का विरोध किया, फारमोसा की वकालत की तथा चीन के विरूद्ध वीटो की धमकी दी।

अत चीन और अमरीका का मतभेद उस समय से ही प्रारम्भ हुआ है जिस दिन से चीन मे साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई है। जहाँ एक ओर चीन ने अमरीका का विरोध किया वहा दूसरी ओर अमरीका ने चीन का। दोनो ही देश मित्रता का हाथ मिलाने के लिए आज राजी नही हैं। भविष्य के बारे म आज कुछ नहीं कहा जा सकता।

## चीन और भारत

प्रारम्भ से ही दोनो देशो मे अच्छे सम्बन्ध रहे हैं । भारत ने शीघ्र ही साम्यवादी चीन को मान्यता दे दी । भारत चाहता था कि पडोसी से मित्रता का व्यवहार करें । श्री नेहरू चीन के बडे मित्र थे । 'हिन्दी चीनी भाई-भाई' के नारे लगाये गये । 1954 मे 'पचशील' के सिद्धान्तो को चीन ने मान लिया । भारत ने तिब्बत पर चीन की सत्ता स्वीकार कर भूखे मित्र की पेट की आग शान्त करने का प्रयास किया किंतु चीनी साम्यवादियो ने मित्रता का जवाब विश्वासघात करके दिया । चीनियो ने झूठे नक्शे प्रकाशित कराये और जिनमें भारत की हजारों मील जमीन को चीन का भाग बताया । यही से मित्रता की दीवार में दरार शुरू होती है ।

अक्टूबर 1962 मे चीन ने सशस्त्र आक्रमण कर भारत की हजारो वर्गमील भूमि दबा ली । तब से आज तक दोनो देशो मे शत्रुता की आग प्रज्वलित है । आपसी आदान प्रदान करीब-करीब बन्द सा है । चीन ने कोलम्बो प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया । चीन ने भारत की भूमि को खाली करने से इन्कार कर दिया । चीन ने भारत के शत्रु पाकिस्तान से साँठ गाँठ कर भारत को परेशान करने की ठान ली है । डॉ० शान्ति प्रसाद वर्मा के अनुसार चीनी आक्रमण के प्रमुख कारण हैं—

(1) चीन भारत को एशिया में नीचा दिखाना चाहता था ।
(2) चीन अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता था ।
(3) चीन लद्दाख को लेना चाहता था जो तिब्बत की दृष्टि से उपयुक्त था ।

भारत ने चीन की स० रा० सघ मे वकालत बार बार की थी किन्तु इसके बदले चीन ने भारत को ही नीचा झुकाया । वास्तव में चीन ने समझा कि एशिया में भारत ही उससे सघर्ष कर सकता है । भारत को झुकाकर उसने अपना अभीष्ट प्राप्त करने की ठानी है । भारतीय नेताओ के चाहते हुये भी चीन मित्रता की वार्ता के लिये तैयार नही । चीनी कूटनीति की यह एक नवीन चाल है कि एशिया के देशो से अच्छे सम्बन्ध बनाते हुये भारत को एकाकी कर देना । भारतीय जनता चीनी खतरे से जग गयी है । यह शत्रुता राजनीति तक ही सीमित नही हैं अपितु जन जन के हृदय मे घुल गयी है ।

## चीन और पाकिस्तान

चीन और पाकिस्तान के सम्बन्ध विश्व राजनीति मे एक नवीन कूटनीति की सृष्टि करते हैं । प्रारम्भ में दोनो देशों के सम्बन्ध मधुर नही थे । पाकिस्तान अमरीकी गुट का एक सक्रिय सदस्य था । वह 'सीटो' का सदस्य बना जिसे अमेरीका ने एशिया मे चीनी साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए बनाया था । चीन इस कारण से पाक से रुष्ट था ही । अत प्रारम्भ स 1954 तक दोनों देशो के सम्बन्ध 'ठण्डे' थे । ये

प्रमुखत भौगोलिक राजनतिक (Geo Politics), कारणों व परिस्थितियों,

राजनैतिक यथार्थवाद तथा पाकिस्तान की जागरूकता आदि तत्वों से परिचालित हुये थे। 1954 से 1960 तक के सम्बन्ध एक दूसरे का अप्रत्यक्ष रूप से विरोध करना तथा गुटबन्दी के तथ्य से सचालित हुये। 1962 के बाद दोनो देशों के सम्बन्धों को एक लेखक के शब्दों मे 'The phase of intimacy and esit' मित्रता का युग कहा जा सकता है।

फरवरी 1962 मे दोनो देशो के मध्य पाक अधिकृत कश्मीर के विषय में सीमा समझौता भी इसी के बाद हुआ। अक्टूबर 1962 मे चीन ने भारत पर आक्रमण किया। पाकिस्तान के विदेश मन्त्री जुलफिकर अली भुट्टो ने चीन का पक्ष लिया। 1963 मे चीन ने भारत पाक सीमा विवाद मे पाक स्पष्ट समर्थन करना शुरू कर दिया। सन् 1965 मे पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया और चीन ने स्पष्ट शब्दों मे पाकिस्तान के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। चीन ने भारत विरुद्ध पाकिस्तान के प्रति राजनैतिक तथा नैतिक सहानुभूति व्यक्त की। चीन ने जो तीन दिन का 'अल्टीमेटम (3 days ultimatum) भारत को दिया वह पाकिस्तान को सहायता देने के उद्देश्य से ही था। वतमान समय मे चीन और पाकिस्तान के हाथ एक ही थाली मे घुलते हैं। दोनों देशो के नेताओं ने, एक दूसरे देश की यात्रायें कर ली हैं। कई प्रकार के समझौते हुये हैं। चीन पाकिस्तान को शस्त्रो से लगाकर अन्य प्रकार की सहायता दे रहा है। पाकिस्तान अब अमरीका का भी उतना पिछलग्गू नही है जितने अब वह चीन का मित्र बन गया है।

चीन और पाकिस्तान की मत्री के कारण इस प्रकार हैं—

(1) पाकिस्तान इस सिद्धान्त पर कूटनीति का प्रयोग कर रहा है कि 'शत्रु का शत्रु हमारा मित्र है' (The enemy of our enemy is our friend)

(२) दूसरा कारण जिसे पाकिस्तान कह सकता है 'सुरक्षा की भावना' है (Sense of Security against India)

(3) तीसरा कारण, पाकिस्तान एशिया और अफ्रीका के देशों को यह बताना चाहता है कि वह अमरीका का पिछलग्गू नही है, उसकी विदेश नीति मे स्वतत्र निर्णय करने की रीति है।

(4) चीन का उद्देश्य है कि उसके चारो ओर अमरीका ने जो घेराव कर रखा है उसे कम करना। स० रा० अमरीका ने विभिन्न प्रकार के समझौतो से चीन के चारो ओर उसके समर्थन की दीवार खड़ी कर दी है, उसे तोड़ना।

(5) चीन सोचता है कि यदि उसने अमरीकी गुट बन्दी की दीवार को तोड़ने मे सफलता प्राप्त कर ली तो वह अमरीका की राजनैतिक पराजय होगी।

अत सक्षिप्त रूप से पाक चीन मैत्री पर विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तान इसे 'भारत' के विरुद्ध एक सफलता मानता है वहाँ दूसरी ओर चीन

इसे 'अमरीका' के विरुद्ध एक प्रयत्न मानता है। यही कारण है कि चीन बार बार 'पाकिस्तान की स्वतन्त्र प्रभुसत्ता' की मांग (Independence and sovereignty of Pakistan) देता है। इस प्रकार के सम्बन्धों को बनाने मे पाकिस्तान के 1964 मे विदेश मन्त्री भुट्टो का विशेष हाथ है जो चीन को, पाकिस्तान का 'बड़ा भाई' कहते थे।

चीन पाक के भविष्य के सम्बन्धो के विषय मे एक लेखक ने ठीक ही कहा है- कि पाक चीन सम्बन्धों का भविष्य "भारत चीन", "भारत-पाक" तथा 'पाक अमरीकी" सम्बन्धो की गतिविधियो पर निर्भर करता है। किन्तु फिर भी दो कारणों से इसमे परिवर्तन के ज्वार आयेंगे—(1) पहला कारण है कि पाकिस्तान आर्थिक और सैनिक सहायता के लिये अमरीका पर आज भी निर्भर है। (2) दूसरा कारण है कि सोवियत संघ ने अब पाकिस्तान की विदेश नीति को अपनी ओर मोड़ने के लिये प्रयत्न करने शुरू कर दिये हैं।

## चीन और एशिया

चीनी विदेश नीति को प्रभावित करने वाला तत्व एशिया की वर्तमान स्थिति और चीनी आकाक्षायें हैं। चीन चाहता है कि जिस प्रकार रूस ने पूर्वी योरोप में अपने पिछलग्गू राज्यो का निर्माण किया है उसी प्रकार चीन भी एशिया मे ऐसे राज्यो का निर्माण कर अपने प्रभाव क्षेत्र तथा शक्ति मे वृद्धि कर सकता है। एशिया मे विशेष कर दक्षिणी पूर्वी एशिया मे चीन को विश्वास है कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं ताकि उसके मनसूबे पूरे हो सकते है। अस्थिरता, गरीबी, आर्थिक कमजोरी, तथा साम्यवादी दल इस क्षेत्र के सभी छोटे मोटे देशो जैसे लाओस, कम्बोडिया, वियतनाम, इण्डोनेशिया आदि मे विद्यमान है। चीन चाहता है कि इन देशो मे क्रान्ति करवा कर, अव्यवस्था फैलाकर, शासन सत्ता को साम्यवादियो के हाथो मे दिलाया जा सकता है, जिन पर चीन का प्रभाव बना रहेगा। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर चीन ने 1965 मे इण्डोनेशिया से पहले घनिष्ट मित्रता स्थापित की, बाद मे वहा की साम्यवादी पार्टी को मदद देनी शुरू की और क्रान्ति करवादी जो असफल हुई। इस उदाहरण से चीनी की आकाक्षायें स्पष्ट हो गयी हैं। चीन एशिया मे साम्यवाद का प्रसार चाहता है। चीन एशिया का सर्वमान्य नेता बनना चाहता है। वियतनाम युद्ध मे, वह इसीलिये साम्यवादियों को मदद कर रहा है। वह अमरीकी प्रभाव को हटाकर 'शक्ति शून्य' (Power vacum) करना चाहता है ताकि उसके उद्देश्य पूरे हो सकें। इसीलिये चीन ने नेपाल, बर्मा तथा पाकिस्तान से अपने सम्बन्ध सुधारे ताकि यह सिद्ध जायें कि चीन शांति से रहना चाहता है। उन देशो को इस भुलावें मे बेखबर पाकर वह क्रान्ति करवा अपने ध्येय की पूर्ति करवाना चाहता है। एशिया मे चीन भारत को अपना प्रतिद्वन्दी समझता है अब भारत को नीचा झुकाकर उसने सब देशों से सम्बन्ध सुधारने की नीति अपना ली। इन देशों में

उसने आर्थिक सहायता के अतिरिक्त सांस्कृतिक कूट नीति (Cultural diplomacy) को आधार बनाया हैं।

## चीन और अफ्रीका

साम्यवादी चीन की विदेश नीति अफ्रीका महाद्वीप मे बिल्कुल स्पष्ट है। वह अफ्रीका मे अपना कोई विस्तार नही चाहता। इसका कारण है कि वह भौगोलिक दृष्टि से दूर है। वहा अफ्रीकी राष्ट्र भी इस बात से परिचित हैं। वहाँ वह रूसी और अमरीकी प्रभाव को कम करना चाहता है। चीन के प्रधान मन्त्री ने कई बार अफ्रीका के देशो की यात्रायें की है अफ्रीकी नेताओं को चीन मे आमन्त्रित किया है। चीन अफ्रीकी वासियो को कहता है कि हम तुम भाई भाई है, साम्राज्यवादियो द्वारा सताये हुये हैं, साम्राज्यवादियो ने ही रगभेद की नीति का अपनाया है। चीन का प्रधान उद्देश्य यहाँ सास्कृतिक प्रसार हैं। चीन अमरीका का प्रभाव भी समाप्त करना चाहता है। यथार्थवादी दृष्टि से सोचा जायें तो चीन की नीति अफ्रीका मे सफल हो रही है। अमरीका रगभेद नीति तथा पश्चिमी साम्राज्यवादियो का साथी होने से अधिक प्रभाव उत्पन्न नही कर पायेगा। अभी अफ्रीका मे रूस उतनी रूचि नही ले रहा हैं, अत अफ्रीका म चीन की विदेश नीति की सफलता के अवसर अधिक है।

## चीन और सयुक्त राष्ट्र सघ

सयुक्त राष्ट्र सघ शान्ति प्रेमी राष्ट्रो का सगठा है किन्तु आज तक साम्यवादी चीन का इसकी सदस्यता नही मिल पायी है। फारमोसा को ही चीन की वैध सरकार माना जा रहा है। जबकि दूसरी ओर साम्यवादी चीन को विश्व के आधे से अधिक राष्ट्रों ने मान्यता प्रदान कर दी है। यह एक विचित्र बात है कि विश्व की बहुत बडी जनसख्या विश्व सस्था मे दूर है। क्या चीन स० रा० सघ का सदस्य बनने का इच्छुक है ? चीन को सदस्य नही बनाने से क्या कोई लाभ हैं ?

चीनी नेताओ ने बार बार कहा है कि वतमान परिस्थितियो मे चीन स० रा० सघ में कोई महत्वपूर्ण पाट अदा नही करना चाहता। किन्तु वास्तविकता यह है कि जब स० रा० सघ के चाटट मे सशोधन किया जा रहा था तो चीनी नेताओं ने कहा था कि बिना चीन की स्वीकृति के ये सशोधन मान्य नही होगें। अत आन्तरिक रूप से चीन सघ का सदस्य बनने का इच्छुक है।

जो लोग चीन का विरोध करते हैं उनका कहना है कि (1) स० रा० सघ एक शान्ति प्रेम सस्था है और चीन युद्ध तथा शक्ति मे विश्वास करता है अत इससे सस्था के उद्देश्यो मे बाधा आयेगी। (2) दोनो चीन को सस्था में नहीं लिया जा सकता क्योंकि अन्य किसी बटे हुये राष्ट्र को भी सस्था मे स्थान नहीं दिया गया है। (3) चीन 1950 मे स० रा० सघ के विरुद्ध लडा था अत चीनीयों को स० रा० का सदस्य नहीं बनाया जा सकता।

वास्तविकता यह है कि अमरीका चीन की सदस्यता के विरुद्ध है और वह वीटो का प्रयोग कर इसे रोक सकता है। अमरीका जानता है कि साम्यवादी चीन को सदस्य बनाने का मतलब होगा फारमोसा का नैतिक पतन। प्रारम्भ में रूस ने चीन की सहायता की वकालत की थी। भारत ने भी खूब सहायता की। किन्तु फिर भी आजतक चीन को सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी है।

उपसहार—उपयुक्त विवेचन से चीनी विदेश नीति की आधारभूत विफलतायें तथा सफलतायें स्पष्ट हो जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की कूटनीति सफल रही है। सक्षेप मे,

(1) चीन अपनी विदेशनीति के फलस्वरूप एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में अवतरित हुआ है तथा उसने सारी विश्व (Two Power Block Theory) को ही बदल दिया है।

(2) चीन एशिया तथा अफ्रीका मे अपना प्रभाव क्षेत्र बढाने मे सफल हुआ है। आज एशिया के राष्ट्र चीनी शक्ति से भयभीत नजर आ रहे हैं।

(3) चीनी विदेश नीति एक स्वतन्त्र आत्मनिभर नीति का आदर्श उपस्थित करती है।

(4) चीन अमेरीकी गुट मे तथा रूसी गुट मे दरार उत्पन्न करने में सफल हुआ है। उसने पाकिस्तान, फान्स तथा अलबानिया को अपनी ओर खींच लिया है।

किन्तु चीन की विदेश नीति का आधार है "शक्ति' (Power) जो एक स्थायी आधार नही कहा जा सकता है। शक्ति के बलबूते पर प्रभाव अधिक स्थायी नही होते। फिर भी विदेश नीति के अन्य आधार कूटनीति है, इस दृष्टि से चीन की कूटनीति जिसे मुख्यत सास्कृतिक कूटनीति (Cultural dipwmacy) कहते हैं एक सफल आधार है। आज चीन के समक्ष प्रमुख चुनौतियां हैं—अमरीका, रूस जिनका प्रभाव सवत्र छाया हुआ है, चीन को इनका मुकाबला करने में पसीना आयेगा क्योंकि आर्थिक दृष्टि से चीन अभी बहुत पिछडा हुआ राष्ट्र है अत विदेश नीति के आधारों में समुचित समन्वय करना ही चीन नीति निर्धारिको के सामने एक प्रश्न चिन्ह है ?

---

( ) ।

# अमेरिका की वर्तमान विदेश नीति

## (Foreign policy of United States)

पिछले पृष्ठो (239-246) मे हमने सयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का ऐतिहासिक स्वरूप वर्णन किया है। वस्तुत अमेरिका की विदेश नीति एक विकासमान, तथा गतिशील नीति रही है और देश की आन्तरिक तथा वाह्य विश्व की व्याप्त परिस्थितियो से प्रभावित रही है। स्थायी तौर पर अमेरिका की भौगोलिक, आर्थिक, सवधानिक, मानवीय तथा राजनीतिक तत्वो ने उसकी नीति को मूलभूत स्वरूप प्रदान किया है और इन तत्वो से निर्मित अमेरिकी शक्ति अतर्राष्ट्रीय परिस्थितियो की परिधि में पल्लवित हुई है। भौगोलिक दृष्टि से अमेरिका एक प्रभावशाली देश है। ब्लैक व थाम्पसन के अनुसार "भौगोलिक दृष्टि से अमेरिका विश्व का एक भाग्यशाली देश है। यह दो समुद्रो से लगा हुआ है अत यह विश्व के दो प्रमुख व्यापारिक क्षेत्रों को प्रत्यक्ष रूप से सबंधित है।" × आर्थिक दृष्टि से अमेरिका के पास कच्चा माल है। क्रूड ऑयल, ताबा आदि का उत्पादक है और खेती की दृष्टि से भी अति उन्नत देश है। अमेरिका मे प्रति व्यक्ति आय विश्व के सभी देशो से अधिक है। इसकी सैनिक शक्ति भी कम नही है। जाज वाशिंगटन के समय से प्रचलित दृष्टिकोण 'युद्ध के लिए सदैव 'तत्पर रहना' शाति के लिए प्रभावकारी उपाय है', आज भी लागू होता है और उसकी शक्ति दिनो दिन बेहतर होती जा रही है। सवैधानिक दृष्टि से विदेश विभाग एक उच्चस्तरीय वज्ञानिक ढग से सचालित होता है। सम्पूर्ण शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति को वदेशिक मामलों मे अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं किन्तु राष्ट्रपति उनका प्रयोग मनमाने तौर से नही कर सकता। 'डिपाटमण्ट आफ स्टेट' वैदेशिक मामलो मे एक विशेष उत्तरदायित्व का पालन करता है। सम्पूर्ण निर्णयो म जनतान्त्रिक दृष्टिकोण की साधारणतया रक्षा की जाती है यद्यपि केवल 25% जनसख्या विदेश नीति के मसलो मे पूर्ण दिलचस्पी लेती है।

अमेरिका की विदेश नीति के उद्देश्य किसी अन्य देश की विदेश नीति से मुख्यत भिन्न नही है। उद्देश्यों मे कही भी परिवतन अतर्राष्ट्रीय परिस्थितियो में परिवतन तथा आतरिक शक्ति निर्माण से आया है। अमेरिका भी जनतन्त्र की रक्षा, देश की सुरक्षा, विश्वशाति की प्राप्ति आदि में सलग्न है किन्तु उसकी 'राष्ट्रहित की परिभाषा परिस्थिति अनुकूल परिवर्तित होती रही है जिसका वणन हम पिछले पृष्ठों मे कर आये हैं। अब हम वतमान अमेरिकी विदेश नीति का अध्ययन दो दृष्टिकोणो से

× ब्लैक व थाम्पसन दी यूनाईटड स्टेटस आफ अमेरिका—फॉरेन पॉलिसी इन द वल्ड आफ चेन्ज पे–700

करना चाहते हैं—(1) अमेरिका की नीति कैनेडी व जॉनसन युग में, तथा (2) अमेरिका व विश्व के अन्य महत्वपूर्ण राष्ट्र तथा विश्व समस्यायें।

## कैनेडी की विदेश नीति

राष्ट्रपति कनेडी ने 20 जनवरी 1960 को जब शासन की बागडोर राष्ट्रपति के रूप मे समाली, उस समय 'शीत युद्ध' बहुत प्रबल था। एक ओर कनेडी जसे एक युवा किन्तु साहसी व चतुर राष्ट्रपति और दूसरी ओर रूस के प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव जो वयोवृद्ध तथा उच्च सूझ-बूझ वाले व्यक्ति के बीच मुकाबला था। जमनी से सबधित बर्लिन का झगडा पुन एक बार जोर पकड रहा था और इस सम्बध मे मई का शिखर सम्मेलन असफल हो चुका था। कैनेडी के सत्तारूढ़ होने के समय लाओस, क्यूबा भी सकट के घर बने हुए थे। कैनेडी का यद्यपि राष्ट्रपतित्व काल बहुत छोटा था किन्तु इस अल्प दौरान मे उन्होने अमरिकी विदेश नीति को बहुत सशक्त बना दिया था। उनका विश्वास था कि शीत युद्ध से उत्पन्न समस्यायें वार्तालाप से सुलझायी जा सकती हैं किन्तु अमरीका की सैन्य शक्ति भी रूस के विपरीत प्रबल रहनी चाहिये। राष्ट्रपति कैनेडी की विदश नीति की निम्न विशेषतायें थी —

(1) *अमेरिका को अपनी सैन्य शक्ति को बढावा दिया, जो गुरिला-युद्ध पद्धति का मुकाबला कर सके।*

(2) शस्त्र नियन्त्रण तथा निशस्त्रीकरण की ओर यथार्थ कदम उठाना आवश्यक है अत विश्व देश इस ओर सक्रिय किये गये।

(3) अमेरिका अपनी विदेशी आर्थिक सहायता को दीर्घ कालीन आधार पर देगा।

(4) अमेरिका की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण काय क्षेत्र 'लेटिन अमेरिका' है जहाँ कस्ट्रोइज्म जसी शक्तियों का दमन करना है और अमेरिका यह बताना चाहता है कि वह तानाशाही शासकों का समथक नहीं है।

(5) *कनेडी ने 'शिखर सम्मेलन' नीति का विरोध किया तथा उसके स्थान पर पारस्परिक कूटनीति का समथन किया। वह राष्ट्र नेताओं से व्यक्तिगत आधार पर, यात्रा द्वारा, आपसी विनिमय द्वारा झगड़ों का निपटारा करने मे भरोसा रखते थे। 1961 म ख्रुश्चेव से कनेडी की व्यक्तिगत मीटिंग इसका उदाहरण थी।*

(6) *राष्ट्रपति कनेडी विश्व में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के पक्ष में शांति लाना चाहते थे जिससे अधिनायक तन्त्र समाप्त हो सके। इसके लिये उनका उद्देश्य था कि अमेरिका के भीतर जातीय भेद समाप्त हो, सभी को समान अधिकार मिले और राष्ट्रीय धन का प्रयोग शिक्षा, विकास तथा बेरोजगारी को समाप्त करने में लग जाय।*

इस विदेश नीति के परिणाम स्वरूप राष्ट्रपति कैनेडी प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव से मिलकर इस नतीजे पर पहुँचे कि शीतयुद्ध दोनो गुटो मे अस्पष्टता, सन्देह के कारण बढ़ रहा है। लाम्रोस की समस्या के हल के लिए उन्होंने सोवियत मत को प्रभावित किया। साम्यवादी गुट की ओर उन्होंने सह अस्तित्व की नीति अपनायी। उन्होने 'नाटो में विच्छेद' की नीति को रोका और क्षेत्रीय परिषदों मे राष्ट्रो को सहयोग की ओर दबाव डाला। जर्मनी के मसले पर राष्ट्रपति कैनेडी ने बडी दृढता से सोवियत संघ को चेतावनी दी कि रूस की एक पक्षीय कार्यवाही का अमेरिका कभी समर्थन नही करेगा।

**क्यूबा का संकट**—'कनेडी युग' की विदेश नीति की सबसे बडी सफलता क्यूबा में मिली। क्यूबा मे बढता हुआ 'कैस्ट्रोवाद' अमेरिका के लिए बडा भयानक खतरा था और रूस उसे साम्यवादी गुट मे खैंच रहा था। साम्यवादी रूस ने अमेरिका के विरोध के बावजूद भी गगन भेदी प्रक्षेपणास्त्र तथा अन्य सन्य सामग्री क्यूबा को भेजने का निश्चय किया। यह अमेरिका को चुनौती थी और कैनेडी शांति का पुजारी होते हुए भी यथार्थता को सबलता से मुकाबला करने को कटिबद्ध थे। 4 सितम्बर 1962 को राष्ट्रपति कनेडी ने अपने वक्तव्य में बतलाया कि क्यूबा मे रूसी नीति जो सैनिक अड्डे बनाने की है वह अमेरिका के लिए खतरा है और अमेरिका रूस को ऐसा कभी नही करने देगा। यद्यपि यह भी सत्य है कि—अमेरिका स्वयं सैनिक अड्डे बनाने की ओर प्रयत्नशील रहा है तो वह रूस को इस अधिकार से नही रोक सकता था किन्तु शक्तिशाली राष्ट्र होने के नाते इसने उसका विरोध किया और 23 अक्टूबर 1962 को राष्ट्रपति कनेडी ने घोषणा की "अमरिका के जहाजो द्वारा क्यूबा के बन्दरगाहोको घेर लिया जाय ताकि रूस द्वारा यहाँ के अड्डो पर आणविक सामग्री न भेजी जा सके।" घोषणा के परिणामस्वरूप कुछ समय के लिए विश्व मे युद्ध के बादल मंडराने लगे किन्तु प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने दूरदर्शिता से स्थिति को नियंत्रित किया और सामरिक सामग्री को भेजने का निर्णय वापस ले लिया। किंतु इस घटना का सबसे बडा परिणाम यह हुआ कि रूस व अमेरिका के बीच सह अस्तित्व की नीति बढ़ने लगी, शीत युद्ध मे कमी आयी और 26 जौलाई 1963 को अमेरिका, ब्रिटेन, रूस आदि देशों ने अणु परीक्षण निरोधक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसका भारत ने भी समर्थन किया।

**राष्ट्रपति जॉनसन की विदेश नीति**—राष्ट्रपति कैनेडी के चार वर्ष समाप्त होने के पूर्व ही उनकी हत्या कर दी गई और 22 नवम्बर 1963 को लिंडन जॉनसन जो उपराष्ट्रपति थे राष्ट्रपति बने। यद्यपि राष्ट्रपति जॉनसन ने सत्तारूढ़ होने पर यह वायदा किया था कि वे कनेडी नीति का ही पालन करेंगे, उन्होंने विदेश नीति के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाये। ये कदम हालांकि अमेरिकी नीति के विकसित स्वरूप ही थे तथापि ये स्वयं मे नवीन थे। ये इस प्रकार थे —

दीवार को और भी बढ़ा दिया। इस युद्ध के पश्चात् अमेरिका ने चीन के प्रभाव से राष्ट्रों को मुक्त करने की खुली नीति अपनायी। सीटो का निर्माण चीन के अनुसार उसके विरुद्ध एक खुला कदम था। अमेरिका ने लाल चीन को कभी मान्यता नहीं प्रदान की और संयुक्त राष्ट्र संघ मे उसके प्रवेश पर वीटो का प्रयोग किया।

दूसरी ओर चीन ने अमेरिका पर यह दोषारोपण किया कि अमेरिका एक साम्राज्यवादी देश है और आर्थिक गुलामी की स्वतत्र राष्ट्रों पर जजीर डाल रहा है। चीन का कथन है कि साम्राज्यवादी अमेरिका शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। चीन की मान्यता है कि अमेरिका ने जो द्वीप अपने पास दबा रखे है जब तक लौटायगा नही वह चैन से नही बैठेगा। माओ के अनुसार अमेरिका शीघ्र ही नष्ट होने वाला देश है।× चीन ने अमेरिका के सम्बन्ध मे जो शब्द प्रयोग किये हैं जैसे–कागजी शेर (Paper Tiger) अमरिकी जाल व झासेबाजी (Trick & Fraud) उससे विरोधी भावनायें बढी। चीन का यह पक्का दृष्टिकोण है कि यदि विश्व मे अणु युद्ध हुआ, जो आवश्यक भी है, तो अत मे चीन की विजय होगी क्योकि उसकी जनसख्या बहुत अधिक है।

चीन ने अमेरिका के विरुद्ध उत्तरी वियतनाम को सहायता दी। वह दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अमेरिका के विरुद्ध मोर्चा बना रहा है तथा उत्तरी वियतनाम को सतत युद्ध के लिए प्रेरित कर रहा है। चीन ने अमेरिकी सहायक के विरुद्ध पाकिस्तान से समझौता किया। वह जापानियो को अमेरिका के विरुद्ध उकसा रहा है। साम्य-वादी नेता कुओ मो-जो ने घोषणा की कि अमेरिका चीन व जापान का शत्रु है। चीन रूस को भी अमरिकी पिट्ठू की सज्ञा देने लगा है। चीन अणुबम का निर्माण कर अमेरिकी व रूस की अणुशक्ति के समान शक्तिवान् बनने मे अग्रसर है। चीन ने कनेडी को आइजनहॉवर से बदतर घोषित किया और माओ शक्ति सघर्ष मे अमेरिका को पछाड़ देना चाहता है।

यथार्थत अमेरिकी चीन विवाद एक ऐतिहासिक घटना के रूप म बदल चुका है। दोनों में विरोध की मात्रा निकट भविष्य मे समाप्त होने वाली नहीं है। चीन अमेरिका के उस समय तक निकट नहीं आयेगा जब तक वह अमेरिका के सापेक्ष सबल नही, दोनो चीन मिला लिए न जायें और चीन के वर्तमान नेतृत्व मे जब तक आमूल परिवर्तन न लाया जा सके।

---

× Mao confidently predicted 'If the U S monopoly capitalists group is bent on carrying out its policy of aggression and war the day will certainly come when humanity will hang it by the neck A similar fate awaits the accomplices of the U S

—Peking Review Sept 16, 1958 P 4

## रूस-अमरिकी निकटता

क्यूबा सकट के पश्चात् रूस व अमेरिका के बीच शीत युद्ध की समाप्ति तथा सह अस्तित्व की भावना सबल हो रही है। यह निकटता कई कारणों से विकसित हो रही है और इनम प्रमुख कारण रूस अमेरिका की समान सामरिक शक्ति (Balance of terror) तथा चीन का आविर्भाव है। ऐतिहासिक व सास्कृतिक दृष्टि से रूस चीन की अपेक्षा यूरोप तथा अमेरिका के अधिक निकट है। दोनो ही देश मतभेद होने पर भी चीन से अपने को अधिक शक्तिशाली रखना चाहते हैं। अणु प्रयोग नियत्रण सधि, तथा 1968 की परमाणविक सधि (Non proliferation Treaty) पर हस्ताक्षर कर दोना ने आपसी सहयोग का परिचय दिया। दोनों ही बड़े राष्ट्र आतरिक शक्ति तथा सम्पन्नता के विकास मे सलग्न हैं। दोनों ही ने असलग्नता की नीति का समथन किया है तथा दोनों ही भारत पाक युद्ध, अरब-इजराइल युद्ध म युद्ध विरोधक नीति के समथक रहे। इस सबके बावजूद भी रूस व अमरिका क बीच विरोधी विचारधारा से मतभेद बना हुआ है। जमनी, वियतनाम, हगरी आदि प्रश्नो पर दोनो मे विरोध जारी है, यद्यपि उसकी विरोध की मात्रा म बहुत कमी आती जा रही है।

**विदेशनीति की आलोचना व मूल्यांकन**—उपयु क्त विवरण से अमेरिका की विदश नीति के सम्बन्ध कुछ बातें बडी स्पष्ट हैं। अमेरिका की विदेश नीति मे यथाथता वास्तविकता तथा व्यवहारिकता का पुट बडा तेजी से बढ़ रहा है। कुछ समय पूव जाज कनन लेंडरर् जसे व्यक्तियों न अमरीकी विदशनीति को आदशवादी कहकर अशक्त तथा अयोग्य बतलाया था। अमेरिका की विदेश नीति 'लडरर' (The ugly American) के अनुसार असफल है। यद्यपि, इस लेखक के मत मे अमेरिका ने पूर्वीय राष्ट्रो के उत्थान मे इतना धन खच किया कि तु उसका परिणाम अत्यन्त न्यूनतम व प्रभावहीन रहा है। दूसरा, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिका के प्रत्येक राष्ट्रपति ने अपनी विदेशनीति का एक प्रमुख कायक्षेत्र चुना जसे राष्ट्रपति ट्रूमन ने टर्की व ग्रीस को, राष्ट्रपति आइजन हावर ने मध्य एशिया को, राष्ट्रपति कनडी ने लेटिन अमेरीका और राष्ट्रपति जौनसन ने वियतनाम को। सभी राष्ट्रपति इस प्रकार एक नये सिद्धान्त की घोषणा करना चाहते रहे हैं। जैसे की 'मुनरो सिद्धा त,' 'आइजन हॉवर सिद्धा त' आदि। सभी राष्ट्रपतियो ने 'मुनरो सिद्धा त' को लटिन अमेरिका से बढाकर विश्व म फैलाने का सफल प्रयत्न किया है। तीसरा अमेरीकी विदेशनीति की एक यह भी आलोचना की गई है कि राष्ट्रपति के व्यक्तित्व का अमेरिकी विदश नीति निर्धारण मे प्रभाव उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। चौथा, अमरिका की विदशनीति अवसरवादिता (Opportunism) की समथक रही है। अमरिका एक ओर जनत त्र की दुहाई दता है तथा दूसरी ओर वह स्पेन म फ्र कोका समथक है। पाकिस्तान म फील्ड मार्शल अयूब, राष्ट्रीय चीन मे च्याग काई शेक,

दक्षिणी कोरिया मे सिगमेनरी तथा वियतनाम मे बाओदाई जो सभी अधिनायकवादी रहे हैं। पाचवां, अमेरिका की वियतनाम नीति अमेरिका से बाहर के देशो में ही नहीं, वरन् अमेरिका के भीतर भी तीव्र आलोचना का विषय बना हुआ है। इसलिये राष्ट्रपति जॉनसन अमेरिका मे होने वाले नवीन चुनावो मे उम्मीदवार नही हैं। बल्कि राष्ट्रपति पद के लिये अन्य उम्मीदवार भी वियतनाम नीति की तीव्र आलोचना कर रहे हैं। किसी भी अन्य विषय पर अमेरिकी मत इतना विभाजित नहीं हुआ है जितना कि वियतनाम समस्या पर। छठा, अमेरिका की आर्थिक सहायता की नीति जो राजनीतिक हितो से बँध गई है, विकासवादी देशो मे आलोचना का विषय बन गई है। सातवा, अमेरिका की सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्तगत नीति, जातीय रगभेद नीति तथा सघीय परिषदें व सैनिक अड्डो की नीति का भी विश्व मे बडा विरोध हुआ है।

इन सभी कमियों के बावजूद भी अमेरिकी नीति विश्व मे काफी सफल है। अमेरिका ने विश्व को साम्यवादी खतरे से बचाया है। दुनिया के गणतन्त्र देशो के आर्थिक व राजनीतिक विकास मे अमेरिका ने सबसे अधिक सहायता पहुचायी है। अमेरिका द्वारा दक्षिणी वियतनाम चीन के उत्तरोत्तर बढते हुये हस्तक्षेप को रोकने के जो कदम उठाये हैं वे दक्षिणी-पूर्वी एशिया के जनतन्त्र की रक्षा के लिये परमावश्यक हैं। अमेरिकी सरकार की क्यूबा नीति एक सफलता की परिचायक है। अमेरिका अपनी आर्थिक सबलता के कारण विश्व को आर्थिक विध्वस से बचाकर पिछड़े राष्ट्रो को स्वतन्त्रता की ज्योति रक्षित करने मे सहायक सिद्ध हो सकता है।

---

# रूस की वर्तमान विदेश नीति

## ( Russian Foreign Policy )

सोवियत रूस की विदेश नीति के आधार भूत सिद्धान्तों तथा स्तालिन की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद तक का वर्णन हम पिछले पृष्ठों मे ( 228–238 ) विस्तार से कर चुके हैं। स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् रूस की विदेशनीति में विशेष मोड आया और उस परिवर्तन के प्रमुख नेता ख्रुश्चेव तथा कोसीजिन रहे हैं। विदेश नीति मे इस मोड को जानने के हेतु हमे सोवियत रूस को प्रभावित करने वाली आतरिक व वाह्य घटनाओ का ज्ञान आवश्यक है।

5 मार्च 1943 को स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् रूस मे शक्ति त्रय-सघर्ष पार्टी, पुलिस व सेन्य शक्ति मे प्रारम्भ हुआ। सक्षिप्त मे इस त्रय सघर्ष की इतिश्री अतिरिक्त सुरक्षा शक्ति के अध्यक्ष बेरिया के पतन ( दिसम्बर 23,1953 ), मार्शल वोरासोलोव के राष्ट्रपति पद पर नियुक्ति तथा 8 फरवरी, 1955 को मलन्कॉव के स्थान पर मार्शल बुलगानिन के पद स्थापन से हुई। इस नवीन शक्ति व्यवस्था मे निकेता ख्रुश्चेव की सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के केन्द्रीय समिति के सचिवालय के अध्यक्ष के रूप में नियुक्ति की गई। यह पद ख्रुश्चेव के पूर्व स्वय स्टालिन के अधीन था, और इसीलिये उक्त पद पर ख्रुश्चेव की नियुक्ति को पश्चिम राष्ट्रों की दृष्टि मे 'नवीन स्टालिन' के रूप मे समझा गया। यह सत्य भी निकला क्योंकि ख्रुश्चेव धीरे-धीरे अपने प्रतिद्वन्द्व को अशक्त करते हुये स्वय शक्तिशाली बन गया। उसने 3 जौलाई, 1957 को मोलोतोव व मलन्कॉव को पदच्युत किया, 26 अक्तूबर 1957 को मार्शल जुकॉव का पदोन्मुख किया और मार्च 27, 1958 को मार्शल बुलगानिन को पदातिरिक्त कर स्वय ने उस शक्ति व पद को ग्रहण कर लिया।

आन्तरिक दृष्टि के निकेता ख्रुश्चेव ने इस शक्ति परिवर्तन व सघर्ष के दौरान मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। प्रथम, उसने स्तालिन के व्यक्तिगत नेतृत्व सिद्धात के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership)को प्रमुखता दी। दूसरा निकेता ख्रुश्चेव ने पदोन्नत होते ही 'स्तालिनवाद' का तीव्र खण्डन किया। 1956 की 20 वी पार्टी काँग्रेस मे उसने स्तालिन को असम्य दोषों व त्रुटियो का नेता घोषित किया और उसके कार्यों व नीतियों की भारी भर्त्सना व निन्दा की*

---

* An amusing story was circulating in Moscow in March 1956 that Khrushchev following his denunciation of Stalin, received an anonymous note asking what he had been doing when Stalin was alive to stop the terror Khrushchev read the note to the Congress and demanded that the author *stand up* *No one volunteered* So Comrades said Khrushchev Now you know what I was doing when Stalin was alive I did not stand up either

—Hartmann The relations of Nations P 507

अक्तूबर 1961 मे उसने 'स्तालिनवाद' का खण्डन करते हुये स्तालिन के मृतक शरीर को रेड स्क्यावर मे स्थापित लेनिन ट्रूम्ब से हटाकर दुबारा दफनाया। तीसरा, उसने रूस मे विद्यमान अपने बडे बडे प्रतिद्वन्द्वियो जैसे मोलोतोव तथा राष्ट्रपति वोरोसिलोव आदि को पार्टी सदस्यता से वंचित करने की धमकी दी।

वाह्य दृष्टि से, रूस की विदेशनीति मे परिवतन लाने वाली कुछ महत्वपूण घटनायें हुयी उनमे हगरी काड, पोलैंड समस्या, लाल चीन का सशक्त होना व रूस-चीन मत विभेद, अमेरिका मे राष्ट्रपति केनैडी की नियुक्ति,युगोस्लावियामे टीटो-पक्षीय शक्ति वेग आदि थे। स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् तथा ख्रुश्चेव के उत्थान के बीच रूस की नीति मे जो परिवतन आने लगे थे वे मुख्यत इस प्रकार थे—लौह आवरण का अन्त, नवीन आर्थिक सहायता की कूटनीति, शांतिपूण सह अस्तित्व तथा देश विदेशो से आपसी भ्रमण विनिमय द्वारा सास्कृतिक व राजनीतिक सम्पर्क स्थापित करना आदि मोड रूस की विदेश नीति मे आने लगे थे। स्टालिनोत्तर विदेश नीति की दो प्रमुख विशेषतायें सामने आयी और वे अमेरिका की दृष्टि से वडी महत्वपूण थी, (i) रूसका यूरोपीय आगन मे प्रवेश और चीन से राजनीतिक समझौता और दूसरा (ii) रूस से बाहर अन्य साम्यवादी देशो से राजनीतिक सम्बन्ध की स्थापना का प्रश्न।

ख्रुश्चेव की विदेशनीति—ख्रुश्चेव की विदेश नीति ने सोवियत रूस की पारस्परिक नीति को महत्वपूण मोड प्रदान किया। उसने स्तालिन व्यवस्था के विपरीत विदेश नीति के क्षेत्र मे कुछ नये कदम उठाये। ख्रुश्चेव की विदेशनीति के प्रमुख तत्व इस प्रकार थे—

(1) यात्रा की कूटनीति (Diplomacy of exchange visits)—ख्रुश्चेव ने अपने प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के पूव ही विदेशा की यात्रा प्रारम्भ कर दी थी। ख्रुश्चेव ने लालचीन, भारत, पूर्वीय यूरोप तथा ब्रिटेन, फ्रास व अमेरिका आदि देशो की यात्रा की। परिणाम स्वरूप अमेरीकि प्रतिनिधि उपराष्ट्रपति निक्सन ने भी 1959 मे रूस की यात्रा की। दोनो देशो के आपसी यात्रा विनिमय के फल-स्वरूप 'बर्लिन की समस्या' मे सुधार आया और दोना देशो के बीच सघष स्थिति मे भी परिवतन आया जिसका प्रभाव 'नि शस्त्रीकरण प्रयत्नो, अणु परीक्षण आदि विषयो पर पडा।'

(2) शिखर सम्मेलनव अन्य वार्तायें (Summit Conferences)—रूस व अमेरिका के बीच व्याप्त 'शीतयुद्ध' तथा जमनी की समस्या को लेकर जो सघष बढा हुआ था, उसे ख्रुश्चेव ने वार्ता नीति से हल करने का प्रयत्न किया। 1959 मे रूस व ब्रिटेन के बीच बर्लिन समस्या पर वार्तालाप शुरू हुई। मई 1959 मे ब्रिटेन, फ्रास, अमेरिका तथा सोवियत रूस के विदेश मन्त्रियो का एक सम्मेलन जेनेवा (Geneval

Summit meet) शुरू हुआ। शिखर सम्मेलन मे जर्मनी के प्रश्न पर राष्ट्रों के प्रतिनिधियो के बीच कई प्रस्तावो पर वाद विवाद हुए किंतु यू–२ घटना के कारण उस शिखर-सम्मेलन की हत्या करदी गई और जर्मन समस्या में कोई सुधार नहीं आ सका यद्यपि 19 मई, 1960 को ख्रुश्चेव ने घोषणा की वह जर्मनी के सम्बन्ध में ऐसी कोई भी कार्यवाही नही करेगा जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति को खतरा पहुचाये। इसके पश्चात् उस 5 जून 1961 मे ख्रुश्चेव तथा अमेरीका के राष्ट्रपति कनेडी आस्ट्रिया की राजधानी वियना मे मिले। इस सम्मेलन मे जर्मनी के प्रश्न को लेकर कुछ प्रस्ताव रक्खे गये थे। इसी तरह रूस चीन विवाद को लेकर ख्रुश्चेव के काल मे 5 जुलाई, 1963 मे चीन व रूस के प्रतिनिधियों का सम्मेलन मास्को में हुआ किन्तु दोनो देशों म प्रगतिशील कटुता का वातावरण सम्मेलन को सफल नही बना सका। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि ख्रुश्चेव ने बड़े बड़े मसलो को वार्तालाप द्वारा तय करने का प्रयत्न किया। स्तालिन काल मे 'वार्तालाप की राजनीति' को कोई महत्व नही दिया गया था और ख्रुश्चेव ने उसे प्रारम्भ की। यद्यपि वार्तालाप के कुछ महत्वपूर्ण परिणाम न निकले, तो भी, रूस के सम्बन्ध विश्व राष्ट्रों से बढ़ने लगे थे।

(3) शक्ति पर आधारित राजनीति (Policy based on position of strength)—ख्रुश्चेव की नीति की तीसरी विशेषता उसकी नीति का शक्ति सिद्धांत पर आधारित होना था। स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् ख्रुश्चेव ने सोवियत रूस की सैन्य शक्ति, अणुशक्ति आदि का तेजी से वर्धन किया। उसने अमेरीका की दौड़ में कोई नवीन आविष्कार मे रूस को पीछे नहीं होने दिया। वह भी अमेरिका के डलैस की भाँति 'शक्ति दिखाना' (To demonstrate power) नीति का समर्थक था। 1962 में क्यूबा प्रश्न पर ख्रुश्चेवकी विदेश नीति ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ह्यूमके अनुसार शक्ति-वर्धन तथा अमेरीका को शक्ति प्रदर्शन करना ही था। ख्रुश्चेव का विश्वास था कि अमेरिका को क्यूबा के सोवियत अड्डों में घेर कर और अमरीकी नगरों को अपने प्रक्षेपणास्त्रों का सुगम लक्ष्य बनाकर वह अमेरीका से मनमानी रियायतें प्राप्त कर सकेगा। यद्यपि वह इस नीति में सफल नहीं हो सका।

(4) सहअस्तित्व को राजनीति (Peaceful Co-existence)—ख्रुश्चेव ने 1956 की 20 वीं पार्टी कांग्रेस में उक्त नीति की घोषणा की। इस नीति के अन्तर्गत उसने स्तालिन युग में प्रचलित परम्परागत नीति की निंदा की और उन राष्ट्रों से सम्पर्क स्थापित करने पर जोर दिया जो गैर साम्यवादी हैं। इस नीति द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने पर जोर दिया गया। सोवियत संघ द्वारा विश्व के पिछड़े देशों को आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया तथा पश्चिमी विरोधी शक्तियों के साथ खुले संघर्ष की नीति के परित्याग पर

लिया गया। ख्रुश्चेव ने सम्मेलन में कहा "हम संयुक्त राज्य अमेरिका या

अन्य किसी भी देश के विरुद्ध युद्ध करना नही चाहते। हम शांतिपूर्ण निर्माण मे रचनात्मक दृष्टि से प्रतियोगी होना चाहते हैं।"

(5) शीत युद्ध मे कमी (To ease the tension)—ख्रुश्चेव की विदेश नीति का पाचवा लक्ष्य अमेरिका से व्याप्त शीत युद्ध को कम करना था। यह सत्य है कि जिस प्रबल शीत युद्ध का स्तालिन काल मे प्रारम्भ हुआ वह ख्रुश्चेव के समय मे बहुत प्रभावहीन होता जा रहा था। ख्रुश्चेव ने 'शीत युद्ध' को कम करने के हेतु बडे महत्वपूर्ण कदम उठाये। उदाहरणार्थ, 1958 मे सोवियत रूस ने व्यक्तिगत रूप से अणु परीक्षणो को रोकने के निश्चय की घोषणा की, मई 1960 मे चार बडे राष्ट्रों का सम्मेलन, 1962 मे क्यूबा मे सोवियत रूस ने अमेरिकी दृष्टिकोण का समर्थन तथा 1963 मे अणु-निरोधक सधि (Test-Ban Treaty) पर हस्ताक्षर किये।

इस प्रकार ख्रुश्चेव ने सोवियत रूस की विदेश नीति को भूत से सम्बन्धित रखते हुए तथा मौलिक सिद्धान्तो की रक्षा करते हुये भी नवीन युग की आवश्यकतानुसार व्यवस्थित करने में भी भारी सफलता प्राप्त की। 'विदेश नीति' के क्षेत्र मे सोवियत रूस मे उसने एक रचनात्मक मोड दिया। यद्यपि 1964 में ख्रुश्चेव का पतन हुआ किंतु सोवियत विदेश नीति मे जो उसने मोड़ दिया वह प्रशसनीय रहा है। आज भी कोसीजिन उसी नीति का पूर्णरूपेण पालन कर रहे हैं।

कोसीजिन के समय मे रूस की वर्तमान नीति—अक्टूबर 1964 मे ख्रुश्चेव का पतन हुआ। यद्यपि सोवियत रूस में नेतृत्व परिवर्तन के कारणो का पता लगाना कठिन है किंतु प्रचलित विचारो के अनुसार रूस मे कृषि असफलतायें, रूस-चीन विवाद ख्रुश्चेव मे अधिनायक तत्व उसके पतन के प्रमुख कारण थे। ख्रुश्चेव के पश्चात् कोसीजिन रूस के नए प्रधान मन्त्री बने कोसीजिन ने अपनी विश्व राजनीति मे जिन बातो पर अधिक जोर दिया वे हैं—लाल चीन से सहयोग, एशियाई मसलों मे गहरी दिलचस्पी लेना तथा पश्चिम से सम्बन्ध बढ़ाना। इसके कतिपय उदाहरण हैं। रूस ने भारत-पाक सघर्ष के सबध मे *"ताशकद समझौता' द्वारा नवीन दृष्टिकोण* का परिचय दिया है। इसी भाँति अरब-इजरायल सघर्ष मे रूस का दृष्टिकोण अरब के पक्ष में स्पष्ट रूप से रहा। 21 जून, 1967 को रूस के राष्ट्रपति नासिर से बातचीत की। रूस ने खुले तौर पर अरब दृष्टिकोण का समर्थन करते हुये आधुनिकतम शस्त्र देने की घोषणा की।

इसी प्रकार 'कोसीजिन युग' मे सोवियत रूस की विदेश नीति पश्चिम के प्रति सहयोग की रही है। रूस व अमेरिका दोनों ही चीन को अधिक शक्तिशाली नहीं बनने देने मे एक मत हैं। जून 1967 मे अरब इजराइल समस्या को लेकर जो सयुक्त

राष्ट्र सघ का अधिवेशन हुआ उसमे रूसी प्रधानमन्त्री कोसीजिन स्वय पहुँचे और दोनो देशों के नेताओं में घण्टों बातचीत हुई। दोनों ने 'सयम की राजनीति' का समर्थन किया। 1968 मे सोवियत रूस व अमेरीका ने अणुसामग्री के सम्बन्ध में (Non proliteration Treaty) हुई सधि पत्र पर हस्ताक्षर किय।

## एक नया मोड

चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण व पाक को स य सामग्री—21 अगस्त 1968 मे 'चैकोस्लोवाकिया' पर रूसी गुट की फौजों का आक्रमण एक महत्वपूर्ण घटना रही है। इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रूस 'शक्ति राजनीति' तथा कूट-नीतिक चालों से अपने राष्ट्रहित व दृष्टिकोण को आगे बढ़ाना चाहता है। इस आक्रमण की विश्व के सभी राष्ट्रों ने घोर निंदा की है। इसी प्रकार रूस द्वारा पाकिस्तान को जो शस्त्र सहायता दी गई है उसकी भारत म तीव्र प्रतिक्रिया हुई है। क्या यह नीति रूस की 'ताशकद भावना के विपरीत नही है? एक ओर रूस वियतनाम के प्रश्न पर उतना क्रियाशील नही है और दूसरी ओर वह अपनी नीति मे मोड देकर 'हस्तक्षेप' नीति को अपना रहा है।

## सोवियत रूस व विश्व

रूस व अमेरिका —सोवियत रूस व अमेरिका में परस्पर मत विरोध स्वाभाविक है क्योंकि दोनो की विचारधारा पृथक पृथक है, दोनो की राजनीतिक व्यवस्था भिन्न २ हैं, दोनों का उद्देश्य शक्ति-वर्धन है, दानो ही महा-शक्ति बनने मे सलग्न रही हैं और दोनों की पद्धतिया भी अलग अलग रही हैं। यह मत विरोध 'शीत युद्ध' के नाम से प्रारम्भ हुआ। इसका प्रारम्भ द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मे हुआ और ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, नाटो आदि सैन्य गठन ने इस मतभेद का विस्तार किया। इसके पश्चात् जर्मनी की उलझन में दोनों के बीच विरोध की दीवार बढ़ा दी। इसका परिणाम यह निकला कि दोनों देश शक्ति-वर्धन म लगे रहे और विश्वास की मात्रा समाप्त हो गयी। 1945 से 1962 के दौरान में जितने भी प्रयत्न किये गये, प्राप्त अविश्वास के कारण सभी असफल रहे। ख्रुश्चेव तथा कैनेडी युग मे नवीन सबधों को दोनो देशो में सचार प्रारम्भ हुआ। इस समय तक दानो देशों के बीच भय शक्ति सतुलन ( Balance of terror ) भी आ चुका था। दोनों महाशक्तियाँ शक्ति की सर्वोच्च सीमा प्राप्त कर चुकी थीं। इसके अतिरिक्त भी चीन दोनों ही महा-शक्तियों को भयभीत करने लगा और उसके विरुद्ध आपसी सम्पर्क बढ़ने लगे। दोनों ने अणुशक्ति निरोधक सधियो पर हस्ताक्षर करके सहयोग नीति का परिचय दिया है। दोनों ही ब्लाकों मे आंतरिक विरोध बढने लगे। उदाहरणार्थ सोवियत रूस में चैकोस्लोवाकिया व लाल चीन का मत विरोध है और अमरीकी ब्लॉक में फ्रांस का

विरोध बढ रहा है। इस प्रकार रूस व अमेरिका मे अपनी राजनीति का कार्य क्षेत्र काफी बँटा हुआ है किन्तु फिर भी विश्व शांति, विश्व युद्ध, चीन की भयानकता से दोनो ही पराभूत हैं दोनो ही देशो ने 'असलग्न राष्ट्रो को मान्यता दे दी है और जहाँ समव हो सके एक दूसरे के नजदीक आ रहे हैं।

रूस व चीन —रूस-चीन विवाद को हमने एक पृथक् अध्याय मे विस्तार से प्रस्तुत किया है। रूस चीन विवाद आधुनिक विश्व की एक महत्वपूर्ण घटना है और विश्व का भविष्य इस पर बहुत अधिक निर्भर करता है। दोनो देशो मे मतविरोध 'ख्रुश्चेव युग' मे प्रारम हुआ जिसके कई कारण थे जसे साम्यवादी दल के नेतृत्व का प्रश्न, स्तालिनवाद का खडन, चीनमे परिवतन नीति (Revisionism) यूगोस्लोवाकिया से रूस के सबध, रूस द्वारा असलग्न राष्ट्रो को मान्यता, रूस का पश्चिमी राष्ट्रों से सहयोग तथा माओ व ख्रुश्चेव मे व्यक्तिगत विरोध। यद्यपि लाल चीन की वतमान शक्ति निर्माण का श्रोत रूस ही रहा है किन्तु दोनो मे मत विरोध तीव्र है। इस मत विरोध के परिणाम स्वरूप चीन ने रूस से कुछ भूमि की माँग की, उसका एशियाई अफ्रीकी सम्मेलन मे भाग लेने का विरोध किया, तथा चीन ने रूसी नेताओ तथा नीति की खुली भर्त्सना की। इधर रूस का 'वियतनाम' में जो दृष्टिकोण रहा है उसके पीछे यह मत विरोध ही कारण है। यद्यपि रूस ने वियतनाम को सैनिक शक्ति देने की (जनवरी 1965) मे घोषणा की और 13 अप्रेल, 1967 को वियतनाम और सोवियत सघ मे सनिक सहायता पर समझौता भी हुआ किन्तु उसने खुले तौर पर अमेरिका का विरोध नही किया। इसका एक कारण रूस चीन मत विरोध रहा है। रूस चीन को सहायता अवश्य दे सकता है किन्तु वह उसे अपने से अधिक शक्तिशाली बनने का समथन नही कर सकता।

आलोचना—सोवियत विदेश नीति की आलोचना करते हुये एक बार ब्रिटेन के भूतपूव प्रधान मत्री चर्चिल ने कहा था कि "साम्यवादी देश बौद्धिक रूप से अग्राह्य हैं (Communsts are intellectually inaccessible)" यह सत्य भी है। रूस सद्धांतिक तौर पर माक्सवाद व लेनिनवाद का समथक है। किन्तु उसकी व्यवहारिक राजनीति में बडा लचीलापन है। रूस ने एक ताशकद समझौता करवा कर शांति प्रतिनिधि का परिचय दिया और दूसरी ओर चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया और पाकिस्तान को सनिक सहायता देने लगा है। एक ओर उसने अमेरीकी गुट का मिश्र मे विरोध किया दूसरी ओर उसने हगरी पर आक्रमण किया। इसी तरह वह एक ओर वियतनाम मे अमेरीका का विरोध करता है तथा दूसरी ओर चैकोस्लावाकिया पर आक्रमण करता है। इस प्रकार व्यवहारिक दृष्टि से रूस की विदेश नीति शक्ति सघष, अवसरवादिता तथा व्यक्तिगत निर्णय पर आधारित है। उसका प्रमुख

कारण रूस मे शक्ति, राजनीति व पार्टी का समन्वय है। जैसे आज यह नहीं कहा जा सकता है कि रूस में कल कौन शक्ति ग्रहण करेगा उसी प्रकार किसी भी राष्ट्र के प्रति उसके दृष्टिकोण की निश्चित मान्यता रखना भ्रमपूर्ण सिद्ध होगा। किन्तु यह तर्क सिद्ध है कि रूस ने जिस गति से औद्योगिक प्रगति की है, और जिस रफ्तार से उसका सम्पर्क जनतान्त्रिक देशों से बढ़ रहा है उससे रूस की नीति में समन्वय सापेक्षता तथा स्थायित्व अवश्य आयेगा। इसी तरह के विचार एक बार पंडित नेहरू ने अपनी रूसी यात्रा के समय प्रगट किये थे।

---

# निःशस्त्रीकरण की समस्या

## (Problem of Disarmament)

विश्व शान्ति के प्रश्न को हल करने के लिए जिन उपकरणों की सहायता ली गई उनमें एक नि शस्त्रीकरण भी है । विश्व शान्ति के लिए 'शक्ति तत्व का प्रयोग प्रमुख अवरोध है और शक्ति-तत्व को कम करने के लिए नि शस्त्रीकरण आवश्यक है ।

नि शस्त्रीकरण से तात्पर्य —नि शस्त्रीकरण से तात्पय शस्त्रों की कमी करने से है । शस्त्रो की पूर्ण समाप्ति न तो सम्भव है और न उचित ही । नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने कहा था कि, "प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा के अनुपात मे शस्त्रो की कमी करना, नि शस्त्रीकरण है ।" दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि शस्त्र रखने के दो अभिप्राय हो सकते हैं–एक सुरक्षा का व दूसरा आक्रमण का । सुरक्षा की निर्धारित सीमा तक शस्त्रों की कमी करना नि शस्त्रीकरण है । इसके बाहर शस्त्रो की वृद्धि करना आक्रामक भावना का प्रतिनिधित्व करना है ।

नि शस्त्रीकरण एव शस्त्र नियन्त्रण विलग पर एक मिश्रित उद्देश्य —आधुनिक युग मे एक नवीन शब्द और प्रचलित हो चला है जिसे 'शस्त्र नियन्त्रण' (Arms Control) कहते हैं । शस्त्र नियन्त्रण से तात्पय राष्ट्रो के बीच उस सहयोग से है जिसका उद्देश्य शस्त्रों की दौड मे कमी करना, युद्ध की सम्भावना को कम करना अथवा सहार के क्षेत्र को सीमित करना है । शक्ति नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रो के बीच समझौतों द्वारा विध्वसकारी शस्त्रो की वृद्धि को रोकना है, किन्तु नि शस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण दोनो मे सम्बन्ध और विच्छेद है । नि शस्त्रीकरण मे युद्ध सामग्री और युद्ध सैनिको मे अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति के अनुसार कमी करने से है, जबकि शस्त्र नियन्त्रण का तात्पय अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति का प्रयोग शस्त्रो के प्रयोग के सम्बन्ध मे लागू करने से है ।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जो शीत–युद्ध प्रारम्भ हुआ उसमें सोवियत रूस की यह मान्यता थी कि सयुक्त राज्य अमेरिका शस्त्र–नियन्त्रण नि शस्त्रीकरण के बिना चाहता है और रूस इसके बिल्कुल विपरीत, किन्तु नि शस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण में अभिन्न सम्बन्ध है । शस्त्र नियन्त्रण के बिना नि शस्त्रीकरण सम्भव नहीं है । उदाहरण के लिये अमेरिका और उसके गुट के राष्ट्र नि शस्त्रीकरण का कभी समथन नही करेंगे—जब तक की उन्हें यह विश्वास न दिला दिया जाय कि रूस व

उस गुट के अन्य साम्यवादी मित्र-राष्ट्रों के सम्बन्ध में किये गये अन्य सन्धि पत्रों की शर्तों को कार्यान्वित करने के लिए तैयार हैं। इसी प्रकार रूस का यह मत है कि जब तक पूर्ण निःशस्त्रीकरण नहीं होगा–वह शस्त्र नियन्त्रण के लिए तैयार नहीं है।

निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण का उद्देश्य एक ही है और वह है अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे शक्ति प्रयोग से मुक्ति। शक्ति का प्रयोग केवल मात्र सामूहिक सुरक्षा के लिए स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण दोना ही के पीछे युद्ध समाप्ति का उद्देश्य सम्मिलित है। इसलिए निःशस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण दोनों एक दूसरे के स्पष्ट रूप से नजदीक हैं।

## निःशस्त्रीकरण आवश्यक है— क्यों ?

निःशस्त्रीकरण के पक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें तीन प्रमुख हैं—

(1) शस्त्र अनुपयुक्त हैं,

(2) शस्त्र अनावश्यक खर्च है, और

(3) युद्ध का प्रतीक भी।

शस्त्रों की होड मानव प्रगति नहीं, पतन का प्रतीक —शस्त्रों के निर्माण मे जो धन और श्रम व्यय होता है उसके अनुपात मे उसके परिणाम व्यय व हानिकारक सिद्ध होते हैं। शस्त्रों की अनुपयुक्तता को सम्बोधित करते हुए 1954 में राष्ट्रपति आइजन हावर ने बडे ही मार्मिक शब्दों मे कहा था—"हर बन्दूक जो बनायी जाती है, हर युद्धपोत जो छोडा जाता है, हर राकेट जो चलाया जाता है–उसका अन्तिम परिणाम यह सिद्ध करता है कि यह सब उन व्यक्तियों के कन्धों पर चलाये जाते हैं जो भूखे हैं और उनके पास कुछ खाने को नहीं है, जो ठिठुर रहे हैं और कपडे नहीं हैं और जो बीमार हैं किन्तु उनका उपचार नहीं किया जाता है।" (Every gun that is made, every war-ship launched, every rocket fired signifies in the final sense a theft from those who are hungry and are not fed, those who are cold and are not clothed and those who are sick and are not treated)

शस्त्रों के आर्थिक पहलु पर यदि दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होता है कि विश्व के राष्ट्र शस्त्र निर्माण में अपने राष्ट्र की एक महत्तम राशि शस्त्रों के निर्माण पर खर्च कर रहे हैं। एक अनुमान के अनुसार 'आधुनिक मानव ईसा मसीह के जन्म से एक स्वर्ण पौण्ड प्रति मिनट शस्त्रों पर व्यय कर रहा है।' राष्ट्र सघ (League of Nations) के बजट के अनुसार विश्व शांति पर केवल उतना ही खर्च किया जा रहा है—जो शस्त्रों के ऊपर किये गये व्यय के तीन प्रतिशत ब्याज के अनुपात में है। 1951 में संयुक्त राष्ट्र संघ महासचिव त्रिगवेरी ने कहा था कि–"संयुक्त राष्ट्र

सघ के 60 सदस्य राष्ट्र 2 हजार लाख डालर प्रति सप्ताह शस्त्र निर्माण पर खर्च कर रहे हैं जबकि सयुक्त राष्ट्र सघ का एक वप का कुल बजट 50000000 डालर है।" सन् 1967 मे विश्व के कुछ बडे राष्ट्रों का शस्त्र निर्माण पर खर्चा निम्न प्रकार से था—

| | | (शस्त्रों पर किये गये खर्चे की प्रतिशत) |
|---|---|---|
| (1) ग्रमेरिका | — | 9 8% |
| (2) सोवियत सघ | — | 6 9 " |
| (3) इ गलैण्ड | — | 6 5 " |
| (4) फ्रास | — | 6 3 " |
| (5) लाल चीन | — | 4 4 " |
| (6) जमनी (पश्चिमी) | — | 3 9 " |
| (7) भारत | — | |
| (8) पाकिस्तान | — | |
| (9) कनाडा | — | 4 6 " |

ऐसा ग्रनुमान लगाया जा चुका है कि एक परमाणु बम पर जो धनराशि खच होती हैं उससे तीस स्कूल व कालेज ग्रथवा पन्द्रह चिकित्सालय खोले जा सकते हैं।× ऐसा ग्रनुमान लगाया जाता है कि स० रा० सघ के ग्रार्थिक विभाग ने ग्रपने प्रतिवेदन मे यह बताया है कि विकसित राष्ट्र के प्रति व्यक्ति की ग्राय को 2 प्रतिशत बढ़ाने के लिए 19 हजार डालर प्रति वप खच करना होगा। सयुक्त राष्ट्र सघ की ग्रार्थिक व सामाजिक परिषद् के ग्रनुमान के ग्रनुसार 120 ग्ररब डालर प्रति वर्ष ग्रथवा 330 लाख डालर प्रतिदिन विश्व मे शस्त्रों के निर्माण पर व्यय किया जाता है। इसका 85 प्रतिशत भाग 7 राष्ट्रों के द्वारा वहन किया जाता है। इस प्रकार शस्त्र निर्माण पर किया गया खच केवल ग्रपराध ही नहीं बल्कि ज्ञान व विज्ञान की प्रगति में एक महान बाधा है।

निःशस्त्रीकरण एक मनोवैज्ञानिक ग्रावश्यकता —निःशस्त्रीकरण की नीति का मनोविश्लेपणात्मक पहलू ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण है। शस्त्रों में वृद्धि ही नहीं वरन्

× The cost of one modern heavy bomber is thus—
A modern brick school in more than thirty cities It is two electric power plants each serving a town of sixty thousand population It is two fine fully equiped hospitals it is some fifty miles of concret highways'

—Ganguli B N Economic consequences of Disarmament India Quartly Oct Dec 1962 P 324

शस्त्रों का रखना—भय, असुरक्षा, विरोध और युद्ध का प्रतीक होताहै। शस्त्र स्वयं में एक बीमारी नहीं वरन् बीमारी का प्रतीक है। जैसे कि ज्वर शरीर में किसी बीमारी का प्रतीक होता है। शस्त्र की दौड़ से भय व अविश्वास बढ़ता है व सैनिक प्रवृत्ति की जाति का उत्तरोत्तर विकास होता है। शस्त्रों की दौड़ से विध्वंसात्मक चेष्टाओं व प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिलता है। इससे प्रारम्भ में भुखमरी बढ़ती है व अन्त में मानव हत्या। शस्त्र स्वतन्त्रता के नहीं अपितु युद्ध एवं संघर्ष के प्रतीक हैं। इसकी वृद्धि से समाज में असुरक्षा व युद्ध की भावना को बल मिलता है।

अन्त में एक और महत्वपूर्ण बात जो निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में है—वह है शस्त्रों का तथा शस्त्र बनाने वाले कारखाने व कच्चे माल का शान्ति के प्रसार में प्रयोग किया जाना सैनिक उत्पादनों, अणुबम, शक्ति का यदि शांतिके विस्तार में प्रयोग किया जाय तो मानव विकास कहीं अधिक द्रुतगति से कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। जिन सुविधाओं व आवश्यकताओं का प्रयोग सैनिकों के लिए होता है यदि उनका साधारण जनता के लिए उपयोग किया जाय तो परिणाम मानव हित में कहीं अधिक लाभदायक सिद्ध होंगे। भारत के मत में अणु शक्ति का शान्ति स्थापना में प्रयोग सम्भव है व अधिक इस ओर प्रयत्नशील भी है।

## निःशस्त्रीकरण में व्यवहारिक कठिनाइयाँ
## (Difficulties in disarmament policy)

यह सब विदित है कि मानव निःशस्त्रीकरण के लिए किसी न किसी रूप में आदिकाल से प्रयत्नशील रहा है। 19 वीं शताब्दी से विश्व राजनीतिज्ञ निःशस्त्रीकरण के लिए बराबर योजनाएं बनाते रहे हैं किन्तु निःशस्त्रीकरण को व्यवहारिक रूप देने में सफल नहीं हो पाये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि निःशस्त्रीकरण को व्यवहारिक रूप देने में कुछ समस्याएं हैं जो निम्न हैं—

(1) राष्ट्र-सुरक्षा का प्रश्न—प्रत्येक राष्ट्र के सम्मुख सुरक्षा का प्रश्न प्राथमिक है। सुरक्षा की प्राप्ति के लिए शक्ति अनिवार्य है। शक्ति शस्त्रों में सन्निहित है। दूसरे शब्दों में सुरक्षा, शक्ति व शस्त्र एक दूसरे के पूरक व अभिन्न हैं। स्वीडन जैसा देश जो नितान्त रूप से तटस्थ राष्ट्र है सुरक्षा के लिए 740 रु० प्रति व्यक्ति शस्त्रों के निर्माण पर खर्च कर रहा है।

(2) युद्ध व निःशस्त्रीकरण—विद्वानों और राजनीतिज्ञों में युद्ध व शस्त्रों के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ के मतानुसार युद्ध से शस्त्र की दौड़ उत्पन्न होती है जबकि दूसरी ओर शस्त्रों से युद्ध प्रशस्त होता है ऐसा मानते हैं। यह स्वीकार करना त्रुटिपूर्ण होगा कि शस्त्रों की कमी से युद्ध की सम्भावना नहीं रहेगी। उदाहरणार्थ ने शस्त्र वृद्धि कर भारत पर आक्रमण किया किन्तु भारत की शस्त्र स्थिति सबल,

धर्मां आदि से अधिक होने पर भी वह आक्रमक नीति का समर्थन नहीं करेगा। 1907 के पश्चात् ज्यो-ज्यो यूरोप मे युद्ध की सम्भावना बढने लगी। शस्त्रों की दौड प्रारम्भ हुई। इसलिए स्पष्ट रूप से यह मत स्वीकार करना कि शस्त्रों की दौड युद्ध को जन्म देती है और नि शस्त्रीकरण से युद्ध नही होंगे आदि मत आदर्शवादी व तर्कहीन है।

3 शांति प्राप्ति व नि शस्त्रीकरण—नि शस्त्रीकरण और शांति मे भी अधिक सम्बन्ध नही है। शस्त्रो की दौड से विश्व शांति का मार्ग अवरुद्ध होता है—यह अभिमत कम व्यवहारिक दिखाई पडता है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि यदि राष्ट्र अपनी शक्ति को उस सीमा तक बढाते रहे, जब तक शक्ति सन्तुलन न हो जाय, तो शस्त्रीकिरण न्याय सगत है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् रूस व अमेरिका में शीत-युद्ध प्रारम्भ हुआ और ज्यो-ज्यों दोनों शक्तियो मे सन्तुलन बढने लगा शीत युद्ध शनै शनै कम होने लगा। ऐसी स्थिति अन्य राष्ट्रो के सम्बन्ध मे भी दिखाई पडती है। भारत और चीन के मध्य मतभेद की रेखा शस्त्रीय असतुलन से ही है। यदि अमूर्तरूप से विचार करें तो शांति मानव मस्तिष्क की एक स्थिति है। शस्त्रो की कमी या वृद्धि से उसमे अन्तर उत्पन्न नही होता है।

4 नि शस्त्रीकरण व तकनिकी विकास—विज्ञान की प्रगति व शस्त्र की खोजो मे गहरा सम्बन्ध है। आज का मानव वैज्ञानिक प्रगति के लिए प्रयत्नशील है। इस दृष्टि से वह नये-नये आविष्कारो व शास्त्रो की खोज करता है। विज्ञान विकास के प्रति इस अविरल आस्था ने अधिक से अधिक भयकर शस्त्रो की खोज की है। नि शस्त्रीकरण के लिए जो भी प्रयत्न किये जाते हैं वे जब तक प्रभावशाली नही होंगे, जब तक कि शस्त्र सम्बन्धी खोजो व अन्वेषणों पर नियन्त्रण न किया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान की खोजो के सम्बन्ध मे नियन्त्रण करना आधुनिक मानव को स्वीकार नही होगा।

5 नि शस्त्रीकरण नीति के लिये अनिवार्य सर्वदेशीयता—नि शस्त्रीकरण योजना की व्यवहारिकता सर्वदेशीय नि शस्त्रीकरण पर निर्भर करती है। एक पक्षीय या कुछ देशों द्वारा किये गये नि शस्त्रीकरण के परिणाम सफल नही होते जैसे—उदाहरण के लिए पाकिस्तान व चीन की उपेक्षा मे भारत द्वारा किया गया नि शस्त्रीकरण। जर्मनी की उपेक्षा मे फ्रांस ब्रिटेन द्वारा किया गया नि शस्त्रीकरण। नि शस्त्रीकरण जब सर्व देशीय नही होता, तो राष्ट्रो के बीच भय आशंका और युद्ध का खतरा बना रहता है। एक पक्षीय नि शस्त्रीकरण देश की नैतिक शक्ति को मजबूत होने मे योग नही देता।

6 नि शस्त्रीकरण राष्ट्रवाद व राज्य प्रभुता—नि शस्त्रीकरण को व्यवहारिक बनाने मे सबसे बड़ी कठिनाई राष्ट्रवाद और राज्य प्रभुता से उत्पन्न होती है।

उग्र राष्ट्रीयता की भावना ने राष्ट्रो के बीच शस्त्र नियन्त्रण के सम्बन्ध मे पारस्परिक समझौता नही होने दिया है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की शक्ति की जाच का मौका नही देता, दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण मे सभी स्वतन्त्र राष्ट्र एकमत नहीं है, जो राष्ट्रो के बीच समझौते को कार्यान्वित कर सके और अपराधी राष्ट्र का दण्ड दे सके। जब तक सभी राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता का आशिक भाग अन्तर्राष्ट्रीय हित मे समर्पित नही करते, नि शस्त्रीकरण के परिणाम व्यवहारिक सिद्ध नही होगे।

7 नि शस्त्रीकरण मे शस्त्रीकरण प्रवृत्ति —नि शस्त्रीकरण समस्या की एक और अजीब प्रवचना है। कुछ स्थितियो म नि शस्त्रीकरण शास्त्रीकरण की ओर धकलता है। जसा कि ऊपर कहा गया कि नि शस्त्रीकरण का अथ सुरक्षा के अनुपात मे शस्त्रों की मात्रा मे कमी करने से है। अब यदि एक राष्ट्र के पास सुरक्षा के अनुपात में शस्त्र कम है तो उस राष्ट्र के लिए नि शस्त्रीकरण का तात्पय शस्त्रों के बढाने से होगा। दूसरी बात यह है कि सुरक्षा का स्रोत आन्तरिक व बाह्य स्थिति है। कही भी परिवतन होने पर सुरक्षा स्थिति म परिवतन होगा और उसका प्रभाव शस्त्रों के अनुपात पर भी गिरेगा।

8 नि शस्त्रीकरण की प्राप्ति में शस्त्रो के स्वरूप की कठिनाई—नि शस्त्रीकरण के उद्देश्यों का व्यवहारिक बनाने म एक और कठिन समस्या-शस्त्रो के गुण (Quality) और सख्या (Quantity) का है।* किसी देश के पास शस्त्र सख्या म कम है लकिन गुण की दृष्टि से अधिक विध्वशकारी हैं। एक अणुबम के अनुपात मे विश्व के अन्य सभी प्रकार के शस्त्रों की सख्या न्यूनतम ही रहेगी। इसलिए नि शस्त्रीकरण दोनो ही प्रकार के शस्त्रो की कमी से सम्भव है। किन्तु राष्ट्रो के बीच ऐसा कोई मापदण्ड नही है जो शस्त्रों के गुण व सख्या का अनुपात स्थायी-

* Salvador de Madariaga illustrated at the Geneva Disarmament Conference in 1932 that—

"When the animals had gathered, the lion looked at the eagle and said gravely, "We must abolish talons !" The tiger looked at the elephant and said, "We must abolish tusks" The elephant looked back at the tiger and said, "We must abolish claws and jaws"

Thus each animal in turn proposed the abolition of the weapons he did not have until at last the b ar rose up and said in tones of sweet reasonableness

'Comrades, let us abolish everything—everything but the great universal embrace"

—edited on the New York Times Sept 19, 1959 P 1

रूप से निर्धारित कर सके। यही नही विभिन्न राष्ट्र या विभिन्न राज्याधिपतियो में इस सम्बन्ध मे एकमत होना सरल दिखाई नही पडता। 1932 के विश्व नि शस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता का एक बहुत बडा कारण शस्त्रो की गुण व सख्या पर एकमत होना नही था।

9 नि शस्त्रीकरण व अणुबम—आधुनिक विश्व मे अणुशक्ति मे जब तक कमी न हो, अन्य प्रकार का नि शस्त्रीकरण कोई मूल्य नही रखता। जिस देश के पास अणुशक्ति है उस देश की वास्तविक शक्ति अन्य सभी देशों की, सभी प्रकार के शस्त्रा की सख्या से कही अधिक है। शस्त्रो की सख्या घटे या बढे लेकिन जब तक अणु शक्ति पर नियन्त्रण न होगा नि शस्त्रीकरण की स्थापना मानव हित व विश्वशान्ति के सन्दर्भ मे प्रयत्न निष्फल रहेंगे।

10 नि शस्त्रीकरण व शस्त्र शक्ति का पता लगाने की कठिनाई—नि शस्त्रीकरण को लागू करने मे शस्त्रों की विध्वसकता का पता लगाना भी एक कठिन समस्या है। कुछ शस्त्र सख्या में अधिक होने पर भी उतने विध्वसात्मक नही है। शस्त्र आक्रामक भी होते हैं और सुरक्षात्मक भी। शस्त्र साध्य नही वरन् साधन है, उनकी भयानकता शस्त्रों को प्रयोग करने वाली सत्ता पर निर्भर करती है। यदि किसी देश की शासन बागडोर एक जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि के स्थान पर एक सैनिक सत्ताधारी के पास निहित है तो उस अवस्था मे शस्त्रो का प्रयोग युद्ध के लिए अधिक सम्भव है। माओ की युद्ध समर्थन नीति, साम्यवाद युद्ध द्वारा ही प्रशस्त होता है, हिटलर का शक्तिवाद मे विश्वास आदि ने शस्त्रो के आधिक्य का सहारा लिया, किन्तु दूसरी ओर शांतिप्रिय देशो ने शस्त्रो का प्रयोग सुरक्षा तथा सह-अस्तित्व की रक्षा के लिए किया। स्वीडन शस्त्रो मे वृद्धि तटस्थनीति की सुरक्षा के लिए आवश्यक मानता है। दक्षिणी वियतनाम अपनी सुरक्षा के लिए विदेशो से शस्त्र आयात करता है। उदाहरणार्थ, एक हवाई जहाज का प्रयोग द्रुतगति वाले यातायात के रूप मे अथवा बम डालने मे भी किया जा सकता है। इस प्रकार नि शस्त्रीकरण के स्थान पर शस्त्रो के प्रयोग पर नियन्त्रण अधिक आवश्यक है।

11 नि शस्त्रीकरण की नीति के अपनाने मे देश की राजनीतिक विचारधारा भी एक बन्धन है। विश्व के पूजीवादी देश अपनी सुरक्षा के लिए कुछ नीतियाँ जैसे 'शक्ति स्थिति' का निर्माण (Building situation of strength) 'शक्ति अवरोध' का मार्ग (Defence through deterrence) अथवा 'शक्ति-सन्तुलन' (Power equilibrium)। House of Commons मे भाषण देते हुए सन् 1955 मे चर्चिल ने कहा था—"जब तक एक विश्वसनीय और सर्वदेशीय नि शस्त्रीकरण, प्राचीन एव अर्वाचीन (Conventional and non-conventional) शस्त्रों पर समझौता नही होता, जब तक कि एक प्रभावशाली निरक्षण करने का

भाग नही अपनाया जाता, तब तक एक ऐसी नीति की आवश्यकता है जिसे अवरोधात्मक शक्ति' (Deterrant Power) कहते हैं।" सन् 1955 मे डोनाल्डए काल्स ने कहा था—"शाति का माग एक लम्बा और कठिन माग है, अत इसलिए हमे अपनी शक्ति सदैव बनाये रखनी चाहिए।"

12 निशस्त्रीकरण व बेकारी समस्या—नि शस्त्रीकरण नीति का परिणाम एक ऐसे वग मे बेकारी उत्पन्न करने से होगा जो शस्त्र निर्माण उद्योगो मे लगे हुए हैं, और उस क्षेत्र मे विशेष योग्य हैं। अमेरिका मे 25 प्रतिशत व्यक्ति Semi skilled और Skilled (कुशल व अद्ध कुशल) हैं। 1954 के आकडों के अनुसार एक लाख तिहत्तर हजार वज्ञानिकों मे $\frac{5}{6}$ प्रतिशत सुरक्षा सेनाओ से सम्बन्धित थे। पोलैण्ड मे सैनिक सप्लाई उद्योग—राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग अदा करते हैं। इस प्रकार सैनिक उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों का असैनिक उद्योगो मे भेजा जाना नि शस्त्रीकरण के लागू करने पर समस्या बन जायगा। एक भारी तादाद में श्रमिकों को नई शिक्षा देनी होगी, बहुत सी मशीनें व्यथ घोषित करदी जायेंगी। एक भारी तादाद मे श्रमिकों को नये व्यवसाय मे लगाने का प्रश्न आवश्यक हो जायगा।

अन्य व्यवहारिक कठिनाइयाँ—अन्त मे नि शस्त्रीकरण की नीति को कार्यान्वित करने मे कुछ विशिष्ट व्यावहारिक कठिनाइया और भी हैं—जिन राष्ट्रों के पास शस्त्र मौजूद है, क्या वे अपने शस्त्रों को—जिनमे कि उनकी बहुत बड़ी पू जी, श्रम एव समय लगा है—नष्ट करने के लिए तैयार हो जायेंगे? क्या बड़े राष्ट्र, छाटे राष्ट्रो को समान सुरक्षा देने का दायित्व पूरा कर सकेंगे? क्या 'शक्ति दौड' को नीति का गौण भाग बनाने के लिए कटिबद्ध हो जायेंगे? क्या राष्ट्र एक दूसरे को शस्त्र निरीक्षण का अधिकार दे देंगे? क्या शस्त्रो व सुरक्षा के बीच का अनुपात निर्धारित हो सकेगा? क्या राष्ट्र युद्ध की नीति के परित्याग का समथन कर सकेंगे? क्या राष्ट्रो का नतिक स्तर इतना उठ जायगा कि वे शक्ति के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करेंगे। क्या राष्ट्रों मे स्वतन्त्रता समानता व बन्धुता—राष्ट्रवाद की उपेक्षा कर अपेक्षित हो सकेंगे? और क्या नि शस्त्रीकरण एक साथ लाया जायगा या शन शन? मोरगेन्थो जैसे व्यक्ति-जो अन्तर्राष्ट्रीय नीति को 'शक्ति-सघर्ष' मानते हैं—नि शस्त्रीकरण को एक आदश अधिक और यथार्थता कम के रूप मे मानते हैं।

## नि शस्त्रीकरण एक ऐतिहासिक अवलोकन

नि शस्त्रीकरण की नीति को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध मे 19 वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही प्रयत्न किये जाने लगे थे। 1815 के वियना कांग्रेस मे नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में प्रस्ताव रखे गये थे। 1899 के हेग सम्मेलन म यह प्रस्तावित हुआ कि मानव के भौतिक व नतिक विकास के लिए सनिक कार्यो

में व्यय होने वाली रकम मे कमी की जाय। 1907 के द्वितीय 'हेग सम्मेलन' ने यह सिफारिश की कि नि शस्त्रीकरण के प्रश्न को प्रत्येक सरकार गहराई से अध्ययन करेगी। 1912 मे 'लाड हाल्डेन मिशन' ने नो सेना की दौड मे कमी करने की कोशिश की किन्तु सफल नहीं हुए।

8 जनवरी 1918 में राष्ट्रपति विल्सन ने एक सिद्धान्त की स्थापना की जिसका अभिप्राय था कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी शस्त्र सख्या अपनी सुरक्षा के अनुपात में कम कर ले। 'पेरिस सम्मेलन' (1919) की सिफारिशों के अनुसार पराजित जमनी पर नि शस्त्रीकरण की शर्तें लागू की गई और आशा प्रकट की गई कि राष्ट्र सघ की उपस्थिति मे नि शस्त्रीकरण किया जा सकेगा।

1919 से 1939 के दो विश्व-युद्ध के बीच काल मे नि शस्त्रीकरण की समस्या का राष्ट्र सघ के भीतर और बाहर हल करने के प्रयत्न किये गये। राष्ट्र सघ के अनुबन्ध में शस्त्रो के कमी करने के सबध मे व्यवस्था की गई। जनवरी 1920 में एक स्थायी परामश दात्री आयोग का निर्माण किया गया। जिसका उद्देश्य राष्ट्र सघ के अधीन नि शस्त्रीकरण को लागू करना था। 25 फरवरी 1921 को एक अस्थायी सम्मिश्रित आयोग (T M C) की स्थापना की गई। 1924 में लाड ऐश्चर (Lord Esher's Plan) प्लान बनाया गया जिसके अनुसार स्थल सेनाएँ राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुसार निश्चित किये जाने की थी। सन् 1922 मे 'पचशक्ति सन्धि' का क्षेत्र, उन तक स्वतत्र कर दिया था जिन्होंने सन् 1922 मे हस्ताक्षर नही किये थे। दिसम्बर सन् 1925 मे एक 'प्रिपेटरी आयोग' (Preparatory Commission) की स्थापना हुई जिसमे रूस व अमेरिका का नि शस्त्रीकरण योजना को लागू करने मे सहयोग प्राप्त करने के प्रयत्न किये। 3 दिसम्बर 1927 को इस प्रिपेटरी आयोग मे रूस के लिट्वीनोव ने खुले तौर पर पूर्ण सवदेशीय नि शस्त्रीकरण की घोषणा की। फरवरी 1932 मे जेनेवा 'एक विश्व नि शस्त्रीयकरण सम्मेलन हुआ' जिसमें 57 राज्यों के 230 प्रतिनिधियो ने भाग लिया। परन्तु यह सम्मेलन भी सफल नही हो सका। मई सन् 1931 मे जर्मना ने पॉकेट बेटिलशिप का निर्माण किया। इटली ने नि शस्त्रीकरण का समथन नही किया। क्योंकि वह आक्रमक नीति का समथक था। फ्रास ने नि शस्त्रीकरण को सुरक्षा के साथ जोड दिया। ब्रिटेन और अमेरिका यूरोपीय सुरक्षा के लिए कोई वायदा नही करना चाहते थे। सम्मेलन मे 337 प्रस्ताव प्रस्तुत हुए। सम्पूर्ण सम्मेलन मत मतान्तरो के वशीभूत होने से कुछ न कर सका। 19 अक्टूबर 1933 को जर्मनी ने राष्ट्रसघ व नि शस्त्रीकरण सम्मेलन से अपने को पृथक कर लिया। इस प्रकार सम्मेलन असफल रहा।

इसी प्रकार राष्ट्र सघ के बाहर भी नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में प्रयत्न किये गये थे। सबसे पहला सम्मेलन 12 नवम्बर 1921 को वाशिंगटन मे

जिसका उद्देश्य जापान की नौ सेना शक्ति को कम करना था। इस सम्मेलन में नौसेना सम्बन्धी कुछ नियम बड़े महत्वपूर्ण थे। नौसेना सम्बन्धी शस्त्रों को सीमित करने के अतिरिक्त—अगले दस वर्षों के लिए नौ सेना अवकाश घोषित किया गया किन्तु ब्रिटेन व फ्रांस में मतभेद बना रहा और जापान ने इस सन्धि को एक अनावश्यक रूप से थोपी गयी सन्धि के रूप में समझा। 17 जून 1925 में नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जेनेवा में हस्ताक्षर हुए, परन्तु वह सम्मेलन भी सफल नहीं हो सका। जून 1927 में अमेरिका ने एक पृथक् 'नौ सेना सम्मेलन' का निर्णय लिया जिसमें वाशिंगटन समझौते के अतिरिक्त विषयो पर विचार करना था। 30 अक्टूबर 1930 में 'अजोरा प्रोटोकल' जो नौ सेना शस्त्रों के कमी करने के सम्बन्ध मे था स्वीकृत हुए। 18 जून 1935 को 'एंग्लो जर्मन नौ सेना' समझौता हुआ। 9 दिसम्बर 1935 को लन्दन में 5 राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया गया। मार्च 1936 में फ्रांस ने रूस व अमेरिका के साथ इस सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार नौ सेना शक्ति में कमी करना था। इस प्रकार 1939 तक जो प्रयत्न किये गये वे सभी प्रयत्न प्राय असफल रहे। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया अत सभी प्रयत्न धूमिल हो गये।

युद्धान्तर काल अथवा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान में भी नि शस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न किये गये। उदाहरणार्थ 1941 का एटलांटिक चार्टर, 1943 का परमाणु सम्बन्धी समझौता, 11 फरवरी 1945 के 'याल्टा सम्मेलन' में जर्मनी का पूर्ण नि शस्त्रीकरण किया जाना—और "पोट्सडम सम्मेलन" में जर्मनी के सम्बन्ध मे नि शस्त्रीकरण को लागू किया जाना आदि महत्वपूर्ण कदम थे। किन्तु 6 अगस्त 1945 को हिरोशिमा पर बम डाला गया और नि शस्त्रीकरण योजना स्थगित हो गई।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे किये गये प्रयत्न— द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त काल में भी नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए जो संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर तथा बाहर दोनों प्रकार के प्रयत्न थे।

3 अक्टूबर 1945 को अमेरिकी राष्ट्रपति ने यह आशा प्रकट की कि सभी विश्व राष्ट्र अणुशक्ति के सैनिक प्रयोग का त्याग कर दे। 24 जनवरी 1946 को सामान्य सभा (General Assembly) ने एक 12 सदस्यीय 'अणुशक्ति आयोग' की स्थापना की। 14 जून 1946 को अमरीकी प्रतिनिधि ने संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्तावित किया कि अणुशस्त्रों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण किया जाय और उस पर निरीक्षण व नियन्त्रण शक्ति संयुक्त राष्ट्र संघ को दी जाय। यह योजना अमेरिकी 'बर्नार्ड बेरूच' ने बनायी थी और यह "बरूच योजना" के नाम से भी प्रसिद्ध है। फरवरी 1947 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने परम्परागत शस्त्रों (Conventional

Armaments) के सम्बन्ध मे एक आयोग की स्थापना की। 4 नवम्बर 1948 को सयुक्त राष्ट्र सघ की सामान्य सभा ने बरुच योजना को 46 6 मतों के अनुपात से स्वीकार करली, किंतु रूस ने योजना पर कुछ सुरक्षायें लगाने पर जोर दिया। 24 अक्टूबर 1950 को अमरिकी राष्ट्रपति ट्रूमेन ने एक नये नि शस्त्रीकरण आयोग की सिफारिश की जो परम्परागत और अणुशस्त्रो पर नियन्त्रण कर सके। 11 जनवरी 1952 को इस आयोग की स्थापना की गई। 8 दिसम्बर 1953 को राष्ट्रपति आइजन हावर ने 'शान्ति के लिए अणु' (Atom for Peace) योजना को साधारण सभा के सम्मुख प्रस्तावित किया। 29 जुलाई 1955 को राष्ट्रपति आइजनहावर व सोवियत रूस के प्रधानमत्री बुल्गानिन को जेनेवा मे आकस्मिक आक्रमण को रोकने के विरुद्ध एक नया प्रस्ताव 'ओपन स्काइज प्लान' (Open Skies Plan) रखा जिसे सोवियत रूस ने अस्वीकार कर दिया। 19 नवम्बर 1957 को सोवियत रूस ने यह घोषणा की कि वह नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी किसी भी योजना मे भाग नही लेगा, क्योकि उसने नि शस्त्रीकरण आयोग के गठन के सम्बन्ध मे आपत्ति उठाई थी—यद्यपि साधारण सभा ने नि शस्त्रीकरण आयोग की सदस्य सख्या सोवियत रूस को सन्तुष्ट करने के लिए 11 से बढाकर 25 करदी थी। उसके पश्चात् सन् 1958 मे सारे ही सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्यो को नि शस्त्रीकरण आयोग का सदस्य बना दिया गया। अगस्त, 1959 मे एक नि शस्त्रीकरण कमेटी, जिसमे पाच पश्चिमी व पाच साम्यवादी देश सदस्य थे नियुक्ति की गई और सन् 1960 की 15 माच को 10 राष्ट्रो के नि शस्त्रीकरण सम्मेलन का जिनेवा मे प्रारम्भ हुआ। 31 अक्टूबर 1960 को रूस और अमेरिका के बीच "अणु-प्रयोग पर नियन्त्रण' के सम्बन्ध मे बातचीत प्रारम्भ हुई। लगभग 9 महिने बाद सोवियत रूस ने घोषणा की कि वह अकेला ही अणु–परीक्षण फिर से चालू करेगा और तुरन्त इसके पश्चात अमेरिका ने भी ऐसी घोषणा की। 25 सितम्बर 1961 को राष्ट्रपति केनेडी ने पूर्ण नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में एक 'अमरिकी योजना' प्रस्तुत की—जिसका प्रथम कदम अणुशस्त्रो के परिक्षण करने पर नियन्त्रण करना था। 26 सितम्बर 1961 को राष्ट्रपति केनेडी ने अमरिकी शस्त्र नियन्त्रण सम्बन्धी कानून पर हस्ताक्षर किये। 20 दिसम्बर 1961 को सयुक्त राष्ट्र सघ की साधारण सभा ने बड़े राष्ट्रों की नि शस्त्रीकरण समिति के निर्माण को स्वीकार किया और 1962 की माच में इसके नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी वार्तालाप प्रारम्भ की। रूस और अमरिका ने समिति के अधीन पृथक् पृथक प्रस्ताव रखें जिनका उद्देश्य नि शस्त्रीकरण को सर्वदेशीय बनाना या और टुकडो मे बांट कर धीरे धीरे लाना था। 27 अगस्त को अमेरिका और ब्रिटेन ने दो प्रस्ताविक सधिया रखी—जिनमे एक का उद्देश्य अणु-परीक्षण पर नियन्त्रण और निरीक्षण करना था और दूसरे का अन्य सभी प्रकार के अणुपरीक्षणो पर सीमा लगाना था। 20 जून 1963को अमरिका और सोवियत रूसने

युद्ध के मय या कम करने के लिए एक 'हॉट लाइन' का निर्माण किया । 5 अगस्त 1963 को मास्को मे 'अणुपरीक्षण निरोधक सन्धि' पर हस्ताक्षर किए इस पर लग भग 100 राष्ट्रो ने स्वीकृति प्रदान की । 17 अक्टूबर 1963 को सयुक्त राष्ट्र सघ की साधारण समान आकाशीय अणु-शस्त्र (Necluar weapons on outer space) को रोकने के लिए प्रस्ताव रखा । 8 जनवरी 1964 को राष्ट्रपति जॉनसन ने घोषणा की कि वह यूरेनियम का उत्पादन 25 प्रतिशत कम करेगा और प्लूटोनियम उत्पादन करने वाले 14 रिएक्टरो मे से चार को कम कर देगा । 29 जनवरी को राष्ट्रपति जानसन ने नि शस्त्रीकरण समिति का सिफारिश की कि राष्ट्र शक्ति प्रयोग का त्याग करे, अणुशक्ति को सीमित करे तथा आकस्मिक आक्रमण पर नियन्त्रण करें और अणुशस्त्रो के फलाव को रोके । 20 अप्रेल को राष्ट्रपति जानसन ने यूरेनियम के उत्पादन को फिर कम कर दिया । 21 जुलाई 1964 को अफ्रीका के कई राष्ट्रो ने भी अणु उत्पादन नीति का त्याग किया । परन्तु 16 अक्तूबर 1964 को लाल चीन ने पहला अणुबम का परीक्षण किया । 23 नवम्बर 64 को ही दक्षिणी अमेरिका के स्वतन्त्र राष्ट्रो ने एक आयोग की स्थापना की जो दक्षिणी अमेरिका मे अणु शस्त्र अवरोध को कार्यान्वित कर सके । 26 अप्रेल 1965 को नि शस्त्रीकरण आयोग मे 11 सदस्यो का नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे सम्मेलन प्रारम्भ हुआ । रूस ने भी इसमे भाग लिया 15 सितम्बर 1965 को आठ असलग्न राष्ट्रों ने सवदशीय अणु नियन्त्रण सन्धि को लागू करने के लिए प्रस्ताव पारित किये ।

इस प्रकार 21 साल का नि शस्त्रीकरण का एक लम्बा इतिहास यह स्पष्ट करता है कि नि शस्त्रीकरण एक जटिल प्रश्न है और राष्ट्रो के बीच इसकी अनिवार्यता को महसूस करते हुय भी एकता का होना सम्भव दिखाई नही पडता ।

अणुशक्ति वृद्धिकरण सम्बन्धी प्रस्ताव (Non-Proliferation Treaty)— हाल ही मे यह प्रस्ताव, 27 जनवरी 1966 जिनेवा म अमेरिकी प्रतिनिधि ने रखा था । जिसके पांच प्रमुख अनुबन्ध थे —प्रथम, कोई भी अणुशक्ति वाला देश किसी दूसरे देश का अणुशस्त्र नही देगा । द्वितीय, प्रत्येक अणुशक्ति विहीन राष्ट्र यह वादा करेगा कि वह अणु शक्ति का निर्माण देश मे नहीं होने देगा । तृतीय प्रत्येक राष्ट्र इस सन्धि के अन्तगत अणुशक्ति के शांति प्रयोग के लिए एक दूसरे को सहयोग देगा । चतुर्थ, इस सन्धि पर कोई भी देश हस्ताक्षर कर सकेगा । अन्त में यह सन्धि तभी लागू होगी जब हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र ( Instruments of ratification ) सरकार को समर्पित कर दे । यह सन्धि तब तक लागू मानी जायगी जब तक कि कोई सदस्य राष्ट्र किसी विशेष अवस्था म अपने को सयुक्त राष्ट्र सघ से पृथक न कर ले । अन्त म, यह सन्धि राष्ट्रीय सरकारो के पास जमा रहेगी सयुक्त राष्ट्र सघ के 110 सदस्यो ने इस प्रस्ताव के पक्ष म मतदान किया ।

इस संधि प्रस्ताव पर सबसे ज्यादा आपत्ति पश्चिमी जर्मनी, इटली और भारत की थी। 13 जून 1968 को उक्त प्रस्ताव को संधि के रूप में संयुक्त राष्ट्र में पारित किया गया जिसके पक्ष मे 95 तथा विपक्ष मे 4 वोट आये और 21 सदस्यो ने मतदान मे भाग नही लिया।

यदि उपयुक्त नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रयत्नो का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट है कि विश्व के सभी राष्ट्र नि शस्त्रीकरण को आवश्यक मानते हैं और उसे कार्यान्वित करने में प्रयत्नशील भी रहे हैं किन्तु फिर भी नि शस्त्रीकरण के लिए कोई आशातीत परिणाम नही निकल सके। 1963 मे जो अणु परीक्षण प्रतिबन्ध के सम्बन्ध में सन्धि हुई उसमे भी कई राष्ट्रो ने जसे पश्चिमी जर्मनी, लालचीन, फ्रास जैसे देशों ने हस्ताक्षर नही किये। इसी तरह 1968 की प्रस्तावित परमाणविक सन्धि का पश्चिमी जर्मनी, इटली के अलावा भारत ने भी विरोध किया। भारत को चीन का स्थायी खतरा है और यह सन्धि भारत को उस खतरे से मुक्ति नहीं दे सकती। इसके अतिरिक्त इस सन्धि द्वारा परमाणु-शस्त्रधारी राष्ट्रो के आक्रमण के विरुद्ध कोई रक्षा की व्यवस्था नही थी।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् नि शस्त्रीकरण के प्रयत्न इसके पूर्व के प्रयत्नो की तरह ही अधिकाशत नितान्त असफल ही रहे। शीत युद्ध की प्रबलता के कारण विजयी राष्ट्रो मे शस्त्रो की होड के साथ साथ, जर्मनी और जापान जसे पराजित राष्ट्र भी शस्त्रीकरण की दौड म आगे बढ गये। नि शस्त्रीकरण की असफलता के प्रधान कारण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शीत युद्ध, महाशक्तियो का पारस्परिक वैमनस्य तथा विचारधारा गत मत भेद रहे हैं।

उपर्युक्त वर्णन से कुछ महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट हैं। वर्तमान जगत में नि शस्त्रीकरण की समस्या नवीन नही हैं आज यह पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण निर्णयात्मक तथा अत्यन्त तत्कालिक बन चुकी है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अणुबम, महाद्विपीय प्रक्षेपणास्त्रो ( I C B M ) तथा स्पुतनिक आदि के विकास ने नि स्त्रीकरण की समस्या का अधिक भयानक बना दिया है। आधुनिक काल म नि शस्त्रीकरण के जितने भी प्रयत्न किये गये। वे सभी केवल असफल ही नही हुए वरन् हर कदम के पश्चात् और अधिक भयावह शास्त्रो का आविष्कार हुआ। यद्यपि नि शस्त्रीकरण की सफलता म बहुत सी बाधाए हैं फिर भी मानव बराबर नि शस्त्रीकरण के लिए प्रयत्नशील है। महाशक्तियो मे अब कोई ऐसा मौलिक मतभेद नही है कि उसका निराकरण नही किया जा सकता। जुलाई 1963 की 'टेस्टमेन' सन्धि इस बात की प्रतीक है कि नि शस्त्रीकरण किसी सीमा तक सम्भव हो सकता है रूस व अमेरिका जैसी महाशक्तियां ( Super Powers ) भी इस बात पर सहमत हो गय हैं कि बाह्य अतरिक्ष का सनिक प्रयाग नही होना

चाहिये यदि छोटे छोटे राष्ट्रों ने अपनी सैनिक शक्ति का त्याग कर दिया तो बड़े राष्ट्रों से यह आशा करना अत्यधिक कठिन नही होगा। फिर भी निःशस्त्रीकरण की प्राप्ति मे कुछ मौलिक कठिनाइयाँ हैं जिनका समाधान व्यवहारिक दृष्टि से जटिल दिखाई पडता है।

निःशस्त्रीकरण स्वप्न को साकार रूप प्रदान करने के सम्बन्ध में कतिपय सुझाव—पहला, निःशस्त्रीकरण की समस्या का अधिक सम्बन्ध सुरक्षा के प्रश्न से है। सुरक्षा का प्रश्न प्रत्येक विदेश नीति का प्रमुख आधार है। इस सुरक्षा की प्राप्ति के लिए दो ही मार्ग सम्भव हैं। या तो प्रत्येक देश अपनी सुरक्षा के अनुपात मे शस्त्र रखे अथवा निःशस्त्रीकरण हो या अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा सुरक्षा की अपेक्षित व्यवस्था हो। दूसरा, निःशस्त्रीकरण की समस्या जैसा कि साल्वेडो मेडेरिआगार ने बताया—निःशस्त्रीकरण की नही, यह वास्तव में विश्व समाज के संगठन की समस्या है। निःसन्देहरूप से आधुनिक मानव इस विश्व समाज के निर्माण मे पूर्ण रूपेण सलग्न है और इसलिए विश्व संगठन को मजबूत बनाकर निःशस्त्रीकरण की अपेक्षित आशा की जा सकती है। तीसरा, निःशस्त्रीकरण या शस्त्रीकरण राष्ट्रो के बीच व्याप्त आर्थिक असमानता के कारण होती है। इससे यह स्पष्ट है कि राष्ट्रों के मध्य जितनी आर्थिक भेद की खाई कम हो जायगी उतनी ही शोषण और शस्त्र की आवश्यकता कम महसूस होगी। चौथा, निःशस्त्रीकरण तभी सम्भव हो सकता हैं जब अन्य राष्ट्र भी एक बार शस्त्रों का दौड की शक्ति स्थिति से समान हो जाय—इस स्थिति की प्राप्ति के कुछ समय पश्चात् राष्ट्रों में स्वतः निःशस्त्रीकरण की इच्छा प्रबल होगी। किन्तु इस प्रकार के निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध पहले शस्त्रीकरण करना होगा। अन्त मे लोकतन्त्र के प्रति राष्ट्रों मे जितनी श्रद्धा बढेगी, उतना ही अधिक महत्व निःशस्त्रीकरण पर डाला जायगा।